गीतापरिशीलन

श्री रामावतार विद्याभास्कर

ब्रह्मविद्या ग्रन्थावलिका प्रथम ग्रन्थ

गीतापरिशीलन

अर्थात्

श्रीमद्भगवद्गीताका मूल श्लोक, संस्कृत अन्वय, अर्थ, भाव, परिशिष्ट, तथा शब्दकोष-युक्त विस्तृत भाष्य

लेखक

विद्याभास्कर श्री रामावतारशास्त्री वेदान्ततीर्थ मीमांसारत्न

जाग्रतजीवन, ईश्वरभक्ति, आर्यसंस्कृतिका विचारस्रोत, जीवनसूत्र, ग्रामसुधार, शिक्षकोंका मार्गदर्शक, बालजागरण, बाल-प्रश्नोत्तरी, समाजवाद, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसासे भारतीय स्वतंत्रता, भगवद्गीताके जन्मदाता सिद्धान्त आदि ग्रन्थोंके लेखक तथा नारद भक्तिसूत्र, पंचदशी, बोधसार आदि अनेक ग्रन्थोंके व्याख्याकार

प्रथमवार १००० } १९९६ विक्रमी / १९३९ ई० { [illegible] ेय

प्रकाशक—

श्री. मोतीलाल माणकचंद ऊर्फ प्रतापशेठ

अध्यक्ष-'तत्त्वज्ञानमंदिर'

अमळनेर (जि. पूर्वखानदेश)

मुद्रक—

विठ्ठल हरि बर्वे

आर्यभूषण प्रेस, पेठ भांबुर्डा, ९१५।१ पूना ४

[आ. भू. प्रेस, पुणें.]

ग्रन्थसूची तथा परिमाण

	विषय	पृष्ठ गणना
१.	प्रकाशकका वक्तव्य	१
२.	ग्रन्थकारका प्रारंभिक वक्तव्य	१—१०
३.	श्लोकानुसार विषयसूची	१—२९
४.	गीताध्यायार्थसंग्रह	३०—३३
५.	गीतापरिशीलन भाष्य	१-३४६
६.	गीतापरिशीलन परिशिष्ट ३३ प्रकरण ...	३४९-४६४
७.	शब्दकोष	४६५-४७०
८.	श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोकोंका अकारादिवर्णानुक्रम	४७१-४८२
	समस्त पृष्ठ संख्या	५२६

गीतापरिशीलन-परिशिष्टकी विषयसूची

प्रकाशकका वक्तव्य।

आज हम 'गीतापरिशीलन' नामक इस अद्वैतसिद्धांतमूलक गीता-भाष्यको विचारशील जनताके सन्मुख उपस्थित कर रहे हैं। इसके प्रकाशनका प्रेरक विचार अद्वैतवादके संबन्धमें एक नवीनता रखनेवाली विचारधाराको जनताकी विचारशक्तिके सन्मुख उपस्थित करदेनेतक सीमित है।

'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इस लोकोक्तिके अनुसार हम विचार-स्वातन्त्र्यको महत्त्व देनेवाले इस अद्वैतसिद्धान्तमूलक भाष्यको प्रकाशित करके यह चाहते हैं कि जनता इसके औचित्य अनौचित्यके निर्णय करनेका अवसर प्राप्त करे कि इस विचारमें कहांतक उपयोगिता है!

विचारस्वातन्त्र्य मनुष्यका स्वाभाविक अधिकार है। जब इसके भाष्यकार पं· रामावतार विद्याभास्करजीने संस्थाके पास जनताके इस अधिकारको जनतातक पहुंचा देनेकी प्रेरणा भेजी और जब उक्त पण्डितजीको बुलाकर प्रत्यक्ष बातचीतके द्वारा उनके विचारोंको विचारणीय पाया गया, तब उन्हें जनतातक पहुंचा देनेकी इच्छा हुई।

संस्थामें योरोपिय तत्त्ववेत्ताओंके मन्तव्योंपर तुलनात्मक विचार करनेका सिद्धान्त स्वीकृत है, उसीके समान इसमें प्रतिपादित मन्तव्योंपर तुलनात्मक विचार करनेके लिये उन्हें जनतातक पहुंचानेकी इच्छासे इनके प्रकाशनका अवसर आगया। हम चाहते हैं कि समाज अद्वैतके संबन्धमें इस नवीन शैलीपर भलेप्रकार तुलनात्मक विचार करके अपना मन्तव्य निश्चित करे।

परन्तु कोई भी महानुभाव इस प्रकाशनका यह अभिप्राय न लगाये कि 'तत्त्वज्ञानमन्दिर' ने विद्याभास्कर महाशयके मतानुसार अपना मत परिवर्तन कर डाला। हम केवल औचित्यके प्रकाशमें इन मन्तव्यों-पर विचार किया जाना चाहते हैं।

जो विचारक महानुभाव इस गीताभाष्यपर व्यक्तिगत आक्रमण-हीन समालोचनात्मक निबन्ध गंभीरतासे लिखकर भेजेंगे, संस्था उनके योग्य निबन्धको प्रकाशित करके समाजके समक्ष उपस्थित करना अपना कर्तव्य मानेगी।

इस भाष्यमें भगवान् शंकराचार्यजीके जिन सिद्धान्तोंका विरोध है, उसका उचित खण्डन करनेवाले ग्रन्थको भी संस्था अवश्य प्रकाशित करेगी।

—प्रकाशक

ग्रन्थकारका प्रारंभिक वक्तव्य।

कुरुक्षेत्रके युद्धसे प्रथम महर्षि व्यासदेव हस्तिनापुर गये। व्यासदेवको अपनी दूरदर्शितासे इस युद्धमें भीष्मदेवकी भावी मृत्युका परिज्ञान हो गया था। उन्होंने धृतराष्ट्रके पास जाकर उसे चिन्तामग्न पाया। एक तो दुर्योधनको विजयी देखनेकी दुराशा और दूसरा ज्ञातिवधका महाभय ये ही उसकी चिन्ताके दो कारण थे। व्यासदेवने धृतराष्ट्रको चिन्तामग्न देखकर कहा कि: हे धृतराष्ट्र! तुम्हारे पुत्र तथा रणाङ्गणमें एकात्रित राजा लोग कालसे ग्रसे जाकर इस संहारलीलामें सम्मिलित हुए हैं। तुम्हारा इनके लिये केवल शोक मनाते रहना निरर्थक है। इस समय तुम्हारा जो समयोचित कर्तव्य है उसे करो। दुर्योधनको युद्धसे रोक लो। ज्ञातिवध महापाप है। काल तुम्हारे घरमें पुत्र बनकर आया है। तुम्हें यह राज्य अनर्थ बनकर मिला है। तुम इस राज्यको छोड़ दो। तुम्हें राज्यकी क्या आवश्यकता है?

धृतराष्ट्र—दुर्योधन मेरे कहनेमें नहीं है।

व्यासदेव—क्या तुम, दुर्योधन तुम्हारे कहनेमें नहीं है; इसी बहानेको लेकर कर्तव्यभ्रष्ट बनना चाहते हो! इस समय धर्मरक्षाके लिये तुम्हारा जो कर्तव्य है उसे कर लो। यदि तुम इतना करलोगे तो तुम इतनेसे ही अज्ञान-रूपी पापसे मुक्त हो जाओगे। तुम्हारा कर्तव्य है कि दुर्योधनके पापमें सहायता मत करो। तुम्हारी बात मानने या न माननेका उत्तरदायित्व दुर्योधनपर है। उसको वशमें रखनेका उत्तरदायित्व तुम्हारे कंधोंपर नहीं है।

धृतराष्ट्र—आपकी बात समझमें तो आती है, परन्तु जैसे संसारके साधारण मनुष्य समझते बूझते भी लोभान्ध होकर पापाचरण करते हैं, मैं भी उन्हींके समान हूँ। मैं बातको समझता तो हूँ; परन्तु लोभान्ध बनकर दुर्योधनको हितकी बात नहीं सुझाता हूँ। मैं क्या करूं? मैं विवश हूँ। आप मुझे क्षमा कीजिये।

धृतराष्ट्रकी इस असाध्य दयनीय मनोदशाको समझकर व्यासदेव बोले—

व्यासदेव—यदि संहारलीलाको अपनी आंखोंसे देखना चाहते हो तो मैं तुम्हें दृष्टिशक्ति दे सकता हूँ।

धृतराष्ट्र—मैं अपनी आंखोंसे ज्ञातिवध देखना नहीं चाहता। आपकी कृपासे केवल युद्धवृत्तान्तको सुन लेना चाहता हूँ।

व्यासदेव—मैं इस कामके लिये संजयको वर दे रहा हूँ। उसे वरके प्रतापसे अलौकिक शक्ति प्राप्त हो जायगी; वह अनाहत होकर युद्धक्षेत्रमें आ जा सकेगा; वह आकाशमार्गमें अव्याहत घूम सकेगा; उसे भूत भावी बातें ज्ञात हो जायंगी; वह दूसरेकी चिन्ताको भी जान सकेगा और तुमको युद्धका वृत्तान्त सुनाता रहेगा।

जब व्यासदेव इतना प्रबन्ध करके चले गये, तब धृतराष्ट्रने संजयसे कहा कि हे संजय! बताओ कि युद्धके लिये कौन कौनसे राजा लोग कहां कहांसे आये हैं? युद्धके किस किस प्रकारके संभार हो रहे हैं? सम्पूर्ण भारतवर्ष का भूवृत्तान्त भी मुझे सुनाओ। इस आज्ञाको पाकर संजयने सब सुना डाला।

इसके पश्चात् कुरुक्षेत्रकी रण भूमिमें भीष्मदेवके शरशय्यापर सुलादिये जाने तक संजयसे धृतराष्ट्रकी युद्धविषयकी कोई बातचीत महाभारतमें नहीं मिलती। महाभारतके अनुसार दस दिन युद्ध चलने तक धृतराष्ट्रको कोई समाचार प्राप्त नहीं हुआ। उसे युद्धका सबसे प्रथम यही समाचार सुनाया गया कि भीष्मदेव दस दिन तक तुम्हारी सेनाका नेतृत्व करनेके पश्चात् शरशय्यापर सुलादिये गये। उस समय धृतराष्ट्रने संजयसे जो मुख्य प्रश्न किया था वह प्रश्न ही गीताका प्रथम श्लोक है।

गीतामें ७०० श्लोक हैं। इनमें १ धृतराष्ट्रका ४१ संजयके ८४ अर्जुनके तथा ५७४ कृष्ण भगवान्के श्लोक हैं।

कृष्ण भगवान्के मुखसे निकले हुए इन श्लोकोंमें दो महान् भेद पाये जाते हैं। एक वे श्लोक हैं जिनमें ज्ञानीके लक्षणोंका वर्णन है, दूसरे वे हैं जो जनसमाजमें ज्ञान नामसे प्रचलित मिथ्या आचार व्यवहारोंका वर्णन करनेवाले हैं। इन दोनों प्रकारके श्लोकोंमेंसे ज्ञानीके लक्षणोंका वर्णन करने-वाले श्लोक ही गीतोक्त उपदेशके रूपमें स्वीकार किये जा सकते हैं। परन्तु जिन श्लोकोंमें ज्ञानका नाम लेकर चलाये हुए, अज्ञानान्ध संसारके आचार व्यवहारोंका उल्लेख, इस लिये किया गया है कि उनकी उपेक्षा या खण्डन किया जाय, उन श्लोकोंको भी केवल श्रीकृष्णके मुखसे कहे जानेके कारण गीताके उपदेश रूपमें मानलेना उचित नहीं है।

अर्जुन कुरुक्षेत्रमें पहुंचकर कर्तव्यमूढ हो गया था। श्रीकृष्णने सम्पूर्ण गीतामें अर्जुनको युद्धरूपी कर्तव्यको ज्ञानकी स्थितिमें रहकर करनेकी प्रेरणा दी है। मनुष्यकी साधारण सदसद्विचारबुद्धि ही कर्तव्य अकर्तव्यका निर्णय कर सकती है। यद्यपि यह साधारण समझ अर्जुनके पास थी; परन्तु उसको केवल स्वजनमोहके कारण सामायिक विचारभ्रान्ति हो गई थी। श्रीकृष्णने उसकी इस तात्कालिक विचारभ्रान्तिको हटानेकेलिये उसके सामने ऐसी कोई भी जटिल युक्ति नहीं रखी, जिसे समझनेकेलिये उस समय उसे किसी पुस्तकालयकी शरण लेनी पढ़ती। इसमें कोई संदेह नहीं कि अर्जुन स्वभावप्राप्त साधारण समझसे ही श्रीकृष्णके उपदेशका मर्म समझ गया था।

जिस गीताको युद्धक्षेत्रमें खड़ा हुआ अर्जुन पुस्तकोंके सहारेके विना ही समझनेमें समर्थ हुआ था; आज भी किसीको उस गीताको समझनेमें पुस्तकोंकी सहायताकी आवश्यकता न होनी चाहिये। आजका गीतापाठक भी उस गीताको अर्जुनके समान ही अपनी स्वभावप्राप्त साधारण बुद्धिसे समझनेमें समर्थ होना चाहिये। इस कामकेलिये किसीको गतानुगतिक होकर किसी विशेष मत या किसी विद्वान् समझे जानेवाले विशेष व्यक्तिके पीछे कदापि न चलना चाहिये। अपनी समझको इतना स्वतंत्र रखनेपर ही गीताका मर्म समझ सकना संभव है, अन्यथा नहीं।

गीतामें अर्जुनने कृष्ण भगवान्से केवल एक प्रश्न किया था कि क्या युद्धमें स्वजनवध नामके महापापको न करके मोक्षप्राप्ति संभव नहीं है? कृष्ण भगवान्ने सारी गीतामें इसी प्रश्नके एक ही उत्तरको बार बार दोहराया है। भगवान्ने दृढताके साथ इस प्रश्नका बारबार यही उत्तर दिया है कि तुम इस रणक्षेत्रमें आये हुए जितने देहधारियोंको 'स्वजन' मानकर भ्रान्तिमें फंस रहे हो, इनमेंसे कोई भी तुम्हारा स्वजन नहीं है। किन्तु इन सब देहोंका एकमात्र विराट्देही रूपी आत्मतत्त्व ही तुम्हारा 'स्वजन' या 'स्वरूप' है। इस देहीमें देहोंके उत्पत्ति विनाशसे कोई परिवर्तन नहीं होता। देहोंके जीवन मरणमें अप्रभावित रहना ही देहीका स्वधर्म है। तुम देहोंको विनष्ट होता देखकर अपने मनपर इस विनाशका प्रभाव मत पडने दो और निर्मम होकर कर्तव्यपालन करते रहो, यही तुम्हारा स्वधर्म है। स्वधर्मकी रक्षा करते रहना ही मोक्षकी अवस्था है। इस स्वधर्मपालनरूपी मोक्षसे भिन्न मृत्युके पश्चात् आनेवाली या मृत्युके परदेकी ओटमें छिपी हुई मोक्षनामकी कोई भी

स्थिति नहीं है। मृत्युके पश्चात् मिलनेवाला मोक्ष केवल औपन्यासिक कल्पना है। इस कल्पनाने मोक्षको मुरदोंकी संपत्ति बना दिया है। परन्तु मोक्ष मुरदोंकी संपत्ति नहीं है। जीवित मनुष्यकी विदेह मनोदशा ही मोक्षकी अवस्था है।

कृष्णभगवान्ने सारी गीतामें अर्जुनकी विचारबुद्धिके सामने इसी महासत्यको रखा है। इसलिये सत्यकी इस अभ्रान्त कसौटीपर कसकर हीं गीताका मर्मोद्धार करना होगा। इसके लिये सबसे पहले शब्दोंके यथाश्रुत अर्थोंका मोह त्याग देना पडेगा। क्योंकि शब्दोंके अर्थोंकी कोई सीमा नहीं होती। शब्दोंको वक्ताके भावसमुद्रको ढोना पडता है। वक्ताके तात्पर्यानुसार सब शब्दोंको सब अर्थोंका वाचक हो जाना पडता है। भावका वाहन बनना ही शब्दोंका एकमात्र काम है। भावके वाहक होनेके अतिरिक्त शब्दोंका और कोई स्वरूप नहीं है। शब्दोंको वक्ताके भावका अनुगमन करना ही पडता है। भाव शब्दोंके अधीन नहीं होता। शब्दोंको ही भावके अधीन रहना पडता है। पहले भाव निश्चित हो जाते हैं फिर शब्दोंसे उस भावको कहलाना पडता है। कुछ लोग भावको शब्दोंके पीछे घसीटनेका व्यर्थ प्रयत्न करते पाये जाते हैं। वे जैसे शब्द देखते हैं वैसे ही भाव ढूंढनेका अज्ञानयुक्त उद्यम करते हैं। परन्तु ऐसा करनेसे सत्य उनकी दृष्टिसे बाहर खडा रह जाता है।

उदाहरणके रूपमें चोरके ध्यान करनेमें और संतके ध्यान करनेमें प्रयुक्त हुआ 'ध्यान' शब्द ध्येय तथा ध्याताकी पृथक्ताके कारण एकके साथ चोरी वृत्ति और दूसरेके साथ भगवद्भक्ति नामके दो विपरीत भावोंका वाहक बनता हुआ पाया जाता है। इसी प्रकार गीतामें योगीको धीमान् तथा योगभ्रष्टको श्रीमान् विशेषणसे विशेषित देखकर यदि कोई गीताका पाठक योगभ्रष्टकोभी योगितुल्य उच्च पदवी देना चाहेगा तो यह अवश्य ही उसकी विचारभ्रान्ति होगी। क्योंकि योगी और योगभ्रष्ट दोनों अत्यन्त विरोधी (परस्पर घातक) मनोदशा हैं, इसलिये उनकेलिये प्रयुक्त धीमान् तथा श्रीमान् विशेषणोंको भी विरोधी अर्थ रखनेवाला मानना पड़ेगा। योगीकी धी ही उसका योग है। योगभ्रष्टकी धीविहीन श्री उसकी श्रीमदमत्तता, विषयलालसा अथवा अज्ञानमय कर्मबन्धन है। जिसने योग कभी नहीं किया, ऐसा भोगी ही 'योगभ्रष्ट' कहाता है। योगभ्रष्टकी इस दुष्ट मनोदशाने ही उसे योगविमुख बनाकर योग-

भ्रष्ट बनाया है। क्योंकि अर्जुनके प्रश्नमें योगभ्रष्टका वर्णन आया है, केवल इस लिये उसे कोई महत्त्वपूर्ण स्थिति मानलेना गीताकी परिपाटीसे अनभिज्ञता प्रकट करना है।

दूसरा उदाहरण योगीके स्थिर आसनके साथ **नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं** विशेषणको देखकर यदि यह अर्थ लगाया जाय कि योगीका आसन कुछ निर्दिष्ट उच्चतायुक्त होना चाहिये, और उसमें सबसे नीचे कुशा, उससे ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाना चाहिये तो यह कल्पनाकी घुड़दौड़ और अनधिकारचर्चा होगी। श्लोकमें केवल 'उत्तर' शब्दसे इतनी लम्बी चौड़ी उद्भावना करलेना सुबुद्धिका परिचायक नहीं है। योगियोंका आसन शारीरिक कसरतकी प्रदर्शनी नहीं है। योगी अपने जीवनमें शयन, उपवेशन, गमन, भोजन, विषपान, मृत्युयन्त्रारोहण, या वध्यशालागमन, आदि जो भी कुछ करेगा सब में योगारूढ बना रहेगा। घास, फूस, खाल तथा वस्त्रोंके आसनपर बैठकर योगारूढ हो सकनेकी बात नितान्त उपहासास्पद है। कोई भी विचारशील पाठक भगवान् कृष्णके मुखसे ऐसी निराधार बात सुननेको उद्यत नहीं हो सकता। सब व्यवहारोंमें योगारूढ बने रहनेकी स्थिति ही योगी पुरुषकी बुद्धिकी स्थिरता मानी जाती है। यह मानासिक स्थिरता ही योगीका स्थिर आसन है। यह आसन चैल, अजिन, कुशा आदि भौतिक आसनोंकी उच्चता, नीचता तथा कोमलता, कठोरता आदिसे अतीत है। योगीका स्थिर आसन उसके मनमें ही बिछा रहता है। योगीके स्थिर आसनका बाह्य अस्थिर आसनोंके के साथ कोई संबन्ध नहीं होता। ऐसा आसन भौतिक आसनोंसे श्रेष्ठ या पूज्य होता है। इस श्लोकका 'उत्तर' शब्द श्रेष्ठ अर्थका वाचक है। इस उत्तर शब्दका 'उपर्युपरि' अर्थ लगाना ऐसा करने वालेकी भ्रान्ति है।

इस सब परिशीलनका तात्पर्य यही दिखाना है कि गीताका स्वाध्याय करनेवाले लोग टीकाकारोंके उधारे वाग्जालसे बचें। वे अपनी साधारण बुद्धिमें न समानेवाले किसी भी अर्थको न मानें। उन्हें चाहिये कि वे इस गीतोक्त महासत्यको कसौटीके रूपमें अपनी आंखोंके सामने रखकर गीताका स्वाध्याय करें।

श्रीकृष्णके पास समझानेकी जो शक्ति थी, वही शक्ति अर्जुनके पास समझनेकी शक्तिके रूपमें विद्यमान थी। दोनों एक ही शक्तिसे शक्तिमान् थे। उस

शक्तिसे एक समझाता था और दूसरा उसके समझानेको समझलेता था। वक्ता और श्रोता दोनों ज्ञानकी समतल भूमिपर खड़े रहकर ही बातचीत या प्रश्नोत्तर कर सकते हैं। यह भेद ईश्वरकी मायाका है कि उनमेंसे एकमें समझानेकी शक्ति होती है और दूसरेमें समझनेकी शक्ति होती है। अर्जुन इस शक्तिसे शक्तिमान् होकर ही सत्यदर्शन करनेमें समर्थ हुआ था। प्रत्येक गीता पाठकको अपनेमें गीता समझनेकी यह स्वतंत्र शक्ति स्वीकार करलेनी चाहिये। जब प्रत्येक गीतापाठक अपनेमें अर्जुन जैसी समझनेकी शक्ति मान लेगा तब ही वह गीता समझनेके योग्य हो सकेगा। यदि कोई गीतापाठक अपनेको बेसमझ और टीकापराधीन मानलेगा तो यही उसका गीता पढ़नेका अनधिकार हो जायगा तथा वह गीता पढ़कर भी गीतामृतपानसे वंचित रहेगा।

गीतापाठकसे पूर्ण स्वतंत्र मनुष्य होनेकी आशा की जाती है। यह मानलिया गया है कि गीतापाठक गीतापर निर्भर रहनेवाला पराधीन मनुष्य नहीं है। गीतापाठकको चाहिये कि वह 'गीता ऐसा कहती है इसलिये यह सत्य है' इस प्रकार गीताकी कसौटीपर सत्यकी परीक्षा न करे। किन्तु सत्यकी अमर कसौटीपर ही गीताको कसे। गीतापाठकका यह निश्चय होना चाहिये कि गीता सत्यकी जन्मदात्री नहीं है। प्रत्युत सत्यने ही गीताको जन्म दिया है। वह सत्य प्रत्येक मनुष्यकी निजी संपत्ति है। प्रत्येक मनुष्य उस सत्यदर्शनका अधिकारी है। जिस मनुष्यकी जिह्वा कड़वे रसको पहचाननेमें समर्थ है, उसीकी रसनासे मिष्ट रसको पहचाननेकी आशा की जाती है। रस चखनेका सामर्थ्य ही रसनाकी सजीव अवस्था है। जो मनुष्यहृदय विषयसुखभोगनेमें समर्थ है वही हृदय ब्रह्मसुखास्वादन (त्यागसुखास्वादन) में भी समर्थ होता है। ब्रह्मसुखास्वादनका सामर्थ्य ही ब्रह्मज्ञान है। इस दृष्टिसे विचार करें तो मनुष्यमात्रका स्वाभाविक रूपसे ब्रह्मज्ञानका अधिकार और योग्यता सिद्ध हो जाती है। परन्तु अभागा मनुष्य अपने इस स्वाभाविक रूपसे ब्रह्मज्ञानी बननेके अधिकारसे लाभ नहीं उठाता। वह अपनेको अज्ञानी माननेकी भ्रान्तिमें फंसगया है। अपनेको अज्ञानी माननेकी भ्रान्ति ही अज्ञान है। अपनेको अज्ञानी मानना महापापकी अवस्था है। मनुष्य इससे अधिक अपनी कोई हानि और अपमान नहीं कर सकता। इस भ्रान्तिको हटाकर अपनेको ज्ञानी मानकर अपनेपर परमश्रद्धालु होकर, गीता समझनेके अपने सामर्थ्यपर विश्वास करनेपर ही गीताका हृदयंगम होना संभव है। नहीं तो सदा गीतापाठ करते रहनेपर भी गीतापाठ निरर्थक होजायगा।

यदि गीतापाठकके हृदयमें अमुक ज्ञानी महापुरुषने किसी श्लोकका जो मनमाना अर्थ कर डाला है अगतिक (निरुपाय) होकर उसीको ज्यों का त्यों पचालेनेकी दुर्बलताने स्थान पालिया तो इसीको गीता समझनेकी अयोग्यता कहा जायगा और तब गीताका समझमें आना असंभव होजायगा। दूसरोंकी टीकाके अंधानुगामी दास बनजानेपर गीताज्ञान नहीं होसकता। तब केवल टीकाकी आवृत्ति होसकती है। यदि अमुक महापुरुष गीताका मनमाना अर्थ कर सकते हैं तो हमें अपने मनके अनुसार गीताका अर्थ लगानेका अधिकार क्यों नहीं है? यदि हम गीतामें अपने मनके सत्यकी प्रतिध्वनि न पायें तो हममें गीताको ज्ञानग्रन्थके रूपमें अस्वीकार करनेका सत्साहस होना चाहिये। ऐसी दृढताको लेकर ही गीताका स्वाध्याय किया जाना चाहिये। जब गीतापाठक ऐसी दृढताको अपना साथी बनालेंगे तथा टीकाओंका अंधानुगम न त्याग देंगे तब ही वे गीता समझनेमें समर्थ होंगे, अन्यथा नहीं।

इस गीताभाष्यमें गीतापाठकोंके इसी अधिकारका ध्यान रखते हुए (१) मूलश्लोक (२) संधि रहित पदच्छेदसहित संस्कृतमें अन्वय (३) हिन्दी भाषामें श्लोकार्थ (४) तथा श्लोकोंका भाव यह क्रम रखा गया है। इस भाष्यमें पाठकके सामने गीताको इस रूपमें लाया गया है कि भाष्यकारका विचार श्लोकसे सर्वथा पृथक्रूपमें पाठकके सामने रहे। ऐसा इसलिये किया गया है कि पाठककी स्वतंत्ररूपसे भावको ग्रहण करनेकी स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहे। श्लोकके संबन्धमें भाष्यकारका विचार भावार्थके रूपमें इस लिये पृथक् रखा गया है कि जिससे वह पाठककी विवेकबुद्धिके सामने परीक्षणके लिये स्पष्टरूपसे उपस्थित हो जाय। भाष्यकारको जिन गीतोक्त मन्तव्योंके संबन्धमें प्रचलित मन्तव्योंसे मतभेद है उन सब मतभेदोंको ३३ प्रकरणोंका रूपदेकर भाष्यके अन्तमें परिशिष्टके रूपमें लेजाकर इसी लिये डाला है कि जिससे गीतापाठकोंके सामने किसी प्रकारकी उलझन उपस्थित न हो जाय। यह मान लिया गया है कि पाठक भाष्यकारके विचारको लेने या न लेनेमें पूर्ण स्वतंत्र हैं। संस्कृत अन्वय तथा श्लोकार्थमेंभी जहां विशेष अर्थ प्रकट करना अनिवार्य प्रतीत हुआ है, वहां पाठकोंकी स्वतंत्रताको अक्षुण्णरखनेके लिये उसे भी ( ) इस प्रकारके चिन्होंमें डालदिया गया है।

अन्वय तथा श्लोकार्थको संपूर्ण रूपसे अप्रभावित तथा सर्वमान्य अर्थका बोधक बनानेका पूरा पूरा प्रयत्न इस लिये किया गया है कि जिससे

गीताके अभिप्रेत सत्यका दृष्टिकोण किसी देश, समाज या सम्प्रदायकी संकुचित सीमाका बन्दी न बनजाय; किन्तु वह संपूर्ण मानव जातिकी सार्वजनिक संपत्ति बना रहे। भाष्य करते हुए इस पद्धतिका अवलम्बन करके यह आशा की गयी है कि कोई भी गीतापाठक भाष्यकारके प्रभावसे प्रभावित न हो; किन्तु निरपेक्ष होकर अपनी विचारशीलताके द्वारा सत्यका अभ्रान्त दर्शन करे। जब हमारे गीतापाठक ऐसी विशाल दृष्टिको अपनाकर इस भाष्यके अधीन न होकर सत्यका स्वतंत्र दर्शन करेंगे तब ही हम इस अपने उद्यमको सफल मानेंगे।

सारांश यही है कि गीतापरिशीलन नामका यह गीताभाष्य पाठकोंको स्वतंत्र विचार करनेकी प्रेरणा देनेके लिये ही लिखा गया है। किसी को विवश करके उससे अपना विचार ग्रहण कराना इस ग्रन्थका अभिप्राय कदापि नहीं है।

मुद्रण–प्रसंग

इस गीताभाष्यको पाठकोंके हाथोंमें समर्पण करना अपार हर्षका विषय है। इसके प्रकाशनका श्रेय अमलनेर जि. पूर्व खानदेश का 'तत्त्वज्ञानमन्दिर' नामक दक्षिण भारतकी प्रसिद्ध संस्थाके सभापति श्रीमान सेठ मोतीलाल माणकचन्दजी ऊर्फ प्रतापशेठजीको है। इसी संस्थाके त्रैमासिकके संपादक श्री. दि. सा. नाईक महोदयने मेरे 'वर्तमान अद्वैतवादकी विचार शैलीमें संशोधनकी आवश्यकता' तथा 'जगन्मिथ्यात्व परीक्षण' नामक जगन्मिथ्यात्वका खंडन करनेवाले संस्थाके सिद्धान्तविरोधी लेखोंको छापा ही नहीं किन्तु पिछले लेखपर तो श्रेष्ठ लेख होनेके कारण २५ रु. पारितोषिक देकर सम्मानित भी किया था। कदाचित् ही भारतकी कोई दूसरी संस्था ऐसी उदारता दिखा सकती। इसीसे तत्त्वज्ञानमन्दिरकी परमतसाहिष्णुता जानकर मैंने इस भाष्यके प्रकाशनके लिये संस्थाके संचालकोंसे प्रार्थनाकी तो उन्होंने अपनी उदारता, पक्षपातहीनता और मताध्यासराहित्यके साथ मेरे गीतासंबन्धी विचारोंको जाननेके लिये मुझे संस्थाके व्ययसे वहां बुलाकर बारह दिन विचारविनिमय करके संस्थाके मन्तव्योंके विरोधी होनेपर भी इसकी प्रकाशनयोग्यता स्वीकार करके, संस्थाकी ओरसे इसके प्रकाशनका प्रबन्ध किया है। उनकी सुरुचि तथा उदारता ही इस ग्रन्थके प्रकाशनका दृश्यमान कारण है। इसके लिये मैं तत्त्वज्ञानमन्दिर संस्थाके संचालक श्रीमान प्रतापशेठजीका अत्यन्त आभार मानता हूं। मेरे इस क्रान्तिकारी भाष्यको

प्रकाशित करनेवाले उनके उदात्त साहसने मुझे उनका गुणमुग्ध बनाया है। ईश्वर करे भारतमें विचारस्वातंत्र्यकी सेवा करनेवाली ऐसी आत्मायें और ऐसी संस्थायें आयें और फलें फूलें।

इस ग्रन्थके लेखन तथा मुद्रणके समय संशोधनमें श्री भाई रामरक्खाजीने जो निष्कारण गंभीर सहयोग दिया है वह इस ग्रंथका परम सौभाग्य है।

इस पुस्तकके मुद्रक श्री. विठ्ठल हरि बर्वे महोदयने प्रत्येक फार्मके प्रूफ पांच पांचवार दिखाये हैं। उन्होंने इसे अत्यन्त शुद्ध और सुन्दर छापनेमें बड़े धैर्यसे काम लिया है। एक एक फार्म तयार करनेमें लगभग ढाई ढाई मास लगा है। इतनी सावधानीके होनेपर भी कुछ थोड़ीसी अशुद्धि रह गयी हैं। उनके लिये पुस्तकके अन्तमें शुद्धिपत्र लगा दिया है। छपते समय मात्रा लुप्त होनेकी अशुद्धियोंको पाठक स्वयं सुधार लें। इस सुन्दर मुद्रणके लिये मुद्रक महोदय भी धन्यवादके पात्र हैं।

बुद्धिसेवाश्रमके बालकोंकी पढाईके लिये 'ब्रह्मविद्या ग्रन्थावलि'नामसे सर्वथा नवीन शैलीसे पाठ्य पुस्तकोंकी रचना की गयी है। उसमें जाग्रतजीवन, ईश्वर भक्ति, गीतापरिशीलन, आर्यसंस्कृतिका विचारस्रोत, जीवनसूत्र, ग्रामसुधार, समाजवाद, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, सत्य अहिंसाके द्वारा भारतीय स्वतंत्रता, भगवद्गीताके जन्मदाता सिद्धान्त, शिक्षकोंका मार्गदर्शक, बालजागरण, बालप्रश्नोत्तरी, नारद भक्तिसूत्र भाष्य आदि ग्रन्थ हैं। यह ग्रन्थ उस ग्रन्थावलिका प्रथम ग्रन्थ है। यह सब साहित्य अभीतक अमुद्रित है। केवल यह गीतापरिशीलनभाष्य तथा इसीके साथ नारदभक्ति सूत्रोंका भाष्य तत्त्वज्ञानमन्दिरके प्रबन्धसे मुद्रित होनेका अवसर पा रहे हैं।

यद्यपि यह सब साहित्य अपने आश्रम बालकोंके लिये रचा गया है, परन्तु समाजकी आंखें खोलनेवाला यह साहित्य समस्त देशके लिये उपयोगी हो सकता है यह मानकर शेष सब साहित्य भी योग्य प्रकाशकोंको दिया जानेके लिये प्रस्तुत है।

यदि कोई महानुभाव इन पुस्तकोंका मुद्रण या इस गीताभाष्यका भाषान्तर करना चाहें तो वे निम्न पतेपर पत्रव्यवहार करें।

फाल्गुन, पूर्णिमा १९९५ विक्रमी
बुद्धिसेवाश्रम,
डा. रतनगढ़, जि. बिजनौर, यू.पी.

निवेदक
रामावतार,
संचालक, बुद्धिसेवाश्रम.

श्रीमद्भगवद्गीताकी श्लोकानुसार विषयसूची

(पहला अध्याय—अर्जुनविषादयोग)

(दूसरा अध्याय–सांख्ययोग)

श्लोकसंख्या	विषय
१७	जिसका प्रेम, परिचय, संबन्ध, निष्ठा तथा गति सब कुछ आत्मा है, जिसकी विषयासक्ति मिट चुकी है, उसे पुनरावृत्तिका धोका नहीं रहता।
१८	ज्ञानी सब भूतोंसे अनासक्तिरूपी समतासे वर्ताव करता है।
१९	समतामें पहुंचे हुए पुरुष इसी जीवनमें संसारबंधनातीत तथा ब्रह्मतामें स्थित हैं।
२०	संपत्तिके हर्ष तथा विपत्तिके विषादसे हीन, स्थिर बुद्धि, निर्मोह पुरुषका ब्रह्मज्ञानी तथा ब्रह्मलीन होना।
२१	इन्द्रियोंके आकर्षणमें अनासक्त रहनेका सुख ही 'अक्षय सुख' है, यही 'ब्रह्मज्ञानियोंका भोग्य सुख' है।
२२	अक्षय ब्रह्मसुख भोगनेवाला ज्ञानी इन्द्रियोंके भोगोंको दुखदायी देखकर अज्ञानियोंके समान विषयसुखके लालचमें नहीं फंसता। उसकी दृष्टिमें विषयासक्तिको अपनाना अनासक्तिको त्यागनेका दुःख भोगना है।
२३	कामक्रोध आदिकी उपेक्षा करनेवाले पुरुषको यहीं योगीका सुखमय जीवन प्राप्त होता है।
२४–२६	योगीके आन्तरिक सुख तथा उदात्त जीवन व्यवहारका वर्णन।
२७	योगीकी बाह्य विषयोंमें अनासक्ति तथा शरीरके जीवन मरणकी उपेक्षा।
२८	अनासक्तिके उपासक तथा राग, भय, क्रोधसे हीन पुरुषका मुक्त होना।
२९	आत्मा ही यज्ञ, तपआदिका भोक्ता तथा सुहृत् है उसे जानना शान्तिपाना है।

(छठा अध्याय–आत्मसंयमयोग)

१–२	'संन्यासी' तथा 'योगी' दोनों नाम कर्मफलकी ओरसे आंख मींचकर कर्तव्यपालन करनेवाले मनुष्योंके हैं।
३	योगारुरुक्षु (जिज्ञासु) तथा योगारूढ (ज्ञानी) की एकता। ये दोनों ज्ञानपूर्वक कर्म करके ही शान्तिलाभ करते हैं।

श्लोकसंख्या विषय

(सातवां अध्याय—ज्ञानविज्ञानयोग)

(आठवां अध्याय–अक्षरब्रह्मयोग)

(नवां अध्याय-राजविद्या राजगुह्ययोग)

श्लोकसंख्या **विषय**

२५ मनुष्योंको अपनी भावनाके अनुसार बन्धन तथा मुक्ति प्राप्त होते हैं।

२६ ज्ञानी जो खाता या खिलाता है, सब अनासक्तिरूपी आत्माके पास पहुंच जाता है। ज्ञानीको भोक्ता या दातापनका अभिमान नहीं होता।

२७–२८ यदि तुम अपने संपूर्ण आचरणोंको आत्मार्पण कर दोगे तो तुम शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे। फिर तुम जो कुछ करोगे सब आत्माकी आराधना होगी।

२९ यद्यपि आत्मा सब भूतोंमें सम है फिर भी वह ज्ञानियोंमें ही अभेद लीला करता है।

३०–३१ आत्मस्वरूपको समझते ही दुराचारियोंके दुराचार छूट जाना, उन्हें तत्क्षण शान्ति मिल जाना, तथा फिर संसारबन्धनमें न फंसना।

३२–३३ आत्मभक्तिमें कल्पित जातिभेद, वर्णभेद तथा लिङ्गभेदका न रहना। अर्जुनको अनित्य तथा सुखहीन संसारके प्रभावसे बचानेके लिये नित्य आत्मसुखको अपनानेका उपदेश।

३४ आत्मपरायण मनुष्यका ‘ आत्मा ’ हो जाना।

(दसवां अध्याय–विभूतियोग)

१ श्रीकृष्णका अर्जुनको फिर उत्तम वाणी सुननेके लिये अभिमुख करना।

२ देवों तथा महर्षियोंका आत्माको अजन्मा मानना तथा उसीको सर्वकारण जानना।

३ अपनेको अजन्मा तथा अनादितत्त्व समझते ही मनुष्यका सकल-पापमोक्ष होना।

४–५ मनुष्यके मनकी नाना प्रकारकी भावलहरियोंका आत्मामेंसे ही उठना।

६ मनुष्य अपने पितापितामह आदिकी सन्तति नहीं है, कि आत्माकी है।

(बारहवां अध्याय–भक्तियोग)

श्लोकसंख्या विषय

(तेरहवां अध्याय–क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग)

श्लोकसंख्या | **विषय**

१३ संसारभरके हाथपैर आदि अवयव उसी एक आत्माके हैं ।

१४ आत्मा संपूर्णसृष्टिका आधार होनेपर भी अनासक्त, इन्द्रियातीत तथा अव्यक्त है ।

१५–१६ आत्माकी व्यापकता तथा उसकी सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी शक्तिका वर्णन ।

१७ आत्मा ही ज्योतियोंको ज्योति देनेवाला, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य तथा सबका हृदयवासी है ।

१८ उपर्युक्त क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेयके स्वरूपको जाननेवाला आत्मज्ञानी होता है ।

१९ आत्मा और उसकी शक्ति सदासे साथ हैं । जगत्को आत्माकी शक्तिने बनाया है ।

२० आत्माकी शक्ति, इन्द्रियों तथा विषयोंको रचती रहती है । परन्तु आत्मा इनके विकारोंको भोगने या त्यागनेमें स्वतंत्र रहता है ।

२१ शक्तिसे मोहित आत्मा, इन्द्रियोंके लिये सुखदुःख भोगनेमें फंस जाता है । यही मोह उसे शरीरोंके बन्धनमें फांसकर ऊंची नीची योनिकी भ्रान्तिमें डाल देता है ।

२२ मानवदेहवासी आत्मा ही 'महेश्वर' आदि नामोंसे कहा जाता है ।

२३ आत्मा और उसकी शक्ति दोनोंके पृथक् पृथक् स्वरूपको समझनेवाला पुरुष अज्ञानमुक्त रहता है ।

२४–२५ आत्मस्वरूपको जाननेवाले ज्ञानी अनेक नामोंसे विख्यात हैं ।

२६ क्षेत्र क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही यह जगत् अस्तित्वमें है ।

२७ ज्ञानी आत्माको ही सब विनाशी पदार्थोंका आधार जानता है ।

२८ अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला ज्ञानी सर्वत्र समभावसे स्थित आत्मापर दृष्टि रखता है । वह कहीं चूक नहीं करता ।

२९ सब कार्योंको आत्माकी शक्तिसे होते हुए जानना तथा कर्तृत्वाभिमान शून्य रहना ज्ञानीका चिन्ह है ।

३० जिसे संपूर्ण भूत एक तत्त्वमें स्थित और उसीमेंसे उत्पन्न दीखने लगे हैं, वह ब्रह्मलाभ कर चुका है ।

(चौदहवां अध्याय–गुणत्रयविभागयोग)

श्लोकसंख्या **विषय**

२० जो देहविकारोंकी उपेक्षा करना जान गया है। वह जन्म, मृत्यु, जरा आदिसे मुक्त अमृतस्पर्शी है। उसका दुःखमोक्ष हो चुका है।

२१ अर्जुनका त्रिगुणातीत पुरुषके चिन्ह तथा आचारसंबन्धी प्रश्न।

२२–२५ श्रीकृष्णका उत्तररूपमें गुणातीत स्थितिका वर्णन।

२६ आत्माके अनन्य भक्तोंमें त्रिगुणातीतता स्वभावसे आजाती है, उन्हें ब्रह्मलाभ हो जाता है।

२७ आत्मासे ही शाश्वत सुख तथा शान्ति मिलती है।

(पन्द्रहवां अध्याय-पुरुषोत्तमयोग)

१ संसारवृक्ष अपने नित्य कारणसे निरन्तर उत्पन्न होता रहता है। यह वृक्ष मनुष्यकी विषयवासनासे उसे मोहक दिखाई पड़ता है। इस मर्मको जाननेवाला 'ज्ञानी' कहाता है।

२ मनुष्य विषयासक्तिरूपी पत्तोंसे धोका खाकर नित्य अनित्यका विवेक खो बैठता है। वह कर्मफलासक्तिमें फंसकर बन्धनकी ओर बढ़ता जाता है।

३–४ संसारबन्धनमें फंसे हुए पुरुषोंको इस संसारवृक्षका छेदनीय रूप दिखाई नहीं पड़ता। मनुष्योंको असंग शस्त्र पकड़कर इस संसार-वृक्षको छेद डालना चाहिये। जब यह वृक्ष काटदिया जाता है, तब मनुष्योंको वह आदिपुरुष दीखता है, जिसको मैं स्वयं आठोंपहर ध्यानसे नहीं उतरने देता हूं।

५ मानमोह आदि रहित उदात्त पुरुष ही उस अविनाशी पदको समझ पाते हैं।

६ वह पद स्वयंप्रकाश है। उसे पानेपर फिर बन्धन नहीं लौटता। वह पद कभी न बुझनेवाला दीपक है।

७-८ जब आत्मा शरीरधारण करता है, तब इन्द्रियोंकी उत्पत्ति, तथा जब शरीरको त्यागता है, तब उनका अपने कारणमें लय हो जाना।

यह आत्मा इन्द्रियात्मक बनकर विषयभोगरत हो जाता है।

श्लोकसंख्या	विषय
२२	अधोगति देनेवाले कामक्रोध आदिसे मुक्त रहना ही 'आत्मकल्याण करना' तथा 'परमगति पाना' है।
२३	अनासक्तिरूपी सच्चे 'शास्त्र' को न अपनानेसे तथा भोगोंका कुरस चखते रहनेसे मनुष्यको 'सिद्धिसुख' तथा 'ज्ञानमयी स्थिति' प्राप्त नहीं होती।
२४	अर्जुनको अनासक्तिरूपी कसौटीको कर्तव्याकर्तव्य निर्णय करनेवाला 'शास्त्र' बनाकर तदनुसार आचरण करनेकी प्रेरणा।

(सतरहवां अध्याय-श्रद्धात्रयविभागयोग)

श्लोकसंख्या	विषय
१	असंगशास्त्ररूपी शास्त्रके अनुसार न चलनेवाले मनुष्योंकी भोगश्रद्धा तथा भोगनिष्ठाके भेदविषयक प्रश्न।
२–३	मनुष्यकी भोगश्रद्धाका गुणानुसार त्रिविध होना। श्रद्धा मनुष्यका स्वभाव है। मनुष्यजीवन श्रद्धानुसार होता है।
४	सात्त्विक, राजस तामसोंकी भोगासक्तिपूर्ण भिन्न भिन्न पूजाओंका वर्णन।
५–६	अनासक्तिविहीन जीवन 'आसुर स्वभाववालोंकी पहचान' है।
७	त्रिगुणबन्धनमें फंसे हुए मनुष्योंके भोजन, यज्ञ, तप, दान आदिके वर्णनकी प्रतिज्ञा।
८	भोगको चिरस्थायी बनानेके इच्छुक सात्त्विकोंके प्रिय आहार।
९	राजसलोगोंके प्रिय आहार।
१०	तामसोंके प्रिय आहार।
११	भोगोंको स्थायी बनानेके इच्छुक सात्त्विकोंके यज्ञ तथा उनका तात्कालिक संयम।
१२	राजसोंके यज्ञ।
१३	तामसोंके यज्ञ।
[illegible]	शारीरिक, वाचिक तथा मानस तपकी परिभाषा।
[illegible]	इन तीन प्रकारके तपोंको तीन स्वभावोंसे बंधे हुए मनुष्योंका तीन भावनाओंसे करना।

(अठारहवां अध्याय–मोक्षसंन्यासयोग)

श्लोकसंख्या	विषय
१४	कर्मके पांच कारणोंका उल्लेख ।
१५	उचित अनुचित सब काम इन्हीं पांच कारणोंसे होते हैं ।
१६	अज्ञानी मनुष्य इन पांचको भूलकर केवल एक अपने आपको कर्ता मान बैठता है ।
१७	ज्ञानी अपनेको कर्ता नहीं समझता । उसके हाथोंसे जो कुछ होता है, वह उसे अपने बन्धनका कारण नहीं बनने देता ।
१८	कर्मके प्रेरकों तथा आधारोंका वर्णन ।
१९	गुणभेदसे ज्ञान कर्म तथा कर्ताके त्रैविध्य बतानेकी प्रतिज्ञा।
२०	सात्विक (शुद्ध सात्त्विक=त्रिगुणातीत) ज्ञानका वर्णन ।
२१–२२	राजस तामस ज्ञान (अज्ञान) का स्वरूप ।
२३	सात्त्विक (शुद्ध सात्त्विक = त्रिगुणातीत) कर्मका वर्णन ।
२४–२५	राजस तामस कर्मका वर्णन ।
२६	सात्त्विक (शुद्ध सात्त्विक = त्रिगुणातीत) कर्ताका वर्णन ।
२७–२८	राजस तामस कर्ताका वर्णन ।
२९	बुद्धि तथा धृतिके गुणानुसार भेदोंके वर्णनकी प्रतिज्ञा ।
३०	सात्त्विक (शुद्ध सात्त्विक = त्रिगुणातीत) बुद्धिका वर्णन।
३१–३२	राजस तामस बुद्धिका वर्णन ।
३३	सात्त्विक (शुद्ध सात्त्विक = त्रिगुणातीत) धृतिका वर्णन ।
३४–३५	राजस तामस घृतिका वर्णन ।
३६–३७	तीन प्रकारके सुखके वर्णनकी प्रतिज्ञा । तथा आत्मदर्शनसे उत्पन्न होनेवाले सात्त्विक (शुद्ध सात्त्विक = त्रिगुणातीत) सुखका वर्णन ।
३८–३९	राजस, तामस, सुखोंका वर्णन ।
४०	देहधारीका तथा गुणोंका अत्याज्य साथ है । परन्तु वह गुणोंके बन्धनको अपनाने या त्यागनेमें स्वतंत्र है । गुणोंके इस अत्याज्य साथके कारण ही ज्ञानीको त्रिगुणातीत होनेका सौभाग्य प्राप्त होता है।
°–४४	त्रिगुण बन्धनमें आबद्ध मनुष्योंके कर्मविभागका वर्णन ।
'५	कर्तव्यपालनसे सिद्धिकी प्राप्ति ।
६	कर्मोंमें अनासक्त होजाना ही ‘ सिद्धि ’ है ।
७	अनासक्तिरूपी स्वधर्म इन्द्रियासक्तिरूपी परधर्मसे श्रेष्ठ है । कर्मत्यागकी भ्रान्त इच्छाका विरोध ।

श्रीमद्भगवद्गीताकी श्लोकानुसार विषयसूची समाप्त

श्रीमद्भगवद्गीताका अध्यायार्थसंग्रह

(१) प्रथम अध्याय ‘ अर्जुनविषादयोग ’

इस अध्यायमें संजयने धृतराष्ट्रके प्रश्नके उत्तरमें युद्धका वर्णन सुनाना प्रारंभ किया है। इसी वर्णनमें श्रीकृष्णार्जुनसंवाद प्रारंभ हो गया है। अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की है कि उसका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें खडा कर दिया जाय। अर्जुन दोनों सेनाओंमें उपस्थित सगे संबन्धियोंको देखकर मोहग्रस्त हो गया। उसने श्रीकृष्णसे अपनी इस मानसिक उलझनको सुलझवानेके लिये (अर्थात् उनसे कर्तव्य निर्णयके विषयमें उपदेश लेनेके लिये) उसे उनके सामने खोलकर रख दिया और जबतक यह उलझन न सुलझा दीजाय तबतकके लिये युद्धरूपी कर्तव्यसे विमुख होगया।

(२) द्वितीय अध्याय ‘ सांख्ययोग ’

यह अध्याय अर्जुनको प्रथम अध्यायमें वर्णित विषादसागरसे उबारनेके लिये रचा गया है, इसमें ‘ सांख्य बुद्धि ’ नामसे शोक मोह हटानेवाले आत्मज्ञानका वर्णन किया गया है, तथा ‘उसी’ ‘सांख्यबुद्धि’के व्यावहारिक रूपको ‘ योग ’ (कर्मयोग) कहा गया है। इसमें अर्जुनको स्थितप्रज्ञ ज्ञानी (ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाला = कर्मके साथ ज्ञानका संबन्ध रखनेवाला) बनानेवाले संपूर्ण मन्तव्य सूत्र रूपमें आगये हैं। इस अध्यायमें प्रतिपादित स्थितप्रज्ञकी स्थितिका ही संपूर्ण गीतामें भिन्नभिन्न दृष्टिकोणोंसे वर्णन किया गया है।

(३) तृतीय अध्याय ‘ कर्मयोग ’

इस अध्यायमें ‘ कर्मयोग ’ की व्याख्या की गयी है। इसमें मनुष्यको कर्म करते समय अपने मनमें जो भावना रखनी चाहिये उसका स्वरूप बताया गया है; तथा उसे ‘ यज्ञ भावना ’ कहा गया है। ‘ यज्ञ भावना ’ तथा सांख्यस्थिति दोनों एक बात हैं। इसमें ‘ सांख्यस्थिति ’को ‘ कर्मयोग ’ का नियामक बताया गया है।

(४) चतुर्थ अध्याय ‘ कर्मब्रह्मार्पणयोग ’

अध्यायमें ‘ ज्ञानयोग ’ तथा ‘ कर्मयोग’ का समन्वय किया गया इन दोनोंको अभिन्न बताया गया है। इसमें यह बात मुख्य रूपसे की गयी है कि ‘ ज्ञान ’ के विना ‘ कर्मयोग ’ नहीं होता, तथा

'कर्मयोग' के विना ज्ञान ' ज्ञान ' नहीं रहता। अर्थात् कर्मके विना ज्ञानका अस्तित्व नहीं होता। ज्ञान, कर्मका आधार पाकर ही अपना स्वरूपलाभ करता है। इसीलिये इसमें कर्मके ब्रह्मार्पण होजानेको ही ' कर्मयोग ' या ' कर्मबन्धन मुक्तिकी अवस्था ' कहा गया है।

(५) पंचम अध्याय ' संन्यासयोग '

जिस बातको चौथे अध्यायमें ' ज्ञान ' तथा ' कर्मयोग ' का समन्वय कहा है, उसीको इस अध्यायमें ' मैं करनेवाला नहीं हूं ' इस अकर्ताहं बुद्धिके रूपमें ' संन्यास ' कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि जिस मनुष्यके जीवनम कर्मके साथ ज्ञानका अत्याज्य नाता जुड़ जाता है, वही ' संन्यासी ' है। जिसका कर्म ज्ञानयुक्त है, जिसका ज्ञान कोरी बात ही बात नहीं है, जिसके ज्ञानको व्यवहारके अखाड़ेमें उतरनेका अदम्य साहस है, वही 'संन्यासी' है। इस अध्यायमें सांख्यस्थितिको ही ' संन्यास ' कहा है।

(६) षष्ठ अध्याय ' आत्मसंयमयोग '

इस अध्यायमें 'सांख्यस्थिति' का व्यावहारिक स्वरूप .अर्थात् 'संन्यासीके व्यावहारिक जीवन ' का वर्णन किया गया है।

(७) सप्तम अध्याय ' ज्ञानविज्ञानयोग '

इस अध्यायमें यह बताया गया है कि ' ज्ञान ' तथा ' ज्ञानानन्द ' में कोई अन्तर नहीं है। ' ज्ञान ' ही ' आनन्द ' है। जहां ' ज्ञान ' होता है वहां ' ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मका आनन्द ' भी अवश्य रहता है।

(८) अष्टम अध्याय ' अक्षरब्रह्मयोग '

इस अध्यायमें यह दर्शाया गया है कि विश्वव्यापी अखण्ड अक्षर एकात्मक सत्तामें तथा ज्ञानी पुरुषकी स्वरूपस्थितिमें परस्पर कोई भेद नहीं है; ये दोनों एक हैं।

(९) नवम अध्याय ' राजविद्या राजगुह्ययोग '

इस अध्यायमें आठवेंमें वर्णित अक्षर स्थितिको प्राप्त करनेकी विद्याका स्वरूप बताया है। इसमें कहा गया है कि ज्ञानी मनुष्योंको अपने मन[illegible] अनासक्त अवस्थाको ही सर्वव्यापी, सर्वस्रष्टा, सर्वाधार, अविनाशी अ[illegible] जानलेना चाहिये। गीताके अनुसार ज्ञानियोंका अक्षरतत्त्वसे अद्वैत (संबन्ध स्थापित रहना चाहिये। इस अध्यायमें भक्त तथा भ[illegible]

एकताको ही 'भक्ति' कहा गया है। इसी अद्वैत भावको 'ज्ञानशिरोमणि' या 'राजविद्या' नाम दिया गया है।

(१०) दशम अध्याय 'विभूतियोग'

इस अध्यायमें इस व्यक्त जगत्को विश्वव्यापी जगदात्माकी 'विभूति' कहा है। यह अध्याय जगत्को विभुकी विभूति कहकर, विभूतिकी ओरसे मनुष्योंका ध्यान हटाना चाहता है और उसे विभुचिन्तामें लगाना चाहता है। इसका यह भाव है कि मनुष्यको इस सत्यको पहचानकर कि यह संपूर्ण संसार आत्मासे उत्पन्न हुआ है, अनन्यचित्त होकर आत्मनिष्ठ हो जाना चाहिये। यही 'भक्ति' है। विभुकी आराधना ही 'भक्ति' का वास्तविक अर्थ है। विभूतिकी आराधना 'भक्तिहीनता' है। विभूतिचिन्ता आत्मदर्शन या ईश्वरलाभका विघ्न है।

(११) एकादश अध्याय 'विश्वरूपदर्शनयोग'

इस अध्यायमें अनुभवकी अनोखी भाषामें आत्मनिष्ठ योगी लोगोंकी संसारको देखनेवाली ज्ञानमयी दृष्टिका वर्णन किया गया है।

(१२) द्वादश अध्याय 'भक्तियोग'

इस अध्यायमें विश्वरूपदर्शन करनेवाली तथा मनुष्यको शोकमोह आदिसे मुक्त रखनेवाली अनासक्तिरूपी 'भक्ति' की महिमा गायी गयी है।

(१३) त्रयोदश अध्याय 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग'

इसमें १२ वें अध्यायवाली 'भक्ति' को ही 'ज्ञान' नाम दिया गया है। इस अध्यायमें 'भक्ति' तथा 'ज्ञान' के एक होनेकी घोषणा की गई है। इसमें प्राकृतिक बन्धनों (आकर्षणों) से मुक्त रहनेको ही 'ज्ञान' का स्वरूप बताया गया है।

(१४) चतुर्दश अध्याय 'गुणत्रयविभागयोग'

इस अध्यायमें, जिन सत्त्व, रज तमके बन्धनसे मुक्त रहना 'ज्ञान' है। उन तीनोंका तथा बन्धनातीत (त्रिगुणातीत) अवस्थाका स्वरूप बताया गया है। इसमें अज्ञानमयी स्थितिसे बचनेके लिये अज्ञानमयी तथा ज्ञानमयी स्थितियोंको आमने सामने रख दिया गया है।

(१५) पंचदश अध्याय 'पुरुषोत्तमयोग'

इस अध्यायमें मनुष्यकी त्रिगुणातीत अवस्थाको ही 'पुरुषोत्तम' नामसे

सम्मानित किया है। अर्थात् इसमें त्रिगुणातीत रहनेवाले आत्मतत्त्वका स्वरूप समझाया गया है।

(१६) षोडश अध्याय 'दैवासुरसंपद्विभागयोग'

इस अध्यायमें त्रिगुणातीत आत्मतत्त्वके उपासकों (ज्ञानियों) तथा त्रिगुणबन्धनमें फंसे हुए अज्ञानियोंकी जीवननीतिको 'दैवी संपत्ति' तथा 'आसुरी संपत्ति' कहा गया है। इसमें ज्ञानी अज्ञानी दोनोंकी स्थितियोंका तुलनात्मक चित्रण करके अन्तमें निष्कर्ष रूपसे यह कहा गया है कि अपने हृदयेश्वर सत्यनारायणकी आज्ञारूपी शास्त्रविधिको मानते रहना ही 'दैवी संपत्तिसे संपन्न होनेकी एकमात्र विधि' है।

(१७) सप्तदश अध्याय 'श्रद्धात्रयविभागयोग'

इस अध्यायमें सत्यरूपी शास्त्रके शासनानुसार न चलनेवाले, आसुरी संपत्तिको अपनानेवाले अज्ञानियोंकी त्रिगुण बन्धनमयी स्थितिका वर्णन किया गया है।

(१८) अष्टादश अध्याय 'मोक्षसंन्यासयोग'

इस अध्यायमें **नित्यसत्त्वस्थ** (गी. २-४५) अर्थात् त्रिगुणातीत जीवनका चित्रण करके वक्तव्यका उपसंहार किया है। इसमें ज्ञानमयी स्थितिको सांसारिक बुद्धिसे उच्चता देकर, अर्जुनके अज्ञानमग्न रहनेकी हानि दिखायी है। युद्धको अटल भवितव्यता कहकर, विवश होकर स्वीकार करनेकी परिस्थिति बताकर; स्थितप्रज्ञ, बुद्धियुक्त, योगारूढ, ज्ञानी, कर्मयोगी, भक्त बनकर, शोकातीत होकर, कर्तव्यपालनकी दृष्टिसे युद्ध करनेमें अर्जुनका कल्याण दिखाया है। उसे विषयभक्तिको छोडकर आत्मभक्तिके लिये उत्साहित किया है। फिर समझाना समाप्त करके उसे स्वयं कर्तव्याकर्तव्य निर्णयका अवसर देकर, उससे 'ज्ञान मार्ग'को अपनाने या न अपनानेका उत्तर मांगा गया है। अन्तमें अर्जुनने अज्ञाननाश तथा ज्ञानपूर्वक कर्म करनेकी नीतिको अपनानेकी घोषणा कर दी है।

श्रीमद्भगवद्गीताका अध्यायार्थसंग्रह समाप्त

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता परिशीलन

प्रथम अध्याय

(अर्जुनविषादयोग)

धृतराष्ट्र उवाच । (धृतराष्ट्र बोले)

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

अन्वय—संजय, धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः युयुत्सवः मामकाः पाण्डवाः च एव किम् अकुर्वत ।

अर्थ— हे संजय, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें एकत्रितहुए युद्धकरना चाहते हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?

भाव— कुरुक्षेत्र रणस्थलको धर्मक्षेत्र केवल इस भावसे कहा जारहाहै कि धीमान् महात्मा, राजर्षि कुरु बहुत दिनोंतक यहांपर खेती करते रहेथे । यह प्रांत इस विश्वाससे तीर्थ माना जाने लगा था कि यहां मृत्यु होनेपर मनुष्यको उत्तम गति प्राप्त हो जाती है । धृतराष्ट्रने अपने कुलको गौरव देनेवाले और उसकी पवित्र स्मृति करानेवाले धर्मक्षेत्र विशेषणका उपयोग किया है ।

धृतराष्ट्रके प्रश्न में यही अभिप्राय प्रतीत हो रहा है कि युद्धक्षेत्रमें युद्धके लिए इकठे हुए दोनों पक्षकी सेनाओं में जो ग्यारह और सात अक्षौहिणीकी विषमताथी उसके कारण पाण्डवपक्ष[illegible] घबराहट तथा पराजय सुनने की जो आशा धृतराष्ट्रने अपने [illegible] पहले बांध रखी थी, भीष्मके निधन होजाने पर अबतक [illegible] आशाको हृदय में बनाये रखने की कुछ बातें संजयके सुनलेने की इच्छा धृतराष्ट्र के मनमेंसे नहीं जारही है ।

संजय उवाच। (संजय बोले)

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ २॥

अन्वय–राजा दुर्योधनः तदा व्यूढं पाण्डवानीकं दृष्ट्वा तु आचार्यम् उपसंगम्य वचनं अब्रवीत्।

अर्थ— राजा दुर्योधन तब व्यूहके आकारमें सुव्यवस्थित खडी पाण्डवसेनाको देखतेही द्रोणाचार्यके पास जाकर यों कहने लगा।

भाव— संजय अपने मनमें इस भावको लेकर उत्तर दे रहा है कि घबराहट पाण्डवपक्षमें कभी नहीं थी। किन्तु दुर्योधनके मनमें प्रारम्भसेही घबराहट, ईर्ष्या तथा दुष्टबुद्धि थी, जोकि अपने पक्षके द्रोणाचार्यके साथ बात तथा वर्तावसे प्रगट होने लगी थी। दुर्योधन पाण्डवसेनाको व्यवस्थित खडी देखकर द्रोणाचार्यको उत्तेजित करनेके लिए ही बोलने लगाथा। क्योंकि उत्तेजना का अभाव था इस लिए उत्तेजनाको उत्पन्न करना दुर्योधनके लिए आवश्यक होगया था। परन्तु पाण्डवपक्षमें उत्तेजना की कभी आवश्यकता नहीं थी। वहां तो अर्जुनके मनमें जोश या लालचमें न आकर स्थिर बुद्धिसे युद्ध करनेका प्रश्न उठा हुआ था। इस भावको लेकर संजय धृतराष्ट्रको यही समझना चाहता है कि पाण्डवपक्षमें जिस झूठी उत्तेजनाको उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं थी, दुर्योधनको उसी उत्तेजना को उत्पन्न करने में प्रारम्भसे ही लगना पड़ा था। इसीसे उसके मनकी घबराहट प्रगट हो रही थी।

पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ ३॥

अन्वय–आचार्य, तव धीमता शिष्येण द्रुपदपुत्रेण व्यूढां पाण्डुपुत्राणाम् एतां महतीं चमूं पश्य।

अर्थ— हे आचार्य तुम्हारे रणकुशल शिष्य, द्रुपदके पुत्र, धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूह बनाकर खड़ीकी हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी सेनाको देखो।

– विरोधियोंमें खड़े हुए द्रोणशिष्य धृष्टद्युम्नको 'रणकुशल' कहकर अपने पक्षमें रहनेवाले गुरुको, शिष्यकी अपेक्षा बढ़ा चढ़ा रहने के लिये उत्तेजित करना चाहा जा रहा है। साथही उसे 'द्रुपदपुत्र'

कहकर द्रोणाचार्य को द्रुपदकी पुरानी शत्रुता याद दिलाकर, उसके प्रति क्रोधको जगाया जारहा है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

अन्वय–अत्र (अस्यां सेनायाम्) युधि भीमार्जुनसमाः, युयुधानः, विराटः, महारथः द्रुपदः, धृष्टकेतुः, चेकितानः, वीर्यवान् काशिराजः, पुरुजित्, कुन्तिभोजः, नरपुंगवः शैब्यः, विक्रान्तः युधामन्युः, वीर्यवान उत्तमौजाः, सौभद्रः, सर्वे एव महारथाः द्रौपदेयाः च शूराः महेष्वासाः च (सान्ति)।

अर्थ— इस सेनामें–युद्ध करनेमें भीम अर्जुन सरीखे, युयुधान, विराट, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्राका पुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदीके सबके सब महारथ पुत्र–महाधनुर्धारी शूर हैं।

भाव— पाण्डवपक्षके वीरोंके नाम द्रोणाचार्यको सुनाते हुए दुर्योधनने विशेष रूपसे द्रुपद और द्रौपदीके पांच पुत्रोंको 'महारथ' कहा है। जो अकेला दस हजार योद्धाओंका सामना करता है उसे 'महारथ' कहा जाता है। इसमें भी द्रोणाचार्यको पुरानी शत्रुताकी स्मृति दिलाकर उत्तेजित करनेका अभिप्राय दुर्योधनके मनमें छिपा हुआ है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥

अन्वय–द्विजोत्तम, अस्माकं तु (पक्षे) ये मम सैन्यस्य विशिष्टाः नायकाः तान् निबोध। ते संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि।

अर्थ— हे द्विजश्रेष्ठ, हमारे पक्षमें जो हमारी सेनाके विशिष्ट नायक हैं, जान लीजिये। आपकी जानकारीके लिए उनके नाम ले रहा

भाव— दुर्योधन अपने पक्षके सब वीरोंके नाम न गिनाकर, केव नायकोंके कुछ नाम लेकर, अपने पक्षमें नायकोंकी कर्म

कर, द्रोणाचार्यके ऊपर, थोड़ेसे नायकों को लेकर लड़ने और इन्हींसे विजय प्राप्त करनेका उत्तरदायित्व डाल रहा है। सैन्य अधिक होनेपर भी, नायकोंकी कमी होनेके कारण, विजय तबतक निश्चित नहीं हो सकती, जब तककि नायक लोग अपने उत्तरदायित्वको समझकर उत्साहसे न लड़ें। द्रोणके मनमें पाण्डवोंके विषयमें जो स्वाभाविक स्नेहका भाव है, जिससे कि वह पाण्डवों से मृदु युद्ध कर सकता है, उस शंकासे शंकित हृदयवाला दुर्योधन, अनेक ढंगोंसे द्रोणाचार्य के मनमें युद्धकी गरमी उत्पन्न करना चाह रहा है।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

अन्वय—भवान्, भीष्मः, कर्णः, समितिञ्जयः कृपः, अश्वत्थामा, विकर्णः, तथैव च सौमदत्तिः, अन्ये च बहवः शूराः मदर्थे त्यक्तजीविताः (सन्ति)। (एते) सर्वे नानाशस्त्रप्रहरणाः युद्धविशारदाः च (सन्ति)।

अर्थ— आप और भीष्म, कर्ण और रणविजयी कृप, अश्वत्थामा आर विकर्ण तथा सौमदत्ति (सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा) इनके अतिरिक्त अन्य अनेक वीर मेरेलिए प्राण देनेको खडे हैं। ये सब ही नानाशस्त्रों और गदा आदि प्रहरणोंको धारण करनेवाले हैं और युद्धमें प्रवीण हैं।

भाव— नायकोंकी संख्या केवल सात बताकर दुर्योधन इन श्लोकोंमें यह बता रहाहै, कि सच्चे मनसे विजय चाहनेवाले और मेरे लिये मरनेवाले, रणकुशल योद्धाओंकी कमी मेरे पक्षमें नहीं है। आवश्यकता केवल इनका सच्चे मनसे ठीक ठीक नेतृत्व करनेकी है। इस बातमें वह अपने मनमें द्रोणाचार्यको दोषी मानरहाहै। परन्तु स्पष्ट रूपसे इस-बातको कहनेका साहस न करके संकेतके द्वारा कह रहाहै, कि आप पाण्डवोंके लिए मनमें जो सहानुभूति तथा विजयेच्छा रखते हैं, उसे छोड़कर, सच्चे मनसे हमारी इतनी बडी सेनाका नेतृत्व कीजिये। हमारे पक्षमें अधिक सेना होतेहुए भी यदि हम हार गये, तो इसका दोष आपपर लगेगा।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अन्वय–अस्माकं भीष्माभिरक्षितं तद् बलम् अपर्याप्तम् । एतेषां भीमाभिरक्षितम् इदं बलं तु पर्याप्तम् (अस्ति)

अर्थ-- भीष्मसे रक्षित हमारी यह सेना अपर्याप्त है। (अर्थात् हमारी सेना इतनी अधिक है कि शत्रु हमारी सेनापर विजय नहीं पासकता) किन्तु उन (पांडवों) की भीमसे रक्षित यह सेना पर्याप्त है ।(अर्थात् इतनी थोड़ी है कि हम उसे अपने विशाल बलसे अवश्य जीत सकते ह ।)

भाव—यहां भी द्रोणाचार्यपर यही कटाक्ष किया जारहा है कि अबतक हमने जो युद्धका प्रबन्ध किया है, उससे तो हमारी विजय निश्चित है। यदि वह विजय हमें न मिली तो इसके उत्तरदायी आप होंगे।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अन्वय–भवन्तः सर्वे एव हि यथाभागं सर्वेषु अयनेषु अवस्थिताः भीष्मम् एव अभिरक्षन्तु ।

अर्थ— (सो अब) आप सब मिलकर अपनी अपनी नियुक्तिके अनुसार सब मोर्चेपर अवस्थित होकर भीष्मकीही सब तरहकी रक्षा कीजिये।

भाव— भीष्म पितामहही कौरव पक्षकी शक्तिके स्तम्भ थे। उस स्तम्भका पतन होना और कौरवविजयका मूलोच्छेद होजाना एकही बात थी। दुर्योधन इस बातको भलीभांति जान रहा था। इस लिये भीष्मको ही अपना प्रधान सहायक मानकर, द्रोणाचार्य के कन्धेपर उनकी रक्षाके उत्तरदायित्वको डाल रहाथा। इस श्लोकको कहकर संजयने धृत-राष्ट्रको दुर्योधनकी उस मनोदशाका परिचय देदिया जो कि भीष्म के मरनेपर अब दुर्योधनकी होगई होगी।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

अन्वय–प्रतापवान् कुरुवृद्धः पितामहः तस्य हर्षं संजनयन् उच्चैः सिंह-विनद्य शंखं दध्मौ ।

अर्थ— (इतनेमें) प्रतापी कुरुवृद्ध भीष्मपितामहने दुर्योधनको अ करते हुए उच्च स्वरसे सिंहनाद करके शंख बजाया।

भाव— इस श्लोकमें संजय धृतराष्ट्रको यह समझा रहे हैं कि दुर्योधनके मनमें भीष्मके विषयमें पाण्डवोंके पक्षपातका जो संदेह था, वह युद्धके प्रारम्भमें भीष्मपितामहके उत्तरदायित्वपूर्ण और उत्साहपूर्ण व्यवहारसे दूर हो गया था। संजय धृतराष्ट्रको यह भी समझा रहे हैं कि भीष्मकी मृत्युको कौरवपक्षकी अधिकता रोक नहीं सकी। इतनी बड़ी सेनासे सुरक्षित होते हुए और सेनापतिके कार्यको उत्साहसे निभाते हुए, पाण्डव पक्षको हरानेमें असमर्थ होकर भीष्म जैसे वीरश्रेष्ठका स्वयं मर जाना, इस बातका संकेत कर रहा है कि पाण्डव रणकुशल हैं, वे धर्मबलसे बलवान हैं, तथा उत्साह और हर्षपूर्वक युद्धरूपी कर्तव्य पालनमें तत्पर हैं।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

अन्वय—ततः शंखाः भेर्यः पणवानकगोमुखाः च सहसा एव अभ्यहन्यन्त स शब्दः तुमुलः अभवत्।

अर्थ—तदनन्तर शंख, भेरी, पणव, आनक, और गोमुख सब एकसाथ बजादिये गये। वह शब्द भारी होगया।

भाव— धृतराष्ट्र दुर्योधनपक्षके हर्षित होनेकी बात सुनकर, मन ही मन विपक्षी पाण्डवोंके हर्षहीन होनेका सन्तोष भोगलेना चाहते थे। परन्तु प्रत्यक्षदर्शी और होनहारको आंखोंसे देखनेवाले संजयने कौरवपक्षके नेताओंके बाजे बजानेकी बातको पृथक् पृथक् न सुनाकर एकही बार कह डाला। उस सम्मिलित ध्वनिका पाण्डवपक्षपर क्या प्रभाव पड़ा? यह कुछभी न बताकर उसको बड़े भारी कोलाहलका रूप देकर छोड दिया। इस प्रकार संजयने धृतराष्ट्र के मनमें काल्पनिक सन्तोषका अवसरभी नहीं रहने दिया और पाण्डवोंकी महत्ता तथा कौरवोंके बलकी उपेक्षा प्रकट करदी।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ॥
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

न्वय—ततः श्वेतैः हयैः युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ माधवः पाण्डवः च एव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।

तब सफेद घोडोंसे जुड़े हुए उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी दिव्य शंख बजादिये।

भाव— अब संजयने पाण्डव पक्षके उत्साहका वर्णन अर्जुनके रथ और घोड़े आदिकी प्रशंसासे प्रारंभ किया। कृष्णका नाम पहले देकर संजय धृतराष्ट्रके मनको इस प्रकार लज्जित कर रहे हैं कि जिस पक्षको हर्षित करनेवाले स्वयं माधव हैं, उस पक्षकी विजयको यदि तुमने अबतक भी अवश्यंभावी नहीं समझा, और दुर्योधनकी विजयके स्वप्न अब भी देख रहे हो, तो इससे बढ़कर तुम्हारी बुद्धिहीनताकी बात क्या हो सकती है ?

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १७ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १८ ॥

अन्वय—हृषीकेशः पांचजन्यं, धनञ्जयः देवदत्तं, भीमकर्मा वृकोदरः पौंड्रं महाशंखं दध्मौ। कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः अनन्तविजयं (दध्मौ) नकुलः सहदेवः च सुघोषमणिपुष्पकौ (दध्मतुः) पृथिवीपते, परमेष्वासः काश्यः महारथः शिखण्डी, धृष्टद्युम्नः विराटः, अपराजितः सात्यकिः, द्रुपदः, द्रौपदेयाः, महाबाहुः सौभद्रः च सर्वशः पृथक्पृथक् शंखान् दध्मुः।

अर्थ— हृषीकेशने 'पांचजन्य' अर्जुनने 'देवदत्त' भीमकर्मा भीमसेनने 'पौण्ड्र' नामके महाशंख बजाये। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने 'अनन्तविजय' नकुलने 'सुघोष' सहदेवने 'मणिपुष्पक' शंख बजाये। हे पृथिवीपते, महाधनुर्धर काशिराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदीके सब पुत्र तथा महाबाहु सौभद्र (अभिमन्यु) इन सबने सब ओरसे अलग अलग, अपने अपने शंख बजाये।

भाव— निःसन्देह दुर्योधन पक्षमें भी अलग अलग शंख रहे होंगे। परंतु उनका अलग अलग नाम न सुनाकर अब पाण्डव पक्षके एक एक शंखकी अलग अलग ध्वनि सुनाते हुए संजय, धृतराष्ट्रके हृदयमें विजयाशाको बांध रखनेवाले एक एक तन्तुको तोड़ तोड़ कर फेंक रहे हैं।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥
नभश्च पृथवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

अन्वय—नभः च पृथिवीं च एव व्यनुनादयन् स तुमुलः घोषः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

अर्थ— आकाश और पृथिवीको दहलाते हुए उस तुमुल शब्दने धातराष्ट्रोंके हृदयोंको चीर डाला ।

भाव— संजयने धृतराष्ट्रको दुर्योधनपक्षकी जो तुमुल शंखध्वनि सुनाई है उस की अपेक्षा पाण्डवपक्षकी तुमुल शंखध्वनिमें यह विशेषता बताई जा रही है कि सात अक्षौहिणी सेनाकी ओरसे उठी हूई गूंजसे ग्यारह अक्षौहिणी वाले पक्षका जी तोड़ दिया गया था। निःसन्देह दुर्योधनपक्षमें शंखोंकी कमी नहीं थी, और उन शंखोंकी ध्वनि भी पाण्डवपक्षकी ध्वानिसे छोटी नहीं रही होगी। परन्तु दोनों पक्षोंकी ध्वनियोंको सुननेवाले हृदयोंमें आकाश पातालका अन्तर था। दुर्योधनपक्षमें एकत्रित हुए हृदय, पापको अपनाने वाले होनेके कारण धर्मपरायण प्रतिपक्षीकी शंखध्वनिमें नरक-दर्शन करानेवाली अपनीही अज्ञानमयी मृत्युका डंका बजता हुआ सुनकर कांप उठे थे। शंखध्वनि और उससे पड़नेवाले प्रभावको सुनाकरही संजयने धृतराष्ट्रसे ‘ यतोधर्मस्ततो जयः ’ की महावाणी सुनादी थी ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कापिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अन्वय—महीपते अथ शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते कपिध्वजः पाण्डवः धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धनुः उद्यम्य तदा हृषीकेशम् इदं वाक्यम् आह ।

अर्थ— हे राजन् (धृतराष्ट्र) तब शस्त्रप्रहारके लिये उद्यत हो जाने पर कपिध्वज अर्जुन, धार्तराष्ट्रोंको व्यवस्थित देखकर, धनुष उठाकर, उस समय श्रीकृष्णसे यह बोले ।

अर्जुन उवाच-(अर्जुन बोले)
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

अन्वयः—अच्युत, यावत् अहं एतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् निरीक्षे (तावत्) मे रथम् उभयोः सेनयोः मध्ये स्थापय। युद्धे दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्य प्रियचिकीर्षवः ये एते (योत्स्यमानाः) अत्र समागताः तैः कैः सह मया अस्मिन् रणसमुद्यमे योद्धव्यं तान् योत्स्यमानान् अहम् अवेक्षे ।

अर्थ—हे अच्युत, जिससे मैं खड़े हुए इन युद्धार्थियोंका पूर्ण निरीक्षण करलूं इसलिये मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें लेजाकर खड़ाकरदो। युद्धमें दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय करना चाहते हुए ये जो (युद्धेच्छु) यहां एकत्रित हुए हैं, उन किनके साथ मुझे इस संग्राममें लड़ना पड़ेगा उन्हें मैं देखतो लूं ।

भाव—दुर्बुद्धि दुर्योधनका प्रिय करना चाहनेवाले भी दुर्बुद्धि ही हैं, इस बातको कटाक्षकी भाषामें कहते हुए अर्जुन अपनी धमारूढ स्थितिका स्वाभिमान तथा युद्धमें विजयी होनेका आत्मविश्वास प्रकट कर रहे हैं । युद्धक्षेत्रमें अपने स्वजनोंको देख चुकनेके अनन्तर जो निर्बलता आनेवाली है, वह निर्बलता अभीतक नहीं आई है, इस कारण अभीतक वीरोचित रणोत्साह अर्जुनके मनमें भरा हुआ है । इस बातको सुनाते हुए संजय धृतराष्ट्रको यही संकेत कर रहे हैं कि अर्जुनका रणोत्साह धर्मोत्साहसे भिन्न नहीं है। इसकी तुलना में दुर्योधनकी मनोवृत्तिकी जो नीचता स्पष्ट दिखाई जा रही है, उसी नीचताका दमन करना अपना धर्मानुमोदित कर्तव्य समझ करही अर्जुन युद्धोद्यम में लगे हैं। जिस कर्तव्यबुद्धिकी प्रेरणा अर्जुनको कृष्ण भगवान्से मिलीथी और जो आगे चल कर सम्पूर्ण गीतोपदेशका रूप धारण कर गई है, उसीकी सूचना या पूर्वाभास यहांपर बीजरूपमें संजयने दिया है ।

संजय उवाच (संजय बोले)

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

अन्वय—भारत, गुडाकेशेन एवम् उक्तः हृषीकेशः उभयोः सेनयोः मध्ये भीष्म-द्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षितां (प्रमुखतः) रथोत्तमं स्थापयित्वा पार्थ, एतान् समवेतान् कुरून् पश्य इति उवाच।

अर्थ— हे धृतराष्ट्र गुडाकेशसे ऐसा कहेगये हृषीकेश (अर्थात् इद्रिन्योंके स्वामी) श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्मद्रोणादि सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खडाकरके कहा, कि हे पार्थ, लो एकत्रित हुए इन सब कौरवोंको देखलो।

भाव— कभी मोहग्रस्त न होनेवाले अर्जुनकी विपक्षियों को देखलेनेकी इच्छाको पूरा करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा करके, जिस प्रकार अर्जुनके मनकी शंकाओंका समाधान कियाथा, उसकी निश्चित रूपरेखा पहलेसेही समझा देनेके लिए अर्जुनके लिये ‘ गुडाकेश ’ तथा उसके रथके लिये ‘ रथोत्तम इन दो गंभीर भाव रखनेवाले शब्दोंका प्रयोग संजयने जान बूझकर किया है। ‘ गुडाकेश ’ शब्दके द्वारा अर्जुनको अभ्रान्त धर्मानुमोदित कर्तव्य करनेवाला बताया जा रहा है। ‘ उत्तमरथ ’ के द्वारा यह बताया जा रहा है कि जिस रथके सारथि स्वयं भगवान हैं वह रथ उत्तम कार्य के बिना अर्थात् धर्मरक्षार्थ रणरत होनेके अतिरिक्त दूसरे उप-योगमें कभी नहीं आसकता। यों संजय पाण्डव पक्षका समर्थन करते हुए धृतराष्ट्रको समझा रहे हैं कि जो रथ धर्मरक्षार्थ रणभूमिमें उतर है, समझलोकि वह अधर्मरूपी शत्रुपक्षका नाश करके छोड़ेगा।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥ २६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

अन्वय—अथ पार्थः तत्र उभयोः अपि सेनयोः स्थितान् पितॄन् पितामहान् आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् तथा सखीन् श्वशुरान् सुहृदः च एव उभयोः अपि सेनयोः स्थितान् अपश्यत्।

अर्थ— इसके अनन्तर अर्जुनने वहां (अपने) पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, मित्र, श्वशुर, और सुहृदोंको दोनोंही सेना-ओंमें खडे हुए देखा।

भाव— जिन संबान्धियोंको अर्जुनने देखाथा वे सब दुर्योधनकी भी आखों के सामने थे। दिव्य दृष्टि पाये हुए संजय दोनों के मनको देखनेमें समर्थ थे। इस दृश्यको देखकर दुर्योधनके मनमें कुछ भाव आयाथा यानहीं, इस संबन्धमें जान बूझ कर कुछ भी न कहकर केवल अर्जुनके ही मनकी स्थितिको धृतराष्ट्रके सामने रखकर संजय यही भाव दर्शा रहे हैं कि जिस दृश्यको देखकर अर्जुनके मनमें कर्तव्याकर्तव्यका प्रश्न उदय हुआथा, उसी दृश्यको देखकर, अर्जुनकी तरहही उन योद्धाओंके साथ समान संबन्ध रखते हुए भी दुर्योधन, स्वार्थान्ध होनेके कारण, दुर्नीतिके वशमें आकर, कर्तव्य-मूढ होगया था। जिनके संहार के लिए दुर्योधनने हृदयको कठोर कर लिया था और अर्जुनको भी कठोरहृदय होकरही कर्तव्यपरायण होना था, उन संबन्धियोंके साथ अपने संबन्धका उपयोग अर्जुनने तो इस रूपसे किया कि गाण्डीव उठानेसे पहले धर्मकी कसौटीपर अपने कर्तव्यको कसलिया और मोहके पात्रोंके मोहसे अपनेको निर्मोह रखनेके लिएही उस अवसरका उपयोग किया। किन्तु दुर्योधन लोभके वश होकर स्वजनोंका वध करनेमें बेधड़क होगया। इस अवसर पर अर्जुनकी घबराहट तथा दुर्योधनका बेधड़कपन दिखाकर संजय यही बतारहा है कि समझदार जहां पैर रखते हुए घबराते हैं, मूर्ख वहां बेधडक होकर कूद पडते हैं।

तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

अन्वय—स कौन्तेयः तान् सर्वान् बन्धून् अवास्थितान् समीक्ष्य परया कृपया आविष्टः विषीदन् इदम् अब्रवीत् ॥

अर्थ— वह अर्जुन उन सब बन्धुओंको अवास्थित देखकर परम करुणासे व्याप्त होकर विषाद करता हुआ यह बोल उठा।

भाव— अर्जुनके विषादका यहां यही अभिप्राय है कि हम बन्धुओंको क्यों मारें ? जिस मनुष्यका काम करनेसे पहले सोचलेनेका स्वभाव होजाता है वह मनुष्य प्रत्येक कामको करनेसे पहले उसपर भले प्रकार विचार करलेता है तबही उसमें हाथ डालता है। अर्जुनने बन्धुओंको लड़ाईके मैदानमें खडे देखकर अपनेही मनसे यह प्रश्न

कियाथा कि हम इनको क्यों मारें ? इनके जीवित रहनेसे हमारा क्या बिगडता है ? इस समयके अर्जुनके इस विचारसे यह आभिप्राय नहीं निकालना चाहिये कि यदि अर्जुनको इस अवसरपर किन्हीं सम्बन्धरहित विपक्षियों के साथ लडना पडता या किसी मनुष्येतर प्राणीके ऊपर हथियार उठाना पडता तो अर्जुन यह सब विना विचारे अंधेकी तरह कर बैठा होता ? जैसे आज अर्जुन कृष्णको अपने पास पाकर अपने मनकी शंकाको मिटा करही कर्तव्य करना चाहरहा है, वैसेही इससे पहले भी कर्तव्याकर्तव्यविचारका अवसर आनेपर वह अपने अन्तर्यामी भगवानसे अपने मनके प्रश्नोंका यथोचित उत्तर लेकरही कर्तव्य करता रहा है। अर्जुनका यह स्वभाव आज भी उसको विचारेविना युद्धक्षेत्रमें विपक्षियोंके ऊपर हथियार उठाने नहीं दे रहा है। अर्जुनका जो सदाका स्वभाव आज उसके मनमें अकर्तव्यसे बचे रहनेके लिए घबराहटके रूपमें प्रकट हुआ है, दुर्योधनका वही सदाका स्वभाव उसे अब भी लालचसे अन्धा बनाकर, बेधड़क होकर इस नरहत्यारूपी अकर्तव्यमें प्रवृत्त कर रहा है। यों केवल अर्जुनकी मनोदशा और स्वभावको स्पष्टरूपसे बताकरही, महाकवि संजयने, अर्जुनसे सर्वथा विपरीत मानसिक स्थिति रखनवाले, कलंकितहृदय दुर्योधनकी मनोदशा के सम्बन्धमें मौन रहकर भी, अपनी सुचतुर निःशब्दभाषाके द्वारा, धृतराष्ट्रको उसका पूरापूरा परिचय दे दिया है। युद्धके प्रारम्भमें संजयसे धृतराष्ट्रने जो पाण्डवोंको लोभी गृध्र बताकर अपने पुत्रके दोष ढकनेकी प्रवृत्ति प्रकटकी थी, इस श्लोकमें उसीका उत्तर देकर संजय धृतराष्ट्रको लज्जित भी कर रहा है।

अर्जुन उवाच ॥ (अर्जुन बोले)

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

अन्वय–कृष्ण, युयुत्सुं समुपस्थितम् इमं स्वजनं दृष्ट्वा मम गात्राणि सीदन्ति मुखं च परिशुष्यति । मे शरीरे वेपथुः रोमहर्षः च जायते । हस्तात्

गाण्डीवं स्रंसते त्वक्च परिदह्यते एव । अवस्थातुं न शक्नोमि। मे मनः च भ्रमति इव ।

अर्थ— हे कृष्ण युद्ध करनेकी इच्छासे यहां इकठे हुए इनसब स्वजनोंको देखकर गात्र शिथिल होरहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीरमें कम्प और रोमांच हो रहा है। हाथसे गाण्डीव छुटा पड़ता ह, त्वचामें दाह हो रहा है, मुझसे खड़ा नहीं रहा जाता, मेरा मन चक्करसा खा गया है।

भाव—जो अर्जुन इससे पहले इस ढंगके सब अवसरोंपर रणक्षेत्रमें धीर भावसे अपना कर्तव्यनिर्णय करके अपने वीरोचित सुदृढ हृदयका परिचय देते हुए समर क्षेत्रमें बाहुबलका प्रदर्शन किया करताथा, उसी अर्जुनके हाथसे आज गाण्डीव छुटगया है। इसका कारण उसका स्वजनमोह है। स्वजन समझे जानेवाले कुछ देहोंमें, अपने देह के समान ममत्व बुद्धि करलेना ही 'स्वजनमोह'का अभिप्राय है। मोहके वश होकर स्वजन समझे जानेवालोंके सुखदुःखको मनकी कल्पनासे अपने देहोंमें अनुभव करलेना 'स्वजनमोह' है। इस भ्रान्तिके कारण मनुष्य सुख न होनेपर भी काल्पनिक सुखसे सुखी हो जाते हैं, और दुःख न होनेपर भी काल्पनिक दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। उदाहरणके रूपमें, यदि किसी व्यक्तिकी आंखें बांधकर उसे भयभीत करके, तलवारसे उसका सिर धड़से अलग कर दिये जानेकी धमकी देकर, उसके गलेपर एक ठूंठा चाकू भी फेर दिया जाय तो वह काल्पनिक भय, उसके मनमें सचमुचही उसके शरीरसे सिरके अलग हो जानेकी भ्रान्तिको उत्पन्न करके, उसे मूर्च्छित कर डालेगा। देहमें ममत्वबुद्धि रखनेवाले मनुष्योंके मनमें, अपने शरीरोंमें, और अपने समझे जाने वालोंके शरीरोंमें, सुख दुःखोंकी ऐसीही भ्रान्ति हुआ करती है। यही कारण है कि आज अर्जुन युद्धक्षेत्रमें स्वजनोंकी काल्पनिक मृत्युयन्त्रणासे, अपनी कल्पनाके द्वारा स्वयंही मृत्युयन्त्रणाका शिकार होकर रो रहा है। अभी तक किसीके शरीरमें बाणकी नोकतक भी नहीं छूगई है, अभीतक सब योद्धा उत्साहके साथ रणभूमिमें डटे हुए हैं, परन्तु अर्जुनकी अवस्था कैसी हो गई है? मानो रणभूमिमें घायल होकर रक्तसे सनकर अवसन्न होकर गिर

पडाहो, हाथ में अस्त्रधारण करने की शक्ति न रहगई हो, उठखडे होने की तिलमात्र भी आशा शेष न बची हो। ऐसे काल्पनिक भयसे भयभीत होकर अर्जुन कह रहा है कि हमारा मस्तिष्क चक्कर खारहा है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

अन्वय—केशव, निमित्तानि च विपरीतानि पश्यामि। स्वजनम् आहवे हत्वा श्रेयः च न अनुपश्यामि ॥

अर्थ— हे केशव, मैं सब विपरीत लक्षण देखरहाहूँ स्वजनोंको युद्धमें मारकर कल्याण (होगा यह) नहीं देख रहाहूं।

भाव— अर्जुनका मस्तिष्क चक्करमें आगया है, यह बात इस श्लोकसे स्पष्ट हो रही है। वह प्रेयको ही श्रेय समझ बैठा है। असत्यको ही सत्य समझ गया है। यही कारण है कि उसे विपरीत लक्षण दीखने लगे हैं। युद्धमें स्वजनोंके मारे जानेके भयसे उसको श्रेय दीखना बन्द होगया है। वह स्वजनोंको ज्यों का त्यों रहने देनेके लिये लड़ाई छोड़ना चाहता है। परन्तु युद्धके छिड़नेसे प्रथमही पांचों भाइयोंने मिलकर जब युद्ध करनेका निश्चय किया होगा, तबही इस बातको भी भले प्रकार सोच लिया होगा, कि युद्ध जैसे काममें पड़नेसे प्रथम मनुष्यको स्वजनोंके साथ सदा रहनेके मोहको त्यागनाही पडता है। इस लड़ाईमें या तो स्वजनोंका भौतिक अस्तित्व लुप्त हो जाय या हमारा भौतिक अस्तित्व लुप्त हो जाय, दोनोंही स्थिति स्वजनोंसे अलग होनेकी हैं। निश्चितरूपसे अपनेको स्वजनोंसे वियुक्त कर देनेवाली इस लडाईमें प्रवृत्त होकर, अर्जुनके मनमें यह कोई नई बात अभी अभी सूझ पडी हो ऐसी बात नहीं है। परन्तु आंखोंके सामने प्यारे समझे जानेवाले कुछ देहोंको मृत्युका ग्रास होता देखकर, अर्जुन विस्मृतिमें पड गया है। अर्जुन युद्ध करनेका निश्चय करनेके समयकी अपनी मानसिक स्थितिको भूलगया है। स्वजनोंके साथ रह सकनेके लिए युद्ध जैसे कठोर कर्तव्यसे बचना चाहकर ही दुर्योधनसे अपने हिस्सेके राजके बदलेमें पांच गांव मांगे गये थे। क्या दुर्योधनके गांवदेना अस्वीकार करदेनेके अनन्तर पांचों पाण्डवोंको संसारमें कहीं भी रहनेको स्थान मिलना असंभव होगया

था ? यदि स्वजनोंके साथ रहनेके लिए युद्धसे बचनाही महत्त्व-पूर्ण कर्तव्य समझा जाता, तबतो इस बातके उपाय भी युद्धसे पहलेही निकाले जाकर तदनुसार कार्य किया जासकता था। परन्तु उस समय स्थिरबुद्धि होकर पांचों पाण्डवोंने तथा श्रीकृष्णने युद्ध करनेको स्वजनोंके साथ रहनेसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य समझ लियाथा। उन्होंने पारस्परिक विचारद्वारा निश्चय किया था कि सत्यकी रक्षाके लिए, धर्मकी रक्षाके लिये, दुर्योधनके असत्याचरणका दमन करके, अपने जीवनको सत्यपर सुप्रतिष्ठित रखना, उनके मनुष्यजीवनधारणका अभिप्राय है। उसी अपने महत्त्व-पूर्ण निश्चयको आज मोहग्रस्त अर्जुन भूलगया है।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

अन्वय—कृष्ण विजयं न कांक्षे राज्यं सुखानि च न कांक्षे। गोविन्द राज्येन भोगैः जीवितेन वा नः किम्।

अर्थ— हे कृष्ण, मैं विजय नहीं चाहता, राज्य और सुख भी मुझे नहीं चाहिये। हे गोविन्द राज्य भोग तथा जीवनको क्या करूं ?

भाव— अब अर्जुन स्पष्टरूपसे युद्धमें प्रवृत्त होनेकी कर्तव्यबुद्धिको भूल गया है और राज्यसुखके लियेही युद्ध किया जा रहा है ऐसा मानकर कृष्ण भगवान्से कह रहा है कि हमें जिस लड़ाईमें स्वजनोंको खो देना पड़ेगा, उसमें विजयी हो जांयगे तबभी राज्य भोग और जीवन हमारे लिये दुःखदायी बन जायेंगे।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ ३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा॥३४॥

अन्वय—येषाम् अर्थे नः राज्यं कांक्षितं, भोगाः सुखानि च (कांक्षितानि) ते इमे आचार्याः पितरः पुत्राः तथा पितामहाः मातुलाः श्वशुराः श्यालाः तथा संबन्धिनः प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे अवस्थिताः।

अर्थ— जिनके लिये हम राज्य भोग और सब सुख चाहते थे वेही ये सब आचार्य, पितर, पुत्र, पितामह, मातुल, श्वशुर, श्याल, और अन्य संबन्धी जीवन और धनकी आशा छोड़कर युद्धस्थलमें खड़े हैं।

भाव—राज तथा सुख भोगोंको निःसन्देह स्वजनोंके मोहमें बंधे हुए मनुष्यही चाहाकरते हैं। ऐसे मनुष्य अपनी विजय भी चाहते हैं और उसके साथ स्वजनोंसे मिलकर निष्कंटक जीवित रहनेका स्वप्न भी देखा करते हैं। दुर्योधन भी यही स्वप्न देख रहा है। परन्तु अर्जुन राज्यके लोभसे युद्धमें प्रवृत्त नहीं हुआ था। इस लिये यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि स्वजनोंके साथ रहकर राजभोग करनेका दुष्ट स्वप्न अर्जुनके मनमें नहीं था। परन्तु अब युक्तिके रूपमें, अर्जुनका यह कहना कि स्वजनोंको मारना पड़े तो हम राज नहीं चाहते, उसके क्षणिक स्वजनमोहको प्रकट कर रहा है। स्वजनवधरूपी युद्धमें प्रवृत्त न होनेके लिये अर्जुनके मुखसे राज्यकी अनिच्छा प्रकट कराकर संजयने अर्जुन और दुर्योधनकी मनोदशाका पार्थक्य धृतराष्ट्रको स्पष्ट रूपसे देख लेनेका अवसर दे दिया है। जहां राज्यका लोभ दुर्योधनको अंधा बनाकर स्वजनवध करा रहा है, वहां स्वजनोंका मोह राज्यका लोभ छुड़ाकर अर्जुनको स्वजनवध करनेवाले संग्रामसे विरत कर रहा है।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

अन्वय—मधुसूदन घ्नतः अपि एतान् महीकृते किंनु त्रैलोक्यराज्यस्य अपि हेतोः न हन्तुम् इच्छामि।

अर्थ— हे मधुसूदन मुझको मारने के लिये सन्नद्ध हुए भी इनको, मैं पृथिवीके लिये तो क्या त्रिलोकीके राज्य तकके लिये भी मारना नहीं चाहता।

भाव— अर्जुन इनको मारना नहीं चाहता। जब अर्जुन इनको मारनेका उद्यम छोड़देगा, तो वे भी इनको मारना बन्द करदेंगे। यों युद्धकी संभावनाको अर्जुन अपनी ओरसे बन्द करदेना चाहता है। इस श्लोक में मोहग्रस्त होनेपर मनुष्यमें जो क्लीबता आया करती है, वही स्पष्ट झलकरही है। जो मनुष्य अपनेको प्रतिपक्षीका विरोध करनेसे बचालेना चाहता है वह यही कहाकरता है कि चाहे तुम हमें मारडालो परन्तु हम तुमको नहीं मारेंगे। इस ढंगकी बातें कहकर प्रतिपक्षीको अपने ऊपर हथियार न उठाने के लिए विवश करना

चाहा जाता है। ऐसी भावना मानसिक निर्बलता आनेपर मनुष्य को कर्तव्यभ्रष्ट किया करती है। इस बातमें मोहग्रस्त अर्जुनकी कर्तव्यभ्रष्ट मानसिक स्थिति स्पष्ट हो रही है। वह कृष्ण भगवान् के सामने दूसरे शब्दोंमें अपनी इस निर्बलताको हटाकर युद्धकी प्रेरणा देनेके लिए प्रार्थना भी कर रहा है।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

अन्वय—जनार्दन धार्तराष्ट्रान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात्। एतान् आततायिनः हत्वा पापम् एव अस्मान् आश्रयेत्।

अर्थ— हे माधव, (इन) धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमारा कौनसा प्रिय होगा? इन आततायियोंको मारकर हमें पाप ही लगेगा।

भाव—धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर सुख नहीं मिलेगा, तथा ऐसे आततायियों को मारनेसे पापभी लगेगा, ये दोनों युक्ति मोहग्रस्त होनेपर अर्जुनके मुखसे सारहीन प्रलापके रूपमें निकल पड़ी हैं। सुख के लिए किसीको मारना विचारवान् मनुष्यके लिये कभी भी कर्तव्य नहीं हो सकता। विचारहीन मनुष्य लोभके वशमें आकर जब हिंस्र पशु जैसा हो जाता है, तब सुखेच्छासे किसीको मारता है। अर्जुनको समझना चाहिये था कि उसका सारथि बनकर, उसे युद्धमें प्रवृत्त करके, उसके द्वारा किसीको मरवाकर, उसकी सुखेच्छाकी तृप्ति कराना भगवान् का उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता था। अर्जुन ऐसी युक्ति कृष्ण भगवान् के सामने रखकर आत्मविस्मृतिका पता देरहा है। अर्जुन इन आततायियोंको मारनेसे पाप लगेगा, यह दूसरी बात कहकर अपने मनकी विचारशून्यताको और भी अधिक स्पष्ट कर रहा है। बताओ तो सही कि इन आततायियोंको छोड़कर दूसरे आततायी कौनसे हो सकते हैं, जिनको मारनेसे पाप न लग सकता हो? अर्जुन अब अपने ही मनकी बात नहीं समझ रहा है। अब मोहग्रस्त अर्जुन कभी किसी को मारना भी कर्तव्य हो जाता है, ऐसी बात समझने में असमर्थ बनगया है।

आततायियोंको मारना नहीं चाहिये यह बात अर्जुनके मनमें सिद्धान्तरूपसे नहीं बैठी हुई है। केवल इन्हीं आततायियोंको मारनेसे

पाप लगेगा, इस बातका समर्थन करनेके लिए अर्जुनके पास केवल यही युक्ति है कि धार्तराष्ट्रोंको मारनेसे हमारा कौनसा प्रिय हो जायगा ? अर्थात् अर्जुनको धार्तराष्ट्रों जैसे आततायियोंको न मारनेके लिये अपना सुख ढूंढ लेनेके अतिरिक्त और कोई भी प्रबल युक्ति नहीं सूझ रही है। अर्जुन जिनको आततायी समझ रहा है, उनको न मारनाही कर्तव्य है इस बातपरभी वह दृढ नहीं है। इसीकारण पूछ रहा है कि इनको मारनेसे कौनसा इष्ट सिद्ध होगा ? इसका भाव यही है कि यदि किसी इष्टसिद्धिकी संभावना हो तो वह इनको मारनेको उद्यत हो सकता है। इनको मारनेसे जो कर्तव्य-पालनरूपी इष्ट सिद्ध होगा अब अर्जुन उसको सर्वथा भूल गया है, यों आततायी अर्थात् वध्य समझकर भी इनको न मारनेके लिये जो मोहमूलक निर्बलता प्रकट हुई है, अर्जुनके मनमें उसे हटानेके लिए सामर्थ्य नहीं रहा है। वह उसे हटानेके लिये कृष्ण भगवानसे दीन भावसे ज्ञानालोककी मांग उपस्थित कर रहा है।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

अन्वय—माधव तस्मात् स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान् हन्तुं वयं नार्हाः। स्वजनं हि हत्वा कथं सुखिनः स्याम।

अर्थ— हे माधव इस कारण अपने बन्धुओं इन कौरवोंको मारना हमें उचित नहीं है। स्वजनोंको ही मारकर हम किसतरह सुखी होंगे ?

भाव— अर्जुन दुर्योधन आदिको अपना स्वजन माननेकी भूल कर रहा है। स्वजन माननेका भाव यही है कि उनके देहोंमें उसकी ममता है। मनुष्य अपनी ममतामें चोट आने पर अपने आपही दुःख माना करता है। जहां दुःख है वहां सुखकी संभावना कहां हो सकती है? अर्जुन यहां भ्रान्तिमूलक सुखदुःखके बन्धनमें फंस गया है। काल्पनिक सुखदुःखके अतीत होकरही निर्मल कर्तव्यबुद्धिका दर्शन किया जासकता है। अपने समझे जानेवाले दुर्योधन आदि जो दुष्कर्म कर रहे हैं, उसको देखकर, यदि अर्जुन उस संबन्धमें कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेमें प्रवृत्त हुआ होता, तो उसके सामने चुननेके लिये अबभी कर्तव्य तथा अकर्तव्य दो विपरीत परिस्थितियां उपस्थित हैं

यह बात उसकी समझमें आजाती। ममत्वबुद्धिने अर्जुनका जिनके साथ संबन्ध जोड रक्खा है, उनके साथ आजतक कैसा संबन्ध रहा है? और आगेके लिये कैसा रखना चाहिये? यदि उसने इसपर विचार किया होता तो उसको अपने अन्दरसे यही उत्तर मिला होता, कि जिस कारणसे उनके साथ आजतक कडवा सम्बन्ध बना रहा है, वह कारण अबभी कहीं नहीं चला गया है। वह कारण उनकी दुष्ट वृत्ति है। यदि आगेके लिये संबन्धको कटुतासे रहित करना चाहा जाता हो, तो यही किया जा सकता है कि या तो उनकी दुष्प्रवृत्तिको हटाने का उपाय किया जाय या उनकी दुष्प्रवृत्तिका विरोध करनेवाली अपनी मानसिक स्थितिको तिलांजलि देदी जाय। ऐसा विचार करनेपर, अर्जुन यह स्पष्ट समझ जाता, कि अपने समझे जानेवालों के दुष्कर्मोंका समर्थन करके सुखी होना असंभव होता है। साथही यह भी समझमें आजाता, कि उनकी दुष्टवृत्ति का विरोध करके अपनी शुद्ध मानसिक स्थितिकी रक्षा करनेसेही अपने अन्दर बैठा हुआ जो सच्चा स्वजन है, जिसको स्वजनोंका भी स्वजन कहा जा सकता है, हम सदा के लिये उसके साथ मिल जाते हैं तथा उससे अच्छेद्य संबन्ध बना रह जाता है। इस सच्चे स्वजनसे मिले रहनेमें ही सच्चा सुख है। अर्जुन दुर्योधन आदि मिथ्या स्वजनोंकी रक्षा करके, अपना स्वरूप जो शुद्ध आत्मारूपी स्वजनहै, उसकी ' हिंसा ' कर बैठनेमें अपना सुख देखनेकी भूल कर रहा है। वह दुःखको सुख और सुखको दुःख समझकर विचारकी भ्रान्तिमें पड़ गया है।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अन्वय–जनार्दन, यद्यपि एते लोभोपहतचेतसः कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे पातकं च न पश्यन्ति (तथापि) कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः अस्माभिः अस्मात् पापात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम् ?

अर्थ— हे जनार्दन, लोभसे विमूढ बुद्धि वाले ये सब, कुलक्षयसे होनेवाले दोषको, तथा मित्रद्रोहके पापको यद्यपि नहीं देखरहे हैं, तथापि

कुलक्षयसे होनेवाले दोषोंको देखते हुए हम लोगोंको इस पापसे बचनेका विचार क्यों नहीं करना चाहिये ?

भाव—अर्जुन कुलक्षयको दोष तथा मित्रद्रोहको पाप समझ रहा है। कुलक्षय और मित्रद्रोह वही किया करता है जो लोभोपहत होताहै। अर्थात् जिसका हृदय कर्तव्यसे विमुख होजाताहै, वही ऐसे काम किया करताहै। अर्जुनकी यह युक्ति निःसन्देह अकाट्य है। अर्जुन इस युक्तिके आधार पर ही स्वयं कुलक्षय तथा मित्रद्रोहसे बचना चाहरहा है। परन्तु मुख्य प्रश्न यही है कि मित्र कौन है ? और कुल किसे कहते हैं ? सत्यस्वरूप परमात्माके अतिरिक्त संसारमें और कोई भी मित्र नहीं है तथा सत्यारूढ समाज ही कुल होता है। सत्यका द्रोह करना ही 'मित्रद्रोह' है। सत्यारूढ समाजकी नींव भी सत्यही है। इस लिये सत्यका द्रोह करना ही 'कुलद्रोह' या 'कुलक्षय' करना समझा जाना चाहिये। अर्जुन सत्यस्वरूप सच्चे मित्रको तथा सच्चे कुलकी रक्षा करनेवाली सत्यनिष्ठाको उपेक्षित करके, सत्यसे द्रोह करनेवाले दुर्योधन और उसका साथ देनेवाले कुछ मांसपिण्डोंको अपने मित्र और उनके उच्छृंखल झुंडको 'अपना कुल' मानकर इनकी रक्षाकी चिन्तामें सत्यद्रोहरूपी मित्रद्रोह करने जारहा है, तथा कुलक्षय करनेवाले युद्धविमुखता रूपी अकर्तव्यको अपनाना चाह रहा है।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

अन्वय—कुलक्षये सनातनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति। धर्मे नष्टे कृत्स्नं कुलं अधर्मः अभिभवति उत। कृष्ण अधर्माभिभवात् कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति। वार्ष्णेय,

स्त्रीषु दुष्टासु वर्णसंकरः जायते । संकरः कुलस्य कुलघ्नानां च नरकाय एव । एषां पितरः लुप्तपिण्डोदकक्रियाः (सन्तः) पतन्ति हि। कुलघ्नानाम् एतैः वर्णसंकरकारकैः दोषैः शाश्वताः जातिधर्माः कुलधर्माः च उत्साद्यन्ते। जनार्दन,उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नियतं नरके वासः भवति इति अनुशुश्रुम ।

अर्थ— कुलका क्षय होनेपर सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्मके नष्ट होजानेपर अधर्म संपूर्ण कुलको दबा लेता है। हे कृष्ण अधर्मसे दबे होनेपर कुलकी स्त्रियां बिगड जाती है। हे वार्ष्णेय, स्त्रियोंके बिगड जानेपर वर्णसंकर हो जाता है। वह वर्णसंकर, कुलको और कुलघाती को नरक में ले जाता है। इनके पितर पिण्डोदकक्रियासे वंचित होकर पतित हो जाते हैं। कुलघातकोंके इन वर्णसंकर करनेवाले दोषोंके कारण पुरातन जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट कर दिये जाते हैं। हे जनार्दन, कुलधर्मविहीन मनुष्यों को सदा नरकवासी होना पड़ता है, ऐसी बात हम सुनते आरहे हैं।

भाव— ये सब अर्जुन की सुनी हुई बातें हैं। वह मोहके वश होकर बुद्धिभ्रंश हो जाने के कारण, इन सब गंभीर अर्थ रखनेवाले वचनोंका विपरीत अर्थ लगाकर, इनसे कर्तव्यभ्रष्ट करनेवाली अपनी निर्बलताका समर्थन करना चाहता है। कुलक्षय होनेपर सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, इसमें तो कुछभी सन्देह नहीं है। यही कारण है कि आज सत्यसे हीन होकर दुर्योधन जैसे भ्रष्टाचारी के दबाव में आजानेसे कौरवकुलका क्षय हो गया है। अब सत्यकी रक्षा करनेसे ही कुलकी रक्षा हो सकती है। सत्यकी रक्षा करनी हो तो दुर्योधनसे युद्ध करना आवश्यक कर्तव्य बनकर आया है। अर्जुन इस महत्वपूर्ण कर्तव्यसे बचने के लिए 'कुलक्षय' और 'कुलधर्म नष्ट होने' की भ्रमपूर्ण युक्ति दे रहा है। इसी प्रकार कुलस्त्रियोंका दुष्ट होजाना, वर्णसंकरकी उत्पत्ति होना, पितृलोकका पिण्डोदकक्रियासे वंचित होजाना, जातिधर्मका उत्सन्न हो जाना और कुलधर्महीन मनुष्योंका नरकमें वास होना, अर्जुन इन सब सुनी हूई बातोंका भ्रान्तिपूर्ण अर्थ लगाकर अपनी निर्बलता का समर्थन करना चाह रहा है। परन्तु ये सब बातें सुनानेवाले जो मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं, उनकी अभ्रान्त दृष्टिको समझ लेना अर्जुनके लिये तबही संभव होगा, जबकि वह अपने आपको

स्वजनोंके मोहसे मुक्त कर चुका होगा। इस भ्रांतिको हटानेके लिये अब कृष्ण भगवानका संपूर्ण उपदेश प्रवृत्त होने वाला है।

जबकि कुल सत्यहीन हो जाता है, तब कुलकी सन्तानपालन करनेवाली मातृत्वशक्ति राक्षसी रूप धारण कर लेती है। कौरवकुलसे सन्तानपालनकी उचित रीतिके नष्ट हो जानेके कारण ही कुरु-कुलमें दुर्योधन दुःशासन जैसे अपवित्र संकर उत्पन्न होकर शकुनिकी कुमन्त्रणासे परिचालित होने लग गये हैं। यही कारण है कि मनुष्य-समाजके पितृस्थानीय, मनुष्यताकी स्थापना करनेवाले, सनक सनन्दादि ऋषि, पिण्डोदक अर्थात् मनुष्यतारूपी आहार न मिलनेसे, इस दुष्ट समाजमें अवतीर्ण होने बन्द होगये हैं। यही कारण है कि समाजसे सामाजिक कल्याणबुद्धि तथा पवित्रता नष्ट होगयी है और स्वार्थान्धता, लोभान्धता, कामान्धता, आदि उत्पन्न होकर, इस समाजमें रहनेवाले मनुष्योंको अज्ञानरूपी नरकदर्शन कराकर दुर्योधनका अनुगामी बना रही हैं। यदि अर्जुन दुर्योधनके असत्या-चरणका विरोध करनेके लिये युद्ध नहीं करेगा, तो उसे दुर्योधनसे किये जानेवाले कुलक्षयमें, धर्मक्षयमें, कुलस्त्रियोंके दूषित होनेमें, कुलघ्न होनेमें, सम्पूर्ण समाजको नरकमें गिराकर समाजमेंसे मनुष्य-ताके रक्षक पितृस्थानीय सत्यनिष्ठ ऋषियोंका उद्भव करनेवाले धर्मरूपी अन्नजलको लुप्त करने आदि पापोंमें, उसका सहायक और स्वयं पापका भागी होजाना पड़ेगा। दुर्योधनके असत्याचरणका नाश किया जायगा, तबही कुलकी, धर्मकी, तथा कुलस्त्रियोंकी पवित्रताकी रक्षा हो सकेगी, स्वयं कुलघ्न होनेके पातकसे बचाव होसकेगा, तथा समाजको सत्यारूढ रखकर मनुष्यताके रक्षक सत्यनिष्ठ ऋषियोंके उत्पन्न होते रहनेके अनुकूल क्षेत्र बनाये रखना संभव होगा। इस महत्वपूर्ण कर्तव्यके महत्वको अर्जुनके मनमें बैठा देनेके लिये अब कृष्ण भगवान्के उपदेशकी अत्यन्त आवश्यकता है। देशका वर्तमान वातावरण दुष्ट उदाहरणोंसे इतना दूषित हो चुका है कि अब युद्ध करनेसेही धर्मद्वेषी दुःसाहसी संकरोंकी उत्पत्तिकी आशंका हट सकेगी। अधर्माचारी संकरोंके अभ्युत्थानको नष्ट करके समाजके मनमें धर्मकी संस्थापना करनाही युद्धरूपी कर्तव्यका महत्वपूर्ण फल है। संपूर्ण युद्ध, समाजको कलुषित करनेवाले नहीं होते। धर्मयुद्ध तो

अधर्माचारी पदद्लित समाजमें संजीवनी सुधाका काम करनेवाले होते हैं। अर्जुन कुछ सुनी हुई बातोंको बिना विचारे मानकर स्वजनोंके मोहसे प्रभावित होकर युद्धका विरोध कर रहा है। यह समझलेना चाहिये कि लोभान्ध लुटेरोंके द्वारा छेड़ा हुआ युद्धही कुलघातक या समाजको पतित करनेवाला होता है। ऐसे दुष्ट युद्धोंके विरोधके लिये किया हुआ युद्ध, कुलघातक नहीं होता। किन्तु कुलरक्षक होता है। युद्ध स्वयं कुलघातक या कुलरक्षक नहीं होता। युद्ध करनेमें योद्धाओंकी जो मनोवृत्ति होती है, वही कुलघातक या कुलरक्षक हुआ करती है। कुलरक्षकको स्वभावसे ही योद्धा होना चाहिये। कुलक्षयकारी अधर्मका अभ्युत्थान न होने देने के लिये, कुलरक्षकका युद्धवेष, समरयात्राके लिये सब समय सन्नद्ध रहना चाहिये। धर्मयुद्धसे विमुख होना केवल कुलक्षयकारी या समाजद्रोहीका स्वभाव होता है। असत्य का विरोध करना ही योद्धाकी मनोवृत्ति है। इसलिये युद्धको कुलक्षयका कारण समझना अर्जुनका भारी भ्रम है।

अधर्मके विरोधमें युद्ध न होना मृत अर्थात पहलेसेही अधर्मके प्रभावमें आये हुए, शक्तिहीन कुल या समाजका लक्षण है। अधर्मके विरोधमें युद्ध करनेवाला, कुल या समाज धर्मको सुरक्षित करनेवाला, जीवित कुल या समाज होता है। इस दृष्टिसे धर्मयुद्ध न होना, अर्थात् संग्रामहीन स्थिति का होना, स्वस्थ समाज का चिन्ह या धर्म नहीं है।

यह अवसर ऐसा है कि यदि अर्जुन इस समय युद्धसे विमुख हो जायगा, तो लोभान्ध लुटेरे समाज को लूटकर जितनी हानि पहुंचा सकते हैं, समाजकी उससे भी अधिक हानि, उस लूटका विरोध न करनेवाले अर्जुनके हाथों होकर रहेगी। यों युद्धविमुख हो जानेसे अर्जुनभी लुटेरोंकी श्रेणीमें खड़ा कर दिये जाने योग्य हो जायगा। इस युद्धमें दुर्योधनही कुलघातककी स्थिति को लेकर आया है। दुर्योधन युद्ध करनेसे कुलघातक है। यदि अर्जुन इस पापयुद्धके विरोधमें युद्ध नहीं करेगा और युद्धविमुख हो जायगा तो वह भी दुर्योधनकी तरह कुलघातक बन जायगा। अर्जुन कुलरक्षक की

स्थिति को लेकर आया है। वह इस पापयुद्धके विरोधके लिये युद्ध करके ही अपने कुलरक्षकपनेको सुरक्षित रख सकता है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

अन्वय—अहो बत वयं महत् पापं कर्तुं व्यवसिताः यत् राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुम् उद्यताः। यदि शस्त्रपाणयः धार्तराष्ट्रा अप्रतीकारम् अशस्त्रं मां रणे हन्युः तत् मे क्षेमतरं भवेत्॥

अर्थ— ओह देखो कि हम राज्यसुखलोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं, यह हम महापाप करने जा रहे हैं। यदि शस्त्रधारी धार्तराष्ट्र प्रतिकार छोडदेनेवाले शस्त्रहीन मुझको युद्धमें मारडालें तो वही मेरेलिये अधिक कल्याणकी बात हो।

भाव— कर्तव्यबुद्धिसे युद्ध करना चाहिये राज्यसुखके लोभसे नहीं। स्वजन-नाश करनेवाले कर्तव्यने अर्जुनकी सुखबुद्धिमें चोट पहुंचाई। इसीसे उसका कर्तव्यपालनमें जी नहीं लगा। परन्तु अर्जुन इस बातको नहीं समझ सका। अर्जुनको राज्यसुखके लिये लड़ाई की जा रही है, यही भ्रम हो गया है। राज्यसुखके लिये लड़ाई नहीं लडी जा रही है, जब यह बात अर्जुनकी समझमें आ जायगी तब उसे युद्ध करनेरूपी कर्तव्य कर्ममें पाप दीखना बन्द होजायगा। राज्यसुखके लोभमें आकर स्वजनोंको मारना महा पाप है? ऐसा समझनेवाले अर्जुनसे पूछा जाना चाहिये कि क्या राज्यसुख के लोभसे और किसीको मार देना पाप नहीं है? काम क्रोध लोभ आदिके वश होकर किसीको मारना या कुछ करना 'हिंसा' या 'आत्मघात' है। 'स्वजनहत्या' और 'आत्महत्या' में कुछ भी अन्तर नहीं है। जब मनुष्य अपनी पवित्र कर्तव्यबुद्धिको अपना स्वजन समझ लेता है, तब लोभादिसे मुक्त होकर, कर्तव्यबुद्धिसे जो कुछ करता है, चाहे वह युद्धक्षेत्रकी संहारलीलाही क्यों न हो, वही उसका अहिंसारूपी परम धर्मका पालन करना हो जाता है। अर्जुन इस महासत्यको न समझ कर नपुंसक जैसी बातें बना रहाहै, कि चाहे मुझे निरस्त्र देखकर

दुर्योधन मारभी डाले तो भी मेरा कल्याण ही है। इस अवसर पर ऐसी बात करनेका यही अभिप्राय हो सकता है कि अर्जुन जैसा वीर अपने कर्तव्यको स्पष्ट समझ कर ही युद्ध करना चाहता है। वह इस कर्तव्यको स्पष्ट समझादेने वाले कृष्ण भगवान के सामने अपनी निर्बलताको स्पष्ट करके रख रहा है।

संजय उवाच। (संजय बोले)

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्॥
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

अन्वय—शोकसंविग्नमानसः अर्जुनः संख्ये एवम् उक्त्वा सशरं चापं विसृज्य रथोपस्थे उपाविशत्।

अर्थ— शोकाकुल अर्जुन रणभूमिमें इतना कह कर धनुषबाण त्यागकर अपने रथमें बैठगया।

भाव— अर्जुनविषाद नामक इस अध्यायके अन्तिम श्लोकमें संजयने धृतराष्ट्रके सामने अर्जुनकी निर्लोभ मानासिक स्थिति को स्पष्ट करके रखदिया गाण्डीव छोड़कर रथपर बैठ जानेसे अर्जुन के मनकी इस दृढता का परिचय मिल रहा है कि वह राज्यलोभसे युद्धक्षेत्रमें अस्त्रधारण न करनेके लिए दृढप्रतिज्ञ होगया था। जबकि ऐसे निर्लोभ और अन्याय न करने के लिए दृढप्रतिज्ञ अर्जुनने त्याग किये हुए हथियारको दुबारा हाथमें उठाकर युद्ध करना प्रारम्भ करदिया, तो धृतराष्ट्रको समझ लेना चाहिये था कि अब वह राज्यसुखके लोभसे युद्ध नहीं कर रहा है, किन्तु सुखदुःखके अतीत लोभमोहादिसे रहित होकर, ऐश्वर्य अनैश्वर्यसे संबन्ध न रखनेवाली, अपनी निर्विकार मानासिक स्थितिकी रक्षा कर लेनेके लिये, निर्मल कर्तव्यबुद्धिसे युद्धमें प्रवृत्त हुआ है। अर्जुनको सदुत्तर देकर निर्मल कर्तव्यका मार्ग दिखानेवाले कृष्ण भगवानके इस समय अर्जुनके साथ होनेका महत्त्व इस श्लोकमें निःशब्द भाषामें महाकवि संजय प्रकट कररहे हैं।

इति श्रीमहाभारते, भीष्मपर्वाणि, श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु, ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे, श्रीकृष्णार्जुनसंवादे, अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोध्यायः॥ १॥

प्रथमद्वितीयाध्यायसंगति–

प्रथमाध्यायमें युद्धमें स्वजनवधकी संभावना देखकर अर्जुनके मनमें जो युद्धत्यागेच्छा हुईथी, मोहरूपी विषाद ही उस युद्धत्यागेच्छा का कारण था। अर्जुन राज्यसुखलोभ के लिये लड़ना चाहता था, इसीसे उसके मनमें युद्ध-त्याग करनेकी इच्छा उठीथी। उसे कर्तव्यबुद्धिसे लड़ना चाहिये था। परन्तु कर्तव्यबुद्धि सदा अहंबुद्धिमें चोट पहुंचाती है। अर्जुनके मनमें इसी चोटसे विषादका जन्म हुआ था। यह मोहरूपी विषाद युद्धत्यागकी बात सुझाता था। कर्तव्यमें जी न लगना ही विषादका स्वरूप है। उस विषादान्धकार अथवा अज्ञानान्धकारको हटानेकेलिये, जिस ज्ञानज्योति की आवश्यकता थी, उस ज्ञानज्योतिका स्वरूप द्वितीय अध्यायमें बताया जा रहा है। इसी कारण इस अध्यायको 'सांख्ययोग' 'ज्ञानयोग' तथा 'अहंबुद्धि-नाशयोग' कहा जाता है। गीताका संपूर्ण वक्तव्य संक्षेपसे इसी अध्यायमें पूर्ण हो जाता है। शेष सोलह अध्याय इस अध्यायमें प्रतिपादित सिद्धान्तकी व्याख्यामात्र हैं।

द्वितीय अध्याय

(सांख्ययोग)

संजय उवाच। (संजय बोले)

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

अन्वय–तथा कृपयाविष्टं अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं तं मधुसूदनः इदं वाक्यम् उवाच।

अर्थ— इस प्रकार करुणासे भरे हुए, आंसुओंसे डबडबाती आंखों वाले, उस विषादयुक्त अर्जुनसे मधुसूदन यह बोले।

भाव— इस युद्धमें जिनकी मृत्यु अवश्यंभावी है, ये सब अर्जुनके सगे संबन्धी हैं। अन्य सब प्राणियोंके समान इन सबका जीवन या मरण भी ईश्वरीय नियतिके ऊपर निर्भर है। फिर भी अर्जुन मूर्खतासे समझ रहा है कि लड़ाईमें प्रवृत्त होकर हम इनकी मृत्युके कारण बन

जायेंगे। इस भ्रान्तिके कारण ही अर्जुनके मनसे लड़ाईका उत्साह भाग गया है। इस निरुत्साह का कारण स्वजनोंका मोह है। वह कर्तव्य बुद्धिके कारण लडाई को नहीं छोड रहा है। किन्तु अपने प्यारे स्वजनोंके ऊपर करुणा ही लड़ाईके लिये उत्साहहीनता के रूपमें परिणत होगई है। अर्जुन सोच रहा है कि हमारे लडाई न करनेसे इनका जीवन बच जायगा। विचारदरिद्र अर्जुनने अपने आपको इनके जीवनके नाशका या बचानेका कर्ता समझ लिया है। ऐसे कर्तापनके अभिमानने ममत्वबुद्धिरूपी निर्बलताके रूपमें प्रकट होकर, अर्जुनको स्वजनोंके वियोगकी शंकासे, विषादयुक्त करके रुला दिया है। मोहसे उत्पन्न हूई अर्जुनकी इस दुर्बलताको दूर करनेके लिये मधुसूदन ने जो बातें कहीं वे नीचे दी जा रही हैं।

श्रीभगवानुवाच। (श्रीभगवान् बोले)

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ २॥

अन्वय–अर्जुन, विषमे इदम् अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरं कश्मलं त्वा कुतः समुपस्थितम् ?

अर्थ— हे अर्जुन संकट के अवसर पर यह अनार्योचित दुःखदायी, अयश फैलानेवाला मोह तुममें कहां से आगया ?

भाव— भगवान् कहते हैं कि जब युद्धक्षेत्रमें दोनों सेनायें आमने सामने युद्धार्थ खडी हैं, ऐसे अवसर पर तुमको प्रथम निश्चय किये हुए धर्मकी रक्षा करनेवाले, कर्तव्यको ही अपनाये रहना चाहिये था। तुमने ऐसा न करके, अनार्योचित अर्थात् धर्मरक्षक वीरको जो न करना चाहिये, उस अकर्तव्यको चुन लिया है। तुम्हारे लिए ऐसी विपरीत समझ दुःखदायी होगी और तुम्हारा अपयश फैलायेगी। तुम्हारे हृदयमें ऐसी मोहान्धता कहांसे आगयी? इस दुर्बलता रूपी दुष्ट शत्रुको इसी क्षण मारडालो। यह तुम्हें शोभा नहीं देती।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

अन्वय–पार्थ, क्लैब्यं मा स्म गमः त्वयि एतत् न उपपद्यते परन्तप, क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ।

अर्थ— हे पार्थ, नपुंसक मत बनो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। हे परन्तप हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको छोडकर उठ खडे हो।

भाव— अर्जुन अस्त्रको छोडकर रथपर बैठे थे। उनसे भगवान् कहते हैं कि तुम युद्धमें प्रवृत्त होकर, अपनेको जिनका वध करनेवाला मान रहे हो, तुमने उनको मृत्युमुखसे बचालेनेके लिये, युद्ध छोड देनेको ही एक महत्त्वपूर्ण काम मानलिया है, यह तुम्हारी कोरी भ्रान्ति है। इस भ्रान्तिमें फंसकर, तुम्हारे मनमें जो युद्ध छोडनेकी इच्छा जागी है यह तुम्हारे मनकी उदार स्थिति नहीं है। तुम्हें सोचनेपर इसका कारण अपनी कायरता जानपडेगी। वीरके हृदयमें कायरताका होना असंभव है। तुम वीरहो। तुम्हारे मनमें जो शंका उठी है, तुम इसे कापुरुषोंकी सी युद्धत्याग करनेकी इच्छा मत मानो। समझलो कि तुम्हारे मनमें, यह धर्म अधर्मका विचार करके, अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये, आग्रह उत्पन्न हुआ है। तुम्हारे मनमें युद्ध न करनेके लिये, जो दुर्बलता जागती मालूम होती है, यह तुम्हारे वीर हृदयमें कदापि नहीं ठहर सकेगी। तुम इसे हटाओ और युद्ध करनेके लिये खडे हो जाओ।

अर्जुन उवाच ॥ (अर्जुन बोले)

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अन्वय—मधुसूदन, अहं संख्ये भीष्मं द्रोणं च इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि अरिसूदन, तौ पूजार्हौ।

अर्थ— हे मधुसूदन, मैं युद्धमें भीष्म और द्रोणके साथ बाणोंसे प्रतियुद्ध किस तरह करूंगा ? ये पूजने के योग्य हैं।

भाव— अर्जुन को युद्ध न करनेकी अपनी निर्बलता के समर्थनमें जो सबसे प्रबल युक्ति सूझी है, वही उसके मुंहसे इस श्लोकमें सबसे पहले निकलपडी है। अर्जुन भीष्म द्रोणके साथ अपने सांसारिक संबन्धका उल्लेख करते हुए यह कहकर अपनी निर्बलताका समर्थन कर रहा है कि युद्धक्षेत्रमें प्रतिपक्षमें खडे भीष्म द्रोणके समान पूज्योंके ऊपर बाण चलाना अधर्माचरण होगा। पूज्योंपर फूल न बरसा कर, उनको बाणोंसे मारने लगना, अधर्माचरण या कर्तव्यसे भ्रष्ट हो जाना होगा।

यही अर्जुन के पास युद्ध न करने को उचित समझाने वाली सर्वो-त्तम युक्ति है। अर्जुन इस युक्ति को देकर, अपनी युद्ध न करने की निर्बलताका समर्थन करना चाहता है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अन्वय–महानुभावान् गुरून् अहत्वा तु इह लोके भैक्ष्यम् अपि भोक्तुं श्रेयः। अर्थकामान् गुरून् हत्वा तु इह एव रुधिरप्रदिग्धान् भोगान् अहं भुञ्जीय।

अर्थ—अपने महानुभाव गुरुओं को न मारकर इस संसारमें भिक्षान्नसे जीवन-यात्रा करना भी श्रेष्ठ है। वे चाहे अर्थकामी हैं तब भी उन गुरुओंको मारेंगे तो इसी संसारमें उनके रक्तसे सने भोग भोगने पडेंगे।

भाव—अर्जुनकी बातका मर्म इतनाही है कि हम राजके लिये लड़ रहे हैं। ऐसी लडाईमें पूज्य महानुभाव गुरुओंकी हत्या करनी पड़ेगी। इससे तो इसीमें कल्याण है कि हम इन्हें न मारकर, भीक मांगकर, जीवन बितादें। अर्जुन कहता है कि यह तो हम जान रहे हैं कि यह सब हमारे पूज्यगुरु लोग, अर्थकाम होकर, हमारे विरोधी पक्षमें जाकर, हमसे लडने के लिये खडे हैं। परन्तु इनकी हत्या करके, हमें जो राजभोग मिलेगा, वह तो इन्हींके रुधिर से रंगा हुवा होगा। इसलिये यदि ये भूलसे अर्थकामी होकर, हमारे विरोधी बनकर, युद्ध करनेको उद्यत होगये हैं, तो क्या हमें भी भूलके उत्तरमें भूल करके इनसे लडकर, इन्हें मारकर, इनके रुधिरसे रंगे हुए भोगोंको भोगनेके लिये उद्यत होजाना चाहिये ? मुझे गुरुका आसन इनको देते हुए, इनसे न लडना और भिक्षान्नसे जीवित रहना पडे तो वैसाही करना, अपना कर्तव्य लगता है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि अर्जुन के पास युद्ध करनेमें जो सूक्ष्म कर्तव्यबुद्धि होनी चाहिये थी, वह उसके पास नहीं रही, और वह राजभोग की लालसासे युद्ध किया जा रहा है, ऐसे भ्रममें फंस गया है। इसी लिये वह भोगलालसा की विरोधी युक्तियां देकर, न लडनेकी अपनी दुर्बल मनोदशाको जिस किसी प्रकार धर्मानुकूल सिद्ध करना चाहता है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

अन्वय—न च एतत् विद्मः नः कतरत् गरीयः यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः। यान् एव (धार्तराष्ट्रान्) हत्वा न जिजीविषामः ते धार्तराष्ट्राः प्रमुखे अवस्थिताः ॥

अर्थ— हम विजय पायें या हमको वे जीतलें, इन दोनोंमें, कौनसी बात श्रेयस्कर है ? यह भी हमारी समझमें नहीं आता। क्योंकि जिनको मारकर हमें जीने की इच्छा नहीं है, वे धार्तराष्ट्र, हमारे सामने युद्धार्थ डटे खडे हैं।

भाव— युद्धमें अपनी विजय होना श्रेष्ठ समझा जाता है। परन्तु अर्जुन कहते हैं कि हमारी विजय होजानेपरभी वह हमें नहीं भायेगी। क्योंकि उसे प्राप्त करनेके लिये हमें धार्तराष्ट्रोंको मार डालना पडेगा। धार्तराष्ट्रोंको मारनेसे हमारा जीवन नीरस होजायगा। इसलिये लाभालाभ और जयपराजयकी दृष्टिसे युद्ध न करनाही हमारे लिये लाभ और विजयकी बात होगी।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

अन्वय—कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः धर्मसंमूढचेताः त्वां पृच्छामि यत् निश्चितं श्रेयः स्यात् तत् मे ब्रूहि। अहं ते शिष्यः। त्वां प्रपन्नं मां शाधि।

अर्थ— कृपणता रूपी दोषसे मेरा (अधर्मविरोध करनेका) स्वभाव नष्ट हो गया है। अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य विचार करनेवाली मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी है, इसलिये मैं तुमसे पूछताहूं। जो निश्चयपूर्वक कल्याणकारी हो वह मुझे बतादो। मैं तुम्हारा शिष्य हूं। अपनी शरणमें आये हुए मुझको सीखदो।

भाव— भगवान्ने जो अर्जुनको कहाथा कि यह कायरता तुममें कहांसे आगयी ? अब अर्जुन इस बातको ध्यानमें रखते हुए, अपनी गुरुहत्या और स्वजनहत्या इन दोनों युक्तियों को युद्धक्षेत्रको छोड जानेके

लिये पर्याप्त नहीं मान रहा है। साथही वह, जबतक धर्मसंगत युक्तियोंसे अपनी लड़ाई न करनेकी इस प्रवृत्तिको न हटादिया जाय, तबतक अपनेको लड़नेके लिये उत्साहित भी नहीं करसक रहा है। वह 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव' और 'धर्मसंमूढचेता' जैसे शब्दोंसे अपनी निर्बलताको नंगा दिखाकर, युद्धकरनेके पक्षमें स्पष्ट समर्थन लेकर, अपना संतोष करके, युद्धमें लगजानेकी ओर मनका झुकाव दिखा रहा है। इससे अर्जुनकी निःसंशय होकर युद्ध करनेकी वीरोचित भावनाका परिचय भी मिल रहा है। अर्जुनको यह विश्वास है कि कृष्ण भगवान् जैसे गुरु, मुझ जैसे शरणागत जिज्ञासु शिष्यके संशय को दूर करके, ज्ञानालोकका दर्शन कराकर, युद्ध करनेकी कर्तव्य-बुद्धि देकर ही, युद्ध करनेको कहेंगे। उसने इसी भावसे कृष्ण भगवान्के चरणोंमें आत्मसमर्पण कर दिया है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८॥

अन्वय—भूमौ असपत्नम् ऋद्धं राज्यं सुराणाम् अपि आधिपत्यं च अवाप्य तत् न हि प्रपश्यामि यत् इन्द्रियाणाम् उच्छोषणं मम शोकम् अपनुद्यात्।

अर्थ— भूमण्डलका निष्कंटक समृद्ध राज्य और देवताओंपर आधिपत्य पाकर भी, मुझे वह नहीं दीखता जो मेरी इन्द्रियोंको सुखानेवाले शोकको हटादे।

भाव— अर्जुन इस युद्धके अभौतिक परिणामकी अवहेलना करके केवल भौतिक परिणामपर दृष्टि डालकर देख रहा है कि हमें जीतनेपर राज्य तो मिलेगा, परन्तु राज्य मिलनेके साथ साथ गम्भीर शोक भी हमारे देहको सुखाने लगेगा। जो राज्य हमें मिलेगा उससे इस शोकमें शान्ति मिलनेकी बात तो अलग रही, वह उलटा शोकको बढाता रहेगा। यह शोक जीवनभरको हमारा साथी बन जायगा। हमें संसारका चाहे जितना ऐश्वर्य निष्कंटक रूपसे मिल जाय वह सब इस शोकको हटानेमें असमर्थ होजायगा। लडाई लडकर ऐसे शोकको मोल ले लेना क्या बुद्धिमत्ता की बात होगी?

इस समय अर्जुन इस प्रश्न में लडाई न करनेका समर्थन नहीं कर रहा है। अब वह लडाई करनेका जो शोकरूपी अवश्यंभावी परिणाम होगा, उसकी शान्ति करसकनेमें सारे संसारकी भौतिक समृद्धिको अपर्याप्त मान रहा है, और समझ रहा है कि मेरे शंकासे उत्तप्त हृदयमें जो ज्ञानापिपासा जागी है, उसका निर्वापण करनेका उपाय, सूर्यकोटिसमप्रभ, चन्द्रकोटिसुशीतल, ज्ञानालोकसे उद्भासित, भगवान के श्रीमुखसे प्रसृत, शान्तिवारिके आतिरिक्त और कुछभी नहीं हो सकता। उसीका प्यासा होकर अर्जुनने अपने निष्कपट व्याकुल हृदयको श्रीकृष्ण के चरणोंमें निवेदित कर दिया है।

संजय उवाच। (संजय बोले)

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

अन्वय—परन्तपः गुडाकेशः हृषीकेशं गोविन्दं (पूर्वं) एवम् उक्त्वा (पश्चात्) न योत्स्ये इति उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥

अर्थ— शत्रुको तपानेवाला निद्राविजयी अर्जुन, हृषीकेश गोविन्दसे इस प्रकार कह कर और फिर 'मैं नहीं लडूंगा' यह कहकर चुप हो गया।

भाव— संजय धृतराष्ट्र के सामने अर्जुनकी उस समय की मनोदशा को समझाते हुए 'परन्तप' और 'गुडाकेश' इन दो विशेषणोंसे यह दिखा रहा है कि शत्रुको तपानेका सामर्थ्य रखनेवाला और कभीभीं मोहनिद्रामें न फंसकर अपना कठोर कर्तव्य करते रहनेवाला अर्जुन, शत्रुके शरीरपर शस्त्रप्रहार करनेसे प्रथम, युद्ध न करनेके पक्षमें जितनी युक्तियां दी जा सकती थीं, उन सबको दे कर, उन सबका स्पष्ट खण्डन कराकर ही, युद्धमें प्रवृत्त होना, अपना कर्तव्य समझ रहा है। अर्जुन, इस कर्तव्यबुद्धिसे ही 'मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसी स्पष्ट बात श्रीकृष्णसे कह रहा है।

पूर्वोत्तरग्रन्थका पौर्वापर्य—

प्रथमाध्यायके ४७ तथा द्वितीयाध्यायके ८ श्लोकोंका शेष संपूर्ण गीताशास्त्रके साथ जो पौर्वापर्यका संबन्ध है, वह उच्छेद्य उच्छेदक या वध्यघातकका संवन्ध है। संपूर्ण गीताशास्त्रमें इन ५६ श्लोकों में प्रदर्शित अज्ञानमयी

भावनाका उच्छेद किया गया है। अगली संपूर्ण गीताका तीव्रधार ज्ञानखड्ग इन श्लोकोंमें प्रदर्शित संसाराज्ञानकी जड़ोंको काट काट कर फेंक रहा है। इन ५९ श्लोकोंने ही गीताशास्त्रको अवतार धारण करनेका अवसर दिया है। अर्जुन अपने गांडीवको झाडपोंछकर युद्ध करनेकी पूरी तयारी करके युद्ध करनेकी मनोवृत्तिको लेकर ही युद्धक्षेत्रमें आया है। परन्तु यहांके दृश्यने उसके विचारको बदल डाला है। अब वह युद्ध करना नहीं चाहता। ये सब बात इससे प्रथम विस्तृतरूपमें कही जा चुकी हैं। युद्ध न करनेके पक्षमें अर्जुनकी जो एकमात्र युक्ति है वह यही है कि जबकि इन स्वजनोंको मार करभी युद्धसे लाभवान हो सकने की संभावना नहीं है, तब हमारा युद्ध न करना ही श्रेय है। अर्जुन अपनी इस युक्तिसे कृष्णभगवान्को समझाने का सब उद्योग समाप्त कर चुका है। अब कृष्णभगवान् के ऊपर इस युक्तिकी असारता दिखाकर सन्मार्ग दिखाने का कर्तव्य आगया है। इस कर्तव्य को पालते हुए भगवान् को संपूर्ण गीताशास्त्रकी अवतारणा करनी पडी है। जिसमें बताया गया है कि मनुष्यदेह धारण करने का जो अभिप्राय है वह, विदेहस्थितिरूपी ब्राह्मी स्थितिको अपनाये रहते हुए, संपूर्ण कर्मोंको कर्तव्यपालन के रूपमें किया जाय, और अवश्य किया जाय, तब ही पूरा होता है। देहाभिमान से कर्मत्याग करने की प्रवृत्ति होती है। उस देहाभिमानसे दूसरे देहोंमें ममता हो जाती है, और कर्मबन्धन में ही उलझे रहना अनिवार्य हो जाता है। इसी उपदेशको अर्जुनके मनमें बैठा देने के लिये संपूर्ण गीता को अवतार धारण करना पडा है। संपूर्ण प्रथम अध्याय तथा इस अध्यायके प्रथम आठ श्लोकों तक अर्जुनने अपनी अज्ञानमयी स्थितिको रखकर संपूर्ण अज्ञानी जनसमाजकी निर्बल मनोदशाको उच्छेद्य या वध्य के रूपमें भगवान्के सामने उपस्थित कर दिया है। इस सबको गीता का 'अज्ञानप्रकरण' मानकर अगले जिस प्रकरणमें इसका खण्डन करके सत्यकी स्थापना की गई है, उसको 'ज्ञानप्रकरण' के रूपमें स्वीकार करके इन, दोनों प्रकरणों का एक दूसरे के साथ जो पौर्वापर्य संबन्ध है, उसे 'उच्छेद्य उच्छेदक' या 'वध्यघातक' संबन्ध मानलेना पडता है। इसके पश्चात् अर्जुन के मुंहसे फिरभी कहीं कहीं अज्ञानमयी स्थिति सुनाई दे गई है या नैष्कर्म्यके समर्थनकी युक्तियां सुनाई पडी हैं, उन सबमें पहलेके उच्छेद्य प्रकरण की ही प्रतिध्वनि पायी जाती है।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

अन्वय–भारत, उभयोः सेनयोः मध्ये विषीदन्तं तं प्रहसन् इव हृषीकेशः इदं वचः उवाच ॥

अर्थ— हे भारत ! (धृतराष्ट्र) दोनों सेनाओंके बीचमें, उत्साहहीन होकर बैठे हुए, उस अर्जुनसे मुस्कराते हुए हृषीकेशने ये वचन कहे ।

भाव— संजय धृतराष्ट्र से अर्जुनकी उस मानसिक उलझन और शंकाको कह चुका है, जो कि उसके मनमें युद्धक्षेत्रमें दोनों पक्षोंके लडाईपर तुल जानेके विषम अवसर पर दोनों सेनाओं के बीचमें खडे होनेपर हुईथी, जिसके लिये युद्धको क्षणभर के लिये स्थगित कर देना या उसमें थोडासा भी कालक्षेप कर सकना असंभव था । परन्तु साथ ही जिस शंकाका समाधान किये विना अर्जुनके लिये युद्धमें प्रवृत्त होना किसी प्रकार भी संभव नहीं था । अब कृष्ण भगवान्ने किस प्रकार आसानी तथा दृढताके साथ, उपेक्षा की हंसी हंसते हुए, उस शंकाको दूर कर दिया, इस बातको सुनाते हुए संजयने, धृतराष्ट्र को 'भारत' नामसे संबोधन करके, अपना यही मनोभाव दिखाया है कि–हे भरतकुलश्रेष्ठ! अर्जुनके मनमें भरत वंशके उच्छेदका पापपूर्ण उत्तरदायित्व अपने कन्धेपर न रखनेके लिये, जिस वीरोचित तथा अपने वंशके स्वाभिमानसूचक प्रश्नका उदय हुआथा, उसने कृष्ण भगवान् जैसे मार्गदर्शकसे उसका सन्तोषजनक समाधान कराकर, भरतवंशके नाश करने का सारा उत्तरदायित्व, विपक्षके कन्धोंपर डाल दिया है । अब तुमको निर्वंश कर देनेका उत्तरदायित्व तुम्हारे सगे पुत्रके कधोंपर लदा हुआ है । तुम भरतकुलश्रेष्ठ कहलाते हुए भी अपने पुत्रको सन्मार्गपर न रखकर, उसे वंशनाशक कुलकुठार बनाकर अपने हाथोंसे अपने पैरोंपर कुठाराघात कर रहे हो । कृष्ण भगवान्ने अर्जुनके मनमें जिस निर्मल कर्तव्य बुद्धिको जाग्रत करके उसे युद्धकी प्रेरणा दी है, सीधी सादी बातमें इसका अभिप्राय यही है कि जो मनुष्य रणक्षेत्रमें धर्मरक्षक सत्यारूढ तथा असत्यविरोधी अर्जुनका विरोध करते हुए उसके या उसके पक्षवालोंके अस्त्रोंसे मारे जायेंगे, वे सबकेसब धर्मद्रोह करके अपने आपही आत्महत्यारूपी महापातक करते हुए, मौतके मुंहमें चले जायेंगे। इनपर अर्जुन या अर्जुनपक्षके वीर अस्त्राघात (अस्त्रोंकी बौछार)

करते हुए भी और इनके प्राणोंको हरते हुए भी, इनके घातक नहीं बनेंगे और अहिंसा नामके परमधर्मका पालन करनेवाले पूर्ण अहिंसक बने रहेंगे।

श्रीभगवानुवाच ॥ (श्रीभगवान बोले)—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥ ११ ॥

अन्वय—अशोच्यान् त्वम् अन्वशोचः प्रज्ञावादान् भाषसे च। पण्डिताः गतासून् अगतासून् च न अनुशोचन्ति ॥

अर्थ— जिनका शोक नहीं करना चाहिये उनपर शोक कर रहे हो और साथही ज्ञानियोंकी सी बातें बनाते हो। पण्डित लोग मृत (मित्रों) और जीवित (शत्रुओं) का शोक नहीं करते।

भाव— तुम कौन हो ? शोच्य कौन है ? उसके साथ शोकका संबन्ध रखना कहां तक उचित है ? इन सब मर्मों को बिनाजाने संसारकी देखादेखी गतानुगतिक होकर शोक करना मात्र तुमने सीखलिया है और उसी शोकमें डूब कर कर्तव्यभ्रष्ट होना चाहते हो। पण्डित को ये बातें शोभा नहीं देतीं। संसारमें प्रियका वियोग तथा अप्रिय की उपास्थिति ये दो शोक के कारण होते हैं। ज्ञानी शोक उत्पन्न करनेवाली इन दोनों स्थितियोंसे अतीत रहता है। क्योंकि वह किसी वस्तुको नहीं अपनाता।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

अन्वय—अहं जातु न आसम् इति न तु एव। त्वं जातु न आसीः इति न तु एव। इमे जनाधिपाः जातु न आसन् इति न तु एव। अतः परं वयं सर्वे न भविष्यामः इति न च एव ॥

अर्थ— मैं पहले कभी न था ऐसी बात नहीं है। तु म कभी न थे यह भी नहीं है। ये राजा लोग कभी न थे यह भी नहीं है। इन शरीरोंके अनन्तर हम सबलोग नहीं रहेंगे यह भी नहीं है।

भाव— हम सब लोग देह नहीं हैं। हम सब जन्ममरणशून्य अवस्थावाले आत्मा हैं। जो आत्मा इन सब देहोंका एकमात्र देही और हम

सबका स्वरूप है, वह सदासे है और सदा रहेगा। फिर शोक किस बातका किया जाता है? तुम्हारा मेरा और इन सब राजाओंका स्वरूप त्रिकालस्थायी है, एक है और अशोच्य है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अन्वय—देहिनः अस्मिन् देहे यथा कौमारं यौवनं जरा तथा देहान्तरप्राप्तिः तत्र धीरः न मुह्यति ॥

अर्थ— जैसे देहीको इस एक देह में कुमारावस्था यौवन और वार्धक्य आजाते हैं, इसीप्रकार इसे दूसरे दूसरे देह प्राप्त हो जाते हैं। इस परिवर्तन में धीर पुरुष मोह नहीं करता।

भाव— पूर्व देहोंका त्याग तथा दूसरे देहोंका ग्रहण करते रहना उस विराट् देहीका अत्याज्य स्वभाव है। किसीके स्वभाव पर रोते रहना अज्ञान की बात है। हे अर्जुन! क्या तुम अश्रुपूर्ण अधीर जीवन बिताने के लिये इस संसारमें उतरे हो? तुम धीर बनो। आत्मधर्म को पहचानो। शरीरधर्मोंपर शोक करनेकी मूर्खता मत करो। मरना जीना किसी के बसका नहीं है। जन्म और मृत्यु ईश्वरीय प्रबन्धसे होते हैं। इनमें मनुष्यका कर्तृत्व नहीं होता। देहका ही जन्म होता है और उसीकी मृत्यु होती है। जन्म और मृत्युके बीचमें देहको कुमारावस्था, यौवन, जरा, व्याधि आदि जितने प्रकारकी अवस्था प्राप्त होती रहती हैं उनमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। जब मनुष्य देहकी इन अनिवार्य अवश्यंभावी गतियोंको अपने वशमें कर सकने योग्य मानकर कुछ करनेका दुःसाहस करता है, तब भ्रान्त बन जाता है और सुखदुःखरूपी पराधीनताके बन्धनमें फंसे विना नहीं रहता। इसलिये जन्म मृत्यु को तुम्हें इसीप्रकार अपने वश से बाहर समझना चाहिए, जिसप्रकार तुम कौमार, यौवन और जरा आदि को अपने वश से बाहर समझते हो। तुम किसी के जन्म मृत्यु की चिन्ता करके अधीर मत बनो और कर्तव्य को मत त्यागो। जो मनुष्य देहत्याग तथा देहान्तरप्राप्ति को अपनी चिन्तासे बाहर रखकर इस विषयमें कुछभी न सोचकर केवल कर्तव्यबुद्धि से दूसरों के साथ व्यवहार करता है, वही धीर है, वही मूढतासे बचा रह सकता है, उसे रोना नहीं पडता।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अन्वय—कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः मात्रास्पर्शाः आगमापायिनः अनित्याः भारत तान् तितिक्षस्व ॥

अर्थ— हे कौन्तेय ! शीत उष्ण सुखदुःख देनेवाले मात्रास्पर्श आने जानेवाले तथा अनित्य हैं, हे भारत उनकी उपेक्षा करो ।

भाव— इस श्लोकमें 'तितिक्षा' शब्द उपेक्षा के अर्थमें व्यवहृत हुआ है । इन्द्रिय तथा विषय दोनों इसमें 'मात्रा' शब्दसे कहे गये हैं । विषयोंसे इन्द्रियोंके स्पर्श अर्थात् संयोग 'मात्रास्पर्श' माने गये हैं । किसी भी मात्राहीन जीवित देह का होना असंभव है । ये सब को होते हैं । इनको सहना धीर पुरुषोंका कर्तव्य है । मनुष्य के आत्म-तत्त्वको न सुख होता है और न दुःख होता है । भौतिक सुखदुःख तथा हानिलाभ का संबन्ध केवल शरीर और इन्द्रियोंसे है । क्योंकि इन्द्रियों से मिलनेवाले विषयभोग उत्पत्तिविनाशशील और अल्पजीवी हैं, इस लिये इनको ऐसा बनाने में स्रष्टाका यह अभिप्राय है कि इनको सहा जाय। इनके सहने की विधि यह है कि विषयस्पर्शसे जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद, मत्सर उत्पन्न हों, उन्हें निष्काम, अक्रोध, निर्लोभ, निर्मोह, निर्भय, निर्मद तथा निर्मत्सर बनकर आत्मदर्शन करने के उपयोग में लाया जाय । इस संसारमें भूलकरने के अवसरही भूलसे बचने के अवसर होते हैं । चोर बनने के अवसर ही सन्त बनने के भी अवसर होते हैं । उसी एक अवसर के आनेपर सत्यनिष्ठ सन्त बन जाता है, और असत्यनिष्ठ चोर बन जाता है । स्वजनोंसे लड़ाईका अवसर आनेपर अब तुम्हारे मनमें जो भावविप्लव हो रहा है स्वरूप-ज्ञानके सहारेसे उस भावविप्लव की उपेक्षा करके कर्तव्य की ओर मुंह किये रहना तुम्हारा इस समयका कर्तव्य है । सगे संबन्धी माने हुए कुछ देहोंकी काल्पनिक मृत्युयन्त्रणाने तुम्हारे मनपर आक्रमण करके तुम्हें रुलाया है और कर्तव्यभ्रष्ट बनाया है । तुम्हारे मनपर जो बाह्य परिस्थितिने आक्रमण किया है, तुम उसे न सहकर उससे विचलित हो गये हो । तुमने ऐसे आक्रमणोंसे विचलित होकर परास्त जीवनको अपना लिया है । बाह्य परिस्थिति के इस आक्रमणको अपने ऊपरसे

निष्फल किये बिना तुम्हें विजयी धन्य जीवन प्राप्त नहीं होगा। ऐसे आक्रमणोंको जीवनभर उपेक्षित करते रहना कृतार्थ जीवन होगा।

यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १५॥

अन्वय—पुरुषर्षभ समदुःखसुखं यं धीरं पुरुषं एते न व्यथयन्ति हि सः अमृतत्वाय कल्पते॥

अर्थ— हे पुरुषश्रेष्ठ! सुखदुःखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये मात्रास्पर्श व्यथित नहीं करते वही अमरत्वको प्राप्त करता है।

भाव— विषयोंके आक्रमणोंको व्यर्थकर देना और कर्तव्यके सामने भौतिक सुखदुःखोंको नगण्य बना देना मन की उदार अवस्था है। यही अमरभाव है। इससे भिन्न अमृतभरा कटोरा कहीं नहीं रखा है, जहांसे उसका आवाहन करके पिया जा सकता हो। कर्तव्यके सामने भौतिक सुखदुःखोंको तुच्छ, हेय, नगण्य या उपेक्ष्य बना डालनेका हठही 'अमरभाव' है। शरीरोंका न मरना अमरभाव नहीं है, किन्तु शरीरोंके साथ साथ जुडी रहनेवाली सुखदुःख नामकी मृत्युको न अपनाना ही 'अमरभाव' है। शरीर अवश्य ही सुखदुःख मानेंगे, परन्तु हम उससे सुखी दुःखी नहीं होंगे, शरीरोंके क्षोभसे हम विचलित नहीं होंगे, हम अपने ऊपर विषयोन्मादको नहीं चढने देंगे, इस प्रकारकी दृढ निष्ठा ही 'अमरभाव' है। विषयवासनारूपी विषको न चखना ही अमृतपान करना है।

हे अर्जुन! तुम्हारे अमरजीवनके स्वामी बननेके लिये यह अत्यावश्यक हो गया है कि तुमको सगे संबन्धियोंकी मृत्युके जिस काल्पनिक दुःखचित्रने व्यथितकरके दुःखी बनाया है, तुम धीर होकर दृढताके साथ उसके अस्तित्वको अस्वीकार करडालो और अमरजीवनके स्वामी बनजाओ। अवश्यंभावी संयोगवियोगोंसे विचलित न होना ही अमरत्व है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ १६॥

अन्वय—असतः भावः न विद्यते, सतः अभावः न विद्यते, तत्त्वदर्शिभिः अनयोः उभयोः अपि अन्तः दृष्टः॥

अर्थ— असत् का स्थायित्व नहीं होता। सत् का लोप नहीं होता। तत्त्वदर्शी लोगोंसे इन दोनोंका यथार्थ स्वरूप देख लिया गया है।

भाव— असत् पदार्थोंके अस्तित्वको अस्वीकार करना इस श्लोकका अभिप्राय नहीं है। क्योंकि सत् असत् को या यों कहें कि अव्यक्त व्यक्तको सदा उत्पन्न करता रहता है। इस लिये 'असत् का भाव नहीं,' इस का यही अभिप्राय लगाना चाहिये कि असत् स्थिर नहीं होता। असत् शरीर आदि अविनाशी नहीं हैं और अविनाशी आत्मा कभी मर नहीं सकता, ये दोनों बातें तत्त्वज्ञानियोंकी आंखों देखी हैं। जिनकी आंखोंके सामने संसारकी सच्ची स्थिति आजाती है, उनकी दृष्टिमें अनहोनी बात कभी नहीं होती और होनहार कभी नहीं टलता।

हे अर्जुन ! इस महासत्यको तुमभी समझलो, और कल्याणपूर्ण जीवनको अपनानेके लिये तत्त्वज्ञानियोंके समान सांसारिक घटनाओंकी उपेक्षा करना सीखो। इन सगे संबन्धी समझे हुओंका जो वास्तविक स्वरूप है, वह कोई अवास्तविक अस्थिर सत्ता नहीं है। वह मरमिटनेवाला तत्त्व नहीं है। ज्ञानी इस तत्त्वको अनन्तवार देख चुके हैं। तुम इन सब लोगोंको मरनेवाली सत्ता समझकर रो रहे हो। क्योंकि ये मरनेवाले तत्त्व नहीं हैं, इस लिये इनके लिये रोना छोडकर अपना कर्तव्य संभालो।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥ १७ ॥

अन्वय—तत् तु अविनाशि विद्धि येन इदं सर्वं ततम्। अस्य अव्ययस्य विनाशं कर्तुं कश्चित् न अर्हति॥

अर्थ— तुम उसको अविनाशी जानो, जिसके द्वारा यह सब जगत् व्याप्त है। उस अव्यय तत्त्वके विनाश करनेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है।

भाव— पिछले श्लोकोंमें जिसे सत् कहा है उसी सत् का व्याख्यानरूप यह श्लोक है। शरीरके स्वामी आत्माको नित्य बताया जा रहा है। जो अविनाशी व्यापक तत्त्व इन तुम्हारे, हमारे और सगे संबन्धियों के शरीरोंका एकमात्रदेही या देहाधिकारी है, हे अर्जुन! तुम्हारे गांडीवसे उस तत्त्वके मरनेका कोई भी भय नहीं है। तुम उस देहस्वामीकी मरणाचिन्ता करके केवल अकर्तव्य कर सकते हो। सो तुम अकर्तव्य करनेवाले मत बनो। हे अर्जुन! यदि इन सब देहोंका पांचभौतिक अस्तित्व विलुप्त हो जाय तब भी तुम्हारे गांडीवसे निकले हुए बाण

उस तत्त्वका स्पर्शतक नहीं करपायेंगे । ऐसी अविनाशिनी देहाधिका-रिणी सत्ताके लिये आंसू बहाना तुमको शोभा नहीं देता ।

अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

अन्वय—नित्यस्य अनाशिनः अप्रमेयस्य शरीरिणः इमे देहाः अन्तवन्तः उक्ताः । भारत तस्मात् युध्यस्व ॥

अर्थ— नित्य आविनाशी अप्रमेय (अनन्त) देहस्वामीके ये देह अन्तवाले कहे जाते हैं, इस लिये हे भारत ! तुम युद्ध करो ।

भाव— इस श्लोकमें अनित्य या असत्‌को बताया जा रहा है–उस अविनाशी तथा अप्रमेय विराट् देही ने अवश्यमेव मरनेवाले देहों को यों ही धारण नहीं किया । किन्तु उसने इन सब देहों को अपने स्वरूप-दर्शनार्थी, कर्तव्यकरणार्थी तथा आत्मनिष्ठार्थी स्वभाव की अनन्त प्रेरणासे धारण किया है । वह सर्वव्यापक अविनाशी अनन्त आत्मा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड बनता है, पंचमहाभूत बनता है, अनन्त शरीर बनता है, भाषा बनता है, परिस्थिति बनता है, परिस्थितिका प्रभाव बनता है और प्रभावातीत रहने का हठ बनकर स्वरूपदर्शन या आत्मदर्शनका विमल आनन्द भोग लेता है । हे अर्जुन ! संसार नामके इस विशाल षड्यन्त्रको तुम्हारे हमारे अभिन्न आत्माने स्वरूपदर्शनका विमल आनन्द लेनेके लिये बनाया है । धर्मसंकट समझे हुए अव-सरही आत्मदर्शन, स्वरूपावस्थान, समाधि, मुक्ति या अमरभावको प्राप्त करानेवाले दिव्य अवसर होते हैं । धर्मसंकटों के समय अप्रभावित रहकर केवल कर्तव्यपर दृष्टि रखनेसे ही आत्मदर्शन किया जा सकता है । तुम इस युद्धको भौतिक रूप में मत देखो । तुम इसे आत्मदर्शन, स्वरूपा-वस्थान या अपने निर्मोह अनासक्त शुद्ध मनको दर्शन करनेके अवसरके रूपमें देखो । इसे कर्तव्य समझकर पालो और कर्तव्यपालनका संतोष भोगलो ।

य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९ ॥

अन्वय—यः एनं हन्तारं वेत्ति, यः च एनं हतं मन्यते तौ उभौ न विजानीतः । अयं न हन्ति न हन्यते ॥

अर्थ— जो इसको मारनेवाला जानता है और जो इसे मरनेवाला मानता है वे दोनों नहीं जानते। न तो यह मारता है और न यह मारा जाता है।

भाव— देहोंका होना जाना उस विराट् देहीका स्वभाव है। अर्थात् यह प्रकृतिका कर्म है। जैसे बीते हुए अनन्त देहोंकी क्रियाओंसे आत्मतत्त्व का स्पर्श नहीं हुआ, इसी प्रकार तुम्हारे और राजालोगोंके वर्तमानदेहोंकी क्रियाओंसे उसमें लेशमात्रभी परिवर्तन नहीं होगा। मरना जीना शरीरोंका अवश्यंभावी धर्म है। कौनसा श्वास बाहर जाकर नहीं लौटेगा इसका कुछभी निश्चय नहीं है। प्रत्येक देहको चाहे जब, चाहे भी जिस प्रबन्धसे अस्तित्वहीन किया जा सकता है। ईश्वरीय प्रबन्ध जिस देहको जिस उपायसे विलीन करना चाहता है, किसीभी मनुष्यको उसमें बाधक बनना चाहनेका अधिकार नहीं है। स्वयं ईश्वरीय प्रबन्ध ही जिन देहोंका घातक बन गया है, तुम उस प्रबन्धको अस्वीकार करके अपने आप घातक बननेका अहंकार और उस प्रबन्धसे बचनेकी इच्छा मत करो।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

अन्वय—अयं न जायते न वा म्रियते। अयं कदाचित् न भूत्वा भूयः भविता न। वा अयं कदाचित् भूत्वा भूयः न भविता न। अयं अजः, नित्यः, शाश्वतः, पुराणः, शरीरे हन्यमाने न हन्यते ॥

अर्थ— यह (आत्मा) न जन्मता है और न मरता है। यह (आत्मा) कभी न। होनेकी अवस्थासे होनेकी अवस्थामें नहीं आता, तथा यह कभी होनेकी अवस्थामें आकर फिर न रहनेकी अवस्थामें नहीं जाता। यह अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुराण है। यह शरीरके हत होनेपर हत नहीं होता।

भाव— जायते का अर्थ न होकर होना है, म्रियते का अर्थ होकर फिर न रहना है। इन दोनों क्रियाओंका आत्मतत्त्वसे कोई संबन्ध नहीं है। पहले न हो फिर कहींसे आगया हो तथा अब हो और फिर सदाके लिये विलुप्त हो जानेवाला हो, ये दोनों स्वभाव आत्मतत्त्वमें नहीं हैं। यह सदासे है और सदा रहेगा। शरीरोंके मरने या मार दिये जानेसे इस आत्माका स्वरूपलोप नहीं होता। शरीरोंको मारकर इसे अस्तित्वहीन

नहीं बनाया जा सकता। शरीरोंको छोडते रहना इसका स्वभाव है। तुम आत्माके इस स्वभावपर आसूं बहाकर बेसमझी मत करो ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥

अन्वय—पार्थ यः एनम् अविनाशिनं नित्यं अजम् अव्ययं वेद स पुरुषः कथं कं घातयति ? कथं वा कं हन्ति ॥

अर्थ— हे पार्थ! जो इस आत्माको अविनाशी नित्य अजन्मा और अमर पहचान जाता है, वह क्यों किसको मरवाता है और क्यों किसे मारता है ?

भाव— जब तुम अनन्त शरीरोंके जीवनमरणका अन्तहीन नाटक खेलनेवाली महासत्ताको समझ जाओगे, तब तुम्हारे मनमेंसे मरने मारने और मरवाने का प्रश्न हट जायगा। सूर्यलोकसे बाहरही दिनरातका प्रश्न रहता है। सूर्यलोकमें दिनरातका प्रश्न नहीं है। आत्मतत्त्वका दर्शन कर लेनेपर किसी भी क्रियाका कर्तृत्व किसीभी मनुष्यके पास नहीं रहता। तब मनुष्य के पास केवल स्वरूपदर्शन करते रहने, आत्मदर्शन करते रहने, शुद्ध मनको देखते रहने अथवा स्वरूपस्थ बने रहनेकाही एकमात्र कर्तव्य रह जाता है। ऐसे पुरुषका आत्मज्ञान सब बाह्य चिन्ताओं का ग्रास कर लेता है। इस युद्धमें जितने मारनेवाले मरनेवाले तथा मरवानेवाले देह इकठे हुए हैं, एक अविनाशी आत्मतत्त्वही उनका स्वरूप है। जो इस बातको जान लेता है, वह सर्व भूतमें अपनेहीं स्वरूप को देखता हुआ मारने तथा मरवाने का कर्तृत्वाभिमान करनेकी भ्रान्तिसे बच जाता है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

अन्वय—यथा नरः जीर्णानि वासांसि विहाय अपराणि नवानि गृह्णाति, तथा देही जीर्णानि शरीराणि विहाय अन्यानि नवानि संयाति ॥

अर्थ— जैसे कोई मनुष्य (बहुतसे) जीर्ण वस्त्रोंको फेंककर दूसरे नये पहन लेता है, वैसेही देही (आत्मा) जीर्ण शरीरोंको त्याग कर दूसरे नये शरीर धारण कर लेता है।

भाव— युद्धमें जितने देह नष्ट हो जायंगे वे आत्माके परित्याग किये हुए वस्त्रोंके समान तुम्हारी दृष्टिसे ओझल हो जायंगे। उत्पन्न होना और दृष्टिसे ओझल होजाना देहोंका स्वभाव है। देहोंके इस स्वभाव के लिये रोते रहना कहां की बुद्धिमत्ता है! पहना या उतारा वस्त्र जैसे पहननेवालेसे पूर्ण रूपसे पृथक् पदार्थ होता है, वैसेही देह देहीसे सर्वथा पृथक् पदार्थ है। देही देहोंसे अलिप्त रहनेवाला है। जीवित रहना तथा मरजाना दोनों देहके अवश्यंभावी स्वभाव हैं। मनुष्यको देह के इन स्वभावोंमें अनासक्त रहना चाहिये। युद्धमें तुम्हारा जीवित रहना और दूसरोंका मरजाना या तुम्हारा मरजाना तथा दूसरोंका जीवित रहजाना, विराटदेही के लिये एक जैसा है। जैसे पहने हुए वस्त्रका सदुपयोग करनाही वस्त्रधारण का अभिप्राय है, वैसे ही जबतक देह रहे तबतक देही के सदुपयोगमें आता रहे यही देहधारणका अभिप्राय है। इस देहरूपी वस्त्र का आनाजाना देहीकी सृष्टिस्थितिप्रलयलीलाके अधीन है। इस सृष्टिमें प्रतिक्षण जो अनन्तजन्म (देहधारण) मरण (देहत्याग) हो रहे हैं, ये सब आत्मारूपी विराट् देहीके जीर्णवस्त्रत्याग तथा नववस्त्र परिधान हो रहे हैं।

हे अर्जुन! तुम वही विराट् देही हो। तुम अपने को उस विराट् देही से पृथक् समझनेकी भूलका त्याग कर दो। त्यागे हुए वस्त्रों के साथ अपना संबन्ध रखना मत चाहो। संसारमें जितने शरीररूपी नववस्त्र पहने जा रहे हैं, उनका उचित उपयोग करना, अर्थात् उनमें अलिप्त रहकर विदेह बनकर कर्तव्यपालन करना, यही देही के देहधारणका अभिप्राय है। जब देही इन देहोंरूपी वस्त्रोंको पहन कर आत्मविस्मृतिमें नहीं डूबता, तब ही उसकी लज्जाकी रक्षा होती है। विदेहावस्थामें स्वभावसे रहनेवाली जो अखण्ड आत्मस्मृतिरूपी लज्जा नामकी दैवी संपत्ति है, यह देह ही उसकी रक्षा करनेका साधन है। देहके होनेसे ही इसका सदुपयोग किया जाता है और विदेहावस्था मिलती है। देहके होनेपरही उसमें अखण्ड स्मृति उदित होकर लज्जा नामकी दैवी संपत्ति सुरक्षित हो जाती है। यह लज्जा आत्मा का स्वधर्म है। इसीलिये इस श्लोकमें लज्जा के साधन वस्त्रकी उपमा दी गई है। आत्मविस्मृति ही निर्लज्जपना है।

नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

अन्वय—एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति । एनम् पावकः न दहति । एनम् आपः च न क्लेदयन्ति (एनं) मारुतः न शोषयति ॥

अर्थ— इस आत्माको शस्त्र नहीं काटते, अग्नि नहीं जलाता, जल नहीं गलाते, वायु इसे नहीं सुखाता ।

भाव— शरीरको नष्ट करनेके साधनोंसे आत्मा का नाश नहीं होता, इस बातका उल्लेख करके 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'की व्याख्या की जा रही है । साधनोंसे नष्ट न किया जा सकना आत्माका स्वरूपवर्णन नहीं है । जो शस्त्रसे न कटे, अग्निसे न जले, पानीसे आर्द्र न हो, वायुसे शुष्क न हो, यह कोई आत्मा का लक्षण नहीं है । क्योंकि वायु और आकाशभी ऐसेही हैं । इसलिये इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि शस्त्र आदिसे देहकाही विनाश होता है । देहके विनाश होनेपर आत्मा उस नाशसे अलिप्त रहता है । जो विराट् देही सब देहोंमें, पेड़ पत्ती और कीडों तककी सब सृष्टिमें, एकमात्र कर्ता बने रहनेके स्वभावको लेकर बैठा है, सृष्टि आदि व्यापारमें जिसे छोडकर दूसरा कोई कर्ता नहीं है, उसको खण्डित करनेकी शक्ति रखनेवाला, शस्त्रसे उसे काट सकनेवाला, कर्ता कौन हो सकता है ? उसे कौन काटेगा ? जिसके कर्तापनसे अग्निको अस्तित्व मिला है, दाहशक्तिके प्राणस्वरूप उसेही दग्धकर डालनेका कर्तापन इस अग्निको कैसे मिलजायगा ? यह छोटी आग उस बडी आगको कैसे जलाडालेगी ? जिसके कर्तापनसे जल द्रावक हो जाते हैं, उसीसे द्रावक शक्तिको लेकर उसीको द्रवित करनेका कर्तापन इन जलोंको कैसे मिलजायगा ? जिसके कर्तापनसे वायुको अस्तित्व मिलता है और शोषणशक्ति प्राप्त होती है, इस वायुमें उसीको शोषण करनेका कर्तापन कैसे आसकेगा ? ऐसा जो सर्वभूतस्थ भूतेश्वर आत्मा है, वही तुम्हारा स्वरूप है । जब तुम अपने इस स्वरूपको जानलोगे, तब देखोगे कि इस रणक्षेत्रमें जितने शस्त्रधारी देह हैं, उन सब देहोंके तुम्हीं एकमात्र अच्छेद्य अदाह्य आदिदेही हो । जब ऐसा समझलोगे तब तुम्हारे पास शोकका कारण नहीं रहेगा । जब तुम्हारी यह दृष्टि खुलेगी तब तुम्हारी शस्त्रप्रहारी और शस्त्राहत होनेकी भ्रान्ति हट जायगी । तब तुम सर्वत्र एकतत्त्वको देखने

लगोगे। तब तुम देखोगे कि मेरे समझे हुए इस देहको दूसरे असत्यनिष्ठ देहको मार डालनेका अटल कर्तव्य दिया गया है। जब ऐसी आत्मदर्शनकी अवस्थामें स्थित हो जाओगे तब युद्ध करनाही तुम्हारे मनकी उल्लासपूर्ण अवस्था बन जायगी।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोयं सनातनः॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

अन्वय—अयम् अच्छेद्यः, अयम् अदाह्यः, अयम् अक्लेद्यः, अयम् अशोष्यः एव च। अयम् नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, सनातनः। अयम् अव्यक्तः, अयम् अचिन्त्यः, अयम् अविकार्यः उच्यते। तस्मात् एनम् एवं विदित्वा, अनुशोचितुं न अर्हसि।

अर्थ— यह आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। यह नित्य सर्वगत (सर्वव्यापक) स्थिर, अचल और सनातन है। यह (आत्मा) अव्यक्त (इन्द्रियातीत) है। यह आत्मा अचिन्त्य (अद्वैत) है, यह अविकार्य (अपरिवर्तनीय) कहा जाता है। इसलिये इस आत्मतत्त्वको इस प्रकारका जानकर तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है।

भाव— इन श्लोकोंमें आत्माको अचिन्त्य कहा गया है। चिन्तनीय तथा चिन्ता करनेवालेकी अद्वैत स्थितिही अचिन्त्य अवस्था है। विषय तथा विषयीकी पृथकृता ही चिन्ताकी जन्मदात्री है। अद्वैतावस्था आनेपर चिन्ता का विराम हो जाता है। अर्जुनसे कहा जा रहा है कि तुम आत्मस्वरूपके अज्ञानके कारण शोक कर रहे हो। तुम आत्माके स्वरूपको जानो और शोक करना छोड़ दो। मनुष्यका आत्मा शस्त्रोंसे नष्ट हो सकनेवाला तत्त्व नहीं है। यह सदा एकरस रहता है। तुम इस आत्माके मरने जीने या मारने बचानेकी चिन्ताको त्याग दो। तुम युद्धक्षेत्रमें जिनकी अवश्यंभावी मृत्युसे विचलित हो रहे हो, तुमने इनके स्वरूपको नहीं समझा है, इसीसे तुम्हारे मनमें इनको मारने के कर्तापनकी भ्रान्ति हो रही है। तुम इस भ्रान्तिसे युद्ध छोडकर इनके रक्षक बननेका अहंकार धारण करना चाहते हो। तुम आत्माके स्वरूपको जान लेनेपर समझोगे कि तुम्हारा और इन

सब सगे संबन्धियोंका स्वरूप आत्मतत्त्व ही है। तब तुम्हारा यह ज्ञान, कि इन शरीरों के नाशसे आत्माका स्वरूपनाश नहीं होता, तुम्हारी शोकातीत अनासक्त स्थितिके रूपमें प्रकट हो जायगा।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६॥

अन्वय—अथ च एनं नित्यजातं नित्यं वा मृतं मन्यसे, तथापि हे महाबाहो त्वम् एनं शोचितुं न अर्हसि।

अर्थ— यदि इस आत्माको नित्य जन्मनेवाला और नित्यमरनेवाला मानते हो तोभी हे महाबाहो! तुम्हें इसका शोक नहीं करना चाहिये।

भाव— आत्माके दो रूप हैं एक अविनाशी दूसरा विनाशी। इन्हींको 'अव्यक्त' तथा 'व्यक्त' भी कहा जाता है। आत्मा का अविनाशी या अव्यक्त रूप ऊपर बताया जा चुका है और उसकी अशोच्यताका प्रतिपादन भी किया जा चुका है। अब उसी आत्माके दूसरे नाशवान रूपको बताकर उसकी भी अशोच्यता दिखाई जा रही है। आत्माका यह नाशवान रूप जो कि शरीरों के रूपमें प्रकट होता है और जन्म मरण करता हुआ पाया जाता है, इसे आत्माका 'व्यक्त' या विनाशी रूप समझना चाहिये। जैसे अविनाशी आत्माके अव्यक्त रूपके लिये शोक करना भ्रान्ति है, इसी प्रकार आत्माके इस दूसरे विनाशी व्यक्त रूपके लिये शोक करनाभी भ्रान्ति है। जिसका अविनाशी रूप शोक करनेके योग्य नहीं है उसका नाशवान रूपभी शोक करनेके योग्य नहीं है। देहोंके जीवनमरण प्राकृतिक नियम हैं। प्राकृतिक नियमोंपर शोक करना अज्ञान है। यही इस श्लोकका अभिप्राय है।

युक्ति रूपमें किसी असत्य सिद्धान्तको स्वीकार करके अर्जुनको शोक न करनेकी बात कही जा रही है, ऐसा समझना भ्रांति होगी। इस लिये इस श्लोकमें यह नहीं कहा जा रहा है कि यदि तुम ज्ञान-वार्ताको स्वीकार न करो तबभी शोक मत करो।

क्योंकि जबतक अर्जुन अज्ञानको नहीं छोडेगा तबतक शोक करना कैसे छोड सकेगा? वह अज्ञानके कारण शोक कर रहा है। जबतक कारण न हटे तबतक शोकत्याग असंभव है। यह कैसे हो

सकता है कि अर्जुन अज्ञानीभी बना रहे और श्रीकृष्णकी बातोंके प्रभावमें आकर शोक करनाभी छोड दे। शोक को यदि इस प्रकार अज्ञानियोंके पाससे भगाया जा सके तो बताओ उसे संसारमें ठहरनेको स्थान कहां मिलेगा?

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

अन्वय–हि जातस्य मृत्युः ध्रुवः मृतस्य जन्म च ध्रुवम्। तस्मात् अपरिहार्ये अर्थे त्वं शोचितुं न अर्हसि ॥

अर्थ— क्योंकि जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित होगी और मृतका जन्मभी निश्चित है, इस लिये इस निश्चित बात पर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

भाव—अविनाशी अव्यक्त आत्मतत्त्वही इस जन्मनेवाले तथा मरनेवाले व्यक्तजगत्का स्वरूप है। आत्माका यह व्यक्त रूप जन्मते और मरते रहनेका स्वभाव रखता है। इसके स्वभाव को समझकर इसके लिये शोक करना अनुचित है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

अन्वय–भारत भूतानि अव्यक्तादीनि व्यक्तमध्यानि अव्यक्तनिधनानि एव तत्र परिदेवना का?

अर्थ— हे भारत ये भूत आदिमें अव्यक्त होते हैं, बीचमें व्यक्त हो जाते हैं और विनाश होनेपर फिर अव्यक्त हो जाते हैं। ऐसा स्वभाव रखनेवाले इन भूतों के विषयमें दुःखी प्रलाप क्यों किया जाता है?

भाव— जो जिसका अन्तिम रूप है, वही उसका स्वरूप है। इन्द्रियोंके अगोचर हो जानाही इन देहोंका अन्तिम रूप है। अव्यक्त हो जानाही जिसका स्वरूप है, वह कुछ कालके लिये व्यक्त होकर फिर अव्यक्त बन जाता है। आदि और अन्तमें अव्यक्त रहनेवाले आत्माका बीचका व्यक्त रूप उसका स्वरूप नहीं है। नाशवान भूतों के रूपमें व्यक्त होनेवाला आत्मा, जब मृत्युनामक अव्यक्त अवस्थाको प्राप्त करता है तब वह अपने मिथ्या रूपको छोड़कर स्वरूपको अपनाता है। अपने अस्थिर रूपको छोड़कर स्थिर रूपको अपनाना किसीके लिये शोक करनेकी बात नहीं है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

अन्वय—कश्चित् एनम् आश्चर्यवत् पश्यति। तथा एव च अन्यः एनम् आश्चर्यवत् वदति । अन्यः एनम् आश्चर्यवत् शृणोति । कश्चित् एनं श्रुत्वा अपि (दृष्ट्वा उक्त्वा अपि) न च एव वेद ॥

अर्थ— कुछ लोग इस आत्माको आंखोंसे देखने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार दूसरे लोग इसे बोलनेका व्यर्थ प्रयत्न करते हैं । दूसरे लोग इसे सुननेका व्यर्थ प्रयत्न करते हैं । कोई इसे सुन (देख और बोल) कर भी नहीं जानते ॥

भाव— पहले श्लोकमें यह बताते हुए कि आत्मा आदि और अन्तमें अव्यक्त है तथा बीचमें व्यक्त हो जाता है, आत्माको अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियातीत बताया जा चुका है। यह श्लोक उसी इन्द्रियातीतता का समर्थन कर रहा है। क्योंकि अज्ञानी मनुष्य आत्माके अव्यक्त स्वरूपको भूलकर इस व्यक्त जगत्के बन्धनमें फंसजाते हैं और इस स्थितिमें फंसे रह कर ईश्वरको भी इन्द्रियभोग्य रूपमें चाहते हैं । देखना बोलना सुनना आदि इन्द्रियग्राह्य व्यक्त जगतसे संबन्ध रखनेवाली बात हैं। सुनना बोलना या देखना आदि बीचकी व्यक्त स्थिति के ही संबन्धमें संभव हैं । परन्तु यह बीचकी स्थिति आत्माका स्वरूप नहीं है। जो स्वरूप नहीं है उसीको स्वरूप मानकर भ्रान्तिमें पडे रहना भ्रम की और ज्ञानी के लिये आश्चर्य की बात है । इन देखना आदि क्रियाओंका अव्यक्त तत्त्वके साथ कोई संबन्ध नहीं है। जो मनुष्य इस नाशवान् जगत्के समानही अव्यक्त आत्माको इन्द्रियोंका विषय मानकर इसे इन्द्रियोंके द्वारा जानना चाहता है, और इन्द्रियोंके द्वारा आत्मदर्शनके लिये किये गये व्यर्थ प्रयत्नको आध्यात्मिकताके नामसे कहता है, उसके प्रयत्नको इस श्लोकमें स्पष्ट भाषामें 'आश्चर्य' बताकर अज्ञान कहा जा रहा है ।

जो लोग आत्माको इन्द्रियोंके द्वारा देखना सुनना या कहना चाहते हैं उनका यह देखने सुनने तथा कहनेका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है ।

अर्थात ये लोग आत्माको देखने बोलने और सुननेमें असमर्थ होकर इन्द्रियोंके बन्धनमें फंसे रह जाते हैं। जो लोग इन्द्रियातीत आत्मतत्त्वको इन्द्रियोंके द्वारा जाननेका असंभव प्रयत्न करते हैं, उनके लिये आत्मा दुर्ज्ञेय रहता है। वे आत्मदर्शनके संबन्धमें नैराश्यकी स्थितिको अपनाये रहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा आत्माको जानने का विफल प्रयत्न करनेवालोंके विरोधमें 'आश्चर्यवत्' शब्दका उपयोग करके यह कहा जा रहा है कि चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा आत्माको जानने का विफल प्रयत्न करनेवाले उसे कदापि नहीं जान सकेंगे।

आत्माको सचमुच दुर्ज्ञेय बताना इस श्लोक का तात्पर्य नहीं है। इसका यह तात्पर्य भी नहीं है कि आत्माको जाननेवाले मनुष्य संसारमें इतने विरले हैं कि जगत्में उनका अस्तित्व आश्चर्यवत् हो गया हो। यदि इस श्लोकका ऐसा अभिप्राय माना जायगा तो कहना पडेगा कि गीताकार पहले श्लोकोंमें उत्साहके साथ आत्माका स्वरूपवर्णन करनेके पश्चात् अब यहां आकर आत्माके संबन्धमें जगत् को निरुत्साहित करके, आत्मज्ञानार्थी जगत् की किसी भी प्रकारकी सहायता नहीं कर रहे हैं। आत्मा जानने योग्य नहीं है, यह निरर्थक समाचार अज्ञानियोंके अज्ञान का समर्थन करनेवाला है। इसे ज्ञानार्थी के लिये ज्ञानोपदेशके रूपमें कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

अन्वय–भारत सर्वस्य देहे अयं देही नित्यम् अवध्यः। तस्मात् त्वं सर्वाणि भूतानि शोचितुं न अर्हसि ॥

अर्थ— हे भारत ! सबके देहोंमें रहनेवाला यह देहस्वामी (आत्मा) सर्वदा अवध्य है। इस लिये तुम्हें सबका (किसी भी प्राणीका) शोक नहीं करना चाहिये।

भाव— इस युद्धमें इन शरीरोंका नाश होने पर भी सब देहोंका एकमात्र देही आत्मतत्त्व अविनाशी बना रहेगा। इस लिये इनमें कोई भी तुम्हारे शोक करनेके योग्य नहीं है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि ॥
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

अन्वय—स्वधर्मम् अवेक्ष्य च अपि विकम्पितुं न अर्हसि। हि क्षत्रियस्य धर्म्यात् युद्धात् अन्यत् श्रेयः न विद्यते ॥

अर्थ— स्वधर्मकी ओर देखकर भी तुम्हें विकाम्पित (युद्धोत्साहरहित) नहीं होना चाहिये। क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त संग्रामसे दूसरा कल्याण मार्ग नहीं है।

भाव— जितने ज्ञानी हैं वे सब देही आत्माके स्वधर्मकी रक्षा करनेवाले क्षत्रिय हैं। आत्माकी निर्विकार स्थिति ही आत्माका स्वधर्म है। क्षत्रियका काम अखण्ड आत्मस्मृतिकी रक्षा करना है। ज्ञानखड्गसे अज्ञानको काट देनेवाला सच्चा क्षत्रिय है। इस सृष्टिमें क्षत्रियोंको उत्पन्न करनेवाला ऐसा कोई भौतिक सांचा नहीं है जिससे क्षत्रिय बनाये जाते हों। शरीर क्षत्रिय नहीं होता, मन ही क्षत्रिय होता है। ज्ञानी सच्चा क्षत्रिय है। क्योंकि उसके पास अज्ञानबन्धनरूपी क्षतिसे मुक्त रहने का स्वभाव है। मनुष्य मात्रको इस स्थितिको अपना कर क्षत्रिय बननेका अधिकार है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ ३२ ॥

अन्वय—पार्थ, यदृच्छया च उपपन्नम् अपावृतं स्वर्गद्वारम् ईदृशं युद्धं सुखिनः क्षत्रियाः लभन्ते ॥

अर्थ— हे पार्थ ! अप्रार्थित रूपसे पाये हुए खुले हुए स्वर्गद्वारके समान ऐसे युद्धको भाग्यशाली क्षत्रिय पाया करते हैं।

भाव— यह युद्ध पाण्डवोंके पास अप्रार्थित रूपसे आया है। दुर्योधनने सत्यका अपमान करके सत्यरक्षक पाण्डवोंको, इस युद्धको स्वीकार करने के लिये विवश किया है। असत्यका दलन करके सत्यकी रक्षा करना यही पाण्डवोंकी ओरसे इस युद्धका स्वरूप है। पाण्डवोंने इस युद्धको स्वीकार करके सत्यरूपी अक्षय संपत्ति या स्वर्गको अपना लिया है। असत्यका विरोध करके सत्यकी रक्षा करनेवाले ज्ञानी ही सुखी क्षत्रिय होते हैं। अर्जुन अज्ञानवश युद्धविमुख होकर सत्यसे विमुख हो रहा है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अन्वय–अथ चेत् त्वं इमम् धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ॥

अर्थ— यदि तुम अपने धर्मानुकूल इस संग्रामको न करोगे तो स्वधर्म और कीर्तिको त्यागकर पाप कमा लोगे ।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

अन्वय–भूतानि ते अव्ययाम् अकीर्तिं च अपि कथयिष्यन्ति । संभावितस्य च अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते ॥

अर्थ— मनुष्य तुम्हारी अक्षय अकीर्ति कहा करेंगे । ज्ञानीके लिये ज्ञानियोंके समाजमें प्रतिष्ठित न रहना मृत्युसे भी अधिक शोचनीय है ।

भाव— ज्ञानीको शरीरकी मृत्युकी चिन्ता नहीं होती । ज्ञानीकी दृष्टिमें ज्ञानहीन होना ही मृत्यु है । इस लिये अर्जुनसे कहा जा रहा है कि तुम अकीर्तिकर कार्य करोगे तो अपनी मृत्यु बुला लोगे । ज्ञानी शरीरकी मृत्युको अपनी मृत्यु नहीं मानता। ज्ञानीकी दृष्टिमें शरीरसे जीवित रह-करभी ज्ञानियोंके समाजमें न रहने योग्य बनजाना ही मरजाना है । इस समय इस मृत्युसे आत्मरक्षा करना अर्जुनका कर्तव्य बताया जा रहा है ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

अन्वय–येषां च त्वं बहुमतः भूत्वा लाघवं यास्यसि (ते) महारथाः त्वां भयात् रणात् उपरतं मंस्यन्ते ॥

अर्थ— जिनकी दृष्टिमें तुम श्लाघनीय चरित्रवाले होकर फिर लघुताको प्राप्त हो जाओगे (वे) महारथ तुमको भयसे रणसे हटा हुआ मानेंगे ॥

भाव— अज्ञानियों की दृष्टिमें अर्जुनका भीरु बनजाना निन्दाकी बात है, यह हलकी बात कहकर अर्जुनको जिस किसी प्रकार युद्धके लिये उत्ते-जित किया जा रहा है, श्रीकृष्णपर ऐसा आरोप लगाना उचित नहीं होगा। क्योंकि अज्ञानियोंकी दृष्टिमें श्लाघ्य होना ज्ञानीके लिये कदापि स्पृहणीय नहीं हो सकता । किन्तु अर्जुन, जिन ज्ञानी महा-रथियोंकी दृष्टिमें सत्यकी रक्षार्थ युद्धमें आया है, उनकी दृष्टिमें उसका सत्यभ्रष्ट हो जाना उसके लिये त्याज्य स्थिति है। सत्यच्युत होनेपर

मनुष्य भीरु बनजाता है। सत्यसे भ्रष्ट होकर असत्यको अपनाना कापुरुषता है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये ज्ञानी वीरोंकी दृष्टिमें अर्जुनकी श्लाघनीय स्थितिका स्मरण कराया जा रहा है।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निंदन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

अन्वय–तव अहिताः तव सामर्थ्यं निन्दन्तः बहून् अवाच्यवादान् वदिष्यान्ति च ततः दुःखतरं किं नु ?॥

अर्थ— तुम्हारे शत्रु तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत सी न कहने योग्य बातें बनायेंगे। 'धर्मपक्ष हार गया' इस निन्दाप्राप्तिसे बडा और क्या दुःख होगा ?

भाव— धर्मबल पापका विद्रोह करनेमें समर्थ नहीं हुआ, इस बातका जगतमें फैल जाना, धार्मिक ज्ञानीके लिये न सुनने और न होने देने योग्य बात है।

हतो वा प्राप्स्यासि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

अन्वय–हतः वा स्वर्गं प्राप्स्यसि, शत्रून् जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे। कौन्तेय तस्मात् युद्धाय कृतनिश्चयः सन् उत्तिष्ठ॥

अर्थ— मारे गये तो स्वर्गको पाओगे, जीतोगे तो पृथिवीको पालोगे, इसलिये हे कौन्तेय! युद्ध करने का निश्चय करके खडे हो जाओ।

भाव— इस श्लोकमें 'स्वर्ग' शब्द स्वरूपस्थितिका वाचक है। अर्जुनसे कहा जा रहा है कि जब तुम स्वरूपस्थितिमें रहकर मरोगे, तब कर्तव्य-पालनका सन्तोष लेकर मरोगे। मृत्यु तुम्हारे शरीरको छीनकर भी तुमसे कर्तव्यपालन का सन्तोष नहीं छीन सकेगी। यदि तुम युद्धमें जीत गये तो तुमने जिस कर्तव्यबुद्धिसे युद्ध किया है, वह क्योंकि तुम्हारे पास बनी रहेगी, इस लिये तब तुम उससे पृथिवीपालन रूपी कर्तव्यको पालते रह सकोगे॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

अन्वय–सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा ततः युद्धाय युज्यस्व एवं पापं न अवाप्स्यासि॥

अर्थ— सुखदुःख, लाभहानि, जयपराजयको एकसा मानकर युद्धमें लग जाओ ऐसा करोगे तो पाप (अज्ञान) को प्राप्त नहीं होगे।

भाव— भौतिक लाभालाभकी भावनासे अतीत रहकर असत्यका विरोध करनेवाली मानसिक स्थिति ही 'सत्य' है। सत्य किसी भौतिक सुखका नाम नहीं है। सुखी, लाभवान या विजयी होने की भ्रान्ति से अतीत हो जाना ही 'सत्य' का स्वरूप है। अर्जुनकी दृष्टिको सत्यकी ओर आकृष्ट करते हुए भौतिक लाभोंको दृष्टिसे बाहर रखकर युद्ध करने की प्रेरणा दी जा रही है। अपनी शक्तिसे असत्यका विरोध करनेके परिणामके रूपमें यह भी हो सकता है कि उससे भौतिक सुख संपत्ति की रक्षा न हो, फिर भी उससे सत्यकी रक्षा अवश्य होगी, इस सत्यको जानकर इसपर अटल होने को ही 'ज्ञान' कहा जा रहा है। अर्जुनके मनमें युद्धरूपी कर्तव्यको छोडनेके लिए जो भौतिक लाभहानिका प्रश्न उदय हुआ है, यही उसका 'अज्ञान' या 'पाप' है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ॥
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

अन्वय–सांख्ये ते एषा बुद्धिः अभिहिता, योगे तु इमां शृणु, पार्थ यया बुद्धया युक्तः कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

अर्थ— सांख्य (ज्ञानमयीस्थिति) के विषयमें तुम्हें यह बुद्धि बतायी जा चुकी। योग (कर्मकौशल या इस बुद्धिको व्यवहारमें लागू करने) के विषयमें भी अब इस बुद्धिको सुनो। हे पार्थ! जब इस (व्यावहारिक) बुद्धिसे युक्त हो जाओगे तब कर्मोंके बन्धकत्वको काट डालोगे। (कर्म करोगे पर कर्मबन्धन नहीं लगेगा)।

भाव— अर्जुनको समझानेकी बातें बताकर समाप्त की जा चुकीं। अब इस समझको काममें लानेकी व्यावहारिक बातें बताना आवश्यक हो गया। क्योंकि कोरी समझसे काम नहीं चलता। समझको काममें लाने या व्यावहारिक रूप देनेसे ही समझ, समझके नामसे कहलाने योग्य बनती है। इस सांख्यबुद्धिका व्यावहारिक उपयोग ही कर्मबन्धनको काटनेवाला है, जिसे 'कर्मयोग' कहा जाता है। कर्मको शुद्ध रखनेवाली जो कला है वही 'बुद्धि' है। कर्म के विना बुद्धि वन्ध्या और

बेकार है। इस दृष्टिसे इस श्लोकमें भिन्न भिन्न अधिकारियोंके लिये 'सांख्य' तथा 'कर्मयोग' नामके दो मार्गोंकी उद्भावना निराधार है।

'कर्मयोग' करनेवालों तथा ज्ञानी समझे जानेवालोंको भिन्नभिन्न माननेवाले यह कहना चाहते हैं कि जबतक मनुष्य 'कर्मयोग' करता रहेगा, तबतक वह ज्ञानी नहीं बन सकेगा। ये लोग 'कर्मयोग'को ज्ञान नामकी नैष्कर्म्य स्थितिका साधन बताते हैं। इसीसे इन्होंने कर्मयोगियों तथा सांख्यस्थितिवालोंके भिन्नभिन्न प्रकारके अधिकारी होनेकी कल्पना की है। ये 'कर्मसंन्यास'को ही 'सांख्यस्थिति' मानते हैं। इनका कहना है कि 'कर्मयोग' करते रहनेसे कर्मका त्याग हो जाता है और ज्ञानकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इनके सिद्धान्तानुसार 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञान' ये दोनों अवस्था कदापि एकसाथ नहीं रह सकतीं। इनका 'कर्मयोग' ज्ञानको उत्पन्न करते ही लुप्त हो जाता है। इस स्थानपर इनकी इन सब बातोंका विचार करलेना अत्यावश्यक है। ये लोग 'कर्मयोग'से जिस कर्मत्यागकी स्थितिको पाना चाहते हैं, उसे 'सांख्यस्थिति' या 'ज्ञान'नामसे कहते हैं। इसपर प्रश्न होता है कि उस ज्ञानमयी सांख्यस्थितिको उत्पन्न करनेवाले 'कर्मयोग'में ज्ञान विद्यमान है या नहीं? यदि 'कर्मयोग'में ज्ञानका अभाव माना जाय तो उसे अज्ञानरूप मानना पडेगा, और तब वह 'सांख्यस्थिति'का उत्पादक नहीं हो सकेगा। क्योंकि अज्ञान कभी ज्ञानका जनक अर्थात सहायक साधन नहीं हो सकता। प्रत्युत वह सदा ज्ञानको भगानेवाला होता है। यों 'कर्मयोग'में ज्ञानका अभाव मानना और फिर भी उसे सांख्यस्थितिका उत्पादक मानना स्पष्ट भ्रान्ति है। इसके विपरीत यदि 'कर्मयोग'में ज्ञान स्वीकार किया जाता हो तो 'कर्मयोग' और 'सांख्यस्थिति'में रहनेवाले ज्ञानोंको पृथक् माननेका आधार क्या है? सो बताना चाहिये। उन्हें यह भी बताना चाहिये कि 'सांख्यस्थिति'के आजानेपर 'कर्मयोग' नामक ज्ञान क्यों भाग जाता है? और जबतक 'कर्मयोग' रहता है तबतक 'सांख्यस्थिति' उसके पास आनेसे क्यों डरती है? एककी उपस्थितिसे दूसरेका भागना वहीं संभव होता है जहां परस्पर वध्यघातक भाव होता है। परन्तु 'कर्मयोग' तथा 'सांख्यस्थिति'में वध्यघातकसंबन्ध नहीं माना जा रहा है। प्रत्युत 'कर्म-

योग'को 'सांख्यस्थिति'का साधन बताया जा रहा है। ऐसी अवस्थामें 'सांख्यस्थिति'के कुछ समयतक 'कर्मयोग'से अनुपस्थित रहने और कुछ समयके अनन्तर अकस्मात् आविर्भूत हो जाने, और उसका आविर्भाव होने ही 'कर्मयोग'के सहसा लुप्त हो जानेका रहस्य विचारशील पुरुषकी बुद्धिमें आना असंभव है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

अन्वय—इह (ज्ञानयुक्ते कर्मणि) अभिक्रमनाशः न अस्ति। प्रत्यवायः न विद्यते अस्य धर्मस्य स्वल्पम् अपि महतः भयात् त्रायते॥

अर्थ— इस ज्ञानयुक्त कर्मयोगमें प्रारम्भ का विनाश नहीं होता और भ्रान्ति भी नहीं होती। इस धर्मका थोडासा भी (आचरण) अज्ञानरूपी महाभयसे बचाता है।

भाव— इस 'कर्मयोग'में आरम्भका नाश नहीं होता और प्रत्यवाय भी नहीं लगता, इन वाक्योंका अभिप्राय यह है कि 'कर्मयोगी' अपने जीवनभर 'कर्मयोगी' बना रहता है। वह अपने कर्मयोगीपनेको त्याग नहीं सकता। उसके शरीरसे किये जानेवाले कर्मोंसे 'ज्ञान' कभी पृथक् नहीं रहता। उसके सब कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं। वह कभी अज्ञानी नहीं बनता। कभी अज्ञानी न बनना ही ज्ञानीका प्रत्यवायसे बचे रहना है। मनुष्य इस ज्ञानकी स्थितिमें रहकर जो कुछ कर्म करता है, वह कर्म भौतिक दृष्टिसे चाहे छोटा ही क्यों न हो, ज्ञानी उसे अपने ज्ञानकी पूर्णताकी स्थितिमें रहकर करता है और करता हुवा अज्ञानरूपी महाभयसे अतीत बना रहता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

अन्वय—कुरुनन्दन इह व्यवसायात्मिका बुद्धिः एका। अव्यवसायिनां बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताः च हि॥

अर्थ— हे कुरुनन्दन! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक होती है, परन्तु अनिश्चयात्मक पुरुषोंकी बुद्धियां बहुत शाखाओंवाली और अनन्त होती हैं।

भाव— इस कर्मयोगमें सुखदुःखमें सम रहनेवाली एक ही निष्कामस्थिति रूपी निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। अर्थात् मुझे भौतिक सुख नहीं चाहिये यही एक बुद्धि निश्चित रूपसे कर्मयोगीमें कर्तव्यपालनका नियामक बनकर रहती है। परन्तु अज्ञानसे कर्म करनेवाले अनिश्चयात्मक चंचल मनुष्योंकी भौतिक सुखोंको चाहनेवाली अनन्त बुद्धि होती हैं। क्योंकि वे अस्थिर पदार्थोंमें से सुख ढूंढते हैं, इस लिये सदा अस्थिर बने रहते हैं। वे सदा अभाव और आवश्यकताओंसे सताये जाते रहते हैं। वे जो चाहते हैं, वह उनके पास नहीं है, जो उनके पास नहीं है, उसी को वे चाहते हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

अन्वय—पार्थ, वेदवादरताः, नान्यत् अस्ति इति वादिनः, कामात्मानः, स्वर्गपराः, अविपश्चितः, भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलां, जन्मकर्मफलप्रदां, याम् इमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्ति, तया (वाचा) अपहृतचेतसां, भोगैश्वर्यप्रसक्तानां, व्यवसायात्मिका बुद्धिः, समाधौ न विधीयते।

अर्थ— हे पार्थ! वेदके वादोंमें रुचि रखनेवाले, इससे भिन्न दूसरा नहीं है, ऐसा कहनेवाले (भोगसुखके अतिरिक्त अवैषयिक अमरसुख को अस्वीकार करनेवाले) कामाकुल मनवाले स्वर्ग (विषयसुख) को ही परम पुरुषार्थ समझनेवाले मूढ लोग, भोगैश्वर्य देनेवाली क्रिया-ओंके वर्णनोंसे भरी हुई, भोगानुकूल जन्म तथा भोगानुकूल कर्मफल देनेवाली, जिस इस पुष्पित (फूलही फूल दिखाकर ठगनेवाली) वाणी को (बढा चढाकर) कहते हैं, उस वाणीसे जिनका मन हरलिया गया है, जो भोगैश्वर्योंके पीछे पडे हुए हैं, उनके पास चित्तकी स्थिरता के लिये निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

अन्वय—वेदाः त्रैगुण्यविषयाः। अर्जुन त्वं निस्त्रैगुण्यः निर्द्वन्द्वः नित्यसत्त्वस्थः निर्योगक्षेमः आत्मवान् भव ॥

अर्थ— वेदों का विषय त्रैगुण्य (कामना) है। हे अर्जुन ! तुम निस्त्रैगुण्य (निष्काम), सुखदुःखमें सम, नित्यसत्त्वस्थ (पूर्णतामें स्थित), भोगोंकी प्राप्ति तथा रक्षाके बन्धनों से मुक्त, आत्मनिष्ठ हो जाओ।

भाव— मनुष्यको चाहिये कि कामनायुक्त कर्मके बन्धनसे मुक्त रहनेके लिये आत्मस्वरूपमें स्थित रहे। आत्मस्वरूपमें स्थित हुए ज्ञानीके पास किसी भौतिक वस्तुकी प्राप्ति तथा स्थितिकी चिन्ता नहीं रहती। वह सदा निष्काम, सुखदुःखातीत तथा पूर्णताकी स्थितिमें रहता है। यही ज्ञान या व्यवसायात्मिका बुद्धिरखनेवाले मनुष्य की कर्मयोगकी स्थिति है। आत्मनिष्ठ पुरुष स्वभावसे ज्ञानयुक्त कर्म करता रहता है। आत्मनिष्ठ हो जाना और त्रिगुणातीत हो जाना एक ही बात है। अनात्म-वस्तुके बन्धनमें रहनेको ही त्रिगुणके बन्धनमें रहना कहा जाता है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

अन्वय—उदपाने (कूपे) सर्वतः संप्लुतोदके यावान् अर्थः, विजानतः ब्राह्म-णस्य सर्वेषु वेदेषु तावान् अर्थः ॥

अर्थ— कुआ जब सब ओरसे जलकी बाढमें डूब जाता है, तब उससे जितना प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् तब उससे कुछ प्रयोजन नहीं रहता) जिसके पास व्यवसायात्मिका बुद्धि है उस विज्ञानी ब्रह्मज्ञको भी सब वेदोंसे उतना ही प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् उसे वेदोंसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता)।

भाव— जैसे बाढ के पानीमें डूबा हुआ कूप निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार विज्ञानी ब्रह्मज्ञके लिये वेदोंका ज्ञान भी निरर्थक हो जाता है। कूपमें बाढका जल होता है। बाढमें कूपका जल नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानग्रन्थोंमें ब्रह्मज्ञोंका ज्ञान लिखा रहता है। ब्रह्मज्ञोंमें ग्रन्थोंका ज्ञान नहीं होता। इस लिये ज्ञानीके लिये वेदोंका मार्गदर्शकके रूपमें कोई उपयोग नहीं है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अन्वय—ते अधिकारः कर्माणि एव फलेषु कदाचन मा । कर्मफलहेतुः मा भूः । अकर्मणि ते संगः मा अस्तु ॥

अर्थ— कर्म करने का ही तुम्हारा अधिकार है । फलोंपर तुम्हारा अधिकार कदापि नहीं है । तुम कर्मफलके लिये कर्म करनेवाले मत बनो । तुम्हें कर्म न करनेकी आसक्ति न होनी चाहिये ।

भाव— ज्ञानपूर्वक कर्म करना 'कर्मयोग' है। कर्म करते हुए ज्ञानी बने रहना 'कर्मयोग' है। इस श्लोकका अभिप्राय ज्ञानका स्वरूप बताना है। अपने अधिकारसे बाहर न जाकर उसीमें रहना 'ज्ञान' कहाता है । अधिकारसे बाहर, अनधिकारचेष्टा करना 'अज्ञान' है। इसमें कहा जा रहा है कि कर्म करनेका ही मनुष्यका अधिकार है। फलमें मनुष्यका कोई अधिकार नहीं है । फलमें मनुष्यका अधिकार न होनेका कारण यह है कि इस सृष्टिमें जो कुछ हो रहा है, सब कर्म ही कर्म हो रहा है। इस सृष्टिको एक अविराम विराट् कर्मके रूपमें देखना चाहिये । यहां कर्मसे स्वतंत्र 'फल मिलना' नामकी कोई घटना कहीं नहीं हो रही है। एक विराट् कर्मके अतिरिक्त इस सृष्टिका और कुछभी स्वरूप नहीं है। सृष्टिमें यह जो विराट् कर्म हो रहा है, मनुष्यशरीरसे होनेवाला कर्म भी उसी कर्मका एक भाग है । किसी भी मनुष्यको इस कर्मके कर्ता बननेका अधिकार नहीं है। क्योंकि अपने शरीरके द्वारा हो रहा है, इस लिए, अपने को उसका कर्ता मानना सर्वथा भ्रान्ति है। जब मनुष्य इस कर्म का कर्ता बननेकी भूल करता है तब अपनी इच्छाके अनुकूल फल भी चाहता है । परन्तु अनिवार्य रूपसे, अविराम भावसे, सदासे होते चले आनेवाले इस विराट्कर्ममें फलनामकी किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है ।

जिसे कर्मसे पृथक् 'फल मिलना' समझा जाता है वह भी इस सृष्टिके अविराम विराट् कर्मका ही एक भाग है। विराट् सृष्टिके कर्मोंम अपनी स्वार्थबुद्धिके अनुसार परस्पर कार्यकारणभावकी कल्पना करके, उनमेंसे पहले होनेवाले कर्मको 'कर्म' तथा पीछे होनेवाले कर्मको उसका 'फल' मान लेना निराधार है। सृष्टिकी कर्ममालामेंसे किसी कर्मको फलका नाम देकर उसकी इच्छा करना अनाधिकार है। यही अज्ञान है। इसीको अपने को फलेच्छासे बांधलेना कहते हैं । जब

मनुष्य अज्ञानके अधीन होकर इन फलोंमें आसक्त हो जाता है, तब वह अनुकूल फलकी इच्छासे किसी कर्मको हाथ लगाता है और प्रतिकूल फलसे बचने के लिये किसी कर्मको त्याग देना चाहता है। इस कर्मत्याग करने की इच्छाको फलासक्तिरूपी अज्ञानने उत्पन्न किया है। क्योंकि कर्मयोगीके कर्ममें फलासक्ति नहीं होती, इस कारण वह कर्मत्यागेच्छा रूपी भूल कदापि नहीं कर सकता।

कुछ लोग **कर्मण्येवाधिकारस्ते** इस 'एवकार' का ऐसा अर्थ करते हैं कि अर्जुनको कर्म करनेका ही अधिकार है। वह ज्ञानका अधिकारी नहीं है। परन्तु यह 'एवकार' फलाधिकारको हटानेके लिये है, यह बात श्लोकको पूरा पढनेवाले प्रत्येक गीतापाठककी समझमें आ जाती है। मनुष्यमात्र ज्ञानका अधिकारी है, इस लिये श्रीकृष्णको अर्जुनसे ऐसी बात कहने का अधिकार नहीं है कि तुम ज्ञानके अनधिकारी हो। अर्जुनको ही क्या, किसी भी मनुष्यको ज्ञानका अधिकार न होने की कल्पना अज्ञान है। क्योंकि इस संसारका प्रत्येक मनुष्य ज्ञानका अधिकार रखता है। अर्जुनको श्रीकृष्णके मित्र होने का सौभाग्य प्राप्त हो और उसे ज्ञान का अधिकार प्राप्त न हो, यह बात अत्यन्त उपहासपूर्ण है। ज्ञानकी समतल भूमिपर खडे रहनेवालोंकी ही बातचीत चलती है। जिस बातको वक्ता बोलता है उसी को श्रोता समझ लेता है। इस सिद्धान्तके आधारपर ही किन्हीं पुरुषोंकी बातचीत चलना संभव होता है। श्रीकृष्णके मुखसे जो बात निकलती है अर्जुन उसे तत्काल ग्रहण करलेता है। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों एकजैसी समझ रखते हैं। एक उनमेंसे वक्ता है और दूसरा उसका योग्यतम श्रोता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि ज्ञानकी संपूर्ण बातें अर्जुनसे ही कही जा रही हैं और वही उनका अनधिकारी है। फिर भी श्रीकृष्ण धीरतासे अर्जुनके उपयोगमें न आनेवाली तथा दूसरे ज्ञानाधिकारियोंके उपयोगमें आनेवाली उन सब बातोंका लम्बा घूंट इस तंग अवसरपर अर्जुनके पेटमें पिलाते चले जा रहे हैं, और अर्जुन अनधिकारी होता हुआ भी इस विषम अवसरपर दूसरोंके कामकी बात धीरतासे सुनता चला जा रहा है। यदि केवल योद्धा(सिपाही

होनेसे ही अर्जुनको ज्ञाननिष्ठाका अनधिकारी माना जाता हो, तो ऐसे ज्ञानके अनधिकारी का सारथित्व करनेवाले और उसे ज्ञानका उपदेश देनेवाले श्रीकृष्ण भी ज्ञाननिष्ठाके अनधिकारी सिद्ध हो जाते हैं। वस्तुतः अर्जुनको ज्ञानका अनधिकारी बताना 'ज्ञान' और 'कर्म'के वास्तविक स्वरूपके संबन्धमें अपने अज्ञान का परिचय देना है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

अन्वय—धनंजय योगस्थः सन् संगं त्यक्त्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समः भूत्वा कर्माणि कुरु। समत्वं योगः उच्यते॥

अर्थ— हे अर्जुन! योगस्थ होकर संगको त्यागकर सिद्धि हो या असिद्धि, दोनोंमें सम होकर कर्म (कर्तव्यकर्म) करते जाओ। समता ही 'योग' है॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

अन्वय—धनंजय, हि कर्म बुद्धियोगात् दूरेण अवरं (तस्मात्) बुद्धौ शरणम् अन्विच्छ। फलहेतवः कृपणाः॥

अर्थ— हे धनंजय! क्योंकि कर्म (बुद्धिरहित कर्म) बुद्धियोगसे (बुद्धियुक्त-कर्मसे) अत्यन्त निकृष्ट है, इस लिये तुम बुद्धि (ज्ञान) में शरण ले लो। फलाभिलाषी विषयोंके दास होते हैं।

भाव— अज्ञान ज्ञानसे निकृष्ट है। अज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म ज्ञानपूर्वक किये हुए कर्मसे निकृष्ट है। कर्म मनुष्यसे हो ही रहा है। वह इसके साथ ज्ञान या अज्ञान का संबन्ध जोड सकता है। किसीमें भी कर्मको छोड देने का सामर्थ्य नहीं है। मनुष्य अज्ञानके वश होकर कर्म छोडनेकी केवल इच्छा ही इच्छा कर सकता है। कर्म छोडनेकी इच्छा करना 'अज्ञानसे कर्म करनेकी इच्छा' है। जहां ज्ञान अनुपस्थित होता है वहां कर्म अज्ञानपूर्वक किया जाता रहता है। कर्ममें कर्ताहंबुद्धि रखना और उससे अनुकूल फलकी इच्छा करना, अज्ञान है, यही कर्मकी निकृष्टता है, इसीको 'कर्मका बन्धन' कहते हैं। कर्म करते हुए फलाशासे रहित

होना ही 'बुद्धि' है। बुद्धिकी शरणमें आजानेपर ज्ञानपूर्वक कर्म करते रहना अनिवार्य होता है। जब तक मनुष्य बुद्धिकी शरणमें नहीं आता तब तक विषयासक्त होकर फलाशासे कर्म करता रहता है ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

अन्वय–बुद्धियुक्तः इह उभे सुकृतदुष्कृते जहाति, तस्मात् योगाय युज्यस्व । कर्मसु कौशलम् योगः ॥

अर्थ— बुद्धियुक्त (ज्ञानयुक्त होकर कर्म करनेवाला) पुरुष इस संसारमें सुकृत तथा दुष्कृत दोनों को छोड देता है। इस लिये तुम बुद्धियोग के लिये उद्यत हो जाओ। कर्मोंमें कौशल ही 'योग' है।

भाव— ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही सुकृत करना है। अज्ञानपूर्वक कर्म करना दुष्कृत करना है। बुद्धियुक्त पुरुष सुकृत करता रहता है और दुष्कृत त्यागता रहता है, परन्तु इनका कर्तृत्वाभिमान नहीं करता। यही उसके सुकृत तथा दुष्कृत त्यागनेका तात्पर्य है। क्योंकि कोई भी ज्ञानी सुकृत करना कदापि नहीं छोड सकता। कर्महीन बुद्धिका होना असंभव है, इस लिये कर्महीन बुद्धि रखनेवाले ज्ञानीका होना भी असंभव है। यह सृष्टि ही कर्म है। इस सृष्टिमें कोई भी कर्महीन अवस्थामें कदापि नहीं रह सकता। फलासक्तिसे किया हुआ कर्म मनुष्यको बांधनेवाला हो जाता है। फलासक्तिको त्याग कर बन्धनसे मुक्त रहनेकी चतुराई ही 'ज्ञानीकी कर्मकुशलता' है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

अन्वय–बुद्धियुक्ताः मनीषिणः कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः अनामयं पदं गच्छन्ति ॥

अर्थ— बुद्धिसे युक्त ज्ञानी कर्मफलको त्याग कर (कर्म के परिणाम के रूपमें फलप्राप्तिकी इच्छाको त्याग कर) जन्मबंधसे मुक्त होकर (शरीरके जन्मको अपना जन्म माननेकी भ्रान्तिसे मुक्त हो कर) अनामय (बन्धनातीत) पदको प्राप्त कर लेते हैं ॥

भाव— अनासक्त कर्म करनेवाला ज्ञानी ऐसी कोई कामना नहीं करता कि उसके किये कर्मसे उसकी इच्छानुसार कोई फल उत्पन्न हो और वह

उसे भोगे। उसकी दृष्टिमें शरीरके जन्ममरण इस सृष्टिमें अनिवार्य रूपसे होनेवाले कर्मोंके अंग हैं। ऐसा पुरुष आत्मस्वरूपमें स्थित रहनेके कारण यह कदापि नहीं मानता कि क्योंकि मैंने शरीर धारण कर रखा है इसलिये मैं बन्धनमें हूं। उसकी दृष्टिमें शरीरधारण करना अपने को बद्ध माननेकी विवशता नहीं है। वह शरीरसे किये जानेवाले कर्मसे अनुकूल फलकी इच्छा रूपी आसक्तिको ही बन्धन मानता है और अपनेको शरीरकी विद्यमानतामें अनासक्त स्थितिमें रखकर न जन्मनेवाले तथा न मरनेवाले बन्धनातीत आत्मस्वरूपमें स्थिर रखता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥५२॥

अन्वय—यदा ते बुद्धिः मोहकलिलं व्यतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च निर्वेदं गन्तासि॥

अर्थ— जब तुम्हारी बुद्धि मोहमालिन्यको पार कर जायगी तब तुम्हें श्रोतव्य और श्रुतमें वैराग्य हो जायगा।

भाव— बुद्धिसे युक्त हो जाने पर ही फलासक्तिरूपी अज्ञानको पार किया जा सकता है। अनासक्ति ही ज्ञानका स्वरूप है। अनासक्त बन जाना ही बुद्धियुक्त या कर्मयोगी बन जाना है। अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला ज्ञानी आत्मतत्त्वको प्राप्त कर चुका है और अनात्मविषयों के बन्धनोंसे अतीत रहनेके स्वभावको अपना चुका है। अपने मनकी अनासक्त स्थिति ही आत्मतत्त्वका स्वरूप है। इसी बातको जानकर ज्ञानी, ज्ञानी बनता है। आत्मदर्शी पुरुषको आत्माके संबन्धमें कोई बात सुननेके लिये आग्रह नहीं रहता। उसे किसी सुनी हुई बातके लिये अंधश्रद्धा भी नहीं रहती। ज्ञानीका आत्मज्ञान श्रवणेन्द्रिय का विषय न रहकर अपनी अनुभूत वस्तु हो जाता है। श्रोतव्य तथा श्रुत विषयमें वैराग्य होनेका यही अभिप्राय है।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥५३॥

अन्वय—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते बुद्धिः यदा निश्चला (सती) समाधौ अचला स्थास्यति तदा योगम् अवाप्स्यसि॥

अर्थ— सुनी सुनाई बातोंसे बहकी हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल (प्रतिकूल अवस्थासे अविचलित) होकर समाधिमें अचल (स्थिर) होकर ठहर जायगी तब तुम योगको प्राप्त हो जाओगे ॥

भाव— ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला कर्मयोगी सुनी सुनाई बातोंका अंधश्रद्धालु न होकर अनासक्त स्थितिको अपनानेवाला होता है । वह अनात्म-विषयोंके आकर्षणोंसे अविचालित रहता है । यही उसकी कर्मकी कुशलता रूपी बुद्धिकी स्थिरता है । स्थिर बुद्धि हो जाना ही 'योग' है ॥

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

अन्वय—केशव, समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा? स्थितधीः किं प्रभाषेत? किम् आसीत ? किं व्रजेत ? ॥

अर्थ— हे केशव! समाधिस्थ स्थितप्रज्ञकी परिभाषा क्या है ? स्थिरबुद्धि कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता है ?

भाव— किन्हीं आचारणोंकी सूचीसे स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्थितिको (अर्थात् उसकी स्थिर बुद्धिके स्वरूप को) जान सकना असंभव है। भगवानने केवल स्थितप्रज्ञ पुरुषकी अनासक्त स्थितिका ही वर्णन किया है और इसी में उत्तर को समाप्त कर दिया है। इस लिये आगे आनेवाले श्लोकोंमें इन चारों प्रश्नोंके पृथक् पृथक् उत्तरों की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अन्वय—पार्थ, यदा आत्मनि एव आत्मना तुष्टः मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति तदा स्थितप्रज्ञः उच्यते ॥

अर्थ — हे पार्थ! जब अपने स्वरूपमें स्वयमेव संतुष्ट रहनेवाला, पुरुष मनकी सब कामनाओंका पूर्ण त्याग कर देता है तब वह 'स्थितप्रज्ञ' कहाता है।

भाव— जीवित रहनेकी इच्छा प्राणिदेहमात्रका स्वाभाविक धर्म है। इस लिये इन्द्रियोंका जीवनोपयोगी पदार्थोंमें राग तथा जीवनविरोधी पदार्थोंसे द्वेष

होना उनके लिये स्वाभाविक स्थिति है। जब कोई मनुष्य इस स्वाभाविक इच्छाकी सीमाको लांघता है और उसका भोगार्थ उपयोग करता है तब उसका नाम 'कामना' पड जाता है। परंतु जो मनुष्य इस स्वाभाविक इच्छाको, जीवनार्थ उपयोग करनेकी सीमा के भीतर सीमित रखकर, उपयोगमें लाता है, उसे निष्काम या अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला माना जाता है। यों इन्द्रियोंमें विषयोंके लिये रहनेवाले रागद्वेष, मनको कामनासक्त या निष्काम बन जानेका अवसर देनेवाले होते हैं। इन्द्रियां रागद्वेषका उत्पत्तिस्थान हैं। 'मन' कामना की उत्पत्ति का स्थान है। जब मन अनासक्त स्थितिमें रहता है तब वह इन्द्रियोंके रागद्वेषको जीवनाधिकारसे बाहर नहीं लेजाता और उन्हें भोगके उपयोगमें नहीं लाता। इसीको रागद्वेषके बन्धनमें न आना और कामनाओंको त्याग देना कहा जाता है। मनमें ही विषयोंको भोगनेकी बहुत प्रकारकी अनंत इच्छा उत्पन्न होती हैं। इस लिये उन्हें अपनाने या त्यागने का संबंध केवल मनसे है। स्थितप्रज्ञ मनोगत कामनाओंको त्याग देता है, इसका कारण यह है कि वह आत्मामें ही सन्तुष्ट रहकर अनासक्त स्थितिको अपना चुका होता है। फिर विषयासक्त न होना उसका स्वभाव हो जाता है। इन्द्रियोंमें विषयोंके लिये स्वाभाविक रागद्वेष रहता है। विषयवासनाको अपनानेवाला मन उनके वशमें आजाता है। जब मन अनासक्त स्थितिको अपनाये रहता है तब इन्द्रियोंके रागद्वेष, मनसे विषयवासनाको त्यागनेके अर्थात् मनमें उसे उत्पन्न न होने देनेके अवसर बन जाते हैं। विषयस्पर्शमें आनेपर इन्द्रिय मनके सामने अपने रागद्वेषको उपस्थित कर दें, इतने मात्रसे बन्धन नहीं होता, किन्तु इन रागद्वेषोंके वशमें आजानेसे बन्धन होता है। मनमें विषयवासनाके उदय होने की संभावना न रहे (अर्थात् इन्द्रियोंका रागद्वेषनामका स्वभाव लुप्त हो जाय) और फिर भी किसीको बुद्धिकी स्थिरताका आनंद प्राप्त हो जाय, ऐसी किसी स्थितिका होना असंभव है। क्योंकि विषयवासनाको व्यर्थ करके अविचलित रहने पर ही स्थिरबुद्धि हुआ जा सकता है॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

अन्वय–दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः मुनिः स्थितधीः उच्यते ॥

अर्थ— जिसका मन दुःखोंमें उद्विग्न नहीं होता, जिसकी सुखोंकी स्पृहा नष्ट हो चुकी है, जिसके राग, भय तथा क्रोध छूट गये हैं, ऐसा मुनि 'स्थितप्रज्ञ' कहाता है ।

भाव— अनासक्ति या ज्ञानकी स्थिति को ही स्थिरबुद्धिता कहा जाता है। सुखमें निःस्पृह रहना, तथा दुःखमें उद्विग्न न होना, सुखदुःखमें स्थिर बुद्धि होनेका तात्पर्य है । इन्द्रियोंमें भौतिक सुखदुःखके लिये स्वाभाविक रागद्वेष रहता है । ये भौतिक सुखदुःख मानव देहकी अनिवार्य अवस्था हैं । इन दोनों में से सुखही सुख रहे, दुःख न रहे, ऐसी इच्छा करना स्वभावका विरोध है, अधिकारहीन इच्छा है, तथा मनकी बन्धनदशा है । इस लिये स्थिर बुद्धि रखनेवाले मनुष्यकी अनासक्त मानसिक स्थितिके स्वरूपको इस संबन्धमें इन शब्दोंमें कहा जा सकता है कि वह भौतिक सुखदुःखके बन्धनमें न रहकर, इनमें उपेक्षाबुद्धि रखनेवाला होता है, इसी कारण उसके मनसे राग, भय, क्रोध जैसी चंचल अवस्थायें नष्ट हो जाती हैं ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अन्वय–यः सर्वत्र अनभिस्नेहः तत् तत् शुभाशुभं प्राप्य न अभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थ— जो सब पदार्थोंमें स्नेहहीन होकर शुभाशुभ (भौतिक लाभालाभ) को पाकर न तो अभिनन्दन करता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

अन्वय–कूर्मः सर्वशः अंगानि इव यदा च अयम् इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः संहरते (तदा) तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थ— कछवा जैसे सब ओरसे अपने अंगोंका संकोच कर लेता है, इसी प्रकार जब यह पुरुष इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे सब ओरसे खींच लेता है, तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ।

भाव— कछवा अपने अंगोंको शत्रुके आक्रमणसे सुरक्षित रखनेके लिये संकुचित कर लेता है। इसी प्रकार स्थिर बुद्धिवाला पुरुष अपने मनको भोगबन्धन रूपी शत्रुके आक्रमणसे अतीत रखनेके लिये अपनी इन्द्रियोंको विषयभोगका साधन नहीं बनने देता। स्थितधीके इन्द्रियोंको इन्द्रियार्थसे संकुचित करनेका यह भाव नहीं है कि वह उनको विषयके स्पर्शमें आनेसे रोक लेता है। क्योंकि यह संपूर्ण जगत् जीवित देहकी इन्द्रियोंमें रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले विषयोंसे भरा पडा है, इस लिये विषयोंको इन्द्रियोंकी सीमामें आनेसे रोक सकना असंभव है। स्थितप्रज्ञ पुरुष केवल इतना कर सकता है कि वह अपनी इन्द्रियोंको भोगका साधन न बनने दे। इस दृष्टिसे इस श्लोकमें कहे हुए इन्द्रियसंकोच करनेका यही अभिप्राय है कि इन्द्रियोंका विषयोंके साथ भोगका संबन्ध न होने दिया जाय; अर्थात् मनको अनासक्त रखा जाय।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

अन्वय–निराहारस्य देहिनः विषयाः रसवर्जं विनिवर्तन्ते। अस्य रसः अपि परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

अर्थ— निराहार (विषयभोगसे वंचित रहनेका प्रयत्न करनेवाले) देहीके विषय रसको उसीके पास छोडकर निवृत्त (उससे पृथक्) हो जाते हैं। स्थितप्रज्ञकी विषयवासना भी, परम तत्त्वका दर्शन कर चुकनेके कारण, निवृत्त हो जाती है।

भाव— इस श्लोकमें इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे संकुचित करनेके वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट किया जा रहा है। इन्द्रियोंको विषयस्पर्शमें न आने देनेको ही महत्त्वकी स्थिति समझनेवाले कुछ लोग इसका यह अभिप्राय बताते हैं, कि किन्हीं भौतिक प्रयत्नोंसे इन्द्रियोंको रोककर विषयभोग करनेसे वंचित रहा जाय। किन्हीं विषयोंको इन्द्रियोंसे पृथक् रखनेका प्रयत्न करना ही संभव है, सफलता नहीं। भौतिक उपायसे मनसे विषयवासनाको नहीं हटाया जा सकता। मनमें विषयवासना रहते हुए इन्द्रियोंको विषयभोगमें प्रवृत्त होना ही पड़ता है। विषयवासना मनको सदा निराहार अर्थात् विषयका भूका बनाये रहती है। भूका पुरुष सदा भोग्यपदार्थोंको ढूंढता रहता है।

विषयभोग करते रहनेवाले तथा इच्छा होने पर भी विषयभोगसे वंचित रहनेका प्रयत्न करनेवाले दो प्रकारके विषयोपासक पाये जाते हैं। इनमेंसे विषयभोग करनेवाले, विषयोंको भोग कर यथापूर्व विषयवासनासक्त बने रहते हैं। भोगसे वंचित रहनेका प्रयत्न करनेवाले दूसरे भी विषयवासनासक्तिमें फंसे रहते हैं। इन दोनोंके पास भोगबन्धनरूपी विषयवासना एक जैसी रहती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष आत्मदर्शन कर चुकता है; अर्थात् अनासक्तिरूपी बन्धनातीत स्थितिको अपनाये रहता है; इस कारण उसके पास विषयवासनारूपी भोगबन्धन नहीं आता और वह भोगार्थ विषयोपार्जन भी नहीं करता। यों उससे विषय और विषयवासना दोनों निवृत्त रहते हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६१ ॥

अन्वय—कौन्तेय, हि यततः विपश्चितः अपि पुरुषस्य मनः प्रमाथीनि इन्द्रियाणि प्रसभं हरन्ति। तानि सर्वाणि संयम्य युक्तः मत्परः आसीत हि यस्य वशे इन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अर्थ— हे कौन्तेय! क्योंकि यत्न करते हुए (इन्द्रियों को विषयोंसे पृथक् रखने का प्रयत्न करनेवाले) ज्ञानी समझे जानेवाले पुरुषके मनको, व्याकुल करनेवाली इन्द्रियां बलात् हरलेती हैं, इस लिये इन सब का संयम करके युक्त होकर आत्मनिष्ठ रहना चाहिये। क्योंकि जिसकी इन्द्रियां वशमें हैं उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है।

भाव— आत्मदर्शन करचुकनेके पश्चात् मनुष्यके मनमें विषयवासना नहीं रहती। उसकी इन्द्रियां मनके वशमें होकर संयत हो जाती हैं। अर्थात् स्थितप्रज्ञकी इन्द्रियां विषयभोगका साधन नहीं रहतीं। जो मनुष्य मनको विषयवासनासे रहित न करके, अपनी इन्द्रियोंको किन्हीं विषयोंके स्पर्शसे बचाकर संयमी बने रहनेका प्रयत्न करते हुए पाये जाते हैं, ऐसे लोगोंका प्रयत्न भ्रान्तिमूलक अज्ञानमात्र होता है। इनकी इन्द्रियां इनके मनके वशमें नहीं होतीं। किन्तु इनका मन इनकी इन्द्रियोंके वशमें होता है। इन्द्रियोंमें विषयोंके लिये

स्वभावसे रागद्वेष रहते हैं। वे रागद्वेष सब समय इनके मनमें विषय-वासनाको उत्पन्न करते रहते हैं और इन्हें भोगबन्धनमें फंसाये रहते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ ६३॥

अन्वय–विषयान् ध्यायतः पुंसः तेषु संगः उपजायते। संगात् कामः संजायते। कामात् क्रोधः अभिजायते। क्रोधात् संमोहः भवति। संमोहात् स्मृति-विभ्रमः (भवति) स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

अर्थ— विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषको उन विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्तिसे भोगेच्छा होती है। भोगेच्छासे क्रोध (अशक्ति या अशक्तिसे उत्पन्न हुवा क्षोभ) होता है। क्रोधसे संमोह (विषय-प्राप्तिका अंधा हठ) होता है। संमोहसे आत्मविस्मृति होती है। उससे बुद्धि (हिताहितबुद्धि) का नाश होता है। बुद्धिनाशसे पुरुषका नाश हो जाता है। अर्थात् पुरुष भोगबन्धनमें फंस जाता है।

भाव— विषयवासना ही विषयध्यान या विषयचिन्तन है। विषयवासना ही कामक्रोध आदि रिपुओंकी और भोगबन्धनकी जननी है। क्योंकि स्थित-प्रज्ञमें विषयवासना नहीं रहती, इसलिये ये सब रिपु, उससे स्वभावसे जीते हुए रहते हैं।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

अन्वय–विधेयात्मा रागद्वेषवियुक्तैः आत्मवश्यैः इन्द्रियैः विषयान् चरन् प्रसादम् अधिगच्छति। प्रसादे अस्य सर्वदुःखानां हानिः उपजायते। प्रसन्नचेतसः बुद्धिः आशु पर्यवतिष्ठते हि॥

अर्थ— इन्द्रियों को वशमें रखनेवाला पुरुष रागद्वेषसे मुक्त, तथा मनके वशमें रहनेवाली इन्द्रियोंसे विषयोंके साथ व्यवहार करते समय आनन्द पाता रहता है। आनन्द पानेपर उसके सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। आनन्दित (रागद्वेषातीत अवस्थाको प्राप्त) चित्तवाले की बुद्धि अवश्य और तत्क्षण स्थिर होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

अन्वय–अयुक्तस्य बुद्धिः न अस्ति। अयुक्तस्य भावना च न। अभावयतः शान्तिः न। अशान्तस्य सुखं कुतः॥

अर्थ— अयुक्त (विषयासक्त) के पास बुद्धि (निश्चयात्मिका बुद्धि) नहीं होती। अयुक्त (विषयासक्त) के पास भावना (आत्मनिष्ठा) नहीं होती। अनात्मविषयोंके बन्धनमें रहनेवाले मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती। अशान्तको सुख कहांसे मिले?

भाव— आत्मनिष्ठा ही शान्ति तथा आनन्दका स्वरूप है। मनुष्यको आत्मदर्शन किये बिना शान्ति और सुख प्राप्त नहीं होता। क्योंकि मनुष्यके पास उस अवस्थामें सदसत्का विचार करनेवाली बुद्धि नहीं होती। इसीकारण वह इन्द्रियोंके रागद्वेषके बन्धनमें रहता है और विवश होकर भोगी, अशान्त तथा दुःखी बना रहता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥ ६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ ६८॥

अन्वय–हि चरतां इन्द्रियाणां यत् मनः अनुविधीयते तत् अस्य प्रज्ञाम् अंभसि नावं वायुः इव हरति। महाबाहो, तस्मात् यस्य इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अर्थ— क्योंकि विषयों में विचरण करनेवाली इन्द्रियोंमेंसे जिस एकके पीछे मन जाता है, वही इन्द्रिय मनकी बुद्धिको (मनकी सदसत् विचार करनेकी स्वतंत्रताको) पानीमें नावको वायुके समान हरलेती है। हे महाबाहो! इस लिये जिसकी इन्द्रियां अपने अपने विषयोंसे सब प्रकारसे रोकी हुई रहती हैं, उसकी बुद्धि स्थित होती है।

भाव— इन्द्रियों का सब प्रकारसे निगृहीत होना ही बुद्धिकी स्थिरता है। यदि इन्द्रियां निगृहीत न हों तो मन जिस किसी इन्द्रियके रागद्वेषके बन्धनमें फंस जाता है। आत्मनिष्ठ होनेपर इन्द्रियां स्वभावसे मनके वशमें आजाती हैं। आत्मानात्मविचार करके विषयोंमें अनासक्त रहना ही स्थिरबुद्धिताका स्वरूप है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ ६९॥

अन्वय—सर्वभूतानां या निशा तस्यां संयमी जागर्ति। यस्यां भूतानि जाग्रति पश्यतः मुनेः सा निशा॥

अर्थ— सब मनुष्यों की जो रात है, उसमें संयमी (स्थितप्रज्ञ) जागता है। जहां सब मनुष्य जागते हैं, ज्ञानी मुनिके लिये वह रात है।

भाव— ज्ञानी और अज्ञानी के दृष्टिकोण एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत होते हैं। ज्ञानीकी बुद्धि सदा सदसत् का विचार करके सत्को निश्चित रूपसे अपनाये रहती है। अज्ञानी पुरुष सत्को दृष्टिसे बाहर रखकर अस्थिर असत्य विषयोंमें सुख ढूंढता हुआ सदा चंचल और अस्थिर बना रहता है। ज्ञानी इन्द्रियनिग्रहमें कल्याण तथा इन्द्रियोंके बन्धनमें आनेमें दुःख मानता है। अज्ञानी इन्द्रियोंके बन्धनमें रहनेमें सुख मानता है, और इन्द्रियनिग्रहमें सुखका अभाव देखकर उसे दुःखदायी मानता रहता है। ज्ञानी प्रथम ही आत्मस्वरूपको प्राप्त कर चुका होनेके कारण परितृप्त अवस्थामें रहता है, और जीवनके सब आचरणोंमें आत्मानन्दका संभोग करता रहता है। वह सुखसे कभी पृथक् नहीं होता। परंतु अज्ञानी पुरुष अप्राप्त सुखके पीछे दौडता हुआ सदा सुखसे पृथक् रहकर दुःखी बना रहता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शांतिमाप्नोति न कामकामी॥ ७०॥

अन्वय—आपूर्यमाणम् अचलप्रतिष्ठं समुद्रं यद्वत् आपः प्रविशन्ति तद्वत् यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति सः शान्तिम् आप्नोति, कामकामी न॥

अर्थ— चारों ओरसे भरे जाते रहने परभी अपनी मर्यादाको न छोडनेवाले समुद्रमें जैसे जल प्रविष्ट हो जाते हैं, इसीप्रकार जिसमें संपूर्ण वासनायें प्रविष्ट हो जाती हैं, वही शान्तिको पाता है। कामकामी (कामनाओंको चाहनेवाले) को शान्ति नहीं मिलती।

भाव— आत्मनिष्ठ पुरुषका मन पूर्णानन्दको प्राप्त कर चुका होता है। इन्द्रियोंके रागद्वेष उसे कामासक्त बनानेमें असमर्थ होकर, कामको ही उसमें

विलीनकर देनेवाले बन जाते हैं। जिस प्रकार बाहरसे आये हुए जलोंकी धारायें सागरमें प्रविष्ट होकर अपने आपको उसीमें विलीन कर देती हैं और अपनी पृथकता रखनेमें असमर्थ हो जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियोंके रागद्वेष स्थिरबुद्धि ज्ञानीके मनमें कामोत्पत्ति करनेमें असमर्थ होकर, अपने आपको ज्ञानीकी अनासक्त स्थितिमें लुप्त कर डालते हैं। ऐसे, स्थितप्रज्ञके मनमें ही सदा शान्तिका वास रह सकता है। जो मन इन्द्रियोंके रागद्वेषके वशमें आजाता है और सुखके लिये कामको चाहता है, वह अशान्तिको पाता रहता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

अन्वय—यः पुमान् सर्वान् कामान् विहाय निःस्पृहः निर्ममः निरहंकारः चरति सः शान्तिम् अधिगच्छति ॥

अर्थ— जो पुरुष सब कामनाओंको त्याग कर, निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार होकर जीवन बिताता है, उसे शान्ति मिलती है।

भाव— कामनाओंको त्यागनेका अभिप्राय निःस्पृह, निर्मम, तथा निरहंकार हो जाना है। यही निष्काम स्थितिका स्वरूप है। यही शान्ति है। सुख-दुःखमें सम होना 'निःस्पृहता' है। किसी वस्तुमें ममत्वबुद्धि न रखना 'निर्ममता' है। अपने स्वरूपमें स्थित रहकर कर्तृत्वाभिमान तथा फलाशासे रहित होकर कर्म करते रहना 'निरहंकार स्थिति' है। अनासक्तिरूपी इन्द्रियसंयम की स्थितिके ही निःस्पृहता, निर्ममभाव और निरहंकारता ये तीन भिन्न भिन्न नाम हैं। इन तीनोंको एक शब्दसे कहा जाय तो 'स्थिरबुद्धिता' कहा जा सकता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

अन्वय—पार्थ एषा ब्राह्मी स्थितिः एनां प्राप्य, न विमुह्यति। अस्यां स्थित्वा अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति ॥

अर्थ—हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है, इसे पाकर फिर मोहको प्राप्त नहीं होता। इसमें स्थित हो जानेपर अन्तकालमें भी ब्रह्मपदको अपनाये रहता है।

भाव—इन्द्रियोंके रागद्वेषको सदा पराभूत करते रहनेवाली अनासक्तस्थिति ही 'ब्राह्मी-स्थिति' है। इसे पाकर मनुष्य फिर विषयासक्त नहीं हो

सकता। इस स्थितिमें ठहरनेवाला मनुष्य शरीरका अन्त होना स्वीकार करके भी ब्रह्मत्वको अपनाये रहता है।

ब्रह्मनिर्वाण शरीरके जीवनकालमें ही पानेयोग्य स्थिति है। वह कोई मरनेके अनन्तर मिलनेवाली स्थिति नहीं है। मरनेके अनन्तर ब्रह्मनिर्वाणको ढूंढना भ्रान्ति है। जो ब्रह्मनिर्वाणको मरणके अनन्तर पानेकी प्रतीक्षा करता है, निश्चय ही उसको जीवनकालमें जीवनके लक्ष्य मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई। वह बन्धनदशाग्रस्त अज्ञानी है। उसका वर्तमान जीवन व्यर्थ चला जा रहा है। इस लिये 'जो अन्तकालके एक क्षण ब्राह्मी स्थितिमें ठहरेगा, उसे आगे कहीं जाकर ब्रह्मनिर्वाण नामकी कोई इससे दूसरी स्थिति मिलेगी' ऐसी कल्पना करना अज्ञान है। ब्रह्मनिर्वाण और ब्राह्मीस्थिति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जो ब्रह्मनिर्वाण है, वही ब्राह्मीस्थिति है।

शरीरका अन्त होनेका समय ही अन्तकाल है। क्योंकि नाशवान शरीरके नाशकी संभावना प्रत्येक क्षण रहती है, इसलिये स्थिरबुद्धि ज्ञानीकी दृष्टिमें जीवनका प्रत्येक क्षण अन्तकाल होता है। ज्ञानी पुरुष जविनके प्रत्येक क्षण अनासक्तिरूपी ब्राह्मी स्थितिमें रहता है। इस स्थितिमें स्थित रहना ही ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति है। ज्ञानीके जीवनमें किसी अप्राप्त मुक्तिकी प्रतीक्षा नहीं रहती। ज्ञानी नित्य मुक्त है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

द्वितीयतृतीयाध्यायसंगति—

दूसरे अध्यायमें सांख्यस्थितिका वर्णन करके तथा उसके व्यावहारिक रूपको 'कर्मयोग' नामसे कहकर, तीसरे में 'कर्मयोग' की व्याख्या की जा रही है। कर्मों को करते समय मन में जो भावना रहनी चाहिये, उसको 'यज्ञभावना' कहा जाता है। इस अध्याय में उसी 'यज्ञभावना' का स्वरूप दर्शाया जा रहा है।

तृतीय अध्याय

(कर्मयोग)

अर्जुन उवाच। (अर्जुन बोले)

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अन्वय—जनार्दन, ते कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी मता चेत्, केशव, तत् मां घोरे कर्मणि किं नियोजयसि ? ॥

अर्थ— हे जनार्दन! यदि तुम कर्म से बुद्धि को श्रेष्ठ मानते हो, तो हे केशव! फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो ?।

भाव—अर्जुन दूसरे अध्यायके **दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय** इस ४६ वें श्लोकका विपरीत अर्थ लगाने के कारण, श्रीकृष्णपर यह आरोप लगा रहा है। इस श्लोकका मर्म यह है कि फलाकांक्षा-रहित कर्म, फलाकांक्षायुक्त कर्मबन्धनसे श्रेष्ठ है । फलाकांक्षा से रहित हो जाना ही 'बुद्धि' है। इस तत्त्वको वहीं न समझने के कारण, यह प्रश्न अर्जुन की भूलसे उत्पन्न हुआ है । कर्मसे बुद्धि श्रेष्ठ है, यह बात श्रीकृष्ण ने नहीं कही । क्योंकि एक तो कर्म छोडना असंभव है, दूसरे कर्म को शुद्ध रखने की कला ही 'बुद्धि' है। कर्म के विना बुद्धि वन्ध्या और बेकार है। इन दोनों में से किसी एकको छांट लेने का अवसर मिल सकना सर्वथा असंभव है। जिसके पास बुद्धि होगी, वह बुद्धिपूर्वक कर्म करनेसे कदापि नहीं रुक सकेगा। ऐसी परिस्थिति में कोई भी बुद्धिमान्, कर्म से तुलना करके, कोरी बुद्धि की प्रशंसा नहीं कर सकता। क्योंकि बुद्धि

कर्म करने के उपयोगमें आनेवाली वस्तु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

अन्वय–मे बुद्धिं व्यामिश्रेण इव वाक्येन मोहयसि इव। तत् एकं निश्चित्य वद येन अहं श्रेयः आप्नुयाम्॥

अर्थ— आप मेरी बुद्धिको संदेहजनक से दीखनेवाले वाक्यों से मोहित करते हुए से प्रतीत होते हो। इसलिये आप एक बात पक्की करके बताओ, जिससे मैं श्रेय अर्थात् कल्याणको पालूं।

भाव—इस श्लोकमें अर्जुन अपनी समझ की भूलको स्पष्ट स्वीकार कर रहा है कि आपकी बात मेरे मनको मिश्रितसी लगती है। अर्जुन भगवान् की बात का अभिप्राय समझना चाह रहा है।

श्रीभगवान् उवाच। (श्रीभगवान् बोले)

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥

अन्वय–अनघ, मया पुरा अस्मिन् लोके सांख्यानां ज्ञानयोगेन तथा योगिनां कर्मयोगेन (एवं) द्विविधा निष्ठा प्रोक्ता॥

अर्थ — हे निष्पाप! मैंने पहले (दूसरे अध्यायमें) इस लोकमें (पायी जाने-वाली) सांख्योंकी ज्ञानयोगसे तथा योगियोंकी कर्मयोगसे यों एक ही निष्ठाको दो रूपोंमें बताया है।

भाव— दो प्रकारकी निष्ठाओंका भाव यह है कि संसारमें एकही निष्ठा के दो बाह्यरूप दीखते हैं। ज्ञानी कहलानेवाले हों या कर्मयोगी कहलानेवाले हों, दोनों 'ज्ञानी' भी हैं और 'कर्मयोगी' भी हैं। 'कर्मयोगी' से पृथक किसी सांख्यस्थितिमें रहनेवाले मनुष्यका होना असंभव है; तथा सांख्यस्थितिको न अपनानेवाले किसी पुरुषका 'कर्मयोगी' हो सकना भी असंभव है। इसलिये इन्हें पृथक स्थिति-वाले दो मनुष्य समझना भ्रान्ति है। जो कर्मयोगी है वह ज्ञानी है, और जो ज्ञानी है वह अवश्य कर्मयोगी है। इस दृष्टिकोण से इस श्लोकका यही भाव हो सकता है कि ज्ञानी अर्थात् सांख्य कहानेवाले लोग, ज्ञानप्रधान कर्म करते रहते हैं, तथा दूसरे योगी कहलानेवाले लोग,

कर्मप्रधान ज्ञानकी उपासना करते हुए पाये जाते हैं। ज्ञानी समझे हुएकी जीवनचर्या में कर्म अनिवार्य रूपसे होता रहता है। कर्मयोगी कहानेवाले की जीवनचर्या में ज्ञान ही कर्मका नियामक रहता है। यों इनमें पृथकता केवल शब्दोंकी है। स्थिति दोनों एक हैं।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समाधिगच्छति ॥ ४ ॥

अन्वय–कर्मणाम् अनारंभात् पुरुषः नैष्कर्म्यं न अश्नुते। संन्यसनात् एव च सिद्धिं (सांख्यास्थितिम्) न समधिगच्छति ॥

अर्थ— कर्मों का आरम्भ न करनेसे ही किसी पुरुषको नैष्कर्म्य अवस्था नहीं मिलती। कोई कर्मों का संन्यास करदेनेसे (सांख्यास्थितिरूपी) सिद्धिको नहीं पाता।

भाव— इसमें बताया जा रहा है कि नैष्कर्म्य कर्मशून्यताका नाम नहीं है, और कर्मोंको त्यागदेना भी सिद्धि पानेका उपाय नहीं है। कर्मसंन्यास आलस्यका दूसरा नाम है। कर्मसंन्यास संसारकी असंभव घटना है। समुपस्थित कर्तव्यको त्यागकर भोगोंके लिये अवकाश निकालना ' कर्मसंन्यास ' है। इससे सिद्धि (सांख्यास्थिति अर्थात् शुद्ध, निर्मल तथा संतुष्ट मनका स्वामित्व, किंवा साफल्यमण्डित जीवन, अथवा सच्ची मनुष्यता) प्राप्त नहीं होती।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वय–जातु कश्चित् क्षणम् अपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति। प्रकृतिजैः गुणैः सर्वः अवशः कर्म कार्यते हि ॥

अर्थ— कभी कोई मनुष्य क्षणभर भी कर्म किये विना नहीं रहता। प्राकृतिक गुण सबको अवश करके, सबसे कर्म कराते रहते हैं।

भाव— कर्मत्याग असंभव है। मनुष्य केवल कर्मको दोषरहित बना सकता है। कर्मका दोष निकालकर उसे शुद्धकर्म बनाया जा सकता है। कर्ममें आसक्तिका त्याग ही कर्मरूपी सर्पको निर्विष बना देता है। किसी मनुष्यका एक क्षण भी कर्म किये विना नहीं बीतता। चाहे जितना प्रयत्न करने पर भी कर्म छोडना संभव बात नहीं है। हम कर्म को छोड़ देंगे, यह कहनेवाला अज्ञानी है। कर्मको छोड़ना भी कर्म ही है।

ईश्वरीय रचनासे मनुष्यके पास कर्तव्यकर्म आयें और वह उन्हें अस्वीकार करता रहे, यह भी एक कर्म है। सृष्टि भी एक कर्म है। इस कर्ममयी सृष्टिमें किसीका भी कर्मरहित अवस्थामें रह सकना असंभव है। प्रकृति सबको विवश करके कर्म करालेती है। मूर्खको अपनी मूर्खताकी स्थिति से विवश होकर कर्म करना पड़ता है, और ज्ञानीको अपनी ज्ञानमयी स्थितिकी रक्षाके लिये ज्ञानयुक्त कर्म करना पड़ता है।

हे अर्जुन! तुम्हारी अकर्मावस्थाकी ओर जानेकी प्रवृत्ति मूर्खता है। तुम मानव स्वभावको नहीं पहचानते। तुम्हारा अज्ञान तुम्हें धोका दे रहा है। असंभव अवस्थाके लिये प्रयत्न करने में तुम्हारा कल्याण नहीं है। प्रकृतिके अधीन रहनेवाले तुम्हारे शरीरको जो कर्मनिमंत्रण दिया जा रहा है, उसे अस्वीकार करना अज्ञान होगा। प्रकृति तुमसे युद्ध करने या न करने इन दोनोंमें से एक कर्म को करा ही लेगी। तुम इनमेंसे किसी एकको अपनाकर या तो अपनेको ज्ञानी की बन्धनातीत स्थितिमें, या अज्ञानी की बन्धनदशामें रखसकते हो। ऐसी परिस्थितिमें तुम्हें ज्ञानीकी स्थितिको अपनाकर कर्तव्यको ही अपनाना चाहिये। तुम ऐसा करने पर ही कर्मबन्धनसे अतीत रहसकोगे।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥

अन्वय—यः विमूढात्मा कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते स मिथ्याचारः उच्यते॥

अर्थ— जो मूढ कर्मेन्द्रियोंको रोक कर, मनमें इन्द्रियों के विषयोंका स्मरण करता हुआ रहता है, वह 'मिथ्याचार' कहाता है।

भाव— मनमें विषयवासनाको रखना 'मिथ्याचार' है। जो अज्ञानी कर्मेन्द्रियों को संयत करने नामकी कार्यवाही करके, मनमें विषय-वासनाको बैठाये रहता है, उससे कर्मेन्द्रियसंयम नहीं होता। वह अवश्य ही अपनी इन्द्रियोंको विषय जैसी मिथ्यावस्तु का भोग करनेमें लगा देने के लिये विवश हो जाता है। उसके मनमें छिपी हुई भोगवासना, उसे विवश करके, उससे भोग कराकर छोडती है। 'मिथ्याचार' का अर्थ मिथ्या विषयोंका भोग करनेवाला है। मनमें विषयवासना रखनेवाले मिथ्याचारी पुरुष, जब कर्मेन्द्रियोंको

संयत करते हुए देखे जाते हैं, तब भी उनकी कर्मेन्द्रिय वास्तव में संयत नहीं होतीं, किन्तु वे भोगके लिये उद्यत होती हैं। अर्थात् वे तबभी असंयत बनी रहती हैं । मनमें विषयवासनाको रखकर कर्मेन्द्रियोंसे जो कुछ किया जाता है, चाहे वह देखने में संयम ही क्यों न दीखता हो, वह असंयम अर्थात् 'मिथ्याचार' होता है। उदाहरणके रूपमें चोरीवृत्तिको मनमें रखनेवाला चोर, चोरी करता हो या न कर रहा हो, सब समय लोभके अधीन होनेसे सदा 'चोर' बना रहता है। इसीप्रकार विषयासक्त मनुष्य जब अपने शरीरको किसी अरुचिकर व्यक्ति, वस्तु, स्थान, या घटना से पृथक् कर लेता है, तब भी वह इन्द्रियों की रुचिका दास बना रह कर इन्द्रियसेवक बना रहता है। अर्जुन, विषयवासनाको मनमें रखकर चाहे युद्ध करे या युद्धसे विरत हो जाय, उसकी दोनों स्थिति समान भावसे असंयम अर्थात् इन्द्रियासक्ति होंगी। इस लिये अर्जुनको पहले मनसे अज्ञानरूपी विषयवासना को हटाकर, तब कर्तव्यनिर्णय करने को कहा जा रहा है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अन्वय–अर्जुन, यः तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य असक्तः सन् कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते सः विशिष्यते ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! जो इन्द्रियोंको मनसे नियमित करके, असक्त रहकर कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग करता रहता है, वह श्रेष्ठ पुरुष होता है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

अन्वय–त्वं नियतं कर्म कुरु । अकर्मणः कर्म ज्यायः । अकर्मणः ते शरीर-यात्रा अपि न प्रसिद्ध्येत् ॥

अर्थ— तुम संयत कर्म को करो। क्योंकि अकर्मसे कर्म श्रेष्ठ है। कर्मरहित तुम्हारी शरीरयात्रा (शरीर का जीवित होना) भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भाव— इन्द्रियोंको अनासक्त मनके वशमें रखकर कर्म करना संयत कर्म करना है। मनुष्यको संयत कर्म करना चाहिये। उसे कर्मत्यागनेकी

भ्रान्ति कभी न करनी चाहिये। संयत कर्म करना अकर्मा रहने से श्रेष्ठ है। वह इसलिये श्रेष्ठ है कि संयत कर्म करना ज्ञानकी स्थिति है। परन्तु अकर्मा रहने की इच्छा अज्ञान है। अकर्मा रहने की इच्छामें अवांछित फलसे बचनेकी इच्छारूपी फलाशा रहती है। फलाशारूपी अधिकारहीन इच्छा तथा कर्मत्याग करने के इस असंभव प्रयत्न को इन्द्रियासक्ति, कर्ताहंबुद्धि, या अज्ञान कहा जाता है।

इस श्लोकमें ' शरीरयात्रा ' शब्द का अर्थ शरीर का जीवित रहना तथा ' न प्रसिद्ध्येत् ' का अर्थ स्वीकार न किया जाना है। शरीरको भोजनादि मिलते रहने के लिये कर्म करना ' शरीर-यात्रा ' शब्दका अर्थ नहीं है। जहां अकर्म है, वहां निश्चय ही शरीर जीवित नहीं है। कर्मके विना किसीका जीवित रहना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस श्लोकमें ज्ञानीको उसके शरीरकी रक्षा या रोटी पानी मिलनेका लोभ दिखाकर कर्म करनेको कहा गया है, ऐसा समझना भूल है। शरीररक्षाको लक्ष्य रखकर कर्म करना ज्ञानी का स्वभाव नहीं है। किन्तु ज्ञानी बने रहनेको लक्ष्य रखकर कर्म करना ही ज्ञानी का स्वभाव है। ज्ञानी जो कर्म करेगा, उसे ज्ञानकी स्थितिकी रक्षाके लिये करेगा। वह सोचेगा कि मैं अपनी ज्ञानकी स्थितिको छोडकर किसी भी कर्म को नहीं अपना सकता। ऐसे ज्ञानयुक्त कर्मके परिणाम के रूपमें ज्ञानीका शरीर नष्ट भी होसकता है। इस लिये जीवित रहना ज्ञानीकी दृष्टिमें कोई महत्त्वकी बात नहीं है। जबतक शरीर रहे तबतक ज्ञानानन्दका अधिकारी बने रहना ही ज्ञानी की दृष्टिमें महत्त्वकी बात है। प्रकृतिकी अनुकूलतासे शरीर बनता और जीवित रहता है। यह उसकी प्रतिकूलतासे नष्ट हो जाता है। इस तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी के मनमें शरीररक्षा की अनाधिकारचिन्ताका होना अस्वाभाविक बात है। फिर जीवित रहनेका लालच देकर ज्ञानीसे कर्म करनेको कहना कहांकी बुद्धिमत्ता है ? इस समय अर्जुन के सामने जो युद्धरूपी कर्तव्य उपस्थित है, इसमें भी शरीर-रक्षा उद्देश्य कहां है ? इस युद्धके परिणाममें अर्जुनके शरीरके

नष्ट हो जानेकी संभावना स्पष्टरूपसे विद्यमान है। कृष्ण भगवान् अर्जुनको मौतकी संभावनावाले कर्तव्यकी प्रेरणा देते समय, जीवित रहनेके उपायोंको कर्म करनेकी युक्तिके रूपमें उपस्थित करें, यह कल्पना प्रसंगके विरुद्ध होगी। इस दृष्टिसे 'शरीरयात्रा' शब्दसे यही अभिप्राय व्यक्त करना चाहा जा रहा है कि क्योंकि कर्म करते रहना जीवित देहका स्वभाव है, इसलिये शरीरका दुरुपयोग न होने देना ही ज्ञानीका एकमात्र कर्म है। मानवमन केवल कर्म क गतिविधिपर सुविचार या कुविचारका शासन रख सकता है। शुद्ध मन जिस कर्मको स्वीकार करेगा, उससे ज्ञानीका भौतिक देह तथा उसका संसार नष्ट होता दीखता हो, तबभी वह उस कर्मको अपनी आत्मस्थितिरूपी चिन्मयदेह की रक्षाके लिये अवश्य करेगा।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

अन्वय—यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः। कौन्तेय, मुक्तसंगः सन् तदर्थं कर्म समाचर ॥

अर्थ— यज्ञार्थ कर्म किये बिना यह मनुष्य कर्मके बन्धनसे बंध जाता है। हे कौन्तेय! तुम संग त्याग कर यज्ञार्थ कर्म करते रहो।

भाव— अपने अकर्तृत्व तथा आत्मतत्त्वके स्वाभाविक कर्तृत्वको अभ्रान्त रूपसे पहचान जाना 'यज्ञ' कहाता है। दूसरे शब्दोंमें अपने अहंकारको मिटाकर आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जानलेना 'यज्ञ' है। जिसे अपने अकर्तापन तथा आत्मतत्त्वके स्वाभाविक कर्तापनका ज्ञान नहीं है, जो अज्ञानके वशमें आकर कर्म करता है, उसका कर्म उसका बन्धक हो जाता है। कर्मके फलमें आसक्ति रखना ही अज्ञान या कर्मका बन्धन है। इस बन्धनसे बच जाना ज्ञानका माहात्म्य है।

हे अर्जुन! तुम भोगोंको भोगते रह सकनेके लिये इस कर्तव्य-त्यागरूपी दूषित कर्मको मत करो। तुम कर्तव्यपालनके लिये युद्धरूपी कर्मको करो। कर्तव्यपालनार्थ कर्म करना कर्मबन्धनसे मुक्ति है। भोगार्थ कर्म करना कर्मबन्धन है। अपने पवित्र मनको पुष्ट रखनेके लिये कर्म करना कर्मबन्धनसे मुक्त रहना है। अपने मनकी निर्बलताको सुरक्षित रखनेके लिये कर्म करना, कर्म-

बन्धनकी अवस्था है। कर्तव्यका भौतिक परिणाम क्या निकलेगा ? जो निकलेगा वह इन्द्रियोंको रुचिकर होगा या नहीं होगा ? इस बातका लेशमात्र भी विचार किये बिना तुम अपने पवित्र, अपापविद्ध, निर्विकार, प्रभावातीत मनकी रक्षाके लिये, इस युद्धरूपी कर्मको करके, मनुष्य बने रह सकते हो। यदि तुम मुक्तसंग होकर कर्म नहीं करोगे और अपनी भौतिक परिस्थितिके दास बनकर, उससे बूझकर जैसा वह कराना चाहेगी, वैसा कर्म करना चाहोगे, तो पामर प्राणी हो जाओगे।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

अन्वय—प्रजापतिः प्रजाः सहयज्ञाः सृष्ट्वा पुरा उवाच—अनेन प्रसविष्यध्वम्। एष वः इष्टकामधुक् अस्तु ॥

अर्थ— प्रजापतिने प्रजाओं (मनुष्यों) को यज्ञके साथ उत्पन्न करके तब ही उनसे कहा कि तुम इस यज्ञसे वृद्धि (पूर्णत्व) को पाती रहो। यह यज्ञ तुम्हारे इष्ट कामों को पूर्ण करनेवाला हो।

भाव— ईश्वर जब किसी मनुष्यकी सृष्टि करते हैं, तब साथ ही साथ यज्ञ-भावना के रूपमें ईश्वरका कर्तापन तथा मनुष्यका अकर्तापन ये दो बात, उसके मनमें बैठाकर भेजते हैं। अर्थात् ईश्वर मनुष्यको अकर्तृत्वका आनंद देने के लिये, स्वयं यज्ञभावनारूपी स्वरूपको लेकर, घटघटमें कर्ता बनकर बैठ जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य उस विराट् प्रबन्धक के कर्तृत्व को और अपने अकर्तृत्व को जानने का अधिकारी है। यह भावना ही भगवद्वाणी या भागवत कहाती है। भगवान् इस भागवत रूपमें ही घटघटवासी हैं। जब अपने भोक्तृत्व और कर्तृत्वको घटघटमें विराजनेवाली इस सर्वव्यापक भावनामें विलीन कर दिया जाता है, तब सिन्धुमें विलीन हुए बिन्दु के समान विराट् ब्रह्मत्वको प्राप्त करलेनेपर ही, मनुष्यकी कामनायें पूर्ण-होती हैं। मनुष्यको पूर्णता प्राप्त करानेवाली यज्ञभावना ही सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व की और मनुष्यकी अनासक्तिरूपी आत्मस्थिति है। मनुष्य इस स्थितिमें रहकर जो कर्म करता है, उससे वह कर्मबन्धनको प्राप्त नहीं होता।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अन्वय–(प्रजापतिः उवाच) अनेन देवान् भावयत । ते देवा वः भावयन्तु। परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ ॥

अर्थ— (प्रजापति तब यह भी बोले कि) इस (यज्ञभावना) से देवताओं (इन्द्रियों) को भावित (तृप्त) करो । वे (तृप्त) देव तुमको भावित (तृप्त) करें। यों एक दूसरेको तृप्त करोगे तो परम कल्याणको पाओगे।

भाव— विषयभोग करनेसे इन्द्रियों की अतृप्ति बढ़ती जाती है । परन्तु जब कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व रूपी वृथा बुद्धिको त्याग दिया जाता है और मनको आत्मारूढ रखा जाता है, तब इन्द्रियों को परम तृप्तिकी अवस्था मिलती है । स्वरूपस्थ मनके वशमें रहनेवाली इन्द्रियोंसे विषयस्पर्श होनेपर जो कामना जागती है, उसको आत्मतत्त्व का संभोग करना मिल जाता है । वह कामना आत्मतत्त्वका संभोग करके सदाके लिये ठंडी पड़ जाती है, और मनुष्यको पूर्ण शान्ति देनेवाली बन जाती है । यही मनुष्यको मिल सकनेवाला सर्वोत्तम श्रेय है ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥ १२ ॥

अन्वय–(प्रजापतिः उवाच) यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते हि । यः तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय भुंक्ते सः स्तेन एव ॥

अर्थ— (प्रजापति यह भी बोले कि) यज्ञभावित देव तुम्हें तुम्हारे इष्ट भोग देंगे। जो उनके दिये भोगोंको उन्हीं की तृप्तिमें न लगाकर स्वयं (भोक्ता बनकर) उन्हें भोगने लगता है, वह निश्चय ही 'चोर' है ।

भाव— तुम्हारे भोक्तृत्वाभिमानरहित मनके वशमें आई हुई इन्द्रियां, तुम्हें जो कोई भोग लाकर देंगी, वे भोग तुम्हारे लिये कल्याणकारी ही होंगे। क्योंकि उनसे तुम्हें बन्धनहीनताका आनन्द प्राप्त होता रहेगा। यही ' यज्ञ ' का स्वरूप है ।

यज्ञभावसे रहित हो जाना इन्द्रियासक्तिरूपी कामनाके वशमें आजाना है । यह कामना जीवित देहमें इन्द्रियोंके रागद्वेषके रूपमें रहती है । यह जीवित देहका स्वभाव है । इस स्वभाव का सदुपयोग करनेमें ' मुक्ति ' और दुरुपयोग करनेमें ' बन्धन ' है । जब कामना

आती है और इन्द्रियोंको उसे त्यागनेके काममें लगादिया जाता है, तब मन और इन्द्रियोंको पूर्ण तृप्त करनेवाली निष्काम स्थिति जाग उठती है। जब लोभ आता है और जब उसे त्याग दिया जाता है, तब निर्लोभ स्थिति का आनन्द प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार विवेकी मनके वशीभूत इन्द्रियोंके अधिकारक्षेत्रमें आनेवाली मोहकवस्तु, निर्मोह स्थिति का आनन्ददान करनेवाली बनकर आती है। जिन इन्द्रियोंको विवेकरसपानका लोभ हो जाता है, वे सब कुछ छुड़वा देती हैं, और आनन्द ही आनन्द देती रहती हैं। यही कामना का सदुपयोग कहाता है। कामना का सदुपयोग ही आनन्दी मुक्त जीवन है।

जब इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न की हुई भोगकामनाओंको उन्हें ही पूर्णतृप्त (अर्थात् आत्मदर्शन कराकर मुक्त) रखनेमें नहीं लगाया जाता और मनुष्य स्वयं भोक्ता बनकर भोग करने लगता है, तब वह 'चोर' हो जाता है। चोरका शरीर चाहे कारावासमें रहे, या उससे बाहर रहे वह अपने मनमें सदा बन्धनदशा में रहता है। भोगी पुरुषभी अपनी भोगवासनासे अपने मनमें सदा चोरके समान बंधा रहता है। वह अपनेको बन्धनातीत दशासे वंचित किये रहता है। अपनी स्वाभाविक बन्धनमुक्त दशाको न अपनाकर, अनधिकार भोग करना चोरका जीवन बिताना है।

अर्जुन इस युद्धमें इन्द्रियतृप्तिका वातावरण ढूंढ रहा है। वह इन्द्रियों का बहकावा मानकर अनिष्ट अवस्थाको भोगना चाह रहा है। वह इस संसारमें भोगासक्त अर्थात् बन्धनदशाग्रस्त जीवन बिताना चाह रहा है। उसे अपने मनकी इस इन्द्रियानुसरणरूपी कुप्रवृत्ति को त्यागने के लिये यज्ञभावना का आश्रय लेना होगा।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

अन्वय—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते। ये आत्मकारणात् पचन्ति ते पापा अघं भुंजते ॥

अर्थ— यज्ञशेषभोजी सन्तलोग सब पापोंसे मुक्त रहते हैं। जो भोगेच्छाकी तृप्तिके लिये विषयोंको भोगते हैं, वे अज्ञानी अघ (अर्थात् अज्ञानरूपी कर्मबन्धन) को भोगते रहते हैं।

भाव— अपनी यज्ञभावनासे आत्मतृप्ति माननेवाले सत्पुरुष सब प्रकारके अज्ञानजनित कर्मबन्धनों से मुक्त रहते हैं । जो अज्ञानी मनुष्य भोक्तृत्वाभिमानरूपी अहंबुद्धि से युक्त होकर, अपनी भोगेच्छा को तृप्त करने के लिये विषयोंको भोगनेमें लगे रहते हैं, वे भोगबन्धनमें फंसे रहते हैं ।

मनुष्यके मनमें स्रष्टाकी यज्ञभावनारूपी वाणी विद्यमान है । अपने जीवन में स्रष्टाकी इस वाणी को विजयी बनाये रहना ही मनुष्यके देहधारण का अभिप्राय है । ज्ञानी लोग उसी यज्ञभावनासे संसार भरके भोग्य पदार्थोंको यज्ञभावित, संयत इन्द्रियों के द्वारा आत्म-दर्शन करने के साधन के रूपमें उपयोग में लाते रहते हैं, और देह-धारण के अभिप्राय को सिद्ध करके पूर्ण तृप्त रहते हैं । अज्ञानी उसी यज्ञभावनाकी उपेक्षा करके, भोगबन्धनमें फंसकर, अपने जीवन को व्यर्थ बना देते हैं । इसी को अज्ञानियोंका अघ (अर्थात् पाप) का भोग करना कहा जाता है ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अन्वय—अन्नात् भूतानि भवन्ति । पर्जन्यात् अन्नसंभवः । यज्ञात् पर्जन्यः भवति । यज्ञः कर्मसमुद्भवः (अस्ति) । कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि । ब्रह्म अक्षरसमुद्भवं (अस्ति) । तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थ— अन्न से भूत (प्राणिशरीर) बनते हैं । पर्जन्यसे (पर्ज-न्योपलक्षित पांचों भूतों से) अन्न उत्पन्न होता है । पर्जन्य (ये पांचभूत) यज्ञसे (सर्वव्यापिका ईश्वरेच्छासे) उत्पन्न होता है । यज्ञ (सर्वव्यापिका ईश्वरेच्छा) कर्मसे (कर्म [illegible] की सर्वव्यापिका शक्तिं से) उत्पन्न होता है । कर्मको (क[illegible]को) ब्रह्म तत्त्वसे (शक्तिके स्वामीसे) उत्पन्न हुआ जानो । (जगत्स्रष्टा) ब्रह्मतत्त्व, अक्षरतत्त्वमें से उत्पन्न होता है । इस प्रकार वह सर्वव्यापी ब्रह्मतत्त्व, नित्य यज्ञमें (ईश्वरभावनाके रूपमें) प्रतिष्ठित रहता है ।

भाव— मनुष्य जब अपने स्वरूपको ढूंढने लगता है, तब उसे सबसे प्रथम यह स्थूल देह दीखता है। इसका कारण ढूंढने पर उसे प्रतीत होता है, कि यह देह अन्नका रूपान्तर है। अन्न अर्थात् इस शरीरयंत्रको जीवित रखनेवाले खाद्य, पेय आदि पदार्थ, पांचों भूतोंके रूपान्तर हैं। परन्तु इन पांचों भूतों का जो कारण है, वह इस स्थूल जगत्में से नहीं है। उस कारण को 'यज्ञ' अर्थात् सर्वव्यापिका विराट् इच्छा, ईश्वरेच्छा, अथवा किसी सामर्थ्यशाली व्यापक पदार्थ की इच्छाके रूपमें स्वीकार करना पडता है। जिसके पास शक्ति होती है, उसीको कुछ करने की इच्छा होती है। शक्ति ही इच्छाकी जननी है। शक्तिही प्रकृति है। शक्तिके स्वामीको शक्तिमान् कहा जाता है। सामर्थ्य समर्थके पास ही रहता है। शक्तिके शक्तिमान् स्वामी या प्रकृतिरूपी सामर्थ्य रखनेवाले समर्थ पुरुषको, ब्रह्मतत्त्व कहा जाता है। सामर्थ्य ही ब्रह्मतत्त्व है। यह सामर्थ्य सर्वव्यापक है। यही सामर्थ्यस्वरूप ब्रह्मतत्त्व शक्तिमें अधिष्ठित रहने की अवस्था में तो इस नाशवान 'क्षर' जगत् के रूपसे व्यक्त हो जाता है, और शक्ति का आधार बननेकी अवस्थामें शक्ति की अधीनता में न आनेवाले 'अक्षर' रूपमें अविकृत और अलिप्त बना रहता है। यों जगत्का सर्जन करनेवाला जो क्षर-रूपधारी ब्रह्म है, उसका कारण अक्षर तत्त्व ही है। वह नित्य अविकृत और अविनाशी अक्षर तत्त्व, स्वयं ब्रह्मरूप होकर जगत् के रूपमें सर्वव्यापी स्रष्टा बनजाता है, तथा अविकृत अलिप्त भावनामयी सत्ता के रूपमें स्वयं ही अक्षर भी बना रहता है। उसी समय 'क्षर' रूपमें भी रहता है और उसी समय 'अक्षर' रूपमें भी रहता है। यह तत्त्व इस स्थूल जगत्के रूपमें परिणत होकर भी स्वयं नष्ट नहीं होता और अलिप्त रहकर सृष्टिस्थितिप्रलयलीला करता हुआ भी अपने स्वाभाविक कर्तापन को अक्षुण्ण बनाये रखता है। यही उसके अक्षर होनेका माहात्म्य है। जो लीलामय ब्रह्म नाशवान् जीवदेहोंके रूपमें प्रकट होता है, वही लीलामय ब्रह्म जविदेहोंके भितर अविकृत अविनाशी भावनामय नित्य अक्षर देहीके रूपमें भी रहता है। वह अपने आप ही 'देह' है और अपने आप ही उसके 'देही' के रूपमें भावनामय पुरुषोत्तम है।

इन श्लोकोंका अभिप्राय 'यज्ञ' का स्वरूप बताना है। यज्ञसे ही मनुष्य कर्मबन्धनसे मुक्त होता है। यज्ञके विना मनुष्यके कर्म, उसके बन्धन बनजाते हैं। यदि कर्म करते समय कर्म करनेवाले के मनमें कर्ताहं बुद्धि और फलाशा रहेगी, तो उसकी यह निर्बल भावना उसे बांधनेवाली रस्सी बनजायगी। कर्ताहं बुद्धि तथा फलाशा को न रखकर, कर्म में अनासक्त रहना ही 'यज्ञ' है। इन श्लोकोंमें इसी यज्ञको 'ब्रह्म' तथा 'अक्षर' के नामसे कहकर अन्तमें कहा गया है कि सर्वगत ब्रह्मतत्त्व यज्ञमें ही प्रतिष्ठित है। इस कथनका यही अभिप्राय है कि मनुष्य अपने मनकी अनासक्तिरूपी यज्ञभावना को अपनाकर ही ब्रह्मतत्त्व का लाभ या ईश्वरका दर्शन करनेमें समर्थ हो सकता है।

मनुष्य स्थूल जगत्में अपनी इन्द्रियोंसे शरीर, अन्न और पंचभूतको ही देख सकता है। परन्तु उनका आदिकारण मनुष्यकी इन्द्रियोंको नहीं दीखता। क्योंकि वह सूक्ष्म आत्मतत्त्व है। उस तत्त्वको शक्ति, ब्रह्म, मनुष्यके मनमें दर्शन देनेवाली अनासक्त भावना, या यज्ञरूपी अविकृत अक्षर तत्त्व आदि चाहे जिस नामसे कहा जा सकता है, परन्तु वह वस्तु एक ही है। यही सचराचर जगत्का कारण है।

यज्ञको कर्मसे उत्पन्न होनेवाला, कर्म को ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाला, ब्रह्मको अक्षरसे उत्पन्न होनेवाला, और फिर सर्वगत ब्रह्मको 'यज्ञ'में प्रतिष्ठित रहनेवाला बताकर, गीता यह सूचित कर रही है कि ये सब यज्ञके ही भिन्न भिन्न नाम हैं।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अन्वय–यः इह (संसारे) एवं प्रवर्तितं चक्रं न अनुवर्तयति, पार्थ, अघायुः इन्द्रियारामः स मोघं जीवति ॥

अर्थ— जो इस संसारमें इस प्रकार चलाये हुए चक्रका अनुवर्तन नहीं कर रहा है, हे पार्थ! वह अघायु तथा इन्द्रियाराम पुरुष निष्फल जीता है।

भाव— अनुवर्तनका अभिप्राय अनुकूल आचरण करना है। अघायु अर्थात्

पापपूर्ण जीवनवाला। इन्द्रियाराम अर्थात् इन्द्रियोंका दास। यज्ञ ही इस संसारचक्रको घुमानेवाला ईश्वर है, अर्थात् यह सृष्टिव्यवस्था ही 'यज्ञ-चक्र' है। सर्वव्यापी यज्ञ इस सृष्टिमें सर्वभूतस्थ होकर इसे चला रहा है। इसलिये इस यज्ञचक्रका अनुवर्तन करनेका यही अभिप्राय है कि अपने जीवनको यज्ञके अनुकूल बनालिया जाय। मनुष्य यज्ञभावित होकर जीवन बिताये। वह ऐसा करनेपर ही कर्म-बन्धनसे मुक्त रह सकता है। जो पुरुष यज्ञभावनामें आत्मदर्शन न करके अनात्मविषयोंको भोगनेके बन्धनमें फंस जाता है, वह अज्ञानी इस जगत्के स्रष्टाके सृष्टिलीलाको रचनेके अभिप्रायके प्रतिकूल प्रयत्न करता है। ऐसा पुरुष अपने देहधारणके लक्ष्यको व्यर्थ करता हुआ जीवन्मृत हो जाता है।

हे अर्जुन! तुम इस संसारसे पृथक् एक अपना छोटा संसार बना बैठे हो। तुम उस अपने संसारमें अपनी कल्पनाके सुखदुःखोंमें, और अपनी कल्पनाकी निर्विघ्नावस्थामें रहना चाह रहे हो। तुम्हारा ऐसा चाहना, ईश्वरीय रचनाके प्रति नास्तिकपना है। इसीको पापी-जीवन, इन्द्रियदासता, या निष्फल—जीवन कहते ह। ईश्वरीय इच्छासे सहमत होना, इन्द्रियोंकी मांगको अस्वीकार करना, पापी जीवनके प्रति विद्रोह रखना, यही 'सफल—जीवन' है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ १७॥

अन्वय—यः तु मानवः आत्मरतिः एव स्यात् आत्मतृप्तश्च (स्यात्) आत्मनि एव च संतुष्टः (स्यात्) तस्य कार्यं न विद्यते (संसारे स्वीयत्वेन वक्तुं योग्यं किमपि कार्यं न भवति)॥

अर्थ— परन्तु जो पुरुष आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट रहनेवाला हो, उसका अपना (कहाने योग्य) कोई काम नहीं होता (ऐसा पुरुष अपने स्वार्थसे अर्थात् अपनी भोगेच्छाको चरितार्थ करनेके लिये, कोई काम नहीं करता)।

भाव— यज्ञभावनाको अपनानेवाला ज्ञानी विषयभोगों को नहीं चाहता। वह सदा उनकी उपेक्षा करता रहता है। वह आत्मतत्त्व को अपनी रति, तृप्ति, तथा संतोषका विषय बना लेता है। वह सब कामों को

कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व के अभिमान से बचकर करता है। उसके शरीर, मन और वाणीसे जो काम होता है, वह भोगलालसाको चरितार्थ करने की भावनाको लिये हुए नहीं होता, किन्तु निर्विकार स्थिति की रक्षा की भावनासे प्रेरित होकर होता है । उसके सब काम निर्विकार आत्मतत्त्वका अखण्ड दर्शन करानेवाले, और उसे कर्मफलासक्तिरूपी बन्धनसे मुक्त रखनेवाले होते हैं। फलेच्छा ही किसी काममें अपनापन है । इसीसे किसी कामको अपना बताया जाता है। अपने कर्तव्यको करते समय कर्ताहं बुद्धिसे रहित होने के कारण ज्ञानीके हाथोंसे, अपना कहा सकने योग्य कोई काम होना संभव नहीं रहता । वह केवल यज्ञभावनासे कर्म करता है ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

अन्वय–तस्य इह कृतेन कश्चन अर्थः न (तथा) अकृतेन कश्चन अर्थः न । सर्वभूतेषु अस्य कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न च ॥

अर्थ— उस (आत्मरति पुरुष) को इस संसारमें कृत या अकृत कर्ममें कुछ स्वार्थबुद्धि नहीं होती । उसका किसी भी भूतके साथ कामना या स्वार्थका संबन्ध नहीं रहता ।

भाव— आत्मरति पुरुष किसी कामनासे प्रेरित होकर न तो कर्मत्याग करता है और न कर्माचरण करता है । वह सर्वभूतोंमें कामनाके संबन्धसे रहित हो जाता है । उसका सर्वभूतोंके साथ परमार्थ-दर्शन का पवित्र संबन्ध हो जाता है । सब भूत उसके परमार्थके साधन बन जाते हैं। कर्मकरने या न कर सकनेके साथ, उसक मनके सुखदुःखका संबन्ध टूट चुकता है । स्वार्थबुद्धि उसके कर्म-करने या न करने का प्रेरक नहीं रहती। शत्रुमित्र, हानिलाभ, संयोग-वियोग आदि सब उसे परमार्थ का दर्शन करानेवाले साधन मात्र रह जाते हैं । संसारकी संपूर्ण परिस्थिति उसे अप्रभावित रखनेके उपयोगमें आने लगती है ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अन्वय–तस्मात् असक्तः सन् कार्यं कर्म सततं समाचर । हि असक्तः कर्म आचरन् पूरुषः परम् आप्नोति ॥

अर्थ— (क्योंकि ज्ञानी किसीसे भी स्वार्थका संबन्ध नहीं रखता) इसलिये तू असक्त होकर कर्तव्यकर्मको निरन्तर करता रह। क्योंकि असक्त रहकर कर्मकरनेवाला पुरुष पर (श्रेष्ठतत्त्व) को पालेता है।

भाव— परमपुरुष की प्राप्ति ही मनुष्यजीवन का लक्ष्य है। प्रथम श्लोकोंमें उस परमपुरुषको 'यज्ञ'के नामसे परिचित कराया जा चुका है। उस यज्ञका दर्शन मनुष्यके हृदयमें ही होना संभव है। यज्ञको मनुष्यके मनमें रहनेवाली अनासक्तिकी भावनाके अतिरिक्त और कोई नाम देना संभव नहीं है। जो मनुष्य अनासक्त होकर कर्म करता है, अनासक्ति उससे पृथक नहीं रहती। इसीको उसका यज्ञ करना कहते हैं, और इसीको उसका परमपुरुषको पाना कहा जाता है।

इस श्लोकका ऐसा अभिप्राय निकालना निराधार होगा कि पहले अनासक्त होकर कर्म किया जाय, तब उसके परिणामके रूपमें परम-पुरुष नामकी कोई महासत्ता दर्शन दे। क्योंकि अनासक्ति स्वयं ही परमपुरुष है। यह स्वयं ही अपने दर्शनकी योग्यता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वय–जनकादयः कर्मणा एव हि संसिद्धिम् आस्थिताः। लोकसंग्रहं संप-श्यन् अपि कर्म कर्तुम् एव अर्हसि ॥

अर्थ— जनक आदियों ने कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त की है। लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिये।

भाव— लोकसंग्रह अर्थात् सृष्टिसंरक्षणव्यवस्था को देखकर और कर्म को ही इसका संचालक जान कर, तुम्हें कर्म न करने की भ्रान्तिको त्याग देना चाहिये। मनुष्यके सामने सृष्टिस्थितिप्रलयव्यवस्थाकी ओर से जो कर्म कर्तव्य बनकर आता है, उसका पालन करनेसे मनुष्यको निर्विकार मनोदशा नामकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जिस पवित्र मानसिक स्थिति को लेकर कर्तव्यपालन किया जाता है, उसी

को 'सिद्धि' या 'निर्विकार स्थिति' कहा जाता है। कर्तव्य का पालन न करना, मनकी विकारग्रस्तता है। जनक आदि आत्मदर्शी लोग कर्तव्य कर्मके इस मर्मको समझकर ही, फलाकांक्षारूपी कर्मबन्धनसे मुक्त रहकर, कर्म करनेके प्रशस्त मार्गको स्वीकार करके, सिद्धि पाते चले आ रहे हैं।

हे अर्जुन ! इसके अतिरिक्त क्या तुम अपनी आंखोंसे इस लोक-संग्रहको नहीं देख रहे हो ? कि इस में निरन्तर कर्मचक्र घूम रहा है। क्या कर्म छुट जानेसे इस संसारका अस्तित्व विलुप्त नहीं हो जायगा ? ऐसे अनिवार्य अटल कर्मको छोडनेकी इच्छा अज्ञान है। इस लिये तुम्हें कर्तव्य कर्मसे विमुख न होना चाहिये। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

अन्वय-श्रेष्ठः यत् यत् आचरति इतरः जनः तत् तत् एव आचरति। सः यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तत् अनुवर्तते॥

अर्थ— श्रेष्ठ (आत्मज्ञानी) मनुष्य जो आचरण करता है, दूसरा (श्रेष्ठ) मनुष्य भी वही आचरण किया करता है। वह (श्रेष्ठ पुरुष) जिस (स्थिति) को अपनी जीवनचर्याका नियम बना लेता है, लोक उसीके अनुकूल हो जाता है। (संसार उस स्थितिकी प्रतिकूलता करनेमें असमर्थ बन जाता है)।

भाव— सब ज्ञानियोंका एकसा आचरण होता है। श्रेष्ठ ही श्रेष्ठ जैसा आचरण कर सकता है। अश्रेष्ठों से श्रेष्ठों जैसा आचरण नहीं किया जा सकता। इसलिये श्लोकके 'इतरजन' शब्दको दूसरे श्रेष्ठ मनुष्योंका ही वाचक मानना उचित है। ऐसा न करेंगे तो ज्ञानी तथा अज्ञानीके आचरणोंका भेद लुप्त हो जायगा, जो कि असंभव कल्पना होगी। श्रेष्ठ मनोदशाका स्वामित्व ही 'ज्ञानीपन' है। यह मनोदशा जिन जिनके पास आजाती है, उन सबका जीवन एक विशेष प्रकारकी दृढता रखनेवाला बन जाता है। लोग जिसे व्यर्थ काम समझते हैं, ज्ञानी लोग उसीको कर्तव्य समझकर ध्यानपूर्वक करते हैं। अज्ञानी लोग जिसे लाभदायक

कर्म समझते हैं, वह इनकी दृष्टिमें अकर्तव्य होता है। सब ज्ञानियोंका स्वभाव संसारसे निराला होता है। जिसके स्वभावमें सत्यके लिये दृढता नहीं है, वह ज्ञानी नहीं है। यही श्लोकके पूर्वार्धका भाव है।

ज्ञानी जिस मानसिक स्थितिको लेकर आचरण करता है, वह स्थिति सारे संसारको अपने अनुकूल बनाकर छोडती है। दूसरोंको यह सृष्टिव्यवस्था ज्ञानीके चाहे जितनी प्रतिकूल दीखती हो, चाहे वह ज्ञानीके प्राण ही क्यों न हरती हो, परन्तु वह भी उसे स्वरूपमें आरूढ रखनेवाला सहायक साधन बनजाती है। कोई भी पदार्थ ज्ञानीके लिये सुखदु:खरूपी बन्धनका कारण नहीं बन सकता। वह अपने जीवनमें जिस सत्यको प्रकट करके, उसे सत्यता का अकाट्य प्रमाणपत्र दे देता है, सारी सृष्टिव्यवस्था उसी सत्यके अनुकूल हो जाती है। अर्थात् सृष्टिव्यवस्था उसी सत्यको विजयी बनानेवाली बनजाती है। वह प्रतिकूलताओंसे पराभूत न रहकर, उन्हें पराजित करके, समग्र सृष्टिको अपने अनुकूल बनालेता है। संपूर्ण संसार उसे सत्यका दर्शन करानेमें सहायक बनजाता है। यहांतक कि सूली जैसी यातनायें भी उसके सत्यके सहायक साधन बनजाती हैं। वह अपने जीवनमें जिस सत्यके स्वरूपको प्रकट कर देता है, अथवा जिस सत्यपर सत्य नामकी छाप मार देता है, यह सारी सृष्टिव्यवस्था उसी सत्यको विजयी बनानेमें व्यग्र हो जाती है। बात यह है कि ज्ञानी निर्विघ्नावस्थामें रहनेवाला प्राणी है। विघ्नोंको पराभूत या अस्वीकार करना ही ज्ञानीके ज्ञानका स्वरूप है। जिसका ज्ञान विघ्नोंको पराभूत नहीं करता, जो विघ्नोंसे डरता और बचता है, उसे ज्ञान नहीं है। जो विघ्नोंको अपने निर्विघ्न स्वरूपका दर्शन करनेमें प्रयुक्त करनेकी कला नहीं जानता, उसे ज्ञान नहीं है। विघ्नातीत स्वरूपका दर्शन होना ही विघ्नोंका सदुपयोग है।

हे अर्जुन ! तुम सत्यके लिये साहसवाले जीवनको त्याग कर, असत्यके दास बनकर, दासोचित जीवन बिताना चाहते हो। तुम श्रेष्ठ मुनियोंका आचरण छोड़कर, पामरोंका जीवन बिताना चाह रहे हो। तुम संसारकी प्रत्येक घटनासे सत्यदर्शनका काम लेनेवाले बनो। यह तब ही होगा, जब तुम मुनियोंके कर्तव्यतत्पर जीवनका

नियमन करनेवाली अनासक्त स्थितिको अपनाओगे। तब तुम देखोगे कि संपूर्ण सृष्टिव्यवस्था तुम्हारे सत्यारूढ जीवनमें सहायता देकर धन्य हो रही है।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अन्वय–पार्थ, त्रिषु लोकेषु मे किंचन कर्तव्यं न अस्ति। अनवाप्तम् अवाप्तव्यं च न अस्ति। (तथापि) कर्मणि वर्ते एव च ॥

अर्थ— हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरा कुछभी कर्तव्य नहीं है, और मुझे किसी अप्राप्त पदार्थ को पाना नहीं है, फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूं।

भाव— कर्मत्यागरूपी आत्मद्रोह ज्ञानी के स्वभावसे विरुद्ध है। ज्ञानी सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जानलेता है। उसे अपने भोग के लिये तीनों लोकोंमें अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड में कुछभी कर्तव्य नहीं है। सृष्टि के जिस भागमें हम रहते हैं, जो हमसे दूर नक्षत्रादिरूपों में दीखता है तथा जो हमारी भौतिक चक्षुकी गतिसे बाहर रहता है, इनको मिलाकर 'त्रिलोकी' कहा जाता है। इसलिये 'त्रिषु लोकेषु' का अर्थ समस्त ब्रह्माण्ड करना उचित है। उस सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जाननेवाला ज्ञानी, किसी अप्राप्त पदार्थको प्राप्तव्य नहीं मानता। क्योंकि उसने अपने आपको पूर्ण रूपमें देखलिया है। उसे जो प्राप्त करना है, वह स्वरूप होनेसे उसे प्राप्त ही है। उसे इस संसारमेंसे कुछ भी नहीं लेना है। उसका किसी भी पदार्थ के साथ स्वार्थका नाता नहीं है। इस दृष्टिसे उसे स्वार्थके लिये कुछ भी करना अनावश्यक है। वह देख रहा है कि उसका स्वरूप विराट् आत्मतत्त्व, अपने स्वाभाविक कर्तापनसे कर्म कर ही रहा है। वह क्षणभरके लिये भी कर्मसे नहीं रुकता। ज्ञानी इस स्वभावके विद्रोह के रूपमें कर्मत्यागकी भ्रान्ति कभी नहीं करता। उस विराट् देहीको अपने किये कर्मके विषयमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका अभिमान नहीं है। आकांक्षारहित कर्म करते रहना ही उसका स्वभाव है। आत्मारूढ श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण भी ठीक इसी प्रकारका होता है। क्योंकि ज्ञानी पुरुष अपनी आंखोंसे सर्वव्यापी विराट् आत्मतत्त्वके साथ अपनी एकताको देख लेता है

इस लिये उस विराट् सृष्टिस्थितिप्रलयलीलाके प्रवन्धानुसार उसके शरीर-से जो कर्म होता है, वह भोगार्थ नहीं होता। अर्थात् वह कर्मफला-कांक्षारूपी दोषसे दूषित नहीं होता। किन्तु वह सत्यस्वरूप आत्मासे अपनी अभिन्नताका दर्शनकरनेके लिये होता है। ऐसे कर्म का त्याग करना 'आत्मद्रोह' है। ऐसा आत्मद्रोह ज्ञानीके स्वभावके विरुद्ध है।

हे अर्जुन! जब तुम स्वरूपदर्शन कर लोगे, तब देखोगे कि तुम्हें इस संसारमें अपने लिये न कुछ करना है और न कुछ पाना है। स्वरूपदर्शनावस्थामें पहुंचे हुए विचारशील पुरुषके मनमें अनन्तमार्गोंसे आत्मरूपको भोगनेकी और इस दिव्यसंभोगके लिये कर्तव्य करने की एक निष्काम अवस्था दृढतासे प्रकट हो जाती है और वही उसके जीवनपर अलौकिक शासन करने लगती है। फिर वह कुछ पाना नहीं चाहता। वह स्वरूपस्थ रहना चाहता है, और इसी लिये कर्म करता है। वह किसी लेन देन की भावना से कर्मरत नहीं रहता। वह कर्मकरनेके मनुष्यस्वभावका पूर्ण सदुपयोग करनेके लिये कर्म करता रहता है। वह अपनी कर्मशक्तिको चरितार्थ करनेके लिये कर्म करता रहता है। तुम्हें भी वर्तमान परिस्थितिपर इसी दृष्टिसे विचार करना होगा, तब ही तुमको कर्तव्यकी शुद्ध दिशाका दर्शन होगा।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ २३॥

अन्वय—पार्थ, यदि हि अतन्द्रितः अहं जातु कर्मणि न वर्तेयं (तर्हि) मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते (अनुवर्तेरन्)॥

अर्थ— हे पार्थ! यदि अतन्द्रित मैं (आत्मतत्त्व) क्षणभरके लिये भी कर्म न करूं (तो) सब मनुष्य (समग्र सृष्टि) सब प्रकारसे मेरा ही अनुवर्तन करे।

भाव— जो आत्मतत्त्व सब भूतोंका स्वरूप है, वही यदि अपने स्वभावको त्याग कर अकर्मण्य हो जाय तो बताओ सब भूत अस्तित्वमें कैसे रहें? तब सृष्टि अवश्य ही अस्तित्व-हीन हो जाय। यदि विराट् देही अपने स्वभावको त्याग

दे, तो उसीका स्वभाव रखनेवाले इस मनुष्यप्राणीको तथा इस सारी सृष्टिको उसीके स्वभावानुसार कर्महीन हो जाना पडे। तब संसारको धारण करनेवाले कर्म का विराम होते ही, यह संसार अवश्य नष्ट भ्रष्ट हो जाय। यह सृष्टि कर्म ही है। सब देहोंका जो विराट् देही है, वह क्योंकि अविराम भावसे सृष्टिस्थितिप्रलयरूपी कर्म करनेमें लगा हुआ है, इस लिये उसका कर्म करने का स्वभाव सब मनुष्योंमें समाया हुआ है। मनुष्य इस स्वभावके अधीन होकर (अर्थात् कर्म करनेके स्वभावको लेकर) आया है। जो कर्म मनुष्यका अपरिहार्य स्वभाव है, उस कर्मको मनुष्य या तो अपनी निर्विकार स्थितिका दर्शन करने या विकाराधीन होनेका साधन बना सकता है। अनासक्त होकर कर्म करना ही निर्विकार मानसिक स्थितिका दर्शन करानेवाला है। आसक्ति विकाराधीनता है।

हे अर्जुन! अब तुम स्वयं विचार करो कि इस उपस्थित कर्मके संबन्धमें तुम्हारा क्या कर्तव्य है? इस समय तुम्हारे सामने युद्ध करना तथा न करना ये दोनों कर्म उपस्थित हैं। तुम इन दोनोंमेंसे जिसे अनासक्त स्थितिमें रहकर अपना सकोगे, वही तुम्हारा कर्तव्य होगा। तुम यहां अनासक्त रहकर कर्तव्यकर्म करने और उससे आत्मदर्शनका लाभ उठाने के लिये आये हो। तुम अनासक्त रहकर कर्तव्यकर्म करके अपने अस्तित्वको सार्थक करो। तुम अकर्तव्य को स्वीकार करके अपने अस्तित्वको व्यर्थ मत बनाओ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अन्वय—अहं चेत् कर्म न कुर्याम्, इमे लोकाः उत्सीदेयुः, संकरस्य कर्ता स्याम्, इमाः प्रजाः उपहन्यां च ॥

अर्थ— मैं कर्म न करूं तो ये सब लोक नष्ट हो जाय, मैं संकरका कर्ता हो जाऊं और इन प्रजाओं को नष्ट करनेवाला बन जाऊं।

भाव— मैं सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व कर्म न करूं तो यह सब सृष्टि ध्वंसको प्राप्त हो जाय। तब मुझे संकर अर्थात् ध्वंसावस्था का कर्ता बन जाना पड़े। अर्थात् तब मैं सब सृष्ट जीवोंका ध्वंस करनेवाला बन जाऊं।

क्योंकि उस व्यापक आत्मतत्त्वमें भोगेच्छाका उत्पन्न किया हुआ कर्तृत्वाभिमान नहीं है, यही कारण है कि यह सृष्टिव्यवस्था उसके स्वाभाविक कर्तृत्वसे निर्विघ्न चल रही है। यदि इस जगत् के स्रष्टामें लेशमात्र भी भोगेच्छासे उत्पादित कर्तृत्वाभिमान होता, तो उसकी भोगेच्छा इस संसारको अपत्यभक्षिणी सर्पिणी के समान खा जाती। तब यह सारी सृष्टि भोगेच्छासे उत्पन्न हुए कर्तृत्वाभिमानसे, भोगानुकूलताकी आसक्ति के कारण, उसके भोगका ईंधन बन जाती और इसका ध्वंस हो जाता।

मनुष्य जिन आचारणोंको कर्तृत्वाभिमानसे प्रेरित होकर करता है उन्हींमें सृष्टिका ध्वंस करनेवाला कर्मत्याग प्रकट रहता है। कर्तृत्वाभिमान करनेवाले मनुष्य सर्वव्यापक स्वाभाविक कर्मसे विच्छिन्न होकर, सृष्टीविनाशक परिच्छिन्न कर्मको अपनाते हैं। कर्तृत्वाभिमान करना, सृष्टिमें ध्वंस के बीज बोना है।

इस लिये हे अर्जुन ! तुम उपस्थित कर्मका त्याग करने की भूल मत करो। कर्मत्याग के भीतर कर्तृत्वाभिमान छिपा रहता है। यह तुम्हारी युद्धत्यागकी मनोवृत्ति कर्तृत्वाभिमानसे ही उत्पन्न हुई है। तुम भोगानुकूल कर्मको अपनाना चाह रहे हो। तुम युद्धत्यागमें भोगकी अनुकूलता देख रहे हो। परंतु असत्याचरणका विरोध करने के लिये तुम्हारा सत्यारूढ रहना आवश्यक हो गया है। यदि अब तुम सत्यारूढ न होकर भोगारूढ होनेकी इच्छा करोगे तो अज्ञानी रहोगे। जब तुम इस अज्ञानको त्याग दोगे तब कर्तव्य समझकर युद्धको किये बिना न रहोगे।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ २५॥

अन्वय—भारत, यथा अविद्वांसः कर्माणि सक्ताः कर्म कुर्वन्ति तथा लोकसंग्रहं चिकीर्षुः विद्वान् असक्तः सन् कर्म कुर्यात्॥

अर्थ— हे अर्जुन ! जैसे अज्ञानी लोग कर्ममें आसक्त रहकर कर्म करते हैं, वैसे ही लोकसंग्रहचिकीर्षु (सृष्टिव्यवस्थाकी रक्षाका प्रेमी) ज्ञानी अनासक्त रहकर कर्म करे।

भाव— ज्ञानी या अज्ञानी दोनोंमेंसे कोई भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में ज्ञानी की कर्मनीति क्या होती है? सो बताया जा रहा है। अज्ञानी जैसे आसक्ति से कर्म का प्रेमी है, ज्ञानी भी वैसे ही अनासक्ति से कर्म का प्रेमी है। वह उसी कर्म को करता है जिसमें उसकी अनासक्ति सुरक्षित रहती है। अनासक्ति ही ज्ञानीकी कर्मनीति है।

कर्म ही इस लोकका संग्रह करनेवाला अर्थात् इसे धारण करनेवाला है। इस जगत् को धारण करने के लिये स्रष्टाको कर्मरूप हो जाना पडा है। कर्मने ही इस लोक को संगृहीत कर रखा है। इस लिये विद्वान् को, सृष्टिव्यवस्था की ओर से आये हुए कर्म को, कर्तृत्वाभिमानसे शून्य होकर करना चाहिये।

अज्ञानी मनुष्य अंधों के समान दूसरे अज्ञानियोंके आचरणों का अनुकरण करते रहते हैं। । ज्ञानी ज्ञानचक्षुष्मान होकर ज्ञानियोंके आचरित मार्ग पर यात्रा करते हैं। ज्ञानी अज्ञानियोंके आचरणों या कर्मोंको कदापि नहीं अपना सकते। उनके पास उन्हें मार्ग दिखानेवाली विवेककी आंख रहती है। वे उसीसे अपना मार्ग देखते हैं। वे अज्ञानी के समान लोकभक्षणेच्छु नहीं हैं। वे लोकसंग्रहचिकीर्षु हैं। उन्हें सृष्टिव्यवस्था की रक्षामें प्रेम है। उनका संसार के साथ अज्ञानीका सा भक्ष्यभक्षकका संबन्ध नहीं है। जो इस सृष्टिको अपने भोग के ईंधन के रूपमें नहीं चाहता, वही 'ज्ञानी' है। ज्ञानी में परमात्माका स्वभाव जाग उठा है। उसका इस संसारसे भोगका संबन्ध टूट चुका है, और त्याग का संबन्ध जुड चुका है।

हे अर्जुन! तुम इस संसारको अपना भोग्य बनाना चाह रहे हो। इस भोगेच्छाने तुम्हारा संसारसे कर्तव्यका संबन्ध तोड दिया है। ज्यों ही तुम भोगेच्छा को छोडोगे, त्यों ही तुम्हें सृष्टिव्यवस्था का संरक्षक कर्ममार्ग दीखने लगेगा। तब तुम्हें अकर्तव्य छोडदेना पडेगा। तब तुम्हारी दृष्टि कर्मफलपर न रहकर केवल कर्तव्यपर रहेगी।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥ २६॥

अन्वय–विद्वान् कर्मसंगिनाम् अज्ञानां बुद्धिभेदं न जनयेत्। युक्तः समाचरन् सर्वकर्माणि जोषयेत्॥

अर्थ— विद्वान् पुरुष कर्मासक्त अज्ञानियोंका बुद्धिभेद न करे। वह युक्त होकर करता हुआ सब कर्मोंको कराता रहे।

भाव— अज्ञानियों की फलासक्ति ही उनका कर्मबन्धन तथा विपरीत बुद्धि है। जो कोई इनकी इस विपरीत बुद्धिका समर्थन कर देता है, वही इनकी भ्रान्तिमें मिथ्या सन्तोष देकर, इनका 'बुद्धिभेद' या 'बुद्धिनाश' कर देता है। अर्थात् उनके पास आसकनेवाली बुद्धिका खण्डन कर देता है। ज्ञानको न देखने देना ही उनका 'बुद्धिभेद' कर देना है। ज्ञानीका जीवनही अज्ञानियों का बुद्धिभेद न होने देनेवाला होता है। वह किसीको मौखिक उपदेश नहीं करता। यही बात श्लोकके उत्तरार्धमें कही है। ज्ञानी अपने आचरणोंके द्वारा अज्ञानियोंका बुद्धिभेद करनेवाले कर्म कदापि नहीं करता। अर्थात् ज्ञानी कभी अज्ञानियों जैसे आसक्तिपूर्ण आचरण नहीं करता। उसका आचरण ऐसा दिव्य होता है कि उससे अज्ञानियोंका 'बुद्धिभेद' नहीं हो सकता। उसका आचरण कर्मप्रेमका उत्पादक होता है। सृष्टिरक्षामें प्रेम रखनेवाला ज्ञानी, अपने आचरणोंके द्वारा, जगत्को अनासक्त रहकर कर्म करनेका मार्ग दिखाता है। वह अपने आचरणोंके द्वारा कर्म न करनेकी आसक्तिपूर्ण मनोवृत्तिके मिथ्या महत्त्वको निरुत्साहित करता रहता है।

इस श्लोकका यह अभिप्राय है कि ज्ञानी ऐसा कोई काम न करे जिससे किसी अज्ञानीकी विपरीत बुद्धिका समर्थन हो जाय। इसमें अज्ञानीको ज्ञानी न बनने देनेके प्रयत्न करनेका उपदेश नहीं है। अज्ञानियोंसे बातें करते समय ज्ञानवार्ता कहनेका अवसर प्राप्त नहीं होता, इस कारण ज्ञानीको विवश होकर ज्ञानवार्ताको रोके रहना पडता है। इस श्लोकका ऐसा तात्पर्य होना असंभव है कि यदि अज्ञानीसे बातें करते समय ज्ञानवार्ता कहनेका अवसर प्राप्त हो जाय, तबभी उसके सामने ज्ञानकी स्थिति न कही जाय।

यह तो ठीक है कि ज्ञानी अज्ञानीको ज्ञानी बनादेनेका उत्तरदायित्व कभी नहीं लेता, परन्तु अज्ञानीसे ज्ञानकी स्थितिको छिपाकर रखनेकी प्रवृत्ति भी ज्ञानीके लिये उचित नहीं है। "ब्रह्मवार्ताको अज्ञानी लोगोंसे छिपाकर रखा जाय" इस श्लोक-

से इस प्रकारके अभागवत भाव लेना गीताकी स्वीकृत विचार-धारासे विपरीत है। गीताकी विचारशैलीके अनुसार प्रत्येक मनुष्यको ब्रह्मवार्ता या सत्यदर्शनका अधिकार है। सत्य मनुष्यमात्रकी सार्वजनिक संपत्ति है। किसी भी मनुष्यको ज्ञानका अनधिकारी मानना, ज्ञानकी स्थिति नहीं है। अज्ञानको नष्टकर डालना ही ज्ञानकी सार्थकता है। जिसका अज्ञानके साथ वध्यघातकका संबन्ध है, वही 'ज्ञान' है। ज्ञान अज्ञानका जन्मवैरी है। ज्ञानीका जीवन अज्ञानविरोधी आचरणोंसे संघटित होता है। उसका जीवन अज्ञानी संसारके लिये निष्काम कर्म करनेका मूर्तिमान् मार्ग-दर्शक होता है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

अन्वय—कर्माणि सर्वशः प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि (सन्ति) अहंकारविमूढात्मा अहं कर्ता इति मन्यते ॥

अर्थ— कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंसे किये जाते हैं। अहंकारविमूढात्मा पुरुष मैं करनेवाला हूं यह मान लेता है।

भाव— जैसे सब देहोंमें भिन्न भिन्न आत्मा नहीं है, किन्तु सबमें एक ही विराट् देही है, इसी प्रकार, इन भिन्न भिन्न देहोंमें प्रतीत होनेवाली शक्ति भी भिन्न भिन्न नहीं है। इन सब देहोंका शक्तिमान् भी एक है और शक्ति भी एक है। उस एक शक्तिमानकी अद्वितीय शक्ति को ही 'प्रकृति' कहा जाता है। वही सृष्टि स्थिति प्रलय करनेवाली है। इस प्रकृति नामकी महती शक्तिके गुणोंसे, अर्थात् इसके विचित्रता उत्पन्न करनेवाले स्वभावसे, जगतके संपूर्ण कर्म हो रहे हैं। सृष्टिप्रबन्ध करनेवाली शक्ति, अपने स्वभावानुसार हमारे समझे हुये देहोंसे भी कर्मों को कराती रहती है। उनका कर्तृत्व हमपर नहीं है। उन कर्मों का कर्तृत्व कर्म करानेवाली महती शक्तिपर ही है। उसके कराये हुए कर्मके साथ अपना अहंकारका संबन्ध जोड़ना मनुष्यकी मूढ अवस्था है।

हे अर्जुन! आज तुम यही मूढता कर रहे हो। तुम विराट् प्रबन्धके रचे हुए युद्ध को अपना क्रीडामय स्वेच्छाचार समझे हो, और इसे

अरुचिकर देखकर इसमेंसे निकल भागना चाहते हो। तुम्हारे समझे हुए देहके द्वारा किये जानेवाले इस कर्मको, तुम अपना कर्म समझे हो, और अपना समझकर इससे अनुकूल फलकी आशा करते हो, इस भ्रान्तिसे ही तुम्हारे मनमें कर्मत्यागकी प्रवृत्तिका जन्म हुआ है। इस समय इस प्रवृत्तिको त्यागना तुम्हारा कर्तव्य हो गया है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

अन्वय—महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् गुणाः (इन्द्रियाणि) गुणेषु (स्वस्वभावे) वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते॥

अर्थ— हे महाबाहो! गुण (प्रकृति) तथा कर्म (प्रकृतिके स्वभावकी प्रेरणासे किये जानेवाले कर्म) के तत्त्वको जाननेवाला तत्त्वज्ञानी, गुण (इन्द्रियां) गुणोंमें (अपने स्वभावोंमें) बरत रहे हैं, इस बातको जानकर अनासक्त बना रहता है।

भाव— इस सृष्टिमें जितने कर्म किये जा रहे हैं, वे सब प्रकृतिकी शक्तिसे हो रहे हैं। इस तत्त्वको जाननेवाले जानते हैं, कि अपने शरीरसे किये जानेवाले संपूर्ण कर्म प्रकृतिकी ही शक्तिसे किये जा रहे हैं। प्रकृति कराती है और कर्म होते हैं। प्रकृतिरूपी अव्यक्त शक्ति कर्मरूपमें व्यक्त होती रहती है। कर्म प्रकृति है। प्रकृति कर्म है। प्रकृति कर्मसे भिन्न नहीं है, तथा कर्म भी प्रकृतिसे भिन्न नहीं है। कर्म और प्रकृतिके इस अभेद संबन्धको जान लेना ही गुणकर्म-विभागके तत्त्वको जान लेना है।

जब इन्द्रियां विषयोंमें आकृष्ट होती हैं, तब ज्ञानी उस आकर्षणको इन्द्रियोंके स्वभावके रूपमें पहचान लेता है, और उसमें अनासक्त बने रहनेको अपने स्वरूप आत्मतत्त्वका स्वभाव जानता है। इसी लिये वह उसमें आसक्त नहीं होता। यह अनासक्ति ही ज्ञानीकी 'आत्मस्थिति' है। इन्द्रियों का विषयोंमें आकृष्ट होना उसके लिये भोगप्रेरक न होकर, भोगसे निवृत्त रहनेका कारण बनकर, उसे अनासक्त रहनेका अवसर दे देता है। यों इन्द्रियोंका विषयोंमें आकृष्ट होना ही, ज्ञानीको अनासक्त स्थिति या निर्विकार मानसिक स्थितिके दर्शन करानेका साधन बन जाता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

अन्वय–प्रकृतेः गुणसंमूढाः गुणकर्मसु सज्जन्ते । कृत्स्नवित् तान् अकृत्स्न-विदः मन्दान् न विचालयेत् ॥

अर्थ— प्रकृतिके गुणोंसे प्रभावित हुए पुरुष गुणोंके कर्मोंमें (इन्द्रियोंके स्वभावोंमें) सक्त हो जाते हैं । संपूर्णदर्शी ज्ञानी पुरुष उन असंपूर्णदर्शी मन्दमति लोगोंको विचालित न करे ।

भाव— स्वयं विचलित हुए विना किसीको विचलित करसकना असंभव है । इस श्लोकका यह भाव है कि ज्ञानी संसारमें अज्ञानियोंकी बाढको देखकर कभी विचलित नहीं होता । कोई भी ज्ञानी संसारको सुधारनेकी ठेकेदारी करके व्यग्र या चिन्तित नहीं होता । वह संसारको बिगडता देखकर आंसू नहीं बहाता । जब अपने शुद्ध विचारोंके द्वारा ईश्वरीय प्रबन्धसे संसारसेवाका अवसर आ जाता है, तब वह सेवा कर देता है ।

प्रकृतिके गुणोंके बहकावेमें आये हुए पुरुष इन्द्रियोंके बन्धनमें आ जाते हैं और इन्द्रियोंके विषयोंमें आकृष्ट होनेके स्वभावको अपना स्वभाव मान लेते हैं, और इसी पतित जीवनमें सन्तुष्ट रहते हैं । ऐसोंके प्रति ज्ञानीका कोई कर्तव्य नहीं है । संपूर्णज्ञ पुरुष, इन असंपूर्णज्ञोंको विनष्ट होता देखकर, अपने कर्तृत्वसे इनके सुधारका बीडा उठानेवाला बनकर, अपनी बुद्धिको विचालित नहीं करता ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अन्वय–अध्यात्मचेतसा मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य निराशीः निर्ममः भूत्वा विगतज्वरः युद्ध्यस्व ॥

अर्थ— अध्यात्मचित्तसे (अनासक्त होकर) सब कर्मोंको (सब कर्मोंके कर्तापनको) आत्मतत्त्वमें समर्पित करके, निष्काम, निर्मम बनकर और विगतज्वर (शोकरहित) होकर, युद्धरूपी कर्तव्यको कर ।

भाव— इन्द्रियोंके विषयों में आकृष्ट होनेके स्वभाव को न अपनाना 'अना-सक्ति' है । मन की अनासक्त स्थितिको ' अध्यात्मचित्तता ' कहा

जाता है। अपने स्वरूपमें स्थित होना ही अध्यात्मचित्त होनेका अभिप्राय है। इन्द्रियातीत आत्मस्थिति ही अपना स्वरूप है। इसमें स्थित हो जाने पर इन्द्रियोंके स्वभावको अपने स्वरूपके स्वभावके विरोधी मानलेना अनिवार्य हो जाता है। तब मनुष्य अपने शरीरसे किये हुए संपूर्ण कर्मोंका कर्तापन आत्मतत्त्वमें समर्पित कर देता है, और कर्मके फलकी आकांक्षासे रहित हो जाता है। उस समय अपने शरीरमें तथा शरीरसे संबन्ध रखनेवाले दूसरे शरीरों और पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि भी स्वभावसे नष्ट हो जाती है। आत्मतत्त्वको ही अपनानेवाला बन चुकनेके कारण, उस समय उसके पास किसी अप्राप्त वस्तुकी अप्राप्ति तथा प्राप्त वस्तुके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले 'शोक'का अवसर कभी नहीं आता।

अर्जुनके सामने इसी स्थिति को रखकर उसे युद्ध के लिए प्रेरित किया जा रहा है। अध्यात्मचेता हो जानेके पश्चात् उसके लिये इस युद्धमें लाभ हानिकी चिन्ता करना असंभव हो जायगा। जब अर्जुन सत्यारूढ हो जायगा, तब वह असत्यका विरोध करनेरूपी स्वाभाविक आनन्दका अधिकारी बन जायगा, तब किसी प्रकारके इन्द्रियभोग्य पदार्थ में आसक्ति न रहनेके कारण उसका सुखदुःखका बन्धन विनष्ट हो चुकेगा।

गीतामें श्रीकृष्ण का 'अस्मत्' शब्द सर्वत्र आत्मतत्त्वके अर्थ में व्यवहत हुआ है। इस शब्दका इसके अतिरिक्त दूसरा कोई अर्थ कर सकना असंभव है। बात यह है कि श्रीकृष्ण संपूर्णात्मदर्शी हैं। उनको 'पूर्ण--अहं' का अखण्ड दर्शन सर्वदा रहता है। वे गीतामें संपूर्ण आत्मतत्त्वका पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हुए बात करते हैं। वे अर्जुनको, देहके बन्धन के अतीत होकर, सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जानकर ही युद्ध में प्रवृत्त होने का उपदेश दे रहे हैं। इस स्पष्ट भाव को ग्रहण न करके 'अस्मत्' शब्दको श्रीकृष्ण के भौतिक शरीरमें सीमित रखना अनुचित होगा।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ ३१॥

अन्वय—श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः ये अपि मानवाः मे इदं मतं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति ते कर्मभिः मुच्यन्ते ॥

अर्थ— अनासक्ति के श्रद्धालु और आनिन्दक जो कोई भी मनुष्य इस मेरे मतका सदा पालन करते हैं, वे कर्मसे (कर्मबन्धनसे) मुक्ति पालेते हैं।

भाव— अनासक्ति ही आत्मा का स्वधर्म है। जो कोई इस आत्मधर्म का पालन करनेवाला है, वही 'मुक्त' है। अर्थात् मनुष्यमात्र इस आत्मधर्मका स्वाभाविक अधिकारी है। अनासक्तिरूपी आत्मधर्ममें और कर्मबन्धनमुक्तिमें कोई अन्तर नहीं है। इन्द्रियासक्तिरूपी परधर्म को अपनाकर कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मबन्धनमें बंध जाता है।

हे अर्जुन ! अब तुम्हारे सामने असत्यका विरोधरूपी 'आत्मधर्म' और स्वजनमोहरूपी 'परधर्म' इन दोनोंमेंसे एकको अपनाकर कर्मबन्धनसे 'मुक्त' होने या कर्मबन्धनमें 'बद्ध' होने का प्रश्न उपस्थित है। तुम आत्मधर्मका पालन करनेके स्वाभाविक अधिकारी हो। तुम इससे वंचित मत होओ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

अन्वय—ये तु एतत् अभ्यसूयन्तः मे मतं न अनुतिष्ठन्ति सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः तान् नष्टान् विद्धि ॥

अर्थ— जो तो इससे द्वेष करते हुए इस मेरे मत का पालन नहीं करते, उन अज्ञानी तथा विचारशून्य पुरुषोंको, विनष्ट (कर्मबन्धनमें फंसा हुआ) समझो।

भाव— कृष्णभगवान्का यही मत है कि मनुष्य अपने शरीरसे किये हुए कर्मोंके कर्तापनको आत्मतत्त्वमें समर्पित कर दे। स्वयं कर्ता तथा भोक्ता बनकर कर्म करनेपर मनमें फलाशा बनी रहती है। इस फलाशाको मनमें रखना ही कृष्ण भगवानके मतसे द्वेष करना है और यही उसका पालन न करना भी है। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें उत्तरार्धमें यों दोहराया गया है कि अनासक्ति ही 'ज्ञान' है और आसक्ति 'अज्ञान' है।

फलासक्ति रखनेवाला मनुष्य सर्वज्ञानविमूढ विचारशून्य तथा विनष्ट हो जाता है। क्योंकि वह इन्द्रियासक्त होकर आत्मविस्मृत,

सदसद्विचार करनेकी शक्तिस रहित, तथा फलाशारूपी कर्मबन्धनसे बद्ध हो जाता है। अज्ञानकी (अर्थात् अनात्मविषयोंके बन्धनमें आकर आत्मविस्मृतिमें डूब जानेकी) इस स्थितिको, इसमें स्पष्ट कर दिया गया है। कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयके वर्तमान अवसरपर अनासक्त स्थितिको अपनाना ही अर्जुनके लिये कल्याणकारी है, यह समझाया जा रहा है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

अन्वय—भूतानि (सर्वाणि भूतानि) प्रकृतिं यान्ति। निग्रहः (कर्मनिग्रहः) किं करिष्यति (कथं संभविष्यति) ज्ञानवानपि स्वस्याः (अनासक्तिरूपायाः) प्रकृतेः सदृशं चेष्टते (कर्म करोति) ॥

अर्थ— सब भूत प्रकृतिको (कर्म करनेके स्वभावको) प्राप्त किये हुए हैं। 'कर्मनिग्रह' कैसे संभव होगा ? ज्ञानी भी अपने (अनासक्त रहनेके) स्वभावके अनुसार कर्म करता रहता है।

भाव— यहां ' निग्रह ' शब्दका अर्थ 'इन्द्रियनिग्रह' नहीं है। कर्म करनेके स्वभावका द्रोह ही यहां ' निग्रह ' शब्दका अर्थ है। सब प्राणी अपने स्वभावके अनुयायी कर्म करते रहते हैं। ज्ञानीके पास भी ज्ञानयुक्त-कर्म करनेका स्वभाव है। वह इस स्वभावका अनुयायी होकर अनासक्तभावसे कर्म करता रहता है। ज्ञानी होनेपर अनासक्त भावसे, और अज्ञानी होनेपर आसक्त भावसे कर्म किया जाता है। कर्म करते रहनेके इस स्वभावको रोक सकना किसीके भी वशकी बात नहीं है। कर्मका त्याग करनेकी इच्छा अपने इस स्वभावका विद्रोह करना है। स्वभावका विरोध सदा असफल रहता है। ये सबके सब व्यर्थ उद्यम भी कर्म ही होते हैं, और स्वभावविद्रोह नामवाले कर्म बन जाते हैं।

शरीरकी रचनाके पीछे ईश्वरीय अभिप्राय रहता है। मनुष्यदेह कर्मयन्त्र है। इस कर्मयन्त्रकी सृष्टि कर्म करनेके लिये की गई है। ठाली बैठने की भावनासे इस यन्त्रकी रचना निष्फल हो जाती है।

संसारमें ' भोग ' और ' योग ' नामकी दो कर्मधारा हैं। अपने स्वरूपसे विच्छिन्नावस्था 'भोग'की अवस्था है और स्वरूपसे संयुक्त

रहनेकी अवस्था 'योग'की अवस्था है। यह मनुष्य 'योगयोनि' है। मनुष्य मूर्खतासे इसे 'भोगयोनि' बनानेका प्रयत्न करता है। यदि मनुष्य 'योगयोनि' होनेका साहस करे तो वह विषयाकर्षणको अस्वीकार कर दे और पूर्णत्वोपार्जनका जो विराट् कर्म सच्चे मनुष्योंकी प्रतीक्षा कर रहा है, उसे देखने लगे और तब आलस्यमें दिन बिताने का विचार वायुमें कर्पूरके समान विलीन हो जाय।

हे अर्जुन ! तुम अपने स्वभावपर रोकथाम लगाना चाहते हो। समझ लो कि ' कर्मनिग्रह ' जीवित देह के लिये असंभव अवस्था है। यह केवल मृत शरीर की अवस्था है। ज्ञानी अपने स्वभावानुसार फलाशारूपी असंपूर्णतासे रहित होकर, स्वयं पूर्ण रहकर, अपने कर्ममें संपूर्णता लाता रहता है। कर्मको रोक सकना असंभव और अज्ञानता है। कर्मको रोकना चाहनेमें तुम अवश्य असफल होगे। निश्चित असफलताकी ओर जाना अज्ञानावस्था है। तुम्हें इस कर्मद्वेष नामकी मूर्खताको छोड़ना होगा और अधिकारापहारीका विरोध करके अपने अधिकारमें सुप्रतिष्ठित हो जाना पड़ेगा।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अन्वय--इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे (इन्द्रियग्राह्येऽर्थे) रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोः वशं न आगच्छेत्। हि तौ अस्य (मनसः) परिपन्थिनौ (वैरिणौ)॥

अर्थ— इन्द्रियके इन्द्रियग्राह्य विषयोंमें राग और द्वेष स्वभावसे होते हैं। इन रागद्वेषोंके वशमें न आना चाहिये। क्योंकि ये राग द्वेष मनके शत्रु हैं।

भाव— रागद्वेष मनके शत्रु इसलिये हैं कि ये मनको आत्मविमुख बनाकर विषयाभिमुख कर देते हैं। इन्द्रियोंके रागद्वेषके वशमें आने या न आनेकी स्वतंत्रता ही मन का स्वरूप है। इन्द्रियों के बन्धनमें आना मनकी अनात्मस्थिति है, तथा इन्द्रियातीत रहना मनकी आत्मास्थिति है। इन्द्रियां अपने विषयोंको रुचिकर तथा अरुचिकर दो श्रेणियोंमें विभक्त करलेती हैं। वे रुचिकरमें 'राग' और अरुचिकरसे 'द्वेष' मानती हैं। यही इन्द्रियोंका स्वभाव है । यह स्वभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के पास है।

विधाताका सृष्टिविधान ही कुछ इस ढंगका है कि इसमें इन्द्रियों की खेंचातानीके पीछे ही शान्तिका अगाध समुद्र लहरें मारता रहता है। इसमें पद्पद्पर अशान्तिको उत्पन्न करनेके साधन रखे गये हैं और उन्हींकी ओटमें शान्तिको बैठा दिया गया है। इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेके लिये रूप रस आदि नामके विषय इसीलिये बनाये गये हैं कि जब कोई हृदय अशान्तिके इन कारणोंका विरोध या विद्रोह करनेके लिये जहां कहीं उद्यत होगा, तब वहीं उनके पीछे छिपी हुई शान्ति उसके सामने आजाया करेगी। यदि मनुष्य अशान्तिके कारणोंका विद्रोह करनेको उद्यत नहीं होगा, तो उसे शान्तिका दर्शन कहां और कैसे मिलेगा? जो निर्बल मनवाला मनुष्य अशान्तिके कारणोंको देखकर घबरा उठेगा, व्याकुल होगा, धीरता खो बैठेगा, उसके भाग्यमें अशान्ति ही अशान्ति आयेगी। ज्ञानी पुरुष मनमें उगनेवाले संपूर्ण विकारोंका उपयोग मनको निर्विकार बनानेमें कर डालता है। वह राग द्वेष नामके विकारोंके वशमें नहीं आता। वह आत्मस्थितिमें आरूढ रहकर राग द्वेषसे अतीत रहनेके स्वभावको प्राप्त करलेता है। विषयासक्तिसे रहित हो जानेके कारण, रूपरस आदिको भोग्य विषय न मानना ही ज्ञानी का 'ज्ञानित्व' है।

ज्ञानी इन्द्रियोंके रागद्वेषको, जहांतक इनका शरीरधारणके अधिकारसे संबन्ध है, वहांतक मानता है, और इस अधिकारकी सीमाको लांघता देखते ही उन्हें अस्वीकार करके,अपने 'ज्ञानित्व'की रक्षा करलेता है। अज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंके राग द्वेषोंमें उचित अनुचितका विचार न करके, उन्हें ज्यों का त्यों अपनाकर, भोगबन्धनमें फंस जाता है। अज्ञानी का मन इन्द्रियों के रागद्वेषों का दास बन जाता है। वह अपने को विषय भोगनेके लिये विवश मान लेता है। अपने को विषय भोगके लिये विवश मानलेना ही 'आत्मविस्मृति' है। आत्मस्थिति को छोड़कर अनात्माके वशमें आकर आत्मविस्मृत होना शत्रु के वशमें आना और आत्महत्या करना है। मन 'आत्मरक्षा' और 'आत्महत्या' दोनों करने के लिये स्वतंत्र है। वह मन जब रागद्वेष के साथ शत्रु जैसा बर्ताव कर के आत्मरक्षा करलेता है, तब उसे 'ज्ञान' कहा जाता

है; और जब रागद्वेषके वशमें आजाता है, तब उसे 'अज्ञान' कहा जाता है। ज्ञानी शत्रुको क्षमा नहीं करता। वह उसे नष्ट करनेके लिये सदा अनासक्तिरूपी शस्त्रसे सुसज्जित रहता है। यों इन्द्रियोंके राग द्वेष ज्ञानी के सामने वध्य शत्रुके रूपमें आकर उसे आत्मगौरव-दान करनेके साधन बन जाते हैं; और इन्द्रियोंके ये राग द्वेष ही अज्ञानी के सामने आकर उसे आत्मविमुख करके भोगबन्धनमें फंसानेवाले जाल बन जाते हैं। इस शत्रुको न पहचानना ही 'अज्ञान' है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अन्वय–स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मः भयावहः ॥

अर्थ— भले प्रकार पाले हुए (भोगानुकूल फल देनेवाले) परधर्मसे (इन्द्रियोंके धर्मसे) विगुण (भौतिक लाभसे हीन) स्वधर्म (आत्मधर्म) कल्याणकारी है। स्वधर्ममें (रहकर) देहनाश हो जाना कल्याणकारी है। परधर्म भयावह होता है।

भाव— क्योंकि पूर्व श्लोकमें इन्द्रियोंके स्वभावका वर्णन किया गया है इस लिये इस श्लोकके 'स्वधर्म' शब्दसे 'आत्मधर्म' ही अभिप्रेत है। मनुष्य इन्द्रियोंके राग द्वेषके वशमें आकर जो कर्म करता है, चाहे उसका भौतिक फल भोगानुकूल ही हो, तब भी उससे मनुष्यका मन फलासक्तिरूपी परतंत्रताके बन्धनमें बंध जाता है। यह स्थिति मनके लिये अकल्याणकारिणी है। मनुष्य इन्द्रियोंके राग द्वेषसे अतीत रहनेवाली आत्मस्थितिमें रहकर जो कर्म करता है, चाहे उस कर्मका भौतिक फल इन्द्रियतृप्तिके प्रतिकूल हो, तब भी उससे मनुष्यको अनासक्तिरूपी कर्मबन्धनमुक्ति की प्राप्ति होती है।

अनासक्त रहना ही विदेह स्थितिमें रहना है। विदेह स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य शरीरके नष्ट हो जानेका अवसर आने पर भी विदेह स्थितिके आनन्द रूपी श्रेयको प्राप्त करता है। परन्तु आसक्ति रखनेवाला मनुष्य क्योंकि इन्द्रियों के बन्धनमें रहता है, इस कारण वह शरीरके भौतिक अस्तित्वपर चोट न आने पर भी देहबन्धनरूपी

अज्ञानमें फंसा रहता है। ज्ञानीकी दृष्टिमें बन्धनकी यह स्थिति भयावह होती है। अर्थात् ज्ञानी इस स्थितिको मनुष्यताका विरोधी मानता है। यह स्थिति मनुष्यजीवनको व्यर्थ कर देनेवाली है। इसलिये हे अर्जुन! तुम इस युद्धके भौतिक लाभालाभकी चिन्तासे रहित हो जाओ और अनासक्तिरूपी विदेह स्थितिको अपनालो।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ ३६॥

अन्वय—वार्ष्णेय, अयं पूरुषः अनिच्छन् अपि बलात् नियोजितः इव केन प्रयुक्तः पापं चरति ?

अर्थ— हे वार्ष्णेय ! यह मनुष्य न चाहता हुआ भी बलपूर्वक नियुक्त किया हुआ सा किसकी प्रेरणासे पाप कर बैठता है ?

भाव— अर्जुनके प्रश्नका तात्पर्य यह है कि जब कि निर्विकार आत्मस्थिति मनुष्यका स्वधर्म है, तब यह मनुष्यका ' स्वधर्म ' पाप करते समय कहां छिप जाता है ? इस 'स्वधर्म'के रहते हुए अधर्म कैसे हो जाता है ? जब कि अधर्म होता है तब इसे मनुष्यका 'स्वधर्म' कैसे मानें ? न चाहते हुए भी पाप होता है, करना न चाहते हुए भी कोई पाप करालेता है, पाप करानेवाली ऐसी बलवती प्रेरणा कहांसे आती है ? अर्जुन ये सब बात बूझना चाहता है।

श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ ३७॥

अन्वय—रजोगुणसमुद्भवः एषः कामः। एषः क्रोधः महाशनः महापाप्मा च। इह (संसारे) एनं वैरिणं विद्धि॥

अर्थ— रजोगुणसे उत्पन्न यह काम (पाप करानेवाला) है। यही क्रोध है, यह महाशन (बहुभोजी) और महापापी है। इस संसारमें इसीको 'वैरी' जानो।

भाव— भोगसंग्रहकी प्रवृत्तिको ' रजोगुण ' कहा जाता है। भोगाकांक्षा होने पर भोगसंग्रह करना अनिवार्य होता है। भोगसंग्रह करनेके मार्गकी रुकावट ' क्रोध 'के रूपमें प्रकट हो जाती है। ' क्रोध ' ' काम 'का ही दूसरा रूप है। इस कामकी मांगका कोई अन्त नहीं है।

कामके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेवाला पुरुष कब कौनसा अनर्थ कर बैठे ? इसका कोई ठिकाना नहीं है। मनुष्यको अपने मनकी इस 'कामना' को ही 'वैरी' समझना चाहिये। इसको 'वैरी' न समझना मनुष्यके 'अज्ञान'का स्वरूप है। यह 'अज्ञान' ही मनुष्यसे 'पाप' कराता है। वैरी को वैरी समझने के पश्चात् कोई भी वैरी के वशमें आना नहीं चाहता। अज्ञानी मनुष्य 'काम' को मित्र समझकर अर्थात् उसे भोग देनेवाला मित्र मानकर ही कामके वशमें आते हैं। यही अर्जुन के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यथा धूमेन वन्हिः यथा च मलेन आदर्शः आव्रियते यथा उल्बेन गर्भः आवृतः तथा तेन (कामेन) इदं (ज्ञानं) आवृतम् ॥

अर्थ— जैसे धूमसे अग्नि, और जैसे मलसे दर्पण आवृत हो जाता है तथा जैसे जरायुसे गर्भ ढका रहता है, इसी प्रकार उस (काम) से यह (ज्ञान) ढक जाता है।

भाव— मनुष्यके मनमें जो आत्मतत्त्वरूपी ज्ञानका अनंत भंडार है, उसको यह 'भोगेच्छा' इस प्रकार ढकलेती है, जैसे धूम आग्निको, मल दर्पण को, तथा जरायु गर्भको ढकलेता है। 'ज्ञानभंडार' पर पड़ा हुआ यह 'काम'-रूपी परदा हटादिया जाय तो यही ज्ञानदर्शनके काममें आने लगता है। यदि इसे न हटाया जाय तो सदाप्रकाशित-ज्ञानका अस्तित्व अदृष्ट रह जाता है। 'काम'की रचनाका जो भागवत अभिप्राय है वह निष्कामभाव का आनन्द लेनेसे ही पूरा होता है। मनुष्यके कामपंकमें डूबे रहनेसे कामके स्रष्टाका अभिप्राय अधूरा रह जाता है।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

अन्वय—कौन्तेय, ज्ञानिनः नित्यवैरिणा (वैरभाजनेन) एतेन कामरूपेण दुष्पूरेण अनलेन (अज्ञानिनाम्) ज्ञानम् आवृतम् ॥

अर्थ— हे कौन्तेय ! ज्ञानीके नित्यवैरी (अर्थात् ज्ञानीके वैरभाजन) इस कामरूपी दुष्पूर (न बुझनेवाली) अग्निसे, ज्ञान (अज्ञानी का ज्ञान) ढका रहता है।

भाव— ज्ञानी सदा अपनी ओरसे कामसे शत्रुता या रोष रखता है। वह कामके वश में कभी नहीं आता । काम ज्ञानियोंको पतित कर देता है, इस प्रकार ज्ञानीकी स्थितिको संसारके सामने निर्बल बनाकर रखना, इस श्लोक का अभिप्राय नहीं हो सकता । क्योंकि ज्ञानी ही अपनी ओरसे इससे शत्रुता का आचरण करता है। यह काम अज्ञानियोंके ही ज्ञानको ढकनेमें समर्थ होता है। इससे ज्ञानीका ज्ञान नहीं ढका जासकता। काम में इतना सामर्थ्य कहां है? कि वह ज्ञानी को पराजित कर सके । यों काम ही ज्ञानी की दृष्टि में शत्रु बनकर उससे शत्रुताका बर्ताव पाता रहता है । यह उन्हीं अज्ञानियोंके ज्ञानको ढकता है जिनका मन कामसे खिंच जाता है ।

जो अज्ञान अज्ञानियोंमें ज्ञानको ढकनेवाला बन जाता है, वही अज्ञान, ज्ञानीके हृदयमें पराभूत होकर, उसे ज्ञानी बनाये रखनेका साधन बन जाता है । ज्ञानीकी ज्ञानचक्षुके सामने आये हुए इन्द्रियोंके रागद्वेष, त्याज्य शत्रुके रूपमें पहचाने जाते हैं, और उसे कामके वशमें करनेमें असमर्थ होकर, निष्कामस्थितिका दर्शन करानेवाले बन जाते हैं । ज्ञानीकी अनासक्तस्थिति के आनन्दके सामने, इन्द्रियासक्त भोगी जीवन हेय बनजाता है । यही ज्ञानी के हृदयमें भोगासक्तिरूपी अज्ञानका उचित उपयोग है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

अन्वय—इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अस्य (कामस्य) अधिष्ठानम् उच्यते । एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिनं विमोहयति ॥

अर्थ— इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि इस कामके अधिष्ठान (निवासस्थान) कहे जाते हैं । यह (काम) इनके सहारेसे ज्ञानको आवृत करके देहीको मोहित कर डालता है ।

भाव— इन्द्रियों के साथ विषयोंका स्वाभाविक संबन्ध है। मन यदि आत्मारूढ नहीं होता, तो उसे इन्द्रियोंके पीछे भागना पड़ता है। वह कामनाको पूरा करने के लिये 'बुद्धि'को भी काममें लगा देता है। इसी लिये इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिको कामका अधिष्ठान कहा गया है। आत्माको कुछ कामना नहीं होती । वह निष्काम स्वरूप है । जब

मन आत्मामें आरूढ हो जाता है, तब बुद्धि तथा इन्द्रियोंका मनके वशमें आजाना अनिवार्य हो जाता है। मनके आत्मारूढ हो जाने-पर, कामको व्यर्थ करते रहना, ज्ञानीका स्वभाव हो जाता है। कामको व्यर्थ न किया जाय, तो मनुष्यको अज्ञानी रहकर देहधारणके महान् अभिप्रायसे वंचित रहना पड़ता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—भरतर्षभ, तस्मात् त्वम् आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानविज्ञाननाशनम् एनं पाप्मानं प्रजहिहि ॥

अर्थ— हे भरतर्षभ ! इसलिये तुम पहले इन्द्रियोंको नियमित (मनके वशमें) करके ज्ञानविज्ञाननाशक इस पापी (काम) को मार डालो।

भाव— इन्द्रियों को मनके वशमें करना हो, तो मनको आत्मारूढ करना पड़ेगा। सबसे प्रथम इन्द्रियोंको नियमित करनेका अभिप्राय यही है कि सबसे प्रथम मनको आत्मारूढ कर लो। क्योंकि इन्द्रियोंको नियमित करना, इन्द्रियसंचालक मनको नियमित करना है। मनको आत्मारूढ करना, ज्ञान तथा आनन्दको नष्ट करनेवाले काम का संहार कर देना है।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

अन्वय—इन्द्रियाणि पराणि आहुः। इन्द्रियेभ्यः मनः परम्। मनसः तु बुद्धिः परा। यः बुद्धेः परतः सः तु (आत्मा) ॥

अर्थ— इन्द्रियां पर (बलवती) बताई जाती हैं। इन्द्रियोंसे मनको पर (बलवान्) समझा जाता है। मनसे भी बुद्धिको पर (बलवती) माना हुआ है। उस बुद्धिसे भी जो पर (बलवान्) है, वही सर्व-शक्तिमान् देही या परमात्मतत्त्व है।

भाव— पहले श्लोकमें '**इन्द्रियाणि आदौ नियम्य**' कहा है, यहां उसीका अभिप्राय स्पष्ट किया जा रहा है। आत्माको इन्द्रिय, मन, बुद्धिसे बलवान् बताया जा रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि मनको आत्माके वशमें करलेनेपर, इन्द्रियां अपने आप वशमें आ जाती हैं। जो इन्द्रियासक्तिरूपी निर्बलताको छोड़कर अनासक्तिरूपी सर्वशक्ति-

मान् देहीका आश्रय स्वीकार कर लेता है, अथवा यों कहें कि जो स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, वह बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको अपने कठोर शासनमें रखनेवाला ज्ञानी, सर्वशक्तिमान् बन जाता है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ४३॥

अन्वय–महाबाहो, एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मानम् आत्मना संस्तभ्य कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि॥

अर्थ— हे महाबाहो! इस रीतिसे बुद्धिसे पर (बलवान् आत्मतत्त्व) को जानकर, मनको आत्माके द्वारा परितृप्त करके, कामरूपी दुरासद (भौतिक प्रयत्नोंसे अजेय) शत्रुको मार दो।

भाव— जो 'काम' भौतिक उपायों या शक्तियोंसे अजेय है, वही काम आत्मतत्त्वारूढ ज्ञानीके ज्ञानखड्गसे अनायास पराजित हो जाता है। इस श्लोकमें 'दुरासद' शब्दका अभिप्राय भौतिक शक्ति या उपायोंसे पराजित न हो सकनेवाला है। मनुष्य या तो इन्द्रियोंके अधीन हो कर रहे, या उन्हें अपने अधीन रखे, ये ही दो अनादि मार्ग संसारमें हैं। पहला मार्ग मूर्खोंका है, दूसरा मार्ग ज्ञानियोंका है। जिसका मन इन्द्रियातीत अवस्थामें है वही 'ज्ञानी' है। इन्द्रियोंके शासनको अस्वीकार करने की शक्ति ही 'ज्ञानित्व' है।

जब मन इन्द्रियातीत आत्मतत्त्वमें आरूढ हो जाता है, तब आत्म-स्थितिके संभोगसे पूर्णतृप्त होकर, आत्मानन्दमें मग्न रहता है। मनकी यह पूर्णताकी स्थिति ही कामका संहार कर चुकनेकी स्थिति है।

अर्जुनको बताया जा रहा है कि कामका संहार करनेके लिये तुम्हें अपने मनको आत्मारूढ करनेके अतिरिक्त कोई प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। मनको आत्मस्थ करलेना ही 'कामविजय' है। इस संग्राममें तुम्हें जो दुर्योधन आदि बाह्य शत्रु दीख रहे हैं, ये सब तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। तुम्हारा संग्रामक्षेत्र तुम्हारे अन्दर है। 'काम' ही उस क्षेत्रमें तुम्हारा 'शत्रु' है और 'आत्मस्थिति' ही तुम्हारी 'शक्ति' है। यह शक्ति ही कामशत्रुपर विजय पानेवाली है। आत्मस्थ होकर अपने अभ्यन्तरिक संग्रामको जीत लो, तब बाहरी संग्राम अपने आप जीता हुआ हो जायगा।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

तृतीयचतुर्थाध्यायसंगति—

तीसरे अध्यायमें सांख्यस्थिति को ही यज्ञभावनाके नामसे बताकर, तथा उसीको 'कर्मयोग' का नियामक कहकर, अब चौथे अध्याय में 'ज्ञान' तथा 'कर्म-योग' का समन्वय किया जा रहा है। क्योंकि ज्ञानके विना 'कर्मयोग' नहीं होता तथा 'कर्मयोग'के विना 'ज्ञान'की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं है, इस लिये 'कर्म' का ब्रह्मार्पण हो जाना ही 'कर्मबन्धनसे मुक्ति' या 'कर्मयोग' है। यही ज्ञान-कर्मयोग की अभेदस्थिति कहाती है। इस लिये इस अध्यायको 'कर्मब्रह्मार्पण-योग' कहा जाता है।

चतुर्थ अध्याय

(कर्मब्रह्मार्पणयोग)

श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

अन्वय—अहम् इमम् अव्ययं योगं विवस्वते प्रोक्तवान्। विवस्वान् मनवे प्राह। मनुः इक्ष्वाकवे अब्रवीत्॥

अर्थ— मैंने (आत्मतत्त्वने) इस अव्यय (संसारसे कभी विनष्ट न होनेवाले) 'योग'को विवस्वान् (नामसे प्रसिद्ध प्राचीन योगी) को बताया था। विवस्वान्ने (अपने पुत्र) मनुको बताया और मनुने (अपने पुत्र) इक्ष्वाकुसे कहा।

भाव—'कर्मयोग' मार्ग सनातन है। इसलिये इसकी परम्परा सुनाई जा रही है। इस अध्यायमें ज्ञानयुक्त कर्म करनेका रहस्य वर्णित है। सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर ही ज्ञानयुक्त कर्म करनेकी बुद्धि हो सकती है। नहीं तो कोई भी पुरुष कदापि ज्ञानयुक्त कर्म नहीं कर सकता। ज्ञानयुक्त कर्म करनेकी बुद्धिका नाम ही 'योग' है। इस समय अविनाशी, नित्य, अविकृत आत्मतत्त्व ही, आत्मतत्त्वज्ञानी श्रीकृष्णके रूपमें अर्जुनको, इस योगका उपदेश दे रहा है। इसी आत्मतत्त्वने विवस्वान् नामके किसी मनुष्यको सत्यका दर्शन कराकर

योगी बनाया था। उसने अपने पुत्र मनुको, मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को इस 'योग'का उपदेश किया था। संसारमें जो कोई मनुष्य जब कभी योगी बनता है, तब वह इस नित्य आत्मतत्त्वका दर्शन करके ही बनता है। यही इस श्लोकका मर्म है।

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

अन्वय—एवं परम्पराप्राप्तम् इमं (योगं) राजर्षयः विदुः। परन्तप, स योगः महता कालेन इह नष्टः ॥

अर्थ— ऐसी परम्परासे चले आते हुए इस योगको राजर्षि (ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले) लोग तो आजकल भी जानते हैं। परन्तु हे परन्तप! वह 'योग' इस संसारमें (संसारबन्धनको अपनाए हुए मनुष्योंमें) सदासे ही नष्ट है (नहीं पाया जाता)।

भाव— इस श्लोकमें **विदुः** यह क्रिया **विदो लटो वा** इस पाणिनि सूत्रके अनुसार वर्तमान कालके लट् लकारकी है। भूतकालकी लिट्की नहीं है। उसमें इसका 'विविदुः' ऐसा रूप बनता है। इसीके अनुसार अर्थ किया गया है।

'राजर्षि' लोग योगको जानते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि संसारमें रहते हुए संसारबन्धनसे अतीत रहनेकी कला को जाननेवाले, ज्ञानयुक्त कर्म करनेमें कुशल, 'कर्म योगी' लोग तो आजकल भी 'योग'को जानते हैं। परन्तु जो लोग संसारबन्धनमें फंसे हुए हैं, उनमें यह 'योग' अनादि कालसे नष्ट है। ज्ञानी सदा 'योगी' और अज्ञानी सदा कर्मबन्धनमें फंसा हुआ रहता है, यही इस श्लोकका अभिप्राय है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अन्वय—हि एतत् उत्तमं रहस्यं (त्वं) मे भक्तः सखा च असि (अतः) स एव अयं पुरातनः योगः मया ते अद्य प्रोक्तः ॥

अर्थ— क्योंकि यह उत्तम रहस्य है और तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो इस-लिये वही यह पुरातन 'योग' मैंने आज तुम्हें सुनाया है।

भाव— क्योंकि तुम इसी आत्मतत्त्वके उपासक भक्त और प्रेमी हो, इसी कारण तुम्हें इस योगको जानने का अधिकार मिला है और तुम्हारे

ज्ञानाधिकारसे मुझे इसपर बोलने का अधिकार मिला है। इसे जान लेनेपर विषयसुख तुच्छ तथा नीरस हो जाते हैं, यही इस 'योगरहस्यकी उत्तमता' है।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अन्वय–भवतः जन्म अपरं विवस्वतः जन्म परम्, आदौ (योगं) त्वं प्रोक्तवान् इति एतत् कथं विजानीयाम् ?

अर्थ— आपका जन्म पिछला है तथा विवस्वान्का पहला था, ऐसी दशामें आदि में (योग) तुमने कहा है, यह बात कैसे मान लूं ?

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

अन्वय–अर्जुन, मे तव च बहूनि जन्मानि व्यतीतानि। तानि सर्वाणि अहं वेद। परन्तप, त्वं तानि न वेत्थ ॥

अर्थ— हे अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूं। परन्तु हे परन्तप ! तुम उनको नहीं जानते।

भाव— सर्वव्यापी अविनाशी सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व जो कि तुम्हारा और मेरा स्वरूप है, वह इससे पहले भी तुम्हारे और मेरे जैसे देहोंको अनन्तवार ग्रहण कर चुका है और सदा करता रहेगा। परन्तु हे अर्जुन ! तुमने अपनेको इस बातके समझनेके अधिकारसे वंचित कर रखा है। जब तुम आत्मतत्त्वारूढ होकर अपने स्वरूपको पहचानलोगे, तब तुम भी इस बातको समझ जाओगे। जबतक तुम अपनेको आत्मतत्त्वसे पृथक् मानकर अहंकारको अपनाये रहोगे, तबतक आत्मविस्मृति में डूबे रहोगे, और इस बातका मर्म नहीं समझ सकोगे।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अन्वय–अजः अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरः अपि सन् स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय आत्ममायया संभवामि ॥

अर्थ— अजन्मा, अनश्वर स्वभाववाला तथा प्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी मैं (आत्मतत्व) अपनी प्रकृतिको आश्रय करके अपनी मायासे जन्म लेता हूं।

भाव— अपने स्वभावको आश्रय करके जन्म लेने रूपी क्रियाको 'माया' कहते हैं। अव्यक्तसे व्यक्त बन जाना ही असंभवको संभव करना रूपी 'माया' है। जो बात भौतिक बुद्धिके बाहर है, उसीको 'माया' कहा जाता है। जो बात इन्द्रियोंकी समझमें नहीं आती वही असंभव नाम पाजाती है। जो बात संसारकी दृष्टिमें असंभव है, उसीको माया संभव बना डालती है। असंभवको संभव बनानेवाली इस मायाका अधीश्वर सर्वशक्तिमान् स्रष्टाके अतिरिक्त और कोई नहीं है। यह सृष्टिलीला ही 'माया' है। आत्मतत्त्व इन सब भूतोंका स्वरूप है। वह यद्यपि अजन्मा और अमर है तथापि इस उत्पत्तिविनाशशील जगत्के रूपमें व्यक्त होनेका स्वभाव रखता है। आत्मतत्त्व स्वभावसे ही इस अद्भुत शक्तिका स्वामी है। वह इस अद्भुत शक्तिसे शक्तिमान है। यह सब प्रकृति उसीकी शक्ति है। यह जो सृष्टिस्थितिप्रलयोंकी अविराम लीला हो रही है, यह सब आत्मतत्त्वकी 'माया' है। यह अनिर्वचनीया है। क्योंकि यह भौतिक बुद्धिके लिये सदा अगम्य बनी रहती है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वय–भारत, यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः अधर्मस्य अभ्युत्थानं च भवति तदा तदा अहम् आत्मानं सृजामि ॥

अर्थ–– हे भारत ! जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी उन्नति होती है तब तब मैं आत्मतत्त्व अपने आपको प्रकट करता हूं।

भाव— आत्मा ही जगत् रूपमें व्यक्त होता है, इस बातको पहले श्लोकमें बता चुकनेके पश्चात्, अब विवेकी लोगोंके मनोंमें धर्म अधर्मका जो स्वाभाविक संग्राम होता रहता है, उसका प्रसंग लाकर, अर्जुनको 'योग'का स्वरूप बताया जा रहा है। क्योंकि इस अध्यायमें 'योग' ही प्रसंगानुसारी विषय है। इसलिये इस श्लोकका अर्थ योगकी दृष्टिसे ही किया जाना उचित है।

यदि मनुष्यजीवनमें अधर्म के प्रकट रहनेको 'अधर्मका अभ्युत्थान' मान लें और धर्मके अप्रकट रहनेको 'धर्मकी ग्लानि' समझलें तो बताओ ऐसी स्थितिमें आत्माके प्रकट होनेका अवसर कहाँ रहता है ? निश्चय ही यह अवस्था आत्माके अप्रकट होनेकी है। क्योंकि आत्माका विस्मृत रहना ही 'अधर्मकी स्थिति' है, और क्योंकि जहाँ अधर्म की स्थिति हो वहाँ अप्रकट रहना धर्मका स्वभाव है, इस लिये ऐसे समय अप्रकट बने रहना आत्माके लिये अनिवार्य हो जाता है। जब अप्रकट रहना अनिवार्य हो जाय, तब आत्मा प्रकट हो, यह अर्थहीन पदावलि है। इस दृष्टिसे 'धर्मकी ग्लानि' और 'अधर्मके अभ्युत्थान'के समय, निश्चय ही आत्माको प्रकट होने का अवसर नहीं मिल सकता। इस लिये संसारबन्धनमें फंसे हुए मनुष्योंमें अधर्म ही प्रकट अवस्थामें रहता है, और आत्मा उन में अप्रकट रहता है। जिस हृदयमें आत्मा प्रकट होगा निश्चय ही वह हृदय संसारबन्धनसे मुक्त रहेगा। इस दृष्टिसे 'धर्मकी ग्लानि'की अवस्थामें आत्माका प्रकट होना, असंभव कल्पना बन जाती है। 'धर्मके अभ्युत्थान'में (अर्थात् संसारबन्धनसे मुक्तिकी अवस्थामें) ही आत्माका प्रकट रहना संभव है।

इसके अतिरिक्त 'धर्म' स्वयं ही 'अभ्युत्थान'की अवस्था है, और 'अधर्म' स्वयं ही 'ग्लानि'की अवस्था है। फिर 'धर्मकी ग्लानि' और 'अधर्मका अभ्युत्थान' होनेकी बात अर्थहीन हो जाती है।

संसारमें अज्ञानियोंकी संख्या अधिक होनेको 'अधर्मके अभ्युत्थान' का नाम देकर, और ज्ञानियोंकी संख्या कम होनेको 'धर्मकी ग्लानि' कहकर, इस श्लोकका यह अर्थ किया जाना भी ठीक नहीं है कि जब ऐसा समय आ जाता है, तब आत्मा अपनेको 'अवतार' रूपमें प्रकट करके 'धर्मकी ग्लानि'को हटाकर, धर्मको अभ्युत्थित कर देता है और अधर्मको अभ्युत्थानसे भ्रष्ट करके, उसे ग्लानिकी स्थितिमें पहुंचा देता है।

इस श्लोक के यथार्थ मर्मको समझनेके लिये 'अभ्युत्थान' तथा 'ग्लानि'के रूपकी विवेचना होनी चाहिये—जब कोई अधार्मिक पुरुष अपने व्यक्तिगत शारीरिक बलसे धार्मिक

पुरुषोंके ऊपर अपना शारीरिक आधिपत्य जमाना चाहता है, तब संसारका बहुमत उसका विरोध न करके उसका ही समर्थक अर्थात् उस जैसा ही अज्ञानी बन जाता है। ऐसे समयपर ही अधार्मिक लोग अल्पसंख्यावाले ज्ञानियोंके ऊपर शारीरिक अत्याचार करनेमें समर्थ होते हैं। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानियोंके ऊपर से ऐसे शारीरिक अत्याचारको हटाने के लिये किसी 'अवतार' नामके शक्तिशाली व्यक्तिके पास कौनसी शक्ति का होना आवश्यक है? क्या वह 'अवतार' इस संसारमें आकर अज्ञानियोंके लिये मौतका द्वार खोलकर और ज्ञानियोंके लिये उसे बन्द करके, दोनोंकी भौतिक संख्यामें परिवर्तन उत्पन्न करेगा? या वह अज्ञानियोंको ज्ञानी बनाकर ज्ञानियोंकी संख्या बढाकर, अज्ञानियोंको ज्ञानियोंसे भौतिक शक्तिमें हीन बना डालेगा?

विचार कर देखा जाय तो इन दोनों कामोंमेंसे किसी भी एक कामको करना 'अवतार' नामके किसी व्यक्तिके वशकी बात नहीं है। मौत का द्वार ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के लिये सब समय एकसा खुला रहता है। यदि कोई 'अवतार' आकर अज्ञानियोंसे लड़ाई छेड देगा तो मौत उस लड़ाईमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनों पक्षों के साथ एक जैसा बर्ताव करेगी। वह दोनों को संसारसे हटाकर दोनों की संख्या घटायेगी। इस लिये लड़ाई छेडनेवाला 'अवतार' यह नहीं कर सकता कि वह ज्ञानियोंकी संख्या बढा दे और अज्ञानियोंकी संख्या घटा दे। अर्थात् ज्ञानियोंको भौतिक शक्तिसे शक्तिमान् कर दे और अज्ञानियोंको भौतिक शक्तिसे हीन बना डाले।

अज्ञानियोंको ज्ञानी बनाकर ज्ञानियोंकी शक्ति बढाने वाली दूसरी रीति भी 'अवतार' के वशकी बात नहीं है। क्योंकि ज्ञानका अभिप्राय आत्मशक्तिसे है। ज्ञानी अपनी ही शक्तिसे शक्तिमान् अर्थात् ज्ञानी बने रहते हैं। ज्ञानके लिये 'अवतारों'का मुहँ ताकनेवाले, परावलम्बी, नपुंसकोचित स्वभाव रखनेवाले ज्ञानी कल्पनाके जगत्में ही हो सकते हैं। ऐसे ज्ञानियोंका वास्तविक जगत् के साथ संबन्ध नहीं हो सकता।

इस श्लोकमें 'धर्मकी ग्लानि' और 'अधर्म के अभ्युथान'को संसारकी कोई अस्वाभाविक तथा धार्मिक दृष्टिसे अवांछनीय अवस्था माना जाता हो, और उसे स्वाभाविक स्थितिमें लानेके लिये 'अवतार'का उत्पन्न होना आवश्यक बताया जाता हो, तो इसपर भी निम्न पद्धतिसे विचार किया जाना चाहिये कि--संसारमें इस अस्वाभाविक अवस्था के आनेका कौनसा कारण है ? धार्मिकको भौतिक शक्तिसे हीन और अधार्मिकको भौतिक शक्तिसे शक्तिमान् देखना ही यदि 'धर्मकी ग्लानि' और 'अधर्मका अभ्युत्थान' हो, तो प्रश्न होता है कि धार्मिक के स्वाभाविक अधिकार भौतिक शक्तिको उससे किस प्रबन्धने छीना है ? क्या धार्मिकने अपनी भूलसे अपना अधिकार छोड़ दिया ? या अधार्मिकने उससे उसका अधिकार छीन लिया ? अथवा प्रकृतिको धार्मिकके पास भौतिक शक्ति रखना ही स्वीकार नहीं है? इन प्रश्नोंके उत्तररूपमें एक ही सत्य उद्घोषित होता है कि धार्मिक पुरुषको जिस स्थितिकी रक्षा करनी है वह 'ज्ञानकी स्थिति' है। क्योंकि भौतिक शक्तिका अपने पास होना या न होना मनुष्यके अधिकारमें नहीं है, इस लिये उसकी इच्छा करना या उसके पीछे दौड़ लगाना ज्ञानविरोधी अज्ञानकी स्थिति है। इस लिये न तो ज्ञानीने स्वयं अपना अधिकार त्यागने की भ्रान्ति की है और न अज्ञानियोंके पास ज्ञानियोंको उनके स्वाधिकारसे वंचित करनेकी शक्ति स्वीकार की जा सकती है।

ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकृतिमाताके समानाधिकारभोजी पुत्र हैं। वह किसीका पक्षपात नहीं करती। उसका प्रबन्ध दोनोंके लिये एकसा है। उस समान प्रबन्ध के कारण ज्ञानी अज्ञानी दोनोंके पास भौतिक शक्ति कभी आजाती है, और कभी चली जाती है।

ज्ञानी और अज्ञानी अपनी मानासिक स्थितिके अनुसार सृष्टि-प्रबन्धकी दी हुई भौतिक शक्तिका सदुपयोग या दुरुपयोग करते रहते हैं। ज्ञानी भौतिक शक्ति और अशक्ति दोनोंका सदुपयोग करता हुआ अपनेको भौतिक शक्तिके बन्धनसे अतीत शक्तिमान् बनाये रहता है। अर्थात् न तो वह भौतिक शक्ति मिलनेपर

अपनेको उस शक्तिसे शक्तिमान् मानता है और न भौतिक शक्तिसे हीन होनेपर अपनेको शक्तिहीन मानता है। अज्ञानीके पास भौतिक शक्ति आजाय अथवा चली जाय; वह दोनों अवस्थाओंमें उसके बन्धनमें आकर शक्तिहीन बना रहता है। इस लिये ज्ञानीका भौतिक शक्तिसे हीन होना और अज्ञानीका भौतिक शक्तिसे संपन्न होना, यह कोई सृष्टिकी नियमावलिके विरुद्ध अस्वाभाविक स्थिति नहीं है, जिसे हटाकर ज्ञानीको भौतिक शक्तिसे शक्तिमान् और अज्ञानीको भौतिक शक्तिसे हीन करनेकी किसी आश्चर्यमयी घटना-को घटानेके लिये ' अवतार 'के उद्भूत होनेकी आवश्यकता स्वीकार की जा सकती हो। यदि प्रकृति इस प्रकारसे ज्ञानियोंका पक्षपात करती होती, तो संसारमें अज्ञानियोंका भौतिक शक्तिसे शक्तिमान् होना असंभव हो जाता। क्योंकि ऐसा नहीं होता, इस लिये भौतिक शक्ति बांटनेमें ज्ञानी अज्ञानीका भेद न होना अस्वाभाविक नहीं है। अर्थात् ज्ञानी के पास भौतिक शक्तिका विद्यमान न होना और अज्ञानीके पाससे भौतिक शक्तिका लोप न होना, अस्वाभाविक स्थिति नहीं है।

जिस प्रबन्धको 'धर्मकी ग्लानि' और 'अधर्मका अभ्युत्थान' कहा जाता है, क्योंकि उसका कर्ता भी सृष्टिप्रबन्धकर्ता ही है, इस लिये उस प्रबन्धको किसी अनधिकारीने आकर कर दिया हो, ऐसा स्वीकार करनेको कोई भी ईश्वरविश्वासी उद्यत नहीं है। फिर भी यदि इस श्लोकके ' धर्मकी ग्लानि ' तथा ' अधर्मके अभ्युत्थान ' इन शब्दोंको प्राकृतिक सिद्धान्तोंके विरुद्ध 'अवतार'की अवश्यकताका समर्थन करनेवाले किसी अर्थमें व्यवहृत हुआ माना जाता हो, तो बताना होगा कि उस 'अवतार'के आनेसे प्रथम इस सृष्टिमें किसका प्रबन्ध था ? अवश्य ही तब भी इसी ईश्वरका प्रबन्ध स्वीकार किया जाता है, जो कि 'अवतार' लेकर आ रहा है। जब कि प्रथम भी इसीका प्रबन्ध था और ये सब परिवर्तन इसी की आज्ञासे दृष्टिगोचर हुए हैं, तब उस प्रबन्धको हटानेकी अवश्यकता क्यों और किसे हुई ? 'अवतार'का स्पष्ट अभिप्राय यही है कि पहले प्रबन्धका विद्रोह करनेके लिए ईश्व-रके 'अवतार'की अवश्यकता है। इस प्रकारकी कल्पना किसी भी विचारशील हृदयसे समर्थन पानेका अधिकार नहीं रखती।

प्राकृतिक प्रबन्धका ही दूसरा नाम 'ईश्वरीय प्रबन्ध' है। जो बात 'ईश्वरीय प्रबन्ध'से नहीं है, उसके न होनेको अस्वाभाविक और अवांछनीय मान लेना 'नास्तिकता' है। इस अस्वाभाविक समझी हुई स्थितिको सुलझा हुआ देखनेके लिये 'अवतार'के आनेका अनिश्चित स्वप्न देखते रहना कदापि ज्ञानिजनोचित नहीं है। वस्तुत भौतिक शक्ति और उपायोंसे भक्त ज्ञानियोंकी सहायता करनेवाले 'अवतार'की कल्पना करना अज्ञानकी बात है।

इन सब बातोंका ध्यान रखते हुए कोई भी विचारशील मनुष्य इस श्लोकमें आत्माके अपने आपको सर्जन करनेके साथ, 'अवतार' होनेकी बातका संबंध स्वीकार नहीं कर सकता।

इसलिये इस श्लोकसे विवक्षित अर्थ इस प्रकार है कि जब जब अधर्म, धर्मका विरोध करनेरूपी दुःसाहस दिखाता है, उसीको इस श्लोकमें 'धर्मकी ग्लानि' और 'अधर्मका अभ्युत्थान' अर्थात् 'अधर्मका सिर उठाना' कहा गया है। यही सदसद्विचार करनेवाले मनोंमें चलनेवाला 'धर्माधर्मका संग्राम' है। विवेकी मनुष्यों का मन इस 'संग्राम'का स्वाभाविक रणक्षेत्र है। अविवेकी मनुष्योंके मन में धर्माधर्मका कोई संग्राम नहीं है। वहां तो अधर्म जीवननीतिके रूपमें दृढतासे स्वीकृत हो चुका है।

'धर्म' तथा 'अधर्म' ये दोनों मनुष्यके मनकी अवस्था हैं। जब मनुष्यका मन आत्मारूढ होता है, तब अनासक्तिरूपी धर्म उसका स्वभाव हो जाता है। क्योंकि अनासक्ति आत्माका स्वधर्म है। परन्तु जब मनुष्य इन्द्रियपरतन्त्र हो जाता है, तब वह अनात्मविषयोंके बन्धनमें आकर आसक्तिरूपी अधर्मको अपना लेता है। इन दोनों स्थितियोंमेंसे एक को चुन लेने का अवसर ही 'धर्म अधर्मके संग्रामका अवसर' होता है। मनुष्यके मनमें ऐसा धर्माधर्म के संग्राम होनेका अवसर सब समय आता रहता है। परन्तु अज्ञानीका मन आत्माको भूला रहनेके कारण इस संग्रामसे हीन बना रहता है। इसलिये अज्ञानीके मनमें आत्माके प्रकट होनेका कोई अवसर नहीं होता। जिस मनमें धर्माधर्म का संग्राम है, आत्मा अपने आपको उसी मनमें प्रकट करता है, अर्थात् वहीं अपने 'स्वधर्म'को विजयी बनाकर 'योगी' बन जाता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अन्वय–साधूनां परित्राणाय, दुष्कृतां विनाशाय धर्मसंस्थापनार्थाय च युगे युगे संभवामि ॥

अर्थ— साधुओं (योगियों) के परित्राण (उनकी साधुताकी रक्षा) के लिये और दुष्कृतों (भोगियों) के विनाश (उन्हें अधःपतित करने) के लिये तथा धर्मसंस्थापनार्थ (योगरूपी धर्मकी प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये) आत्मतत्त्व युगयुगमें (सब समय, योगी और भोगी दो रूपोंमें) संभूत (उत्पन्न) होता रहता है ।

भाव— पूर्व श्लोकके समान इस श्लोकमें भी 'साधुका परित्राण' करने तथा 'दुष्कृतियोंको नष्ट' करनेकी यथाश्रुत दोनों कल्पना अस्वाभाविक हैं । जबकि ज्ञानकी स्थितिके अधिकारीको ही 'साधु' कहा जाता है और अज्ञानकी स्थितिके अधिकारीको 'असाधु' माना जाता है, तब ज्ञानकी स्थितिके स्वाभाविक अधिकारी 'साधु' पुरुषको व्यर्थ ही किसी पतित अवस्थामें पड़ा हुआ कल्पना करके, उससे उसका 'त्राण' करनेको दौड़ना, तथा अज्ञानकी निकृष्ट स्थितिमें डूबे हुए अज्ञानीको किसी उच्च अवस्थामें कल्पना करके, उसे उस कल्पित ऊंचाईसे नीचे उतारकर नष्ट कर डालना, और इसीको 'धर्मसंस्थापन'का नाम देना, ये सब बातें स्वीकार करने योग्य नहीं हैं ।

तपःकृश ज्ञानी साधुओंको हट्टेकट्टे अज्ञानी गुंडोंके आक्रमणसे बचानेके लिये भी 'अवतार' नामके किसी शक्तिशाली पुरुषके आनेकी अवश्यकता नहीं है । इस कामको तो संसारी मनुष्य अवश्यकता होनेपर या तो स्वयं कर लेते हैं या दूसरोंसे करा लेते हैं । ऐसे महत्त्व-हीन कामको वृथा महत्त्व देकर, उसके लिये ईश्वरका 'अवतार' होनेकी अवश्यकता बताना अज्ञानकी बात है । ईश्वरसे अपने शरीररक्षक का काम करानेकी कल्पना भक्तोचित नहीं है । यह तो परस्पर सताये जानेवाले अज्ञानियोंकी कल्पना है । अज्ञानी पुरुष जब अपनेसे बलवान् अत्याचारीसे सताया जाता है, तब उस अत्याचारीकी मौत देखनेकी इच्छा होते हुए भी, अपनेको उस कामके लिए असमर्थ

पाकर, इस दुःसाध्य कामको ईश्वरको सौंपकर, उसकी प्रार्थना और आवाहन करने लगता है। इसी भावनाने ‘ साधुका परित्राण ’ करने- वाले ‘अवतार’की कल्पना करायी है।

ज्ञानी साधु अपने आत्मबलसे सदा अपनेको उच्च स्थितिमें रखनेमें समर्थ होता है। ‘परित्राण’ पतितके लिये ही आवश्यक है। साधुके लिये ‘परित्राण’की आवश्यकता नहीं है। जो स्वयं ही अपना परित्राता है, वही ‘साधु’ है। साधु भी हो और परित्राणके लिये दूसरे का मुंह भी ताकता हो, साधुके लिये यह बडे भारी कलंककी बात है। दूसरेसे अपना ‘ परित्राण ’ चाहना असाधुताका स्पष्ट चिन्ह है। उच्च रहनेके लिये जिसे दूसरेकी सहायता आवश्यक है, यही उसके साधु या ज्ञानी न होनेका पर्याप्त प्रमाण है। ऐसे परमुखापेक्षी नपुंसक ज्ञानीके उद्धारका प्रश्न कहां है ? सच्चा ज्ञानी अपने आप ही अपना ‘परित्राता’ और अपने आपही अपने ‘धर्मका संस्थापक’ होता है। सच्चे ज्ञानीका अस्तित्वही ‘धर्म संस्थापन’ होता है। वह अज्ञानी होनेको ही ‘नाश’के नामसे पहचानता है। वह सदा अपनी उदार स्थितिमें रहकर दुष्कृतकी उपेक्षा करता है, और दुष्कृत करनेवाले पुरुषोंको दुष्कृत करनेरूपी ‘ नाश ’की स्थितिमें देखता है।

अपनी रक्षाके लिये किसी ‘अवतार’की प्रतीक्षामें रहना योगी- जीवन की असंभव घटना है। किसी योगीकी रक्षाके लिये उसीकी आत्मशक्तिके अतिरिक्त ‘ अवतार ’ नामवाले किसी भी देहका कोई उपयोग नहीं है।

अर्जुनको युद्धकी प्रेरणा देते हुए, उसे उसकी आत्मशक्तिका दर्शन कराना ही कृष्ण भगवान् के उपदेशका अभिप्राय स्वीकृत हो सकता है। यहां उनका अपने आपको, ‘अवतार’ रूपमें उद्घोषित करना, सर्वथा अप्रासंगिक तथा निष्प्रयोजन है।

इस दृष्टिकोणसे इस श्लोकका भाव भी इस प्रकार ग्रहण करना पड़ता है कि आत्मतत्त्व योगिदेहको धारण करके ‘योगकी ग्लानि’ नहीं होने देता, और आत्मशक्तिसंपन्न योगीको कर्मबन्धनसे मुक्त रखता है। वही आत्मतत्त्व भोगीदेहोंको धारण करके भोगपरायण भोगियों को अनन्तदुःखमय कर्मबन्धनोंमें बांध देता है। भोगकी स्थिति

योगीके मनमें ही अधःपतित और अपमानित होती है। भोग भोगीके ही हृदयमें स्वीकृत होता है। उसका हृदय 'योग'की आनन्द-मयी स्थितिसे वंचित रहता है। यही 'योगीका परित्राण' और 'भोगी-का विनाश' है। 'विनाश'का वास्तविक अर्थ 'अज्ञान या कर्मबन्धनमें फंसा रहना' है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

अन्वय—अर्जुन, यः मे दिव्यं जन्म कर्म च एवं तत्त्वतः वेत्ति सः देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म न एति माम् एति॥

अर्थ— हे अर्जुन ! जो मनुष्य आत्मतत्त्वके इस प्रकार के दिव्य (वैषयिक बुद्धि रखनेवालों की समझमें न आनेवाले) जन्म और कर्म को अभ्रान्त रूपसे जान जाता है, वह देह को (देहबन्धनको अर्थात् अहं बुद्धिको) त्याग कर (विदेह स्थितिमें आरूढ होकर) पुनर्जन्मको (पुनर्जन्म होने की भ्रान्तिको) प्राप्त नहीं होता। किन्तु आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है (जन्ममरणहीन आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेता है)।

भाव— अजन्मा होते हुए भी, असंभव को संभव करनेवाली अपनी माया से शरीर धारण करना रूपी जन्म लेकर, उस शरीरके बन्धनके अतीत रहना ही आत्माका 'दिव्य जन्म' है, और स्वभावसे कर्म करते हुए भी कर्म-बन्धनसे अतीत रहना, यही आत्माका 'दिव्य कर्म' है। इसीको 'अनासक्त स्थिति' भी कहते हैं। आत्माको अपना स्वरूप जानने-वाले ज्ञानी, अनासक्त स्थितिमें स्थित होकर शरीरबन्धनसे अतीत रहते हैं। वे अपने को जन्मने मरनेवाली तथा कर्मबन्धनमें फंसने-वाली सत्ता नहीं मानते। यही उनका पुनर्जन्म को प्राप्त न होना है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

अन्वय—मन्मयाः माम् उपाश्रिताः वीतरागभयक्रोधाः ज्ञानतपसा पूताः बहवः मद्भावम् आगताः॥

अर्थ— आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जाननेवाले, मत्परायण (आत्माको आश्रयण किये हुए), राग, भय तथा क्रोधसे रहित, ज्ञानरूपी तपसे

पवित्र बहुतसे मनुष्य, मद्भाव (आत्मा के अनासक्तभाव) को प्राप्त होते आरहे हैं ।

भाव— आत्माको ही अपना स्वरूप जान लेनेपर अनात्माका आश्रय करना बन्द हो जाता है। अनात्मविषयोंको अपना भोग्य मान लेना ही उनका आश्रय करना है। आत्मा ही आत्मारूढ मनका भोग्य होता है। आत्मामें पूर्ण तृप्ति प्राप्त करनेपर ज्ञानीके मनमें राग, भय, क्रोध नहीं रहते। ज्ञानीकी संपूर्ण जीवनचर्या तपस्या हो जाती है। अनासक्तिरूपी पूर्णानंद ही उस ज्ञानरूपी तपस्याका फल होता है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

अन्वय–मां ये यथा प्रपद्यन्ते अहं तान् तथा एव भजामि। पार्थ, मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते ॥

अर्थ— जो आत्मतत्त्वको जिस भावसे प्राप्त करते हैं आत्मतत्त्व उसी भावसे उनकी सेवा करता है। हे पार्थ! मनुष्य सब प्रकारसे आत्मतत्त्व के ही मार्ग (आत्मतत्त्वसे अच्छेद्य संबन्ध रखनेवाले कर्ममार्ग) पर चलते हैं।

भाव— मनुष्यके मनमें दो प्रकारकी भावना होती है, एक इन्द्रियानुगामिनी अनात्मभावना, दूसरी इन्द्रियातीत आत्मभावना। इन्द्रियानुगामिनी अनात्मभावनासे इन्द्रियोंके द्वारा भोग करना चाहा जाता है। इन्द्रियातीत आत्मभावनासे अनासक्तिके आनन्दको अपनाया जाता है। जब मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा भोग चाहता है, तब उसके भोग्य, रूप, रस आदि पदार्थ होते हैं। भोगाकांक्षियोंके लिये आत्मतत्त्व ही रूप, रस आदि विषय बनकर, उनकी सेवा करता है। अर्थात् आत्मतत्त्व ही भोगियोंको विषयबन्धनमें फंसानेवाला 'विषय' बन जाता है। जब मनुष्य भोगातीत आनन्दकी स्थितिको चाहता है, तब आत्मतत्त्व ही उसमें 'अनासक्तिरूपी आनन्द' बनकर, उसे विषयबन्धनसे मुक्त रखता है। यों आत्मतत्त्व ही भोगीका 'विषय' और योगीका 'आत्मा' है।

क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त संसारमें कुछ नहीं है, इसलिये इस दृष्टिसे 'आत्मा' और 'अनात्मा' ये दोनों भावना भी 'आत्माके ही मार्ग'

हैं। इस संसारमें सब मनुष्य सब अवस्थामें इन्हीं दोनों मार्गोंको अपना रहे हैं। मनुष्य चाहे आत्माको अपना ले, चाहे अनात्माको अपना ले, ज्ञानीकी दृष्टिमें इन भावनाओंसे प्राप्त किये जानेवाले 'बन्धन' या 'मुक्ति' दोनों आत्माके भिन्न भिन्न रूप हैं। यों बन्धन या मुक्तिको दिलानेवाले दोनों भिन्नभिन्न मार्ग ज्ञानीकी दृष्टिमें आत्माके ही मार्ग बन जाते हैं।

भाव यह है कि अनात्मा भी आत्मा है और आत्मा भी आत्मा है। अनात्मा बन्धन है, आत्मा मुक्ति है। एक अनात्ममार्ग है, दूसरा आत्ममार्ग है। एक मार्ग बन्धनरूपधारी आत्माको प्राप्त कराता है। दूसरा मार्ग मुक्तिरूपी आत्मा को प्राप्त कराता है। इस दृष्टिसे आत्मा और अनात्मा दोनों मार्ग आत्माके ही हैं।

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

अन्वय—कर्मणां सिद्धिं कांक्षन्तः इह देवताः यजन्ते मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः क्षिप्रं हि भवति ॥

अर्थ— कर्मफलाकांक्षा करनेवाले अज्ञानी लोग इस संसारमें देवताओंकी पूजा करते हैं (इन्द्रियोंकी सेवा करते हैं) इस संसारमें मनुष्यको कर्मसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि (ज्ञानजनितसंतोषरूपी मुक्ति या अज्ञान-जनित असन्तोषरूपी बन्धनके रूपमें) शीघ्र ही (कर्मके साथ ही साथ) मिलती रहती है। (इसलिये फलाकांक्षा रखनेवाले अज्ञानीकी इन्द्रियसेवा, असंतोषके रूपमें प्रकट होती रहती है)।

भाव— अपने शरीरसे किये जानेवाले कर्मसे भोगसुखको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्य, इन्द्रियसेवाके बन्धनमें फंसे रहते हैं। आत्मभावना या अनात्मभावनासे किये हुए कर्मके 'मुक्ति' या 'बन्धन'रूपी फल मनुष्यको कर्मके साथ ही साथ मिलते हैं। इसलिये अनात्मभावनासे कर्म करनेवाले मनुष्योंको कर्म करनेके साथ ही साथ ' विषयबन्धन ' मिल जाता है, तथा आत्मभावनासे कर्म करनेवाले मनुष्यको कर्म करनेके साथ ही साथ अनासक्तिरूपी 'भक्ति'की स्थिति प्राप्त हो जाती है,

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय–मया गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं सृष्टम् । तस्य कर्तारम् अपि माम् अकर्तारम् अव्ययं विद्धि ॥

अर्थ— मैंने (आत्मतत्त्वने) गुणकर्मविभागके अनुसार (स्वभाव और स्वभावानुसारी कर्मोंके विभागके अनुसार) चातुर्वर्ण्य (चार प्रकारकी वृत्ति) को उत्पन्न किया है । चातुर्वर्ण्य के कर्ता होते हुए भी इस आत्माको तुम अकर्ता और अव्यय समझो ।

भाव— ब्रह्मनिष्ठा ही 'ब्राह्मणत्व' है, असत्यका विरोध करना 'क्षत्रियत्व' है । सद्सत्का विचार करनेवाली व्यवसायात्मिका वृत्तिको 'वैश्यत्व' कहा जाता है । कर्मनिष्ठा या सत्यका आचरण ही 'शूद्रत्व' है । जहां कहीं भी पूर्ण मनुष्यता प्रकट होती है, वहां इन चारों वृत्तियोंका होना अनिवार्य है । प्रत्येक ज्ञानीमें इस 'चातुर्वर्ण्य'का, अर्थात् इन चारों वृत्तियोंका, पाया जाना अपरिहार्य है । जहां इनमेंसे एकका भी अभाव है, वहां मनुष्यता का या ज्ञानका भी अभाव है। मनुष्यत्वकी स्थापनाके लिये मानवदेहसे किये जानेवाले स्वाभाविक कर्म, जिस अनासक्त स्थितिके आश्रित होते हैं, वह अनासक्त स्थिति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र इन चार भिन्न वृत्तियोंके रूपमें प्रकट होती है । इसीको 'चातुर्वर्ण्य' कहा जाता है । ब्राह्मणादि किसी वर्णका, ज्ञान या अनासक्तिरूपी मनुष्यतासे रहित होना अस्वाभाविक कल्पना है । आत्मतत्त्व अपनी अव्यय तथा कर्तृत्वाभिमानशून्य सत्ताको, इन चार वृत्तियोंके रूपमें, मनुष्यके मनमें प्रकट करके, अपने आपको ही 'अपना ध्येय' बना लेता है । इस श्लोक का अभिप्राय यही है कि मानवोचित चार वृत्तियां ही मनुष्यका आराध्य आत्मतत्त्व हैं ।

न मां कर्माणि लिंपन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

अन्वय–मां कर्माणि न लिम्पान्ति । मे कर्मफले स्पृहा न । यः माम् इति अभिजानाति सः कर्मभिः न बध्यते ॥

अर्थ— आत्मतत्त्वको कर्म बद्ध नहीं करते । आत्मतत्त्वको कर्मफलमें स्पृहा नहीं है । जो आत्माको इस प्रकार (अनासक्त स्वभाववान के रूपमें) जानता है, वह कर्मोंसे नहीं बंधता ।

भाव— आत्मविस्मृति 'बन्धन'का कारण है। अपने स्वरूपको जान लेना 'मुक्ति' है। कर्म में कर्तृत्वाभिमानशून्यता तथा फलमें निःस्पृहता आत्माका स्वभाव है। यही अनासक्त स्थिति है। इस स्थिति को अपना लेना ही मनुष्यदेहधारणका अभिप्राय है। इस स्थितिमें आरूढ न रहकर जो कर्म किया जायगा, उसमें कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षारूपी 'बन्धन' अवश्य होगा।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

अन्वय–एवं ज्ञात्वा पूर्वैः अपि मुमुक्षुभिः कर्म कृतम्। तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतं कर्म एव कुरु ॥

अर्थ— इस (उपर्युक्त) बातको जानकर पहले के मोक्षप्रेमियोंने कर्म किया था। इस लिये तू उन पहले मुक्तिप्रेमियोंसे पहलेसे आचरित कर्म को ही कर ।

भाव— आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जानलेनेपर ही कर्मबन्धनसे मुक्त हुआ जाता है। कर्मको त्याग देनेकी भ्रान्तिमें फंसनेसे कर्मबन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। आजतक जितने मुक्तिप्रेमी पुरुष हो चुके हैं, सबने इस बातको जानकर, अनासक्तस्थितिरूपी मुक्ति को अपनाकर कर्म किया है, और कर्मबन्धनसे मुक्त रहे हैं। तुम भी उन्हीं के समान कर्मको त्यागने की भ्रान्ति से बचकर, अनासक्त होकर कर्म करते रहो, और अपने मोक्षप्रेमी होने का परिचय दो।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

अन्वय–किं कर्म ? किं अकर्म ? इति अत्र कवयः अपि मोहिताः। यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे तत् कर्म ते प्रवक्ष्यामि ॥

अर्थ— कौन कर्म है ? कौन अकर्म है ? इस विषयमें विद्वान् समझे हुए लोग भी भ्रममें फंस जाते हैं। जिस कर्मको जानकर अशुभसे मुक्ति प्राप्त कर लोगे, उस कर्मको अब तुम्हें बताने लगा हूं।

भाव— इस श्लोकके किं कर्म ? किं अकर्म ? शब्दों का, क्या करें क्या न करें ? ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है। क्योंकि मनुष्यके लिये कर्तव्या-कर्तव्यकी सूची बना सकना असंभव है। इस श्लोकमें श्रीकृष्ण

अर्जुनको ऐसी कोई असंभव सहायता देनेको उद्यत हो गये हैं, ऐसा समझना भ्रान्ति है। क्योंकि स्वभावसे होते रहनेवाले कर्म के साथ ज्ञानी बने रहना ही कर्तव्य है। इसलिये ज्ञानके स्वरूपका वर्णन कर देना ही इस श्लोकका उद्देश्य है। ज्ञान न होनेपर मनुष्य कभी तो अपनेको कर्म करनेवाला, और कभी कर्म छोडनेवाला 'अकर्मा' मान बैठता है।

इस दृष्टिसे इस श्लोकका अभिप्राय निम्न प्रकारसे लिया जाना चाहिये—कर्मको करना क्या है ? और उसे त्यागना क्या है ? इस विषयमें ज्ञानी समझे हुए लोग भी भ्रान्तिमें पड़ जाते हैं। अर्थात् हम अपने शरीरसे किये जानेवाले कर्मके कर्ता हैं ? या अकर्ता हैं ? इस बातको नहीं जानते, और स्वयं कर्मके कर्ता बनकर, फलाशारूपी कर्मबन्धनमें फंस जाते हैं। कर्मबन्धनसे मुक्त होना ही 'अशुभसे मुक्त होना' है। कर्मका स्वरूप जान लेना ही 'मुक्ति' है। अर्थात् कर्ममें अपने अकर्तापनको समझलेना ही 'मुक्ति' है। इसलिये कृष्ण भगवान् अर्जुनको कर्मके कर्तृत्वाभिमान रूपी अज्ञानको छोड़कर ज्ञानी बने रहनेका उपदेश देने लगे हैं।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

अन्वय—कर्मणः हि अपि (तत्त्वम्) बोद्धव्यम्। विकर्मणः च (तत्त्वम्) बोद्धव्यम्। अकर्मणः च (तत्त्वम्) बोद्धव्यम्। कर्मणः गतिः गहना ॥

अर्थ— कर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये। विकर्मका भी तत्त्व जानना चाहिये तथा अकर्मका तत्त्व भी जानना चाहिये। कर्मकी गति गहन है।

भाव— कर्मका वास्तविक कर्ता कौन है ? यह जान लेना चाहिये। इस बातको न जानकर किये गये कर्म 'विकर्म' हो जाते हैं। अर्थात् बन्धन बन जाते हैं। इसलिये विकर्मका स्वरूप भी जानलेना चाहिये। कर्मत्याग करनेकी भ्रान्तिसे किये हुए कर्म, तथा अपनेको अकर्ता मानकर किये हुए कर्म 'अकर्म' कहाते हैं। इन दोनों प्रकारके अकर्मोंमेंसे कौनसा 'अकर्म' अपनाने योग्य है, इसे भी जानलेना चाहिये।

कर्मकी गति इस लिये गहन है कि अज्ञानपूर्वक किये गये कर्म मनुष्यको बन्धनमें डाल देते हैं, और ज्ञानपूर्वक किये गये कर्म मनुष्यको मुक्त कर देते हैं। कर्म करनेके ढंगमें ही ' बन्धन ' तथा 'मुक्ति' दोनों स्थितियोंका रहस्य छिपा हुआ है । कर्मकी गति ही ऐसी है कि वह या तो ' मुक्ति ' देती है या ' बन्धन 'में बांधती है। कर्ममें ' बन्धन ' या ' मुक्ति ' दोनों देनेका सामर्थ्य है। यही कर्मकी गतिके गहन होनेका तात्पर्य है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

अन्वय–यः कर्मणि अकर्म पश्येत्, यः च अकर्मणि कर्म पश्येत् सः मनुष्येषु बुद्धिमान् सः युक्तः (सः) कृत्स्नकर्मकृत् ॥

अर्थ— जो कर्ममें अकर्म देखता है, और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही योगी है, वही पूर्ण कर्म करनेवाला है।

भाव— जो अपने शरीरके द्वारा होते हुए कर्ममें अपने अकर्तापनको देखता है, वही 'कर्म'में 'अकर्म' देखनेवाला ज्ञानी है। ऐसा ज्ञानी 'अकर्म'में भी 'कर्म'को देखता रहता है। अर्थात् कर्मत्याग करनेकी भ्रान्तिको (अकर्म न मानकर उसे) 'भ्रान्तकर्म' मानता है। वह अपने अकर्तापनसे किये हुए अनासक्त कर्म को आत्मतत्त्वके कर्तापनसे किये हुए 'कर्म' समझता है। यों ज्ञानी कर्म करते समय स्वयं 'अकर्मा' बना रहता है, और स्वयं 'अकर्मा' बना रहकर भी आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेनेके कारण सब कर्मोंका स्वाभाविक 'कर्ता' भी बना रहता है । ज्ञानीकी ज्ञान-कुशल मानसिक स्थिति यह है कि वह 'कर्म' करता हुआ 'अकर्मा' है, और 'अकर्मा' रहकर कर्म करनेवाला है। इस स्थितिसे रहित होकर जो कुछ किया जाता है, या जो कुछ करनेसे बचा जाता है, दोनों प्रकारके कर्म फलासक्तिसे दूषित होनेके कारण 'विकर्म' होते हैं। इस तत्त्वको जान लेनेवाला 'बुद्धिमान्' है, 'योगी' है, और 'संपूर्ण कर्म करनेवाला' है ।

संपूर्ण कर्म करनेवाला होनेका भाव यह है कि उसका कर्म, फलकी प्रतीक्षासे अधूरा न रहकर, अनासक्तिरूपी आनन्दमयी स्थिति का दर्शन कराकर पूर्ण हो जाता है ।

यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥

अन्वय—यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः, बुधाः ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तं पण्डितम् आहुः ॥

अर्थ— जिसके सब काम भोगेच्छासे रहित होते हैं, ज्ञानी लोग ज्ञानाग्निसे भस्मीभूत कर्मबन्धनवाले उस मनुष्यको पण्डित कहते हैं ।

भाव— जिसके सब कर्म फलासक्तिसे रहित होते हैं, उसका कर्मबन्धन उसकी अकर्ताहं बुद्धिरूपी ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाता है । ज्ञानी लोग ऐसे पुरुषको ज्ञानी मानते हैं ।

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥

अन्वय—नित्यतृप्तः निराश्रयः सः कर्मफलासंगं त्यक्त्वा कर्मणि अभिप्रवृत्तः अपि किंचित् न एव करोति ॥

अर्थ— नित्यतृप्त (विषयतृष्णारहित होनेके कारण अनासक्तिरूपी आत्मस्थितिमें नित्यतृप्त रहनेवाला), निराश्रय (इन्द्रियतृप्तिके आधारपर कर्म न करनेवाला) वह (ज्ञानाग्निदग्धकर्मा पण्डित) कर्मफलासक्तिको छोड़कर कर्म करनेमें लगा हुआ होकर भी कुछ नहीं करता (अपने कर्तापनसे कुछ नहीं करता)।

भाव— पण्डित सब समय स्वरूपस्थ रहकर इन्द्रियोंकी विषयासक्तिको व्यर्थ करता रहता है । यही उसकी 'ज्ञानकी स्थिति' है । ज्ञानी इसी स्थिति-का 'कर्ता' या 'स्वामी' होता है । स्वभावसे ज्ञानी बने रहने रूपी ज्ञानीके इस कर्मका, अज्ञानको नष्ट करते रहनेके अतिरिक्त दूसरा कोई फल होना संभव भी नहीं है और अवश्यक भी नहीं है । ज्ञानी बने रहना ही ज्ञानीका 'कर्म' है और अज्ञानको नष्ट करना ही उसके कर्मका 'फल' है । क्योंकि ज्ञानीका कर्म स्वयं ही 'सफल' अर्थात् स्वयं तृप्तिदान करनेमें समर्थ होता है, और क्योंकि उसका कर्म किसी फलके आश्रित नहीं होता, इस कारण ज्ञानी 'नित्यतृप्त' तथा 'निराश्रय' होता है । वह जानता है कि अपने शरीरसे किये हुए कर्मका जो भौतिक फल दीखता है, वह विराट् सृष्टिप्रबन्धसे किये गये कर्मका अंग है । उसे अपने कर्मका फल समझकर उसपर अपना अधिकार

जमाना भ्रान्ति है । मैं करनेवाला नहीं हूँ, यह भावना ही ज्ञानीके ज्ञानका स्वरूप है । इस कारण ज्ञानी अनासक्त रहकर जो कुछ करता है, उसका कर्तृत्व अपनेमें आरोपित न करके, अपने स्वरूप आत्मतत्त्वमें समर्पित कर देता है । यों ज्ञानी कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धनसे रहित 'अकर्मा' बना रहता है ।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

अन्वय—निराशीः यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः केवलं शारीरं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति ॥

अर्थ— निराशी (फलाकांक्षासे रहित), यतचित्तात्मा (संयत मन और संयत इन्द्रिय रखनेवाला), सब विषयोंमें ममता का त्याग करनेवाला पुरुष केवल (अनासक्त भावसे) शारीर (शरीरसे किये जानेवाले) कर्मोंको करता हुआ पाप (अज्ञानरूपी कर्मबन्धन) को प्राप्त नहीं होता ।

भाव— अनासक्त स्थितिको अपना लेनेवाले ज्ञानीके मनसे इन्द्रियोंसे विषयभोग करनेकी इच्छा सर्वथा लुप्त हो जाती है । ऐसी मनोदशा रखनेवाले ज्ञानी, फलाशासे रहित, अपने मन तथा इन्द्रियोंको आत्मतत्त्वके वशमें रखनेवाले, और भौतिक पदार्थोंमें ममत्व बुद्धिसे रहित हो जाते हैं । अपने शरीरसे किये जानेवाले कर्मोंको करते हुए अनासक्त बने रहना ही ज्ञानियोंका एकमात्र कर्म रह जाता है । इस कर्मको करते हुए ज्ञानीका कर्मबन्धनरूपी अज्ञानमें फंसे रहना असंभव बन जाता है ।

यह शरीर कर्मयन्त्र है । इसका होना ही 'कर्म' है । मनुष्यसे जो कुछ कर्म होता है सब 'शारीर कर्म' कहाता है । वैसे तो ज्ञानी अज्ञानी दोनों शारीर कर्मोंको करते हैं । परन्तु शारीर कर्मोंमें 'केवलता' लासकना केवल ज्ञानीका सामर्थ्य है । ज्ञानी शारीर कर्म करते समय अनासक्त रहकर कर्मोंमें 'केवलता' लाता है । यही उसका 'कैवल्यका दर्शन करना' है । अज्ञानी शारीर कर्म करते समय अनात्मविषयोंके बन्धनमें फंसा रहता है । यही उसका ' कैवल्यसे वंचित रहना ' है । ज्ञानी पुरुष शारीरिक कर्म करते समय, अपने अनासक्त स्थितिरूपी

अधिकारको कभी नहीं छोड़ता। शरीरसे किये जानेवाले कर्मोंको भोगासक्तिमें न लगाकर, उन्हें अनासक्तिके आनन्दका साधन बनाते रहना ही ज्ञानीका 'केवल शारीर कर्म करना' कहाता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

अन्वय—यदृच्छालाभसंतुष्टः द्वन्द्वातीतः विमत्सरः सिद्धौ असिद्धौ च समः कृत्वा अपि न निबध्यते ॥

अर्थ— यदृच्छालाभसे संतुष्ट (विराट् कर्मके प्रबन्धानुसार प्राप्त हुई अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में रागद्वेषसे रहित), सुखदुःख आदि द्वन्द्वोंमें उदासीन, निर्वैर (दूसरोंसे अशान्त न होनेवाला) तथा (भौतिक) सिद्धि और असिद्धिको एकसा माननेवाला पुरुष कर्म करके भी नहीं बंधता।

भाव— जो कर्म स्वभावसे हो रहा है, उसे ज्ञानी अपना नहीं मानता। वह उससे अनुकूल फलकी इच्छा भी नहीं करता। स्वाभाविक कर्म ज्ञानीके पास जिस समय जो परिस्थिति ला देता है, वह उसी में अपनी अनासक्त स्थितिका दर्शन करके आनन्दित रहता है। उसके आनन्दका स्वरूप यही है कि वह भौतिक सुखदुःख के बन्धनसे अतीत रहता है। इन्द्रियसुखेच्छा ही स्वभावसे प्राप्त अनासक्त स्थितिको भुलानेवाली होती है। यदि उस अवसरपर अनासक्त स्थिति भूली हुई न हो तो सुखेच्छारूपी क्षणिक सुख-दुःख का बन्धन नहीं आता। ज्ञानी पुरुष अनासक्त स्थितिरूपी दुर्ग में बैठकर, सुखदुःखरूपी द्वन्द्वोंके प्रहारोंसे अतीत बना रहता है। संसारकी कोई शक्ति, आत्मस्वरूपमें स्थित हुए द्वन्द्वातीत ज्ञानीके आनन्दमें विघ्न डालनेवाली हो सकती है, यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। इसी को ज्ञानीकी 'विमत्सर' या 'निर्वैर' अवस्था कहा जाता है। इस स्थिति में रहनेवाले ज्ञानीके शरीरसे किये जाने-वाले कर्मोंके, शुभाशुभ समझे जानेवाले भौतिक फल, उसके मनमें हर्षविषाद आदि विकारोंको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी स्थिति रखनेवाला ज्ञानी कर्म करता हुआ भी फलाशारूपी कर्मबन्धनमें नहीं फंसता।

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। २३ ।।

अन्वय–गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः यज्ञाय आचरतः समग्रं कर्म प्रविलीयते ॥

अर्थ— गतसंग (अनासक्त), मुक्त (कर्मबन्धनसे मुक्त), आत्मस्वरूपके ज्ञाता तथा कर्ताहंबुद्धिरहित होकर कर्म करनेवाले मनुष्यके सब कर्मविलीन हो जाते हैं (अकर्म हो जाते हैं) ।

भाव— ज्ञानी अनासक्त स्थिति में रहकर कर्म करता है । क्योंकि वह उस कर्मसे फलाशा नहीं रखता, इस कारण वह कर्मबन्धनसे मुक्त रहता है । सब कर्म स्वभावसे हो रहे हैं । उनपर कर्तृत्वाभिमान न रखना आत्मतत्त्वका स्वभाव है । आत्मतत्त्वके इस स्वभावको अपना लेना और आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेना दोनों एक बात हैं । इस दृष्टिसे आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेना ही 'ज्ञान' है । ज्ञानी पुरुष इस ज्ञानकी स्थिति में रहकर अपने शरीरसे किये हुए सब कर्मोंको कर्ताहंबुद्धिसे रहित होकर करता है । ज्ञानीका समग्र जीवन 'यज्ञ'का रूप धारण करलेता है । इस स्थितिमें रहनेवाला ज्ञानी सब कुछ करता हुआ भी 'अकर्ता' बना रहता है । यही कारण है कि ज्ञानीके द्वारा किये हुए संपूर्ण कर्म उसे कर्मबन्धनसे मुक्त रखनेवाले 'अकर्म' बन जाते हैं ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अन्वय–(यस्य) अर्पणं ब्रह्म, हविः ब्रह्म, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं (भवति) ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन ब्रह्म एव गन्तव्यं भवति ॥

अर्थ— (जिसकी दृष्टि में) अर्पण (अर्पण करनेकी क्रिया) भी ब्रह्म है, और हवि (अर्पित किये जानेवाले द्रव्य) भी ब्रह्म हैं और (अर्पण को ग्रहण करनेवाले) ब्रह्मरूप अग्निमें (अर्पण करनेवाले) ब्रह्मरूप कर्ताने ही अर्पण किया है, ब्रह्मकर्मसमाधि (कर्मको ही ब्रह्म अर्थात् कर्तव्यको ही ईश्वर) जानकर उसमें तल्लीन रहनेवाले पुरुष को (फलके रूपमें भी) ब्रह्म ही मिलता है ।

भाव— कर्म करनेवाले की भावना ही कर्मको प्रकट करनेवाली होती है। जब आसक्तिसे कर्म किया जाता है, तब कर्ता, कर्म, उपकरण, उद्देश्य तथा परिणाम सब कुछ एक दूसरेसे पृथक् पृथक् दीखने लगते हैं। जब अनासक्ति से कर्म किया जाता है, तब अनासक्ति आकर, सबसे पहले कर्म करनेवाले के 'कर्तापन'को मिटा देती है, और उसे सर्व-भूतस्थ आत्मतत्त्वका दर्शन करा देती है। उस स्थितिमें उसका कर्म अपने स्वरूपसे (विराट्कर्तासे) पृथक् सत्ता न रखनेवाला बन जाता है, और तब उपकरण, फल, उद्देश तथा परिणाम ये सब कर्ममें विलीन हो जाते हैं। उस समय ज्ञानी 'ब्रह्म' बन जाता है और ब्रह्मके अतिरिक्त न कुछ देखता है, न कुछ करता है, और न किसी को पाता है। ज्ञानी की यह अनासक्त स्थिति ही 'ब्रह्म' या 'ब्रह्मत्व' है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अन्वय—अपरे योगिनः दैवम् एव यज्ञं पर्युपासते। अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञेनैव यज्ञम् उपजुह्वति॥

अर्थ— दूसरे योगी (समझे हुए) लोग दैवयज्ञ (देवपूजा) करते हैं। दूसरे अग्निको ब्रह्म समझकर उसमें 'यज्ञ' नामकी क्रिया के द्वारा 'यज्ञ' करते हैं।

भाव— इससे पूर्व श्लोक तक ज्ञानीकी 'यज्ञमयी' स्थितिका वर्णन समाप्त किया जा चुका। अब अज्ञानीकी यज्ञभ्रमकी स्थितिको बताया जा रहा है। इन श्लोकोंमें **अपरे अन्ये** आदि शब्दोंके द्वारा ज्ञानी की स्थितिसे विपरीत (अर्थात् अज्ञानी की) स्थिति की ओर स्पष्ट संकेत किया जा रहा है। इस अध्यायके ३० वें श्लोक तक इसी अभिप्रायको व्यक्त किया गया है।

अब **अपरे** आदि शब्दोंके द्वारा ज्ञानियों की ही कोई दूसरी स्थिति बतायी जा रही है, ऐसा अर्थ किया जायगा तो ज्ञानियोंकी भिन्न भिन्न स्थिति स्वीकृत हो जायंगी। ऐसी कल्पना मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि इन श्लोकोंमें वर्णित 'देवपूजा' तथा 'यज्ञ' नामकी भौतिक क्रिया फलाकांक्षासे ही की जा सकती हैं। इस लिये

श्रीकृष्णने ऐसे कर्मोंको, ज्ञानीकी अनासक्त मानसिक स्थितिको प्रकट करनेवाले 'यज्ञ' जैसे नामसे कहा है ऐसा मानना अनुचित है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्वय—अन्ये श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति। अन्ये इन्द्रियाग्निषु शब्दादीन् विषयान् जुह्वति॥

अर्थ— दूसरे लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका संयमरूपी अग्नियोंमें होम करते हैं। दूसरे लोग इन्द्रियरूपी अग्नियोंमें शब्द आदि विषयों का हवन करते हैं।

भाव— इन्द्रियोंको क्रियाहीन बनानेका प्रयत्न करना ' इन्द्रियोंका संयमाग्नि में हवन करना ' है। इन्द्रियोंसे विषयोंको भोग भोगकर वासनारहित होना चाहने के उद्यम का नाम 'इन्द्रियाग्नि में विषयोंका हवन करना' है। इन्द्रियोंकी विषयरसास्वादन करने की शक्तिको, अपने कल्पित परमार्थ मार्ग का विघ्न मानना, और इन्द्रियोंको क्रियाहीन बना डालनेका प्रयत्न करके उसे ' संयम 'का नाम देना, ' भोगबन्धन ' है और अज्ञानकी बात है। इसी प्रकार इन्द्रियोंको भोगसे परितृप्त करके परमार्थको निष्कंटक बना डालनेके भ्रममें रहना भी भोगबन्धन रूपी अज्ञानता है। जब तक इन्द्रियों में भोग करनेका सामर्थ्य बना रहेगा, तब तक हम भोगत्याग करनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे, ऐसा मानना 'भोगासक्ति' है। इसके साथ ही इन्द्रियोंको भोगसे पूर्ण तृप्त करलेनेका असंभव प्रयत्न करना भी 'भोगासक्ति' है। नामधारी योगी ऐसी ही अज्ञानमयी स्थिति में रहते हैं। यही स्थिति इस श्लोकमें वर्णित है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

अन्वय—अपरे ज्ञानदीपिते आत्मसंयमयोगाग्नौ सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति॥

अर्थ— दूसरे लोग शरीरसंयमको (शरीरको निष्क्रिय रखनेको) ही ज्ञानदीप्त योगाग्नि मानकर, उसमें सब इन्द्रियकर्मों और प्राणकर्मोंको (संपूर्ण शारीरिक कर्मोंको) हवन करते हैं।

भाव— शरीरको निष्क्रिय रखनेका व्यर्थ प्रयत्न करनेवाले अज्ञानियोंके मनमें भी यही भावना बनी रहती है कि जब तक उनका शरीर स्वाभाविक, जीवित और सबल स्थितिमें है, तब तक उनका विषयोंमें अनासक्त रहना असंभव है। इस लिये ऐसे लोगोंका इस ढंगका प्रयत्न भी विषयासक्त मानसिक स्थितिका ही प्रदर्शन होता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

अन्वय—तथा अपरे द्रव्ययज्ञाः तपोयज्ञाः योगयज्ञाः स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः च यतयः संशितव्रताः (उच्यन्ते)॥

अर्थ— तथा दूसरे लोग 'द्रव्ययज्ञ' करनेवाले 'तपोयज्ञ' करनेवाले 'योगयज्ञ' करनेवाले 'स्वाध्याययज्ञ' और 'ज्ञान' नामका 'यज्ञ' करनेवाले यति और संशितव्रत (कठोरतासे व्रत पालनेवाले) कहलाते हैं।

भाव— मनकी अनासक्त स्थितिको अपनानेसे ज्ञानियोंका संपूर्ण जीवन 'यज्ञ' बन जाता है। उस स्थितिमें कुछ विशेष क्रियाओं को 'यज्ञ' का नाम देकर उनका अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जब मनुष्य किन्हीं विशेष क्रियाओंको 'यज्ञ'का नाम देकर, उनका अनुष्ठान करके 'यति' और 'कठोरतासे व्रत पालन करनेवाले' बन जाते हैं, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनके मनमें संपूर्ण जीवनको 'यज्ञ' बना डालनेवाली अनासक्त स्थिति नहीं आई। इस दृष्टिसे ऊपर कहे गये 'यज्ञ' नामकी क्रिया करनेवाले लोग भी विषयासक्तिसे मुक्त नहीं होते।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥

अन्वय—अपरे प्राणायामपरायणाः प्राणापानगती रुद्ध्वा अपाने प्राणं जुह्वति तथा प्राणे अपानं जुह्वति॥

अर्थ— दूसरे प्राणायाम करनेवाले अन्दर आनेवाले तथा बाहर जानेवाले वायुकी गतिको रोककर, प्राणको अपानमें हवन करते हैं (अन्दर आनेवाले वायुको बाहर निकालते हैं) और अपानको प्राणमें हवन करते हैं (बाहरसे वायुको अन्दर ले आते हैं)।

भाव— प्राणायाम नामकी क्रिया करनेके साथ मनकी अनासक्त स्थिति का कोई संबन्ध नहीं है। जीवित देहमें सब समय वायुका भीतर आना और बाहर जाना होता रहता है। इस वायुको कुछ समयके लिये रोककर जो कोई क्रिया की जाती है, वह सब शारीरिक क्रिया होती है। उसे 'यज्ञ' नामकी मानासिक स्थिति की उच्च पद्वी देना अयुक्त है। इस दृष्टिसे यह प्रयत्न भी विषयासक्तिरूपी अज्ञानतामें गिना जाता है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।

अन्वय—अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।

अर्थ— दूसरे लोग आहारको नियमित करके प्राणोंमें प्राणोंका हवन करते हैं।

भाव— शरीरको बहुत दिन तक जीवित रखनेमें जीवनको व्यय करना नियताहारी लोगोंका ध्येय होता है। इसे भी देहासक्तिके नामसे ही कहा जाना चाहिये। इसका भी 'यज्ञ' नामवाली अनासक्त स्थितिके साथ कोई संबन्ध नहीं है।

सर्वेऽप्येतेऽयज्ञविदोऽयज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

अन्वय—सर्वे अपि एते अयज्ञविदः (अतः) अयज्ञक्षपितकल्मषाः (यज्ञेन न क्षपितः कल्मषः येषां ते) सन्ति॥

अर्थ— क्योंकि ये सब अयज्ञवित् हैं इस लिये इनका कल्मष (अज्ञान) यज्ञसे नष्ट नहीं हुआ।

भाव— इस श्लोकमें इस प्रकरणके संकलितार्थके अनुसार 'अपि' शब्दके समान 'अयज्ञवित्' तथा 'अयज्ञक्षपितकल्मष' इन दोनों शब्दोंके अकारोंका पूर्वरूप है ऐसा स्वीकार करके उसी के अनुसार अन्वय किया है। अग्रिम श्लोकका 'अयज्ञस्य' यह शब्द भी इसी अभिप्राय का समर्थन कर रहा है।

अनासक्त स्थिति ही 'यज्ञ' है। मनुष्य अनासक्त न होकर जो कुछ करता है, सब कर्मबन्धनरूपी 'अयज्ञ' हो जाता है। ऐसे मनुष्य भले ही यज्ञनामकी कुछ क्रिया करते हों, ये 'अयज्ञवित्'ही बने रहते हैं। इनके मनपर इनकी यह 'अयज्ञ'रूपी विषयासक्ति या अज्ञान

शासन करता रहता है। इस लिये ऊपर कहे हुए 'यज्ञ' नामोंकी क्रिया करनेवालोंको 'अयज्ञवित्' तथा अज्ञानी के अतिरिक्त दूसरा कोई नाम नहीं दिया जा सकता।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

अन्वय—यज्ञशिष्टामृतभुजः सनातनं ब्रह्म यान्ति। अयज्ञस्य अयं लोकः न अस्ति। कुरुसत्तम, अन्यः (लोकः) कुतः ?

अर्थ— यज्ञशेष अमृतका भोग करनेवाले सनातन ब्रह्मको पाते हैं। यह लोक यज्ञहीन का नहीं है। हे कुरुश्रेष्ठ ! बताओ दूसरा लोक कहां है ?

भाव— क्योंकि अज्ञानी पुरुष इस संसारमें 'यज्ञशिष्टामृतभोजी' नहीं बनता और अपनी संसारयात्रा को व्यर्थ कर देता है, इस लिये उसे सार्थकता देनेवाली आशा को पूरा करने का स्थान कहीं नहीं है। मनुष्यका कर्मबंन्धनसे मुक्त रहना ही अमृतत्व को प्राप्त करना है और यह संसार ही अमृतत्व की प्राप्तिका स्थान है। मुक्ति का स्थान इस संसारसे भिन्न कहीं भी नहीं है। अनासक्त होकर कर्म करके कर्मबन्धन से मुक्त बने रहना ही 'यज्ञसे प्राप्तव्य अमृतका भोग करना' है और यही 'मुक्ति' है। अनासक्त ज्ञानी अपने कर्तापन को मिटाकर संपूर्ण जीवन को 'ब्रह्म' बना लेता है। अर्थात् सनातन ब्रह्म बने रहना ही उसके जीवनका एक मात्र कर्म बन जाता है। यह सृष्टि ज्ञानी के लिए ब्रह्मत्वरूपी 'अमृतत्व' का साधन बन जाती है। अज्ञानी विषयासक्त होकर इसी संसारको सुखदुःखरूपी 'बन्धन' का साधन बना लेता है। यों यही संसार ज्ञानी के जीवन को सार्थक बनानेवाला है और यही संसार अज्ञानी के जीवन को व्यर्थ कर देनेवाला है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

अन्वय—ब्रह्मणः मुखे एवं बहुविधाः यज्ञाः विततः। तान् सर्वान् कर्मजान् विद्धि। एवं ज्ञात्वा (तेभ्यः) विमोक्ष्यसे॥

अर्थ— वेदोंमें इस प्रकारके बहुतसे 'यज्ञ' वर्णित हैं। तुम उन सबको कर्मज (कर्मबंधनरूपी फलासक्ति से उत्पन्न हुआ) समझो। ऐसा जान कर ही (इनसे) बचोगे।

भाव— यज्ञनामकी क्रिया ' यज्ञ ' नहीं है। अनासक्ति ही ' यज्ञ ' है। जब मनुष्य इस सत्यको नहीं जानपाता, तब अपने आसक्त मनको लेकर विषयभोगों को ढूंढनेमें लगा रहता है। तब वह भोगानुकूल फल देनेवाली कुछ क्रियाओंकी कल्पना करके उनको ' यज्ञ ' का नाम दे देता है, और अपने जीवन में उन्हीं को करता रहकर उनसे फलाशा लगाये रहता है, यही उसके कर्मबन्धन का स्वरूप होता है। मनुष्य इस बन्धनसे तब ही मुक्त हो सकता है जब कि वह अज्ञानियोंके कल्पित 'यज्ञ' नामके बन्धनोंमें न फंसे, किन्तु अपने मनमें रहनेवाली अनासक्त स्थितिरूपी सच्चे 'यज्ञ' को अपनाले।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

अन्वय--परन्तप, द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयान्। पार्थ, सर्वम् आखिलं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

अर्थ—हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञसे (भौतिक पदार्थों तथा शरीरों के द्वारा की हुई यज्ञ नामकी क्रियाओंसे) ज्ञानयज्ञ (अनासक्ति रूपी ज्ञानयज्ञ) श्रेष्ठ है। हे पार्थ! संपूर्ण कर्म ज्ञानमें ही पूर्णताको प्राप्त करते हैं।

भाव— 'ज्ञानयज्ञ'के श्रेष्ठ होने, तथा ' द्रव्यमय ' यज्ञके निकृष्ट (अयज्ञ) होनेका यही अभिप्राय है कि अनासक्ति रूपी ज्ञान ही 'यज्ञ' कहाता है। आसक्त होकर जो कुछ किया जाता है, सब 'अयज्ञ' हो जाता है। मनुष्यके शरीरसे जो कर्म होता है, उसे यदि ज्ञानपूर्वक किया जाय तो उसके साथ साथ मनुष्यको ज्ञान अर्थात् अनासक्तिरूपी फल मिल जाता है। कर्मको सफल (फलकी प्रतीक्षासे रहित) बना लेनेपर ही उसमें ' परिसमाप्ति ' या 'पूर्णता' आती है। ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला कर्म करते समय ही अपने कर्तव्यको समाप्त कर चुकनेके संतोष रूपी फल को प्राप्त करता रहता है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

अन्वय—तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः ते ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति । (त्वम्) तत् (ज्ञानम्) प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया विद्धि ॥ पाण्डव, यत् ज्ञात्वा पुनः एवं मोहं न यास्यसि, येन भूतानि अशेषेण आत्मनि अथो मयि द्रक्ष्यसि ॥

अर्थ— तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे । तुम उस ज्ञानको प्रणिपातसे (अहंकाररहित होकर), परिप्रश्नसे (सत्‌असत्‌का विचार करके) तथा सेवासे (अनासक्त होकर कर्म करके) समझ सकोगे । हे पाण्डव! उस (ज्ञान) को जानकर फिर कभी इस प्रकार मोहको प्राप्त नहीं होगे, उस ज्ञानसे सारे भूतोंको आत्मतत्त्वमें तथा अपने स्वरूपमें देखने लगोगे ।

भाव — तत्त्वदर्शी ही ज्ञान का स्वरूप जानता है और वही बता भी सकता है । परन्तु उस ज्ञानको समझनेवाला भी तो ज्ञानी ही होना चाहिये । ज्ञानको समझनेवालेका भी अहंकाररहित, सद्‌सद्विचारतत्पर तथा अनासक्त कर्म करनेवाला ज्ञानी होना अवश्यक है । अर्थात् ज्ञानी ही ज्ञानीकी बात समझ सकता है । ज्ञान अज्ञानियोंके लिये तो सदा अज्ञेय बना रहता है । अज्ञानी लोग अपनी विपरीत बुद्धिको लेकर ज्ञानियोंकी बातोंका विरोध करते रहते हैं । अज्ञानी लोग ज्ञानियोंकी बातोंको तब ही समझ सकेंगे, जब वे अपनी विपरीत बुद्धिको सीधा करलेंगे । दूसरे शब्दोंमें जब वे स्वयं ज्ञानी हो जायंगे तब ही ज्ञानियोंकी बातोंको अपना सकेंगे ।

इस श्लोकके 'उपदेक्ष्यन्ति' शब्दका यह अभिप्राय नहीं है कि कृष्ण भगवान् अर्जुनको ज्ञानोपदेश लेनेके लिये किन्हीं दूसरे ज्ञानियोंके पास भेज रहे हैं । ज्ञानीके ज्ञानोपदेशको ग्रहण करनेके लिये जिन जिन बातोंकी आवश्यकता होती है, उनको बताना इस श्लोकका अभिप्राय है ।

ज्ञानी बनजानेके पश्चात् फिर अज्ञानावस्थामें नहीं लौटा जा सकता ज्ञानी पुरुष अनासक्त स्थितिमें रहकर सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेता है । उसके लिए किसी भी शरीरमें ममत्वबुद्धि रखना असंभव हो जाता है । हे अर्जुन ! जब तुम ज्ञानी बनजाओगे तब ही इस युद्धमें ममतासे रहित होकर, अनासक्त बनकर कर्तव्यपालन करनेके संतोषको प्राप्त करसकोगे ।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अन्वय—अपि चेत् सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृत्तमः असि सर्वं वृजिनं ज्ञानप्लवेन एव संतरिष्यसि ॥

अर्थ— यदि तुम सब पापियोंसे बड़े पापी हो, तब भी उस सब पापको ज्ञाननौकासे पार कर जाओगे ।

भाव— अज्ञान ही पाप है । अज्ञानमें छोटापन बड़ापन या न्यूनाधिकभाव नहीं है । अज्ञान स्वयं सबसे बड़ा पाप है । इस पापसे मुक्त होने का एक मात्र उपाय ज्ञानी बन जाना है । अज्ञानी बने रहकर ज्ञान का आस्वाद लेसकना असंभव है ।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

अन्वय--अर्जुन, यथा समिद्धः अग्निः एधांसि स्मसात् कुरुते तथा ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! जैसे अग्नि ईंधनोंको भस्मसात् कर देता है, इसी प्रकार (अकर्ताहं बुद्धिरूपी) ज्ञानाग्नि सब कर्मों (कर्मबन्धनों) को जला देता है ।

भाव— अकर्ताहं बुद्धिसे किये हुए कर्म ‘ अकर्म ’ बन जाते हैं । इसीको ‘ज्ञानाग्निसे कर्मोंका भस्म हो जाना’ कहते हैं । जब कर्मका अहंकार करनेवाला कोई नहीं रहता, तब उससे बंधनेवाला भी कोई नहीं रहता । जैसे अग्नि ईंधनको दग्ध करके ही प्रकट होता है, जैसे ईंधनके विना अग्निका दर्शन असंभव है, इसी प्रकार कर्मबन्धनरूपी ईंधनको दग्ध करके ही ज्ञानरूपी अग्निका मानव हृदयमें प्रज्वलित होना संभव होता है । ज्ञानका यही उपयोग है कि वह कर्मबन्धन को दग्ध करे (अर्थात् अनासक्त भावमें रहकर किये हुए कर्मको अकर्म बनाये) और ज्ञानीको ज्ञानानन्दका स्वाद दे । कर्मके विना ज्ञानकी स्थितिको किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही इस श्लोकका गूढ अभिप्राय है ।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

अन्वय–ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह न विद्यते । योगसंसिद्धः तत् स्वयम् आत्मनि कालेन (क्षणेन = तत्क्षणम् इत्यर्थः) विन्दति ॥

अर्थ— ज्ञानके सामान पवित्र दूसरी वस्तु इस संसारमें नहीं है। योगसंसिद्ध (कर्मयोगी) पुरुष, उस ज्ञानको स्वयं (स्वभावसे) अपनेमें उसी क्षण (अविलम्ब) पालेता है।

भाव— 'ज्ञान' ही इस संसारमें पवित्र वस्तु है। 'ज्ञान'के विना संपूर्ण संसार 'अपवित्र' है। अर्थात् मनुष्य ज्ञानसे ही संसारके बन्धनसे मुक्त रहता है। ज्ञान न हो तो यह संसार, बन्धनस्वरूप बन जाता है। अनासक्ति ही 'ज्ञान' है। जब मनुष्य अनासक्त होकर कर्म करता है, तब फलाशासे रहित ' पूर्णकाम ' बन जाता है। अनासक्त होना और आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जानलेना दोनों एक बात है। मनुष्य अनासक्त स्थितिको अपनानेवाले क्षणमें ही आत्मास्थितिमें भी आरूढ हो जाता है। 'ज्ञान' अनासक्त कर्म करनेवाले कर्मयोगीके पास सदा रहता है। उसे ज्ञानप्राप्तिके लिये कालकी प्रतीक्षा करनेकी अवश्यकता नहीं पडती। क्योंकि ज्ञानसंयुक्त कर्म करना ही 'कर्मयोग' की स्थिति है।

' कर्मयोगी ' भी हो और उसके पास ' ज्ञान ' न हो, इस प्रकारकी कल्पना की जायगी तो अज्ञानी बने रहकर 'कर्मयोग' नामकी कुछ क्रिया कर डालना ही 'कर्मयोग' कहलाने लगेगा। ऐसा माननेसे अज्ञानी तथा 'कर्मयोगी' का भेद लुप्त हो जायगा। अज्ञानी के लिये अज्ञानोचित कर्म करना अनिवार्य होता है। अज्ञानियोंसे अज्ञानोचित कर्मसे भिन्न 'कर्मयोग' नामके किसी उच्च कर्मका हो सकना असंभव कल्पना है। इस लिये इस श्लोकमें ' कालेन ' यह शब्द कर्मयोगीको कुछ कालके पश्चात् ज्ञानकी प्राप्ति होगी, इस अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ। जब कि कर्मयोगी सब समय ज्ञानी बना रहता है, तब उसके लिये प्रयुक्त हुए ' कालेन ' इस शब्दको यही अर्थ कहना पडेगा कि 'कर्मयोगी', कर्मयोगी बनते ही ज्ञानको प्राप्त करलेता है। अग्रिम श्लोकमें ' अचिरेण ' शब्द भी इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

अन्वय–श्रद्धावान् संयतेन्द्रियः तत्परः ज्ञानं लभते । ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण परां शान्तिम् अधिगच्छति ॥

अर्थ— श्रद्धावान् (आत्मशक्तिमें विश्वास रखनेवाला), संयतेन्द्रिय और ज्ञानप्रेमी पुरुष ज्ञानको पाता है । ज्ञानको पाकर तत्क्षण परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है ।

भाव— आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जानलेनेवाला पुरुष कभी अनात्म-विषयोंके बन्धनमें नहीं आता । उसका मन तो आत्मस्वरूप हो जाता है, और उसकी इन्द्रियां मनके वशमें आजाती हैं । यही उसके ज्ञान-प्रेम या आत्मप्रेमका स्वरूप होता है । वह अनासक्तिरूपी ज्ञानको प्राप्त कर लेता है । उसकी अनासक्ति उसे फलाशारूपी कर्मबन्धनसे मुक्त रखनेवाली 'शान्ति' बन जाती है । ज्ञानी बननेके पश्चात् उसे क्षणभर भी शान्तिका दर्शन करनेकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती । क्योंकि 'ज्ञान' ही 'शान्ति' है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अन्वय–अज्ञः अश्रद्दधानः संशयात्मा च विनश्यति । अयं लोकः संशयात्मनः न अस्ति । परः न (अस्ति) सुखं न (अस्ति) ॥

अर्थ— अज्ञानी, अश्रद्धालु (आत्मविश्वासहीन), संशयात्मा (दृढताहीन) पुरुष विनष्ट हो जाता है । यह लोक संशयात्माका नहीं है (उसके सुखका साधन नहीं है) पर (लोक) भी (उसका) नहीं है । उसे सुख नहीं मिलता ।

भाव— अनिश्चित फलाशासे सुखके पीछे दौड़ लगाना ही संशयात्मा होना है । ऐसे सुखासक्त पुरुष अपने स्वरूपको न जाननेवाले अज्ञानी तथा सुखःदुखोंके बन्धनोंसे अतीत अनासक्त स्थितिका अविश्वास करनेवाले होते हैं । इन लोगोंकी सुखेच्छा कभी तृप्त नहीं होती । ये इस संसारमें अपनी सुखेच्छाको अतृप्त पाकर अपनी कल्पनाके दूसरे जन्ममें उसे तृप्त करनेकी चिन्तामें फंसे हुए पाये जाते हैं । इस लोक तथा परलोकमें इनकी सुखेच्छाके तृप्त न होनेका अभिप्राय यह है कि

जब इनका संशयालु चित्त इन्हें इस संसारमें सुखी बनानेमें असमर्थ हो जाता है, तब वह इनको परलोककी काल्पनिक सफलताके लालचमें फांस देता है। ऐसे लोग इस संसारमें अज्ञानी बने रहते हैं। अज्ञान ही 'विनाश' है। यही 'संशयात्माके विनष्ट होने'का अभिप्राय है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥ ४१ ॥

अन्वय--धनंजय, योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् आत्मवन्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ॥

अर्थ— हे धनंजय! योगसे (अकर्ताहंबुद्धिसे) कर्मोंका संन्यास किये हुए (कर्मोंके कर्तापनको त्याग देनेवाले), ज्ञानसे (अनासक्तिसे) संशय (अनिश्चित सुखासक्ति) को नष्ट कर चुके हुए, तथा आत्मस्वरूपमें स्थित हुए पुरुषको कर्म नहीं बांधते।

भाव— जो मनुष्य आत्मतत्त्वको ही अपना स्वरूप जान लेता है, वह अपने शरीरसे किये जानेवाले कर्मों का कर्ता नहीं रहता। वह आत्मतत्त्वमें अपने कर्तापनका 'संन्यास' कर देता है। तब उसे फलासक्तिरूपी सुखेच्छा किसी अप्राप्त सुखके पीछे नहीं दौड़ा सकती। वह सब समय अनासक्त स्थितिमें रहता है और सब समय 'कर्मबन्धनसे' मुक्त बना रहता है।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

अन्वय–भारत, तस्मात् अज्ञानसंभूतं हृत्स्थम् एनं संशयं ज्ञानासिना छित्वा योगम् आतिष्ठ उत्तिष्ठ च ॥

अर्थ— हे भारत! इस लिये अज्ञानसे उत्पन्न हुए मनमें ठहरे हुए इस संशयको ज्ञानखड्गसे काटकर 'योग'पर आरूढ हो जाओ और उठ खडे हो।

भाव— हे अर्जुन! तुमको सुखासक्तिरूपी संशयने युद्धसे विमुख कर दिया है, इस लिये अब तुम्हें चाहिये कि तुम अपने मनमें बैठे हुए इस युद्ध-विमुखतारूपी 'अज्ञान' को अनासक्तिरूपी ज्ञानखड्ग के द्वारा नष्ट करदो और युद्ध करने के लिये उठ खडे हो।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसमन्वययोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

चतुर्थपंचमाध्यायसंगति—

चौथे अध्याय में 'ज्ञान' तथा 'कर्मयोग' का समन्वय बताया गया। उसी को पांचवें अध्याय में अकर्ताहं बुद्धिरूपी 'संन्यास' के नामसे बताया जा रहा है। अर्थात् जब 'संन्यास' की स्थिति आ जाती है तब 'कर्म' और 'ज्ञान' इन दोनों का एक दूसरे के साथ साथ रहना अनिवार्य हो जाता है। तब 'कर्म' भी ज्ञानयुक्त होता है और 'ज्ञान' भी निकम्मा नहीं रहता।

———

पंचम अध्याय

(संन्यासयोग)

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १॥

अन्वय—कृष्ण, कर्मणां संन्यासं पुनः योगं च शंससि। एतयोः यत् एकं श्रेयः तत् मे सुनिश्चितं ब्रूहि॥

अर्थ— हे कृष्ण! कर्मों के संन्यासकी और फिर योगकी प्रशंसा करते हो। इन दोनोंमेंसे जो एक कल्याणकारी हो उसे सुनिश्चितरूपमें मुझे बताओ।

भाव— **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते** (४-३७) तथा **छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत** (४-४२) जैसे वाक्यों में 'कर्म-संन्यास' तथा 'योग' दोनों परस्परविरोधी स्थितियोंकी प्रशंसा की गयी है, ऐसा आपात दृष्टिसे प्रतीत होता है। योगस्थ होकर कर्म करनेसे कर्म नहीं बांधता; यद्यपि इस प्रकारकी स्पष्ट उक्ति भी चतुर्थ अध्यायमें अनेक श्लोकोंमें है; परन्तु स्वजन-मोहके कारण अर्जुनको युद्धत्यागरूपी 'कर्मसंन्यास' हितकारी प्रतीत हो रहा है। अर्जुन इसी 'कर्मसंन्यास' का समर्थन ढूंढना चाह रहा है। योगस्थ होकर कर्म करना ही 'कर्ताहंबुद्धि या फलाशाको त्यागकर कर्म करना' है। कर्ताहंबुद्धि और फलाशा ही कर्मका बन्धन

है । इसे त्यागकर किया हुआ कर्म बन्धनरहित बन जाता है। कर्मको बन्धनहीन करनेकी कला ही योग है और यही संन्यास है। योग और संन्यासमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। परन्तु 'कर्मसंन्यास' स्थितिके श्रद्धालु लोग सांख्यस्थितिके प्राप्त न होने तक ही 'कर्मयोग' का उपयोग स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि 'कर्मयोग'के द्वारा 'सांख्यस्थिति' प्राप्त करलेनेपर ज्ञानीको कर्म सर्वथा नहीं करना पडता। अर्जुनके इस प्रश्नने 'कर्मयोग' तथा 'सांख्यस्थिति'को दो पृथक् स्थिति माननेवाली इस अज्ञानमूलक मनोवृत्ति के खण्डन करनेका अवसर उपस्थित कर दिया है। कृष्ण भगवान् इसका जो उत्तर देनेवाले हैं उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि संन्यासकी स्थिति कर्मत्यागकी स्थिति नहीं है। किन्तु वह फलसंन्यास नामके 'कर्मयोग'की स्थिति है। इसी बातको स्पष्ट करना इस संपूर्ण अध्यायका अभिप्राय है। अर्जुनके प्रश्नमें इसकी सूचना मिल रही है।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—संन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ। तयोः तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगः विशिष्यते ॥

अर्थ— (हमारे कहे हुए) संन्यास और कर्मयोग दोनों निश्चित कल्याण-कारी हैं। परन्तु उनमेंसे (अर्थात् तुम्हारे समझे हुए कर्मसंन्यास तथा कर्मयोगमेंसे) केवल कर्मयोग ही श्रेष्ठ है।

भाव—तुम्हारे समझे 'कर्मसंन्यास'में तथा हमारे 'संन्यास'में बड़ा अन्तर है। हमारा 'संन्यास' 'कर्मसंन्यास' न होकर 'फलसंन्यास' है। वह 'कर्मयोग'का ही दूसरा नाम है। संन्यासकी स्थिति को अर्थात् फलाकांक्षाको त्यागकर रागद्वेष रहित होकर कर्म करनेकी मनोदशाको 'सांख्यस्थिति' या 'अहंबुद्धिविनाशकी स्थिति' कहते हैं। वही तुमको पहले बतायी गयी है। उस 'सांख्यस्थिति'में और 'कर्मयोग'में कोई अन्तर नहीं है। फलाकांक्षारहित कर्म करनेकी मानसिक स्थिति और फलाकांक्षारहित कर्म करना, ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न नहीं हैं। मनुष्यके शरीरसे

सब समय कर्म हो ही रहा है। इस कर्मसे फलाशा न रखकर ज्ञानी बने रहना ही 'संन्यास' है। 'संन्यास' और 'कर्मयोग' ये दोनों एक ही, कल्याणकारी, निष्काम स्थिति के दो नाम हैं।

तुम्हारा प्रश्न भ्रान्त आधार पर किया गया है। तुमने 'संन्यास'को 'कर्मयोग'से पृथक् 'कर्मत्याग' की स्थिति समझा है। परन्तु 'कर्मत्याग' की कोई स्थिति नहीं है। 'कर्मयोग' ही ज्ञानयुक्त कर्म करने की एकमात्र स्थिति है, जिसे ' फलसंन्यास ' के अर्थमें ' संन्यास ' कहा जाता है। तुम्हारा समझा हुआ 'कर्मसंन्यास' अज्ञानमयी, निकृष्ट, असंभव और त्याज्य स्थिति है।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥

अन्वय–हे महाबाहो, यः न द्वेष्टि न कांक्षति सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः। हि निर्द्वन्द्वः बन्धात् सुखं प्रमुच्यते॥

अर्थ— हे महाबाहो! जो द्वेष और इच्छा नहीं करता उसे ' नित्यसंन्यासी। जानना चाहिये। क्योंकि निर्द्वन्द्व पुरुष कर्मबन्धनसे अनायास मुक्त हो जाता है।

भाव— राग-द्वेष ही बन्धन है। विषयोंमें जो इन्द्रियोंके राग-द्वेष हैं, उनके बन्धनमें आजानेवाला मनुष्य अपने अनासक्ति नामके मुक्त स्वभाव को त्याग कर सुखासक्तिरूपी बन्धनमें बंध जाता है। जो पुरुष अनासक्त स्थितिको अपना लेता है, वह ' नित्यसंन्यासी ' अर्थात् ' नित्य मुक्त ' हो जाता है। उसकी मुक्ति प्रयत्नसे पानेकी वस्तु नहीं रहती। उसकी वह अनायासप्राप्त स्वाभाविक स्थिति ही 'संन्यास' कहाती है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ ४॥

अन्वय–सांख्ययोगौ बालाः पृथक् प्रवदन्ति पण्डिताः न। एकम् अपि सम्यक् आस्थितः उभयोः फलं विन्दते॥

अर्थ— अज्ञानी लोग ही सांख्य और योगको पृथक् बताते हैं, पण्डित नहीं। एकका भी सम्यक् अनुष्ठान करनेवाला दोनोंका फल पाता है।

भाव— यह 'सांख्य' है और यह 'योग' है, इन दोनोंमें ऐसा कोई भेद नहीं है। ये दोनों अभिन्न स्थिति हैं। ज्ञान, योगके विना नहीं है और योग भी ज्ञानके विना नहीं है।

मनुष्यके शरीरसे सब समय स्वभावसे जो कर्म हो रहा है, उसमें अनासक्त रहना ' योग ' है। उसी अनासक्त स्थितिको सांख्यस्थिति या ज्ञान कहा जाता है। क्योंकि कर्मसे रहित कोई स्थिति नहीं है, इस लिये योगसे पृथक् ज्ञान नामकी किसी स्थितिका होना संभव नहीं है। ज्ञानी अनासक्तिरूपी ज्ञानकी स्थितिमें रहकर कर्म करनेवाला कर्मयोगी होता है और कर्मयोगी कर्म करते हुए अनासक्तिरूपी ज्ञानकी स्थितिको अपनाये रहनेवाला ज्ञानी होता है। अनासक्त होकर कर्म करनेवालेको योगी या ज्ञानी चाहे जिस नामसे कहा जासकता है। परन्तु इस नामभेदसे न तो स्थितिमें अन्तर पडता है, और न कर्मबन्धसे मुक्तिरूपी फल मिलने में कोई अन्तर होता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५॥

अन्वय– सांख्यैः यत् स्थानं प्राप्यते योगैः अपि तत् गम्यते। यः सांख्यं योगं च एकं पश्यति सः पश्यति ॥

अर्थ— जो स्थिति ज्ञानियोंको प्राप्त होती है, वही स्थिति योगियोंको भी प्राप्त होती है। जो सांख्य और कर्मयोग को एक समझता है, वही ज्ञानी है॥

भाव — अनासक्त स्थिति ही ज्ञानी का ज्ञान और योगी की कर्मकुशलता है। कर्म सबको अवश्य करना पडता है। जो अनासक्त रहकर कर्म को करता है, उसे चाहे ज्ञानी कहो और चाहे योगी कहो। जो ज्ञान तथा योग को एक अनासक्त स्थिति के नामसे जानता है, वही ज्ञानी है

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वय–महाबाहो, संन्यासः तु अयोगतः आप्तुं दुःखम्। योगयुक्तः मुनिः न चिरेण (क्षिप्रं) ब्रह्म अधिगच्छति ॥

अर्थ— हे महाबाहो ! योगहीन पुरुषके लिये संन्यास पाना दुःख है (अर्थात् असंभव है) योगयुक्त मुनि तत्क्षण ब्रह्मको प्राप्त करलेता है।

भाव— अनासक्ति 'योग' और 'संन्यास' दोनों नामोंसे कही जाती है। जो विषयासक्त है वही अयोगी है। वही असंन्यासी है। विषयासक्त अयोगी पुरुष सुखके पीछे चलता है। उसकी दृष्टिमें सुखका पीछा छोड़ देना दुःख प्राप्त करना है। यही कारण है कि अयोगी पुरुष अनासक्तिको दुःख मानता है और उसे कदापि नहीं अपनाता। अयोगी अर्थात् भोगप्रेमी मनुष्य संन्यास नामकी इस अनासक्त स्थितिको कदापि नहीं अपना सकता। जो योगी है वह अपनी अनासक्त स्थितिको ही अपना स्वरूप ब्रह्म मानता है। योगीका अनासक्त होना ही 'ब्रह्म बनना' है। अनासक्त हो जानेसे पृथक् ब्रह्म बन जाने नामकी कोई स्थिति संसारमें नहीं है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

अन्वय—योगयुक्तः विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन् अपि न लिप्यते॥

अर्थ— योगयुक्त (अनासक्त), विशुद्धात्मा (जिस का मन आत्मस्वरूप हो गया है), विजितमन (जिसका मन वशमें है। अर्थात् जिसका मन इन्द्रियोंके रागद्वेषके पीछे न जानेवाला बन गया है), जितेन्द्रिय (जिसकी इन्द्रियां मनके वशमें आ गयी हैं), सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व जिसका स्वरूप हो चुका है, वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

भाव— यह अनासक्त स्थितिका वर्णन है। जब मन आत्मस्वरूप हो जाता है, तब वह इन्द्रियोंके रागद्वेषके बन्धनमें नहीं आता। प्रत्युत इन्द्रियां ही मनके वशमें हो जाती हैं। अनासक्त पुरुष सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेता है और कर्ताहं बुद्धि तथा फलाशासे रहित होनेके कारण कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धनमें नहीं फंसता।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ ८॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

अन्वय—युक्तः तत्त्ववित् पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन् किञ्चित् न एव करोमि इति मन्येत ॥

अर्थ— युक्त अर्थात् योगयुक्त तत्त्वदर्शी पुरुष देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्यागते, ग्रहणकरते, पलक खोलते तथा बन्द करते हुए भी, इन्द्रिय अपने विषयोंमें व्यापार कर रही हैं, यह जानकर मैं कुछ नहीं करता हूं ऐसा माने ।

भाव— जीवित देहकी इन्द्रिय अपना धर्मपालन अवश्य करती हैं। ज्ञानी होनेसे किसी की इन्द्रिय निर्जीव नहीं हो जातीं। जब इन्द्रिय अपने स्वभावानुसार विषयोंमें विचरण करती हैं उस समय ज्ञानी उनमें अनासक्त बना रहता है। अर्थात् तब ज्ञानी, अपने को कर्ता भोक्ता मानकर उन इन्द्रियोंको भोगके साधनके रूपमें कदापि प्रयुक्त नहीं करता। वह केवल इन्द्रियों के जीवित रहने के अधिकार को स्वीकार करता है। वह इस अधिकार से बाहर निकलकर अनधिकार-भोगमें उनका उपयोग कभी नहीं करता ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १० ॥

अन्वय—यः ब्रह्मणि कर्माणि आधाय संगं त्यक्त्वा करोति सः अम्भसा पद्मपत्रम् इव पापेन न लिप्यते ॥

अर्थ— जो ब्रह्ममें कर्मोंको (कर्मों के कर्तापन को) समर्पण करके संग (आसक्ति या फलाभिलाषा) को त्यागकर कर्म करता है, वह जलसे पद्मपत्र के समान, पापसे (अज्ञानसे) अलिप्त रहता है ।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

अन्वय—योगिनः संगं त्यक्त्वा केवलेन कायेन केवलेन मनसा केवलया बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैः अपि आत्मशुद्धये कर्म कुर्वन्ति ॥

अर्थ— योगी लोग भोगासक्ति को त्यागकर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा आत्मशुद्धि के लिये कर्म करते हैं ।

भाव— कर्म मनुष्य शरीरसे होता ही रहता है। मनुष्य, इस सदा होते रहने-वाले कर्म का उपयोग अपने मनको शुद्ध या अशुद्ध रखनेमें कर

सकता है। मनका आत्मस्वरूप हो जाना ही उसकी शुद्ध, केवल, या अविकृत स्थिति है। मनका अनात्मविषयों के बन्धनमें आना ही उसकी अशुद्ध, इन्द्रियासक्त, या विकृत स्थिति है। योगीका मन अविकृत रहता है। इस लिये योगीके द्वारा जो कर्म होता है, वह मनको शुद्ध रखनेके लिये ही होता है। योगी अपने मनको शुद्ध रखने के लिये जो कुछ करता है, उसमें उसके मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय उसकी निर्विकार स्थितिरूपी शुद्धताकी रक्षा करनेके साधन बन जाते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

अन्वय—युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीं शान्तिम् आप्नोति। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः निबध्यते ॥

अर्थ— योगयुक्त पुरुष कर्मफलों को त्यागकर आत्मनिष्ठारूपी शान्तिको पाता है। अयोगी पुरुष कामकार (विषयासक्तिकी प्रेरणा) से फलमें आसक्त होकर बंध जाता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्वय—वशी देही नवद्वारे पुरे नैव कुर्वन् न कारयन् सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य सुखम् आस्ते ॥

अर्थ— मनको वशमें रखनेवाला मनुष्य नौ द्वारोंवाले इस देहमें (रहता हुआ) न कुछ करता और न कुछ कराता हुआ सब कर्मोंका मनसे संन्यास करके (कर्तृत्वाभिमान त्यागकर) सुखसे रहता है।

भाव— आत्मा ही इस शरीरका देही है। जो अपने मनको इन्द्रियोंके वशमें न आने देकर उसे आत्माके वशमें रखता है, उसका इस शरीरमें रहना 'सुखसे रहना' कहाता है। क्योंकि वह अनासक्त स्थितिमें रहकर सुखदुःखके बन्धनसे अतीत हो जाता है। उसके शरीरसे जो कुछ कर्म होता है, वह उसके कर्तापनको आत्मतत्त्वमें समर्पित करके फलाशासे रहित हो जाता है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अन्वय–प्रभुः लोकस्य कर्तृत्वं न सृजति। कर्माणि न सृजति। कर्मफलसंयोगं न सृजति। स्वभावः तु प्रवर्तते॥

अर्थ— प्रभु (आत्मा) इस जगत्‌के कर्तृत्वको, कर्मोंको, और कर्म तथा फलके संबन्धको उत्पन्न नहीं करता। किन्तु स्वभाव प्रवृत्त हो रहा है।

भाव— आत्मा ही प्रभु है। कर्म उसका स्वभाव है। सृष्टि स्थिति प्रलय उसके कर्मका स्वरूप है। यह विराट् कर्म आत्माके स्वभावसे अविराम हो रहा है। क्योंकि कर्तापन उसका स्वभाव है इस लिये उसमें कर्तृत्वाभिमानका रहना असंभव है। वह ऐसा कर्ता है कि सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। उसका स्वभाव ही सब कुछ करता रहता है। इस समग्र सृष्टिमें जो कुछ हो रहा है सब उसके स्वभावसे हो रहा है। किसीको भी उसके कर्ता बननेका अधिकार नहीं है। सृष्टिमें होनेवाले इन कर्मोंका किसी फलके साथ कोई सबन्ध नहीं है। स्वभावसे होते रहनेवाले इन अहैतुक कर्मोंमें, परस्पर कार्यकारण संबन्धकी स्थापना करके, इनमेंसे कुछको 'कर्म,' और कुछको उनका 'फल' होनेकी कल्पना करलेना, भ्रान्ति है। जगत् ही एक विराट् कर्म है। जगत् में कर्म ही कर्म हो रहा है। यहां फल नहीं हो रहा है। जिसको फल होना समझा जाता है, वह भी इस अहैतुक सृष्टिव्यवस्थाका कर्म ही है। कर्मके इस स्वरूपको जानते ही मनुष्य कर्मोंमें अनासक्त, अकर्ता और अफलाकांक्षी बन जाता है। कर्मोंमें अनासक्त, अकर्ता तथा अफलाकांक्षी बना देना ज्ञानकी स्थितिका काम है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ १५॥

अन्वय–विभुः कस्यचित् पापं न आदत्ते, सुकृतं च एव न (आदत्ते) अज्ञानेन ज्ञानम् आवृतम्। तेन जन्तवः मुह्यन्ति॥

अर्थ— विभु (सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व) किसीके पापको या सुकृतको ग्रहण नहीं करता। अज्ञानसे ज्ञान आवृत हो जाता है। उससे मनुष्य मोहित हो जाते हैं।

भाव— विभु अर्थात् सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व मनुष्यके ज्ञानकृत या अज्ञानकृत दोनों प्रकारके कर्मोंमें अलिप्त रहता है। अर्थात् ये दोनों उसके

स्वभावसे होते रहते हैं। मनुष्यशरीरसे जो कुछ कर्म किये जाते हैं, उनमें विभुका स्वाभाविक कर्तापन होता है। अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानीके सुकृत और दुष्कृत भी विभुके स्वभावसे किये जानेवाले सृष्टिके संपूर्ण कर्मोंमें सम्मिलित हैं। विभु ज्ञानी या अज्ञानीके कर्मोंको ग्रहण नहीं करता, इसका यही अभिप्राय है कि उसका कर्तापन एकके कर्ममें वर्तमान रहता हो, और दूसरेके कर्मसे अनुपस्थित रहता हो, ऐसा नहीं होता। जब मनुष्य आत्मतत्त्वकी इस अलिप्त स्थितिको अपना स्वरूप जान लेता है, तब वह अपने शरीरसे किये हुए कर्ममें अपने कर्तापनको समझनेकी और उस कर्मसे फलाशा रखनेकी भ्रान्ति नहीं करता। अज्ञानी ऐसी ही भ्रान्ति करके कर्मबन्धनमें फंस जाता है।

अज्ञानी लोग कर्मोंके संबन्धमें आत्मतत्त्वकी इस अलिप्त स्थितिको न जाननेके कारण ही अपनेको प्रभुसे पृथक् कर्म करनेवाला मान कर, फलासक्तिरूपी अज्ञानमें बंध जाते हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

अन्वय—येषां तु तत् अज्ञानम् आत्मनः ज्ञानेन नाशितं तेषां तत् ज्ञानम् आदित्यवत् परं प्रकाशयति ॥

अर्थ— जिनका वह अज्ञान स्वरूपज्ञानसे नष्ट कर दिया जाता है, उनका ज्ञान, पर तत्त्वको सूर्यके समान प्रकाशित कर देता है।

भाव— कर्म आत्मतत्त्वके स्वभावसे हो रहा है। किसीको इस कर्मका कर्ता बनने, या इसका फल चाहनेवाला बननेका, अधिकार नहीं है। अपने इस अधिकारको जानलेना ही 'ज्ञान' है। आत्मस्वरूपमें अपने अहंकारको विलीन करके ज्ञानी बन जाना ही 'अज्ञानको नष्ट करदेना' है। इस आत्मज्ञानसे जिसका अज्ञान विनष्ट हो जाता है, उसका ज्ञान, आत्मतत्त्वरूपी अपने स्वरूपको, इस प्रकार प्रकाशित कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अपने आपको प्रकाशित कर देता हो। ज्ञान ही अपने आपको प्रकाशित करदेनेवाला परमात्मतत्त्व है। परमात्मतत्त्व ही अपने आपको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

अन्वय–तद्बुद्धयः तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति ॥

अर्थ— जिनकी बुद्धि आत्मामें है, जिनका मन आत्मामें है, जिनकी निष्ठा आत्मामें है, और आत्मा ही जिनका प्रेमास्पद है, (अनासक्तिरूपी) ज्ञानसे जिनका (विषयासक्तिरूपी) अज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे पुरुष अपुनरावृत्तिको प्राप्त हो जाते हैं (अर्थात् पुनरावृत्ति नहीं होती, इस सचाईको पहचान जाते हैं) ।

भाव— अनासक्त ज्ञानी आत्मतत्त्वको ही अपना स्वरूप जानकर, जन्ममरण की भ्रान्तिसे अतीत हो जाता है ।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

अन्वय–पण्डिताः विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि श्वपाके च समदर्शिनः ॥

अर्थ— पण्डित लोग विद्याविनयसंपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समदर्शी होते हैं ।

भाव— ज्ञानी तथा अज्ञानी मनुष्यों में तथा सब मनुष्येतर प्राणियों में ज्ञानी के समदर्शी होने का यही अभिप्राय है कि उसकी दृष्टिमें अपने अपने स्वभाव को प्राप्त करने में इन सबका अपना कर्तापन नहीं है। यह विचित्रताओं से पूर्ण सृष्टि सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व के स्वाभाविक कर्तापन से ही उत्पन्न हुई है । ज्ञानी इस सत्वको जानकर भिन्नभिन्न स्वभाव रखनेवालों के साथ यथोचित वर्ताव करने में अपनी अनासक्त स्थितिको समान भावसे बनाये रहता है । यही उसका 'समदर्शन' है ।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

अन्वय--येषां मनः साम्ये स्थितं तैः इह एव सर्गः जितः । हि ब्रह्म निर्दोषं समं च तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः ॥

अर्थ— जिनका मन साम्यावस्था में स्थित है, उन्होंने संसारबन्धनको इसी संसार में जीत लिया है। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष तथा सम है इस लिये वे ज्ञानी लोग ब्रह्म में स्थित हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥

अन्वय—यः प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत् अप्रियं प्राप्य च न उद्विजेत् सः स्थिर-बुद्धिः असंमूढः ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः (अस्ति)॥

अर्थ— जो प्रिय को पाकर हृष्ट नहीं होता और अप्रिय को पाकर उद्विग्न नहीं होता, वह स्थिरबुद्धि, मोहरहित पुरुष ब्रह्मज्ञानी है और ब्रह्ममें स्थित है।

भाव— इन्द्रियोंके रागद्वेषोंके बन्धनमें फंसकर प्रिय अप्रियकी प्राप्तिमें हर्षशोकाधीन हो जाना ही आत्मस्वरूप कल्याणको विस्मृत कर देना है। ब्रह्ममें स्थित हो जाना, और प्रिय अप्रियके अतीत अनासक्त स्थिति रूपी कल्याणको अपना लेना दोनों एक बात हैं। जो पुरुष इन्द्रियों-के रागद्वेषके अतीत, स्थिरबुद्धि तथा भ्रान्तिशून्य है वह ब्रह्मज्ञानी है तथा ब्रह्ममें स्थित है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ २१॥

अन्वय—बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा आत्मनि यत् सुखं विन्दति तत् (एव) अक्षय्यं सुखं स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा अश्नुते॥

अर्थ— बाह्य विषयोंमें अनासक्त पुरुष आत्मामें जिस सुखको पाता है, उसी अक्षय सुख को वह (ऊपरके श्लोकोंमें वर्णित) ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्मज्ञानी) भी पाता है।

भाव— इन्द्रियासक्त न होनेकी स्थितिको ही 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' होनेकी स्थिति माना जाता है। इन्द्रियासक्त न होनेकी स्थितिका ही दूसरा नाम ब्रह्मयोग, ब्रह्मज्ञान, या ईश्वरदर्शन है। ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, ब्रह्म-ज्ञानी और ईश्वरदर्शी पुरुषोंमें इन्द्रियासक्त न होनेका ही महत्त्व है, यही इस श्लोकका अभिप्राय है। विषयभोगोंमें अनासक्ति ही ईश्वरदर्शी का ईश्वरदर्शन, ब्रह्मज्ञानीका ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मयोगयुक्ता-त्माका ब्रह्मयोग आदि सब कुछ है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ २२॥

अन्वय–कौन्तेय, ये हि संस्पर्शजाः भोगाः ते दुःखयोनयः एव आद्यन्तवन्तः च। तेषु बुधः न रमते॥

अर्थ— हे कौन्तेय! जो संस्पर्शज (अर्थात् इन्द्रियों तथा विषयोंके संपर्कसे उत्पन्न होनेवाले) भोग हैं वे दुःखोंके उत्पादक हैं और उत्पत्ति-विनाश स्वभाववाले हैं। ज्ञानी उनमें नहीं रमता।

भाव— ज्ञानी इन्द्रियासक्त नहीं होता। अज्ञानी मनुष्य विषयोंको भोगनेमें सुख माना करते हैं। जिन विषयोंमें इन्द्रियोंको राग है उनको इन्द्रियोंसे भोगना कदापि दुःखदायी नहीं है। यदि उन्हें भोगना दुःखदायी होता, तो अज्ञानी लोग भी उन्हें भोगकर दुःख उठानेसे बचते हुए पाये जाते। इन्द्रियों का विषयोंमें रागद्वेष होना ही यह सिद्ध कर रहा है कि विषय, सुख भोगने और दुःख त्यागने के उपयोगमें आने के लिये हैं। इन्द्रियां जिन विषयोंमें सुख मानती हैं, अवश्य ही उन विषयोंमें इन्द्रियोंको सुख पहुंचानेवाली शक्ति विद्यमान है। अतः विषयभोग करना दुःखका कारण है, यह सिद्धान्त सत्य नहीं है। इन्द्रियासक्त अज्ञानीके लिये तो विषय निश्चित रूपसे सुखदायी हैं। इसके अतिरिक्त विषय-सुखपर उसे दुःखदायी सिद्ध करनेके लिये, जो उत्पत्तिविनाशशील होनेका दूसरा दोष, लगाया गया है, वह भी विषयसुखको दुःखदायी मनवानेका पर्याप्त कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि इन्द्रियासक्त अज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंको सुख देनेवाले विषयोंको छोड़ना नहीं चाहते और इन्द्रियसुखसे वंचित करनेवाली निर्विषय स्थितिको अपनाना दुःखदायी मानते हैं; और उन उत्पत्तिविनाशशील विषयोंसे जितना सुख मिल सके उतना ले लेना चाहते हैं।

वस्तुतः इस श्लोकमें केवल ज्ञानीकी मनोदशाका वर्णन है; और उसका वर्णन करनेके लिये ही विषयभोगोंको दुःखदायी और उत्पत्ति-विनाशशील कहा गया है। इस लिये यहांपर ये दोनों कारण अज्ञानियोंको विषयभोगसे निरुत्साहित करनेके लिये विषयोंके दोषके रूपमें स्वीकार नहीं किये गये। पहले श्लोकोंमें स्पष्ट बताया जा चुका है कि ज्ञानी पुरुष अनासक्तिरूपी अक्षय ब्रह्मसुखको प्राप्त कर लेता है। अब इस श्लोकमें यह बताया जा रहा है कि ज्ञानी

पुरुष उस स्थितिमें रहकर विषयोंके साथ कैसा वर्ताव करता है और उन विषयोंको कैसा समझता है ? क्योंकि ज्ञानी पुरुषको स्वभावसे अनासक्त स्थिति रूपी अक्षय ब्रह्मसुख प्राप्त हुआ रहता है, इस लिये अज्ञानियोंको ललचानेवाले विषयसुख उसे इन्द्रियासक्तिमें कदापि नहीं फांस सकते। ज्ञानीकी दृष्टिमें अनासक्त स्थितिको त्यागना ही दुःख होता है। यही कारण है कि विषयसुख नामकी क्षणिक वंचना ज्ञानीके सामने आकर स्वयं दुःखका रूप पालेती है, और ज्ञानीको विचलित करनेमें असमर्थ होकर भाग जाती है। विषय-भोग करना दुःख है, यह बात केवल ज्ञानी ही समझ सकता है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३॥

अन्वय–यः शरीरविमोक्षणात् प्राक् इह एव कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं शक्नोति सः नरः युक्तः सः सुखी च॥

अर्थ— जो शरीरविमोक्षणसे प्रथम इस संसारमें ही कामक्रोधोंसे उत्पन्न वेगोंको सह सकता है, वही योगी और वही सुखी है।

भाव— विषयोंमें रागद्वेषको ही 'कामक्रोधका वेग' कहा जाता है। विषयासक्तिकी उपेक्षा करनेमें समर्थ हो जाना ही 'कामक्रोधोंके वेगोंको सहन करना' है। जिसके पास अनासक्त स्थिति है, वही विषयासक्तिको परास्त करनेमें समर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं। आत्मस्थ रहकर अखण्ड ब्रह्मसुखका अधिकारी बने रहना ही युक्त तथा सुखी होनेका अभिप्राय है। यही मानवजीवनका उद्देश्य है। मनुष्य-शरीर धारण करके मानवजीवनके उद्देश्यको प्राप्त न करना अर्थात् उसे स्थगित रखना ज्ञानीकी दृष्टिमें आत्महत्या है। इसलिये ज्ञानी अखण्ड ब्रह्मसुखप्राप्ति के लिये इस नाशवान् शरीरका सदुपयोग करलेनेमें क्षणभर भी आलसी बननेको उद्यत नहीं हो सकता। प्रतिक्षण इस नाशवान शरीरकी नाशसंभावना वर्तमान है। इसलिये ज्ञानी वर्तमानमें अनासक्त स्थितिमें रहता है, और विषयासक्तिरूपी कामक्रोधोंसे उत्पन्न वेगोंको पराभूत करता हुआ जीवनके प्रत्येक क्षण विजयी बना रहता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

अन्वय—यः अन्तःसुखः अन्तरारामः तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव सः ब्रह्मभूतः योगी ब्रह्मनिर्वाणम् अधिगच्छति ॥

अर्थ— जो अन्तःसुखी है, जो अन्तराराम है, जो अन्तर्ज्योति है, वह ब्रह्मस्वरूप योगी ब्रह्मलीनताको पाता है ।

भाव— इस श्लोकमें सुख शब्द आनन्दका, आराम शब्द शान्तिका, तथा ज्योति शब्द ज्ञानका वाचक है। सुखका स्थायी होना ही 'शान्ति' है। उस सुखकी अभ्रान्ततामें ही 'ज्ञान' है। यों सुख, शान्ति और ज्ञान तीनों साथ साथ रहनेवाले हैं। इन्द्रियातीत आत्मस्वरूप ही जिसके सुखका साधन है, शान्तिका आश्रय है, और ज्ञानका प्रकाश है, ऐसा योगी स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो चुका है। बाह्य विषयोंको इन्द्रियोंके द्वारा भोग करनेकी प्रवृत्ति अपने स्वरूपको भुलानेवाली होती है। आसक्ति मनुष्यके मनको बहिर्मुख बना देती है। मनका बहिर्मुख हो जाना ही दुःख, अशान्ति तथा अज्ञान है। सुखके लिये इन्द्रियोंके बन्धनमें आना 'दुःख' है। शान्तिके लिये अस्थिर विषयोंमें रमना 'अशान्ति' है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको जाननेकी इच्छा 'अज्ञान। है। मनकी अनासक्त स्थिति ही मनका अन्तर्मुख होना है और यही सुख, शान्ति तथा अज्ञानातीत अवस्था है। इसी अवस्थाको 'ब्राह्मी-स्थिति' या ब्रह्मलीनताकी अवस्था भी कहा जाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

अन्वय—क्षीणकल्मषाः छिन्नद्वैधाः यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः ऋषयः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते ॥

अर्थ— अज्ञानमुक्त, संशयरहित, संयतेन्द्रिय, तथा सर्वभूतहितरत (अर्थात् अनासक्तिमें स्थित) ऋषि (अर्थात् आत्मदर्शी) ब्रह्मलीनताको पाते हैं।

भाव— इस श्लोकमें अनासक्तिकी महिमा गायी जा रही है। जो मनुष्य ब्राह्मी-स्थितिमें रहता है विषयोंमें अनासक्त रहना उसका स्वभाव हो जाता है। अर्थात् अनासक्तिको ही ब्राह्मी-स्थिति कहना चाहिये। अनासक्त पुरुषमें आत्मविस्मृतिरूपी अज्ञान नहीं पाया

जाता । वह किसी अप्राप्त सुखके लिये अनिश्चित उद्यम कभी नहीं करता । उसकी इन्द्रिय मनके वशमें रहती हैं । उसका अनासक्त-स्थितिमें रहना ही सर्वभूतहित करनेकी अवस्था है ।

मनुष्य अपना ही हित या अहित करनेमें समर्थ होता है । ज्ञानी बने रहना ही अपना हित करना है और अज्ञानी बने रहना अपना अहित करना है । दूसरेके हिताहित करनेकी इच्छा अज्ञान है । जब मनुष्य अज्ञानी बनकर अपना अहित कर डालता है, तब ही दूसरे का हित या अहित करने का प्रयत्न करता हुआ पाया जाता है । ज्ञानी अनासक्त रहकर अपना हित कर लेता है । अपने इस हितको कर लेनेपर फिर ज्ञानीके मनमें किसी दूसरेका हित या अहित करनेकी भ्रान्ति नहीं रहती । ज्ञानी अनासक्तिके रूपमें ही समदर्शन करता है । यह समदर्शन ही ज्ञानीका 'सर्वभूतहितरमण' है ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

अन्वय–कामक्रोधवियुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनां यतीनाम् अभितः ब्रह्म-निर्वाणं वर्तते ॥

अर्थ–– कामक्रोधसे रहित, संयतचित्त, आत्मतत्त्वारूढ योगियोंके पास सर्वावस्थामें ब्रह्मानन्द उपस्थित रहता है ।

भाव— अनासक्तिरूपी ब्राह्मी स्थितिमें स्थित हुए योगियोंके स्वभावका वर्णन किया जा रहा है । वे इन्द्रियोंके रागद्वेषसे मुक्त होते हैं । उनका मन आत्मस्वरूप हो जाता है । वे आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेते हैं । वे जीवनके प्रतिक्षण सर्वावस्थामें ब्रह्मस्वरूप बने रहते हैं ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अन्वय–बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा चक्षुः च भ्रुवोः अन्तरे कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा यः यतेन्द्रियमनोबुद्धिः मोक्ष-परायणः विगतेच्छाभयक्रोधः मुनिः सः सदा मुक्तः एव ॥

अर्थ— बाह्य विषयोंको बाहर ही रखकर (उन्हें अपनी इन्द्रियोंके भोग्य बननेका अधिकार न दे कर, अर्थात् बाह्य विषयोंको इन्द्रियभोग्य रूपमें अस्वीकार करके), अपनी दृष्टिको भौओंके बीचमें रखकर (अपनी दृष्टिको आसक्ति के साथ किसी पदार्थमें न जाने देकर, अर्थात् संसारको विषयान्वेषण करनेवाली आंखोंसे न देखकर, आंखोंको आंखों में ही रखकर, आंखोंको विषयोंमें भटकनेवाली आंख न बनने दे कर), नासिकाचारी प्राणापानोंको (जीवन और मृत्युको) समान करके (अपने जीवन मरणसे अतीत स्वरूपको जानकर), इन्द्रिय, मन और बुद्धिको (आत्मतत्त्वके) वशमें रखनेवाला जो मोक्षपरायण तथा इच्छा, भय और क्रोधसे मुक्त मुनि है, वह सदा (सब व्यवहारोंको करता हुआ भी) मुक्त है।

भाव—ज्ञानी नित्य मुक्त है। उसकी अनासक्त स्थिति ही उसकी मुक्तिका स्वरूप है। इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिको वशमें रखना ही 'अनासक्ति' है। जब मनुष्य अनासक्त हो जाता है, तब बाह्य विषय उसे भोगमें आकृष्ट करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। क्योंकि उस समय उसकी दृष्टि आत्मस्वरूपके दर्शनसे परितृप्त रहती है। वह जीवनमरणके अधीन रहनेवाले शरीरके बन्धनसे अतीत आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेता है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

अन्वय—यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वभूतानां सुहृदं मां ज्ञात्वा शान्तिम् ऋच्छति ॥

अर्थ— यज्ञों और तपोंके भोक्ता (अनासक्त स्थितिके और उसमें रहकर किये हुए कर्मोंके आनन्दरूपी फलको भोगनेवाले), संपूर्ण सृष्टिके एकमात्र महेश्वर, सब भूतोंके सुहृद (सबसे अपनाये जानेवाले एकमात्र मित्र), आत्मतत्त्वको जानकर (मनुष्य) शान्तिको पाता है (आत्मतत्त्वको जान लेना ही शान्ति है)।

भाव— पहले श्लोकोंमें कहीं तो ज्ञानीका वर्णन तथा कहीं अनासक्तिरूपी ज्ञानका वर्णन करनेके पश्चात् अब शान्तिके स्वरूपका निर्णय करके यह बताया जा रहा है कि — ज्ञान ही ' शान्ति ' है। मनुष्य सब

समय शान्ति ही चाहता है। शान्ति पानेके लिये ज्ञानको छोड़कर कहीं अन्यत्र भटकना अज्ञानरूपी अशान्तिको अपनाये रहना है। अपने स्वरूपको जान लेना ही 'ज्ञान' है। आत्मतत्त्व अनासक्तिके आनन्दका ही भोग करता रहता है। अनासक्तिरूपसे प्रकट होनेवाला आनन्द ही अनासक्त कर्मोंका फल है। इस बातको जान लेना 'आत्मस्वरूपको जानना' और 'शान्तिको पाना' है।

इतिश्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पंचमषष्ठाध्यायसंगति–

पांचवें अध्यायमें सांख्यस्थितिको ही संन्यास नामसे बताया गया है। छटे अध्यायमें उसी संन्यासका व्यवहारानुगत रूप बताया जा रहा है।

षष्ठ अध्याय

(आत्मसंयमयोग)

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १॥

अन्वय–कर्मफलम् अनाश्रितः यः कार्यं कर्म करोति स संन्यासी योगी च। निरग्निः संन्यासी योगी च न। अक्रियः च संन्यासी योगी च न॥

अर्थ— जो कर्मफलकी आशा न रखकर कर्तव्यकर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। निरग्नि और अक्रिय पुरुष न तो संन्यासी है और न योगी है।

भाव— फलासक्तिसे रहित होकर कर्म करनेको 'संन्यास' तथा 'योग'का नाम दिया जा रहा है। अर्थात् 'संन्यास' और 'योग' एक दूसरेसे भिन्न नहीं हैं। दूसरे शब्दोंमें मनकी अनासक्त स्थिति ही 'संन्यास' भी है और 'योग' भी है। अनासक्त हो जानेपर, कर्मत्याग करके अक्रिय बन जानेकी भ्रान्त इच्छा, तथा अग्निके साथ संबन्ध छोड़कर संन्यासी बन सकने की भ्रान्ति, असंभव बन जाती है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥

अन्वय–पाण्डव, यं संन्यासम् इति प्राहुः तं योगं विद्धि। हि असंन्यस्तसंकल्पः कश्चन योगी न भवति॥

अर्थ— हे पाण्डव! जिसको संन्यास कहते हैं तुम उसीको योग जान लो। क्योंकि संकल्प (फलासक्ति) को न त्यागनेवाला कोई भी 'योगी' नहीं हो सकता।

भाव— फलासक्तिको त्यागना 'संन्यास' है। जब तक कोई पुरुष फलासक्तिको नहीं त्याग देगा, तबतक अनासक्त कर्म करनेवाला योगी नहीं बन सकेगा। योगीके पास अनासक्ति तथा अनासक्त कर्म, ये दोनों रहने चाहियें। दूसरे शब्दोंमें योगी ही 'संन्यासी' होते हैं और संन्यासी ही 'योगी' होते हैं।

अर्जुनने 'संन्यास' और 'योग' को दो भिन्नभिन्न मार्ग मानकर जो प्रश्न किया था, उसीके उत्तरके रूपमें इस श्लोकमें अब फिर 'संन्यास' तथा 'योग' को एक बताया जा रहा है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वय—योगम् आरुरुक्षोः मुनेः कारणं कर्म उच्यते। योगारूढस्य तस्य एव मुनेः कारणं शमः उच्यते ॥

अर्थ— योगारुरुक्षु मुनिका कारण 'कर्म'को कहा जाता है, और योगारूढ उसी मुनिका कारण 'शम'को कहा जाता है।

भाव— इस श्लोकमें योगारोहण करनेकी इच्छावाले तथा योगपर आरूढ हो चुकनेवाले दोनोंको 'मुनि' कहकर इन दोनोंकी एकता उद्घोषित की जा रही है। यद्यपि दो पृथक् नामोंसे दो पृथक् स्थिति समझी जा सकती हैं, परंतु दोनोंको 'मुनि' कहनेसे ये दोनों फिर एक सिद्ध होती हैं। ऐसी अवस्थामें ये दोनों दो स्थिति हैं या एक ही स्थिति हैं? इस बातका निर्णय करलेना अवश्यक है।

जो योगारूढ नहीं है, उसे निःसंदेह भोगारूढ होना चाहिये। यदि योगारुरुक्षु योगारूढ न हो, और उसकी अवस्था योगारूढकी अवस्थासे पृथक् अवस्था हो, तो योगारुरुक्षुको भोगारूढ कह देना पडेगा। उस अवस्थामें भोगारूढ रहकर भी 'मुनि' नामसे कहा जाना स्वीकृत हो जायगा। यह 'मुनि' शब्द का दुरुपयोग होगा।

इसके अतिरिक्त अनासक्त स्थितिका ही दूसरा नाम 'योग' है, यह बात पहले श्लोकोंमें बार बार कही जा चुकी है। यदि अनासक्त स्थितिको पानेकी इच्छा रखनेवालोंमें और अनासक्त स्थितिको प्राप्त कर चुकनेवालोंमें अन्तर होने की कल्पना की जायगी तो अनासक्त स्थितिको पानेकी इच्छा रखनेवाले योगारुरुक्षुको इन्द्रियासक्त मान लेना पडेगा।

इन्द्रियासक्तको योगारुरुक्षु नाम से कहना भी योग शब्दका दुरुपयोग होगा। इस लिये निम्न बातें माननी पड़ती हैं कि (१) मुनि और योगीमें कोई अन्तर नहीं है, (२) योगारुरुक्षु मुनि भी अनासक्त स्थितिमें प्रेम रखनेवाला 'योगी' है, तथा (३) योगारूढमें और योगारुरुक्षु में कोई अन्तर नहीं है। इस दृष्टिसे इस श्लोकसे निम्न प्रकारका भाव ग्रहण करना उचित है।

जो मनुष्य अनासक्त स्थितिसे प्रेम रखता है, वह अनासक्त हो चुका है, और उसका वह प्रेम ही उससे निष्काम कर्म कराता रहता है। अर्थात् वह निष्काम कर्म करके ही अनासक्त स्थिति के आनन्द को प्राप्त करता रहता है। उसकी अनासक्त स्थिति उसे कर्मत्यागने की भ्रान्तिसे बचाये रहती है, और उससे कर्म कराती रहती है। यों 'कर्म' ही उसकी अनासक्त स्थिति की रक्षा का साधन बन जाता है। उसकी दृष्टिमें 'कर्म' के विना अनासक्ति नामकी किसी स्थिति का रहना असंभव है। योगारुरुक्षुके 'कर्म' करते रहने का यही रहस्य है। यह योगारुरुक्षु योगारूढ से भिन्न नहीं है।

योगारूढ नामसे कहा जानेवाला वह अनासक्तयोगी निष्काम स्थितिमें रहकर कर्म करता है। निष्काम स्थितिमें रहकर कर्म करता हुआ वह जिस 'शान्ति'को पाता है, वह 'शान्ति' ही उसके 'कर्म' का प्रेरक होती है। वह 'शान्ति'के आतिरिक्त दूसरे किसी फल की प्रतीक्षा नहीं करता। निष्काम स्थिति रूपी 'शान्ति' ही उसकी योगारूढ स्थिति का साधन या निष्काम कर्म करने का प्रेरक बन जाती है।

अनासक्त होनेकी इच्छा और अनासक्ति एक दूसरेसे भिन्न स्थिति नहीं हैं। इस श्लोकमें योगारूढ को निष्काम स्थिति का अधिकारी तथा योगारुरुक्षुको निष्काम कर्म करनेवाला बताकर, इन दोनोंकी एकता सिद्ध की गई है।

श्लोकके पूर्वार्धमें 'कर्म'को योगारुरुक्षुत्व (योगप्रेम) का साधन बताया गया है। उत्तरार्धमें 'शम'को योगारूढ स्थितिका साधन बताया गया है। इन दोनों वाक्यों के द्वारा 'कर्म' और 'शम' दोनों, योग की स्थितिके साथ समान संबन्ध रखनेवाले स्वीकृत हो

रहे हैं। क्योंकि योगारूढता और योगप्रेम इन दोनोंका एक दूसरेसे पृथक् रहना संभव नहीं है, इस लिये योगप्रेम तथा योगस्थिति को प्रकट करनेवाले साधन का भी भिन्न भिन्न होना संभव नहीं है। वह साधन यदि 'कर्म' हो तो उस में निष्काम स्थिति रूपी शमका रहना अनिवार्य है, और यदि वह साधन 'ज्ञान' हो तो उसमें निष्काम कर्मका रहना अनिवार्य है। इस लिये इस श्लोकमें जैसे 'योगारुरुक्षु' और 'योगारूढ' को एक कहा गया है इसी प्रकार 'कर्म' और 'शम'को भी एक स्वीकार किया गया है। अर्थात् इस श्लोकमें निष्काम कर्म नामक कर्मयोग और शमनामकी सांख्यस्थिति की एकता का भी प्रतिपादन किया गया है।

योगारूढ हो जानेपर ही मनुष्य योगारुरुक्षु (अर्थात् योगपर प्रेम रखनेवाला) होता है। जिसे योगपर प्रेम है वह निश्चय ही योगारूढ है। योगारूढ हुए विना योगप्रेम का होना असंभव है। यों 'योग' अर्थात् अनासक्तिरूपी ज्ञान अपने आप ही अपना साधन है। यह स्थिति किसी दूसरे साधनपर निर्भर रहनेवाली स्थिति नहीं है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

अन्वय—सर्वसंकल्पसंन्यासी यदा हि न इन्द्रियार्थेषु अनुषज्जते न च कर्मसु अनुषज्जते तदा योगारूढः उच्यते ॥

अर्थ— जब मनुष्य सर्वसंकल्पसंन्यासी बनकर इन्द्रियभोग्य पदार्थों में और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता, तब उसे 'योगारूढ' कहा जाता है।

भाव— पहले श्लोकमें बताये हुए योगारुरुक्षुको कर्म करनेवाला और योगारूढ को कर्म छोड़कर बैठ जानेवाला समझने की जो भ्रान्ति आपात दृष्टिसे हो सकती है, इस श्लोकमें योगारूढ के लक्षणमें 'कर्म' की उपस्थिति को स्वीकार करते हुए उसी का उन्मूलन कर दिया गया है। क्योंकि योगारुरुक्षु योगारूढसे पृथक् स्थिति नहीं रखता, इसीसे योगारुरुक्षु का पृथक् वर्णन करना अनवश्यक समझा गया है।

यदि योगारुरुक्षु होने को योगारूढ स्थिति का सोपान स्वीकार किया जाता, तो उसके स्वरूप को भी पृथक् महत्त्व देकर यहां वर्णन करना चाहिये था। पहले श्लोकमें कहा गया है कि योगारुरुक्षु का

साधन 'कर्म' है, परन्तु अब 'कर्म' का स्वरूप बताने के अवसरपर उसे न बताकर, उसके स्थानपर केवल योगारूढ की शमकी स्थिति के वर्णन करने का अभिप्राय, 'कर्म' और 'शम' इन दोनोंकी एकता बताना है। इस श्लोकमें 'शम' को सर्वसंकल्पसंन्यासके नामसे उपस्थित किया गया है। इस में योगारूढ को 'सर्वकर्मसंन्यासी' नहीं कहा गया। प्रत्युत 'कर्मासक्तिहीन' कहा गया है। इससे योगारूढमें कर्म की उपस्थिति अनिवार्य मानी गई है। उसे केवल कर्ममें आसक्ति न रखनेवाला सर्वसंकल्पसंन्यासी बताया गया है। यह श्लोक बताना चाहता है कि योगी विषयवासनारूपी संकल्प को त्यागनेसे ही 'योगी' होता है। इसी कारण वह फलाकांक्षासे रहित होकर अनासक्त कर्म करनेवाला होता है।

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

अन्वय–आत्मना आत्मानम् उद्धरेत् आत्मानं न अवसादयेत्। हि आत्मा एव आत्मनः बन्धुः। आत्मा एव आत्मनः रिपुः॥

अर्थ— मनसे मनका उद्धार करे, मन को विनष्ट न होने दे। क्योंकि मन ही मनका बन्धु है और मन ही मनका रिपु है।

भाव— अनासक्ति रूपी योग पर आरूढ होने के मार्ग का विघ्न क्या है और उसे हटाने का साधन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दिया जा रहा है—अनासक्त न होना ही अनासक्ति का एकमात्र विघ्न है। अर्थात् आसक्ति ही अनासक्तिका विघ्न है। उस विघ्न को दूर करने का साधन भी अनासक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। आसक्ति और अनासक्ति ये दोनों भिन्न भिन्न परिस्थितियों में गये हुए मन के ही नाम हैं। जब मन इन्द्रियों के राग द्वेषों को अपना लेता है तब उसे 'आसक्ति' कहा जाता है। जब मन इन्द्रियातीत आत्मतत्त्व को अपना लेता है तब उसे 'अनासक्ति' कहा जाता है। मन का यह स्वभाव है कि वह या तो इन्द्रियों के बन्धन में आ जाता है या आत्मा हो जाता है। आत्मस्वरूप बना हुआ मन ही 'अनासक्ति' या 'शुद्ध मन' कहाता है। शुद्ध मन अपना उद्धार कर चुका है। मन का शुद्ध होना उद्धार का कारण नहीं हैं, किन्तु

मन का शुद्ध हो जाना ही ‘उद्धार’ है। मन अशुद्ध होकर आत्म-विस्मृति में पड जाता है और ‘आत्महत्या’ करता है। शुद्ध रहनेवाला मन अपने आप ही अपना ‘मित्र’ तथा अशुद्ध रहनेवाला मन अपने आप ही अपना ‘शत्रु’ है। इन्द्रियों के द्वारा विषयभोग करने की स्वतंत्रता या इन्द्रियातीत आत्मतत्त्व में रमण करने की स्वतंत्रता ही मन का स्वरूप है। इस स्वतंत्रता को भोग के उपयोग में लानेवाला मन, अपने आप अपना ‘शत्रु’ बनकर, सुखदुःख के बन्धन मे फंस जाता है। परन्तु इसी स्वतंत्रता को अपनी अनासक्ति के कारण भोगत्याग के उपयोग में लानेवाला मन, अपने आप ही अपना ‘मित्र’ बन जाता है और सुखदुःख के बन्धन से अतीत अटल ब्राह्मी स्थिति में अवस्थित हो जाता है।

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ ६॥

अन्वय–येन आत्मना एव आत्मा जितः तस्य आत्मनः बन्धुः आत्मा। अनात्मनः (पुरुषस्य) शत्रुत्वे तु आत्मा एव शत्रुवत् वर्तेत॥

अर्थ––जिसने मनसे मनको जीत लिया मन ही उसके मनका बन्धु है। अनात्मा (जिसने मनको नहीं जीता उस) की शत्रुता करनेमें मन ही शत्रुके तुल्य वर्ताव करता है।

भाव— जिसने अनासक्तिके द्वारा आसक्तिको जीत लिया है, उसकी उस अनासक्त स्थिति की सहायता करनेवाला एकमात्र मित्र अनासक्ति ही है। उसका इससे दूसरा कोई मित्र नहीं है। जिसने आसक्तिको अपनाकर, अपने साथ, अपने को बन्धनमें फांस लेने रूपी शत्रुताकी है, उससे शत्रुता करनेवाली उसीकी आसक्ति है। उसका आसक्तिरूपधारी अशुद्ध मन ही उससे शत्रुता करनेवाला है। यदि मनुष्य अमासक्त है तो वह अपने आप ही अपना ‘मित्र’ है और यदि मनुष्य आसक्त है तो अपने आप ही अपना ‘शत्रु’ है। शत्रु या मित्र बाहर नहीं है। आसक्ति और अनासक्ति इन दो रूपों में प्रकट हुए अशुद्ध या शुद्ध मन ही अपने आपको गिरानेवाले या मुक्त रखनेवाले ‘शत्रु’ या ‘मित्र’ बन जाते हैं।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ ७॥

अन्वय—जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः समाहितः (भवति)।

अर्थ— मनको जीतनेवाले निर्विकार पुरुषका परमात्मा (अनासक्त मन) शीत, उष्ण, सुख, दुःख तथा मान-अपमानों में समाहित (स्थिर) रहता है ।

भाव—अनासक्ति ही जीते हुए मनका स्वरूप है । उस स्थिति में मनुष्य शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान आदि द्वन्द्वोंसे अतीत रहता है। शरीर में जो स्वाभाविक परस्परविरोधी अनुभूति होती हैं, उन सबको शरीर का ही स्वभाव जानकर, उनसे अलिप्त रहना, भौतिक सुखदुःख देनेवाली अवस्थाओं की प्राप्ति में रागद्वेषसे हीन बने रहना, तथा दूसरोंसे किये हुए मान अपमान समझे हुए वर्तावोंसे अपने को सम्मानित वा अपमानित न समझकर स्वयं अपनी ओरसे अपनी अनासक्त अटल स्थिति में सम्मानित बने रहना ही अनासक्त स्थिति में रहनेवाले शुद्ध मनका स्वभाव होता है ।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

अन्वय—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थः विजितेन्द्रियः समलोष्टाश्मकांचनः योगी युक्त इति उच्यते ॥

अर्थ— ज्ञान (अनासक्त स्थिति) और विज्ञान (अनासक्त स्थिति के अनुगामी कर्म से प्राप्त आनन्द) से तृप्त मनवाला, कूटस्थ (निर्विकार), जितेन्द्रिय, मिट्टी, पत्थर तथा सुवर्ण के संबन्ध में अपने मनको सम रखनेवाला योगी, युक्त (योगारूढ) कहाता है।

भाव— योगारूढ पुरुषके स्वभाव का वर्णन किया जा रहा है—अनासक्ति ही योगारूढ पुरुषका 'ज्ञान' है और इस स्थितिमें रहकर फलाशारहित कर्मसे प्राप्त हुआ आनन्द ही उसका 'विज्ञान' है। इन ज्ञान विज्ञानोंको ही प्रथम 'सांख्यस्थिति' तथा 'योग'के नामोंसे कहा जा चुका है। ये दोनों भिन्न स्थिति नहीं है। जहां सांख्यस्थिति है, वहीं निष्काम कर्मरूपी योग भी रहता है । जहां ज्ञान रहता है, वहां ज्ञानका व्यावहारिक रूप फलाशारहित कर्म के आनन्द के रूपमें रहता है। योगारूढ

पुरुष सब समय ज्ञान तथा ज्ञानकृत कर्मसे प्राप्त हुए आनन्दसे तृप्त रहता है। वह इन्द्रियों के रागद्वेषसे अप्रभावित निर्विकार बना रहता है। उसकी इन्द्रिय मनके वशमें आजाती हैं। वह अनासक्त रहकर सोना, पत्थर तथा मिट्टी का उपयोग करता है। वह जिस वस्तुका जो उपयोग है, उसे अनासक्ति रूपी समबुद्धिसे, उसी उपयोग में लाता है। यही उसके 'सम' होने का अभिप्राय है।

सोने, मिट्टी तथा पत्थर को एक जैसे उपयोगमें लाना या एक जैसा समझने की असंभव भावना रखना 'समता' नहीं है। समता मिट्टी, पत्थर या सोनेका धर्म नहीं है। किन्तु यह इन पदार्थों को उपयोगमें लानेवाले अनासक्त मनका धर्म है। इस संसारके भिन्नभिन्न पदार्थ भिन्नभिन्न प्रकार के उपयोगों में आने के लिये हैं। योगारूढ ज्ञानी पुरुष उनका भिन्नभिन्न प्रकारसे यथोचित उपयोग करता हुआ अपनी अनासक्त स्थिति रूपी 'समता' की रक्षा करता रहता है। परन्तु अज्ञानी पुरुष उनमें आसक्त होकर, राग द्वेष के साथ उनका उपयोग करता है। इस कारण उसके लिये प्रिय अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष शोक रूपी असमता को अपनाये रहना अनिवार्य है। इस दृष्टिसे आसक्ति ही 'असमता' है और अनासक्ति ही 'समता' है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

अन्वय—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु साधुषु पापेषु अपि च समबुद्धिः विशिष्यते ॥

अर्थ— सुहृत् (स्नेहपरायण), मित्र (हितकारी), अरि (शत्रुता करनेवाले), उदासीन (उपेक्षा करनेवाले), मध्यस्थ (शत्रुके साथ समझौता करा-देनेका प्रयत्न करनेवाले), द्वेष्य (जिनसे व्यवहार करना अनुचित समझा जाता है), बन्धु (जिसका सहवास चाहा जाता है), साधु (ज्ञानी) और पाप (अज्ञानी) इनमें समबुद्धि रखनेवाला योगारूढ होता है।

भाव— अनासक्ति ही योगारूढ पुरुष की 'समबुद्धि' है। मनुष्यको मनुष्योंके साथ वर्ताव करना ही पडता है। परन्तु सबके साथ एक जैसा व्यव-हार होना संभव नहीं है। क्योंकि सब मनुष्यों के साथ एक प्रकार

का संबन्ध नहीं होता और सब मनुष्यों का स्वभाव भी एक जैसा नहीं होता। योगारूढ-ज्ञानियों से ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकारके व्यक्तियों का व्यवहार होता है। उनके साथ योगारूढ-ज्ञानी का संबन्ध भी भिन्नभिन्न प्रकार का होता है। योगारूढ पुरुष उन के साथ भिन्नभिन्न प्रकार के वर्ताव करके भी अपनी अनासक्तस्थिति रूपी समता की रक्षा करता रहता है। उन व्यक्तियोंसे होनेवाले वे सम्बन्ध चाहे प्रिय हों, चाहे अप्रिय हों, योगारूढ पुरुष उन के सम्बन्ध में रागद्वेषसे अतीत होकर वर्ताव करता है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

अन्वय—एकाकी यतचित्तात्मा निराशीः अपरिग्रहः रहसि स्थितः योगी सततम् आत्मानं युंजीत ॥

अर्थ— एकाकी (अद्वैत स्थितिमें मग्न), मन तथा इन्द्रियों को आत्माके वशमें रखनेवाला, फलाशा न रखनेवाला, अपरिग्रह (विषयों में ममता न रखनेवाला) सांसारिक बन्धनोंसे अतीत मनोदशामें निवास करनेवाला योगी सदा मनको अनासक्त रखे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

अन्वय—यतचित्तेन्द्रियक्रियः (योगी) चैलाजिनकुशोत्तरं नात्युच्छ्रितं नातिनीचम् आत्मनः स्थिरम् आसनं शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य तत्र आसने उपविश्य मनः एकाग्रं कृत्वा आत्मविशुद्धये योगं युञ्ज्यात्।

अर्थ— मन तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को संयत रखनेवाला योगी, कपडे, चमडे और कुशासे उत्तर (श्रेष्ठ), न अति ऊंचे और न अति नीचे स्थिर (मानसिक) आसनको, शुद्धदेशमें (पवित्र अनासक्त स्थितिमें) प्रतिष्ठित करके, उस आसनपर स्थित होकर मनको एकाग्र रखकर आत्मशुद्धि की रक्षार्थ योग करे।

भाव— योगी के स्थिर आसनके साथ **नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं** विशेषण को देखकर, योगियों का आसन कुछ निश्चित

ऊंचाई या गहराई रखनेवाला होना चाहिये, उससे न्यूनाधिक नहीं होना चाहिये, और उसमें सबसे ऊपर वस्त्र, फिर अजिन, और सबसे नीचे कुशासन बिछाना चाहिये, इस प्रकार का अर्थ लगाना निराधार तथा अनधिकारचर्चा है। श्लोक में 'श्रेष्ठ' शब्द के पर्यायवाची 'उत्तर' शब्द का 'उपर्युपरि' अर्थ लगाकर, वक्ताके अभिप्रायसे बाहर चला जाना अनुचित है। सच्चे योगियों का आसन शरीरविन्यास या बिस्तर के भौतिकरूप में नहीं होता। वह कोई शारीरिक कसरत या बिस्तर की प्रदर्शनी नहीं है। योगी अपने शयन, उपवेशन, गमन, भोजन आदि सब प्रकारकी अनिवार्य शारीरिक क्रियाओं को करता हुआ, इन सब क्रियाओं में ही योगारूढ बना रहता है। योगियों ने हत्यारों की तलवारों की धारोंपर, सूली की नोकोंपर, विषभरे कटोरोंपर, तेलके उबलते कडाहों पर भी अपने आसन बिछाये हैं, और संसार को अपने मन में छिपे हुए सत्यभंडार की अनन्त मधुरिमाको अनेक वार दिखाया है। योगी की योगारूढ स्थिति नामकी स्थिरता ही उसका 'स्थिर आसन' है। यह आसन चैल, मृगचर्म, कुशा आदि भौतिक आसनों की उच्चता, नीचता, कठोरता, कोमलता आदि के अतीत है। सच्चे योगीका आसन उस के मन में बिछा हुआ है। उसके आसन का किसी बाह्य पदार्थ-विशेषके साथ कोई संबन्ध नहीं है। उस का आसम सब प्रकार के भौतिक आसनों से 'उत्तर' अर्थात् 'श्रेष्ठ' है। कृष्ण भगवानने ' उत्तर ' शब्द से आसनसंबन्धी सब अज्ञानों पर कटाक्ष किया है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ १३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ १४॥

अन्वय—ब्रह्मचारिव्रते स्थितः विगतभीः स्थिरः प्रशान्तात्मा कायशिरोग्रीवं समम् अचलं धारयन्, स्वं नासिकाग्रं संप्रेक्ष्य, दिशः अनवलोकयन् मनः संयम्य मच्चित्तः युक्तः (सन्) मत्परः आसीत॥

अर्थ— सदाचारी, आत्मविश्वासी, स्थिर (आत्मस्वरूपमें स्थित), प्रशान्तात्मा (इन्द्रियोंके बन्धनमें न आनेवाला), काया, शिर तथा ग्रीवाको

(अपने सब अवयवों को) सम और अचल रखकर, अपने नासाग्रको देखता हुआ, बाह्य विषयों में आकृष्ट न होकर, मनको वशमें करके, मच्चित्त (आत्मतत्त्व में समाहित) होकर, अनासक्त बनकर, आत्माको ही आराध्य जाननेवाला बना रहे ।

भाव— पहले श्लोकों में योगी की अनासक्त स्थितिको ही उसका स्थिर आसन बताया जा चुका है । इस दृष्टि से इन श्लोकों में काय, शिर, ग्रीवा, नासिकाग्र आदिकी प्रक्रियाओं को शारीरिक दृष्टिसे महत्त्व देना प्रकरणविरुद्ध हो जायगा । इस लिये इन सबका इस प्रकार का संकलित अर्थ करना ही उचित होगा कि योगी अपनी दृष्टि को अपने स्वरूपके बाहर न जाने देकर, बाह्य विषयों को भोग्य रूपमें अस्वीकार करता हुआ, अनासक्त होकर, अपने शरीरके द्वारा सत्यकी सेवा करता रहे । अनासक्तिरूपी अटल मानसिक स्थितिमें स्थिर रहनेवाला योगी, अपने देहयन्त्र को, सत्यकी सेवामें लगाये विना नहीं रह सकता ।

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

अन्वय—एवं सदा आत्मानं युञ्जन् नियतमानसः योगी मत्संस्थां निर्वाणपरमां शान्तिम् अधिगच्छति ॥

अर्थ— इस प्रकार सदा आत्माकी आराधना करता हुआ मनको आत्मस्थ रखनेवाला योगी, आत्मा में रहनेवाली मोक्षरूपी शान्ति को पाता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अन्वय--अर्जुन, अत्यश्नतः योगः न अस्ति । एकान्तम् अनश्नतः योगः न अस्ति । अतिस्वप्नशीलस्य योगः न अस्ति । जाग्रतः (योगः) न एव च ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! अतिभोजन करनेवाले या सर्वथा भोजन न करनेवाले या अतिनिद्रा लेनेवाले या सर्वथा नींद न लेनेवाले के पास योग नहीं है ।

भाव— जीवनधारण करनेवाली स्वाभाविक क्रियाओं को अस्वाभाविक बना डालनेका नाम ‘योग’ नहीं है । यह आसक्ति की स्थिति है । अनासक्ति को ही ‘योग’ की स्थिति माना जाता है ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

अन्वय–युक्ताहारविहारस्य कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्तस्वप्नावबोधस्य (अधिकारे) दुःखहा योगः भवति ॥

अर्थ— युक्त आहार-विहार करनेवाले, कर्मों में युक्त चेष्टा करनेवाले, युक्त शयन तथा जागरण करनेवाले के पास दुःखनाशक योग होता है।

भाव— जीवनधारण करनेवाली स्वाभाविक क्रियाओं को अनासक्त रहकर पालन करना ही ' योग ' है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

अन्वय–यदा (पुरुषस्य)विनियतं चित्तम् आत्मनि एव अवतिष्ठते तदा सर्वकामेभ्यः निःस्पृह स पुरुषः युक्त इति उच्यते ॥

अर्थ— जब पुरुषका संयत मन आत्मा में ही निश्चल हो जाता है, तब सब कामनाओं से निःस्पृह बना हुआ पुरुष, 'योगी' कहाता है ।

भाव— भोगेच्छा से रहित हो जाना ही 'योग' है । इसी को निःस्पृहता या अनासक्ति कहते हैं । जब मनुष्य का मन, आत्मामें स्थिर हो जाता है, तब इन्द्रियों के रागद्वेष के वशमें न आना और संयत रहना, उसका स्वभाव बन जाता है । उस स्थिति में जीवनधारण के लिये शरीर के द्वारा जो कुछ किया जाता है, सब स्पृहाशून्य अनासक्त या युक्त भावसे किया हुआ होता है ।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

अन्वय–यथा निवातस्थः दीपः नेंगते आत्मनः योगं युंजतः यतचित्तस्य योगिनः सा उपमा स्मृता ॥

अर्थ— जैसे वायुरहित स्थानका दीपक नहीं हिलता, वह उपमा (दृष्टान्त) आत्मा की आराधनामें संलग्न संयतमंनवाले योगी के लिये दी जाती है ।

भाव— जैसे वायुरहित स्थान दीपक को न हिलने देने के लिये अनुकूल होता है, इसी प्रकार रागद्वेषहीन अनासक्त आत्मस्थिति मन को

विषयों से चलायमान न होने देने के लिये, एकमात्र अनुकूल अवस्था या स्थान है। इस उपमासे यह समझाया जा रहा है कि जैसे वायुरहित स्थान के विना दीपक का निश्चल होना असंभव है, इसी प्रकार इन्द्रियातीत आत्मस्थिति के विना, मन का 'योगस्थ' होना असंभव है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

अन्वय–यत्र योगसेवया निरुद्धं चित्तं उपरमते, यत्र च आत्मना आत्मानं पश्यन् आत्मनि तुष्यति, यत्र यत् तत् बुद्धिग्राह्यं अतीन्द्रियम् आत्यन्तिकं सुखं वेत्ति, यत्र स्थितः अयं तत्त्वतः न एव चलति च, यं लब्ध्वा ततः अधिकम् अपरं लाभं न मन्यते, यस्मिन् स्थितः गुरुणा अपि दुःखेन न विचाल्यते, दुःखसंयोगवियोगं तं योगसंज्ञितं विद्यात्। स योगः अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः ॥

अर्थ— जिस स्थितिमें योगसेवासे निरुद्ध चित्त उपरत हो जाता है, जिस स्थितिमें अपने मनसे आत्मस्वरूपका दर्शन करके आत्मामें सन्तुष्ट रहने लगता है, जिस स्थितिमें बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय आत्यन्तिक (दुःख के सम्बन्धसे रहित) सुख को पहचान जाता है, जिस स्थितिमें स्थिर होकर फिर कभी स्वरूपसे च्युत नहीं होता, जिस स्थितिमें स्थित होकर किसी लाभको उससे अधिक नहीं मानता, जिसमें स्थित हो जानेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता, दुःखों के संयोगों को रोक देनेवाली उस स्थिति को 'योग'नाम से जानो। यह 'योग' उत्साहयुक्त चित्तसे अवश्य किया जाना चाहिये।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

अन्वय—संकल्पप्रभवान् सर्वान् कामान् अशेषतः त्यक्त्वा इन्द्रियग्रामं मनसा एव समन्ततः विनियम्य शनैः शनैः धृतिगृहीतया बुद्ध्या उपरमेत् । मनः आत्मसंस्थं कृत्वा किंचित् अपि न चिन्तयेत् ॥

अर्थ— भोगासक्तिसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओं को संपूर्ण रूपसे त्यागकर, इन्द्रियों को मनसे ही सब ओरसे संयत करके, शीघ्रताको त्यागकर, धीर बुद्धिसे शान्त हो जाय । मनको आत्मस्थ करके विषय-चिन्तन न करे ।

भाव— अनासक्तिरूपी योग ही मनुष्यजीवनमें सर्वोत्तम प्राप्तव्य वस्तु है । उसे क्षणभर का भी विलम्ब न करके प्राप्त करलेना चाहिये । इस बातको पहले श्लोकोंमें कहकर अब इसे प्राप्त करने का उपाय बताते हुए कहा जा रहा है कि 'मनुष्यको धीरज रखते हुए शान्त हो जाना चाहिये' । शान्ति ही 'योग' है । शान्त हो जाते के पश्चात् 'योग'-नामकी कोई वस्तु मनुष्यके लिये अप्राप्त नहीं रहती ।

क्योंकि शान्तिको खण्डित रूपमें प्राप्त कर लेना संभव नहीं है, तथा अशान्ति जैसी दुःखदायी अवस्थामें चिपटे रहना मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध है, और क्योंकि शान्तिको प्राप्त करने या अशान्तिको अपनाये रहने के प्रश्न के समाधान का मनुष्य को जो अवसर मिलता है, वह क्षणभरसे लम्बा नहीं होता, इस लिये 'शनैः शनैः' शब्दों का क्रमशः प्रयत्न करके शान्तिको पाना चाहिये, ऐसा अर्थ लगाना अनुभवविरुद्ध और भ्रान्तिपूर्ण है ।

इस श्लोकमें कहा जा रहा है कि शान्तिको प्राप्त करने के लिये धीरजको अपनाना अर्थात् शीघ्रताको त्याग देना अवश्यक है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्तिके अनिश्चित उद्यमका नाम 'शीघ्रता' है। इसको त्याग देना ही योगप्राप्तिका उपाय है। यदि मनुष्य शान्तिको शान्ति और अशान्ति को अशान्ति समझ जाता है, तो निश्चय ही वह शान्ति को प्राप्त कर चुका होता है । इस के विपरीत यदि मनुष्य अशान्ति को शान्ति समझ ले तो उस के सामने अशान्ति को छोडने का प्रश्न कदापि नहीं आता । इस लिये शान्ति को पाना और अशान्ति को छोडना

दोनों धीरे धीरे करने के काम नहीं हैं। ज्ञान का होना और शान्ति को पाना दोनों एक बात हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा रहा है कि चंचलता को त्याग देना ही 'योगी' हो जाना है। चंचलता को छोडना तब ही संभव होता है जब मनुष्य नित्यस्थिर आत्मस्वरूपका दर्शन कर के सदा के लिये शान्त हो जाता है। इस शान्तिकी स्थिति में रहनेपर ही विषयचिन्तन न करना मनुष्य का स्वभाव हो जाता है। अर्थात् तब विषयों में सुख ढूंढनारूपी भ्रान्त प्रयत्न करना मनुष्य के स्वभाव के विरुद्ध बन जाता है। दृढता के साथ आत्मस्वरूपस्थ हो जाना ही 'योगी' बननेका उपाय है। योगी बननेका इससे भिन्न दूसरा कोई उपाय नहीं है। दृढता ही 'योग' है॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ २६॥

अन्वय—चंचलम् अस्थिरं मनः यतः यतः निश्चरति ततः ततः एतत् नियम्य आत्मनि एव वशं नयेत्॥

अर्थ— चंचल, अस्थिर मन जिन जिन विषयों में विचरण करता हो उसे उन उन विषयों से अनासक्त बनाकर आत्मा के ही वश में कर ले।

भाव— शान्त योगी पुरुष मन को अस्थिर और चंचल बनानेवाले रूप रस आदि विषयों के साथ जो वर्ताव करता है, इस श्लोक में उसी का वर्णन किया जा रहा है। रूप रस आदि विषयों में सुख ढूंढना ही मन की इन्द्रियासक्ति, चंचलता और अस्थिरता का स्वरूप है। उन विषयों में अनासक्त रहना ही 'योग' या 'मन की स्थिरता' है। जब 'योगी' मन को आत्मा के वशमें कर लेता है, उसे उसी समय यह योगरूपी कुशलता प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जब मन को आत्मा के वशमें कर देनेवाला 'योगी' रूप रस आदि विषयोंके स्पर्श में आता है, तब अपने को स्वभावसे ही निर्विषय अनासक्त स्थिति में पाता है। जिन रूप रस आदि विषयों के संस्पर्श में आनेपर मन के चंचल और अस्थिर होने की संभावना होती है, उन विषयों में अनासक्त रहने के लिये यह अवश्यक है कि मन को आत्मा के वशमें देकर स्थिर कर लिया जाय। मन की यह आत्मस्थिति ही उसकी विषयों में न जाने की स्थिति बन जाती है। मनका हठनिग्रह करके उसे आत्मस्थ

किया जाना असंभव है। परन्तु आत्मस्थ हो जानेपर निगृहीत अवस्थामें ही आनन्द मानना मनका स्वभाव हो जाता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ २७॥

अन्वय—शान्तरजसं प्रशान्तमनसं ब्रह्मभूतं अकल्मषम् एनं योगिनम् उत्तमं सुखम् उपैति हि॥

अर्थ— कामनाशून्य, मनको आत्मस्थ रखनेवाले, ब्रह्मस्वरूप, अज्ञानमुक्त इस योगी को उत्तम सुख (ब्रह्मानन्द) प्राप्त हुआ रहता है।

युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ २८॥

अन्वय—विगतकल्मषः योगी एवं सदा आत्मानं युञ्जन् ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तं सुखं सुखेन अश्नुते॥

अर्थ— अज्ञानमुक्त योगी इस रीतिसे सदा आत्माकी आराधना करता हुआ ब्रह्मलाभरूपी अत्यन्त सुखको विना प्रयत्न के भोगता रहता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥

अन्वय—सर्वत्र समदर्शनः योगयुक्तात्मा आत्मानं सर्वभूतस्थम् ईक्षते सर्वभूतानि च आत्मनि ईक्षते॥

अर्थ— सर्वत्र समदर्शी (सब अवस्थाओं में अनासक्त रहनेवाला) योगी आत्माको सर्वभूतस्थ देखता है और सब भूतोंको आत्मामें देखा करता है।

भाव— रागद्वेषका न रहना ही 'अनासक्ति' है। आत्मस्वरूपको जान लेने के पश्चात् मनुष्य अपने आपको ही अपने आराध्य के रूपमें पा चुकता है। तब किसी भूत के साथ राग या द्वेष रख सकना असंभव बन जाता है। क्योंकि तब संसारमें उसके पाने या त्यागने योग्य कोई वस्तु नहीं रहती। जो उसे पाना है उसे वह प्राप्त कर चुका होता है। तब केवल दूसरोंके साथ अनासक्तिसे कर्तव्यपालन करनेका ही संबन्ध रह जाता है। ऐसा समदर्शी योगी जान जाता है कि जो आत्मतत्त्व अनासक्तिके रूपमें हमारा स्वरूप है, वही आत्मतत्त्व सर्व भूतों का स्वरूप है; तथा सर्वभूत भी उसी आत्मतत्त्व का आश्रय

करके प्रकट हुए हैं । जो सर्वभूत है वही आत्मा है । जो आत्मा है वही सर्वभूत है । आत्मतत्त्व के विना सृष्टिमें कुछ भी नहीं है। आत्मतत्त्व भी सृष्टिसे बाहर नहीं है । जहां सृष्टि है वहीं आत्मतत्त्व है जहां आत्मतत्त्व है वहीं सृष्टि है । ज्ञानी पुरुष सृष्टिके संपूर्ण पदार्थों को अपने स्वरूप आत्मतत्त्वसे अभिन्न जानता है । इस लिये वह किसी वस्तुको अनात्मविषय के रूपमें मानकर उसके बन्धनमें नहीं आता । यही उसका 'समदर्शन' है । यही उसका ' सर्वभूतमें आत्मतत्त्वको तथा आत्मामें सर्वभूतों को देखने' का अभिप्राय है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

अन्वय–यः मां सर्वत्र पश्यति सर्वं च मयि पश्यति अहं तस्य न प्रणश्यामि- स च मे न प्रणश्यति ॥

अर्थ— जो आत्मतत्त्वको सब भूतोंमें देखता है और सब भूतों को आत्मतत्त्वमें देखता है, आत्मतत्त्व उसकी दृष्टिसे बाहर नहीं जाता और वह भी आत्मतत्त्वसे बाहर नहीं रहता ।

भाव—सर्वत्र आत्मदर्शन करनेवाले ज्ञानी किसी भूतको अनात्मदृष्टिसे देखकर उससे रागद्वेष नहीं रखते । वे स्वयं आत्मस्वरूप हो जाते हैं । आत्मतत्व भी कभी उनकी दृष्टिसे बाहर नहीं जाता । वे भी आत्मतत्त्वसे भिन्न नहीं रहते ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

अन्वय–एकत्वम् आस्थितः यः सर्वभूतस्थितं मां भजति सर्वथा वर्तमानः अपि सः योगी मयि वर्तते ॥

अर्थ— जो आत्मासे अभिन्न (अद्वैत) स्थितिमें रहता हुआ सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व को भजता है, वह योगी सब प्रकार के आचरणों को करता हुआ भी मुझमें (आत्मामें) रहता है ।

भाव— सब भूतोंसे अनासक्ति का संबन्ध रखना ही 'सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व को भजना' है। अनासक्ति ही आत्मा का स्वरूप है । अनासक्त स्थिति के रूपमें सर्वभूतस्थ आत्माका दर्शन करके, उसे अनासक्तिके रूपमें अपना-

लेना ही 'आत्मतत्त्वके भजन' का स्वरूप है। ऐसा भक्त सब भूतोंसे सब प्रकारसे व्यवहार करते समय आत्मस्थितिमें ही रहता है। वह आत्मासे बाहर कहीं नहीं जाता। उसका किसी प्रकारका व्यवहार उसकी उस आत्मस्थितिको खंडित करनेवाला नहीं रहता। यही उसका 'सब कुछ करते हुए भी आत्मासे बाहर न जाने' का स्वरूप है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

अन्वय–अर्जुन, यः सर्वत्र सुखं वा यदि वा दुःखम् आत्मौपम्येन समं पश्यति सः परमः योगी मतः॥

अर्थ––हे अर्जुन! जो सब भूतोंमें सुख या दुःखको आत्माकी उपमासे सम (अनासक्तिसे) देखता है, वही परम (आत्मनिष्ठ) योगी माना जाता है।

भाव— अपनी इन्द्रियों के अनुभव के आधारपर सुख को सुख मानना और दुःख को दुःख मानना प्राणीमात्र का स्वभाव है। यह कोई ज्ञानि की स्थिति नहीं है। सुखदुःखमें रागद्वेषसे रहित अर्थात् अनासक्त रहना ही 'समता' या ज्ञानकी स्थिति है। सर्वभूतस्थ आत्मा सब भूतों के इन्द्रियबन्धनसे अतीत अनासक्त और निर्लेप रहता है। यही आत्माका स्वभाव है। ज्ञानी पुरुष क्योंकि आत्मा को ही अपना स्वरूप जान लेता है, इस कारण वह उस आत्माकी उपमासे सब भूतों के इन्द्रियजनित सुखदुःखोंसे अविचलित, रागद्वेषसे रहित, और अनासक्त बना रहता है। ज्ञानी कभी किसी को सुख पहुंचाने या किसी के दुःख हटानेका अहंकार नहीं करता।

जिस मनमें किसीको सुख पहुंचानेकी प्रभावित स्थिति है, वह मन अवसर आनेपर किसीको दुःख पहुंचाकर सुखी होनेकी इच्छा को भी नहीं रोक सकेगा। क्योंकि उसने इन्द्रियोंकी अनुभूतिको ही सुखदुःखका आधार माना है। किसी को सुख पहुंचाने की भावना और अपने सुख के लिये किसी को दुःख देने की भावना दोनों अज्ञान हैं। ज्ञानी में संसार को सुख या दुःख पहुंचाने के अभिमान का होना असंभव है। अज्ञानियोंकी, संसारको दुःख पहुंचाकर स्वयं सुखी होने की भावनामें जो दोष है, वही दोष ज्ञानियोंमें भी तब आ घुसेगा, जब वे संसारको

सुखी करने के अहंकारमें फंस जायंगे। वस्तुतः किसीको सुखदुःख देनेका कर्तृत्वाभिमान अज्ञान है । अज्ञानी प्यारे को सुख पहुंचाना चाहता है और शत्रुको दुःख पहुंचाने की इच्छा करता है। ज्ञानी लोग प्रिय अप्रियके बन्धनोंसे अतीत तथा कर्तृत्वाभिमानसे शून्य होकर सब भूतोंसे अनासक्तिसे वर्ताव करनेवाले होते हैं। वे कभी किसी को सुखदुःख पहुंचाने की भ्रान्तिमें नहीं फंसते। यही 'आत्मनिष्ठ योगीके आत्माकी उपमासे सब भूतों के सुखदुःखमें सम होने'का अभिप्राय है।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

अन्वय–मधुसूदन, साम्येन यः अयं योगः त्वया प्रोक्तः अहं चंचलत्वात् एतस्य स्थिरां स्थितिं न पश्यामि ॥ कृष्ण, हि मनः चंचलं प्रमाथि बलवत् दृढं च, अहं तस्य निग्रहं वायोः इव सुदुष्करं मन्ये ॥

अर्थ— हे मधुसूदन! आपने समतासे जिस योगको बताया है, मैं चंचलता के कारण इस योगकी स्थिर स्थिति को नहीं समझ रहा हूँ। हे कृष्ण! क्योंकि यह मन चंचल, प्रमाथि (व्याकुल करनेवाला) बलवान् तथा दृढ (हठीला) है (इस लिये) मैं उसके निग्रह को वायुके (निग्रहके) समान अति कठिन मानता हूँ।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अन्वय–महाबाहो, असंशयं मनः दुर्निग्रहं चलं च। कौन्तेय, तत् तु अभ्यासेन वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थ— हे महाबाहो! इसमें कोई सन्देह नहीं कि मन चंचल और दुर्निग्रह (भौतिकशक्ति या उपायोंसे वशमें न आनेवाला) है। किन्तु हे कौन्तेय! वह अभ्यास (दृढता) तथा वैराग्य (विषयोंमें दोषदृष्टि) से वशमें आ जाता है।

भाव— मन आसक्ति या अनासक्ति दोनोंमेंसे किसी एकको अपनालेता है। अनासक्तिको अपनाना मनकी 'दृढता' है। आसक्तिको अपनाना उसकी 'चंचलता' है। अनासक्तिरूपी दृढता ही 'अभ्यास'का स्वरूप है। दृढ रहनेसे ही दृढता आती है। दृढताके लिये दृढताके अतिरिक्त किसी दूसरे प्रयत्नकी अवश्यकता नहीं होती। दृढ हुए विना विषयासक्त न होनेके अभ्यासको धारण करना असंभव है। इस लिये इस श्लोकमें 'अभ्यास'का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि अदृढ, चंचल तथा निर्बल मन, अपनी निर्बल स्थितिको भी पकडे रहे और उसे छोडनेका भ्रान्त अभिनय भी करता रहे। किन्तु मनको शक्तिमान बना चुकनेकी दृढ अनासक्त आत्मस्थितिको ही 'अभ्यास'के नामसे समझना चाहिये।

जब आत्मस्थ मन आत्मानन्दमें मग्न होकर, उससे विच्छिन्न होना दुःख मानकर, अपनी ओर से विषयान्वेषणसे निवृत्त रहता है, तब उसे 'अनासक्त स्थिति' कहा जाता है। आत्मस्वरूपमें स्थित हो जानेपर अनात्मविषयोंकी उपेक्षा करते रहना मनका स्वभाव बन जाता है। उस स्थितिमें ज्ञानीको, विषयोंमें ब्रह्मानन्द नहीं है, इस प्रकारका 'विषयोंका दोषदर्शन' स्वभावसे होता रहता है। यही कारण है कि 'वैराग्य' और 'अभ्यास' रूपी आनन्दकी स्थितिको अपनाचुकनेके पश्चात् ज्ञानीका मन स्वभावसे स्थिर हो जाता है। तब मनका अस्थिर रहना असंभव और अस्वाभाविक बन जाता है।

आत्मदर्शन होनेसे प्रथम मनको स्थिर करनेके सब उपाय असफल हो जाते हैं। आत्मदर्शन होनेके पश्चात् ही मनको स्थिर रहनेका स्वभाव प्राप्त होता है। इस स्वभाव को ही 'अभ्यास' और 'वैराग्य' कहा जाता है। यह जानलेना चाहिये कि 'अभ्यास' और 'वैराग्य' किन्हीं असफल प्रयत्नोंके नाम नहीं हैं। भौतिक प्रयत्नों से मनको स्थिर करनेकी इच्छा करना और मनको चंचल होने देकर उस चंचलता के साथ 'कृत्रिम संग्राम' करते रहना भी 'चंचलता' है।

मनको कुछ भौतिक पदार्थों का चिन्तन करने के लिये विवश किया जाय और उसे कुछकी चिन्ता करनेसे रोक लिया जाय, इस असंभव क्रियाको 'अभ्यास' का नाम देना भ्रान्तिमूलक है।

इस 'अभ्यास' के साधन के रूपमें जिन पदार्थों को मनके प्रतिकूल समझा जाता है, उनपर दोषारोपण और गालिदान किया जाता है; जिनको अनुकूल समझा जाता है उनकी प्रशंसा की जाती है। मनको अनुकूल पदार्थों के परकोटे में बन्द करके, उसे प्रतिकूल समझे हुए पदार्थों के आक्रमणोंसे बचाना चाहा जाता है। इस क्रियाको 'वैराग्य' का नाम दिया जाता है। इसे 'वैराग्य' का नाम देना भी भ्रान्ति से शून्य नहीं है।

विषय नाम के किन्हीं पदार्थों में किसी को बांधने की शक्ति नहीं है। मनकी आसक्ति ही अपने आपको बांध लेनेवाला 'दोष' है। विषयासक्ति विषयों का दोष नहीं है। विषयासक्ति मनका दोष है। इस आसक्ति को न छोडना और विषयों को गाली देते रहना 'वैराग्य' नहीं है। विषयासक्ति रूपी दोष विषयों को ग्राह्य या भोग्य बनाकर मनको भोगबन्धनमें फंसा देता है। अनासक्ति ही विषयासक्ति में दोषदर्शन करने में समर्थ होती है। विषयासक्त रहने की अवस्था में किसी का भी विषयों में दोषदर्शन कर सकना असंभव है। उस अवस्थामें उसका विषयासक्त मन विषयों को भोग्य रूपमें स्वीकार किये विना नहीं मान सकता। भोगी के लिये भोग्य वस्तु त्याज्य न बनकर ग्राह्य बनी रहती है।

विषयासक्ति को धीरे धीरे हटाकर अनासक्तिको धीरे धीरे लाने, या अनासक्तिको धीरे धीरे लाकर विषयासक्तिको धीरे धीरे हटाने का प्रयत्न करनेवाला पुरुष, अपने लिये विषयासक्तिको छोडना दुःखदायी मानता रहता है। किसी पदार्थको न त्यागनेकी इच्छा ही 'धीरे धीरे त्यागने' का रूप धारण करके आत्मवंचन करती रहती है। तात्त्विक दृष्टिसे देखने पर प्रतीत हो जाता है कि 'धीरे धीरे प्रयत्न' करनेवाले का पक्षपात विषयासक्ति की ओर है। उसका यह पक्षपात ही उसको 'धीरे धीरे' के बहाने की ओट में लेजाकर विषयभोगके अवसर नहीं त्यागने देता। अर्थात् उसे अनासक्ति का दर्शन नहीं होने देता। विषयासक्ति और अनासक्ति ये दोनों परस्परविरोधिनी स्थिति हैं। अनासक्ति के दर्शन का जो विघ्न है, वही 'विषयासक्ति' है। विषयासक्तिको छिन्नभिन्न कर डालनेवाली जो

मनोवृत्ति है वही 'अनासक्ति' है। ये दोनों स्थिति किसी एक हृदय में समझौता या साझा करके नहीं रहतीं। इन दोनों का यह स्वभाव है, कि ये जिस हृदयमें रहती हैं, उसमेंसे दूसरी स्थिति को धक्का दे-कर अपना ही पूर्ण अधिकार जमाकर रहती हैं। इस लिये अनासक्त स्थिति प्राप्त किये बिना, 'वैराग्य' नामकी किसी स्थिति का होना असंभव है। पहले 'अनासक्ति' आती है फिर 'वैराग्य' होता है। दूसरे शब्दों में 'अनासक्ति' ही 'वैराग्य' बन जाती है।

मन ऐसी वस्तु नहीं है कि उसे भौतिक देहके समान किसी विशेष स्थान में रोककर रखा जा सकता हो। मन सर्वव्यापी सत्ता है। मन की गति संपूर्ण जगत् में अबाध रूपसे पायी जाती है। सारा संसार उसके लिये गोष्पद के समान तुच्छ है। उसे सीमित करसकना असंभव है। मन अपने आप अपना जगत् रचलेने तक में समर्थ है। मनके इस स्वभावको भूलकर, उसे भौतिक उपायों के द्वारा रूप रस आदि विषयों के संपर्कमें आने से रोकना कदापि संभव नहीं है। मनको पंगु, पक्षाघातग्रस्त, या मृत अवस्थामें पहुंचा देनेका अस्वाभाविक, असंभव प्रयत्न करना 'मनःसंयम' नहीं है। किन्तु सर्वत्रचारी मनको सर्वत्र अनासक्त रखना ही 'मनःसंयम' की एकमात्र संभव अवस्था है। यह मन केवल अनासक्ति नामकी ज्ञानकी स्थितिके ही वशमें आता है। अर्थात् ज्ञानशस्त्र से सुसज्जित मन ही विषयों को बन्धन करनेवाली शक्तिके रूपमें अस्वीकार कर देने में समर्थ होता है। जब मन अनासक्तिरूपी ज्ञानसे सुसज्जित हो जाता है, तब उसको विषयों के संपर्क में न आने देने का असंभव प्रयत्न करने की अवश्यकता नहीं रहती। तब उसे विषयसंपर्कमें आकर भी विषयबन्धनसे मुक्त रहने की कला प्राप्त हो चुकती है। आत्मस्थ हो जाना ही इस कलाका स्वरूप है।

असंयतात्मना यागो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥

अन्वय—असंयतात्मना योगः दुष्प्रापः इति मे मतिः। वश्यात्मना यतता तु उपायतः अवाप्तुं शक्यः॥

अर्थ— जिसका मन असंयत है, उसे योग प्राप्त नहीं हो सकता। मन को

वशमें रखनेवाले यतनशील पुरुषसे उपाय (अनासक्तिरूपी कौशल) से (योग) प्राप्त करना संभव है।

भाव— यदि मनको आत्मस्थ न किया जाय तो मन इन्द्रियों के रागद्वेषों को अपना लेता है और विषयासक्त बन जाता है। तब उसके लिये अनासक्ति नामके योगको प्राप्त करना असंभव बात होती है। मनको विषयासक्त रखकर अनासक्तिकी स्थितिको प्राप्त करना, या उसके लिये उद्योग करना, किसी भी प्रकार संभव नहीं रहता। यदि प्रथम ही मनको आत्मस्थ करलिया जाय तो अनासक्ति-रूपी कुशलता स्वभाव बन जाती है। यह कुशलताही 'योग' है और यह स्वयं ही अपना उपाय है।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय–कृष्ण, अयतिः श्रद्धयोपेतः योगात् चलितमानसः योगसंसिद्धिम् अप्राप्य कां गतिं गच्छति ? महाबाहो, कच्चित् विमूढः ब्रह्मणः पथि अप्रतिष्ठः उभयविभ्रष्टः छिन्नाभ्रम् इव न नश्यति ? कृष्ण, एतं मे संशयम् अशेषतः छेत्तुम् अर्हसि। हि अस्य संशयस्य छेत्ता त्वदन्यः न उपपद्यते ॥

अर्थ— हे कृष्ण ! जो अयति (इन्द्रियासक्त) है, श्रद्धासे युक्त है और जिसका मन योगसे हट गया है, वह योग में सफलता को न पाकर किस गतिको पाता है ? हे महाबाहू ! कहीं वह मूढ होकर, ब्रह्मके मार्ग में स्थिति न पाकर, उभयभ्रष्ट होकर, मेघखण्डके समान नष्ट तो नहीं हो जाता ? हे कृष्ण ! यह मेरा संशय समूल मिटाओ। तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई इस संशय को नहीं काट सकेगा।

भाव— अर्जुन प्रश्न कर रहा है कि यदि कोई इन्द्रियासक्त पुरुष अना-सक्तिरूपी श्रद्धासे युक्त हो, परन्तु योग करने में असमर्थ होकर

योगसे विचलित हो जाय, तो योगमें सफलता न पानेवाले उस पुरुषकी कौनसी गति होती है ? क्या ऐसा पुरुष मोहके कारण योगमें स्थित न रहकर 'योग' और 'भोग' दोनोंसे वंचित होकर 'नष्ट' तो नहीं हो जाता ?

अर्जुनका यह प्रश्न योगस्थिति से अपरिचित मनोदशाका परिचायक है। यह उसका एक काल्पनिक प्रश्न है। जो इन्द्रियासक्त भी हो और श्रद्धावान् अर्थात् अनासक्त होकर योग करनेवाला भी हो ऐसे किसी व्यक्तिका होना संभव नहीं है। क्योंकि इन्द्रियासक्ति, श्रद्धा (अर्थात् अनासक्ति)को नहीं आने देती, तथा श्रद्धा (या अनासक्ति) इन्द्रियासक्ति को नहीं ठहरने देती। इस लिये इस प्रश्नका मानवीय अनुभवके साथ कोई संबन्ध नहीं ! इन्द्रियासक्त व्यक्ति 'योग'नामकी किसी क्रियाको प्रारम्भ करके, उससे इन्द्रियतृप्ति नामकी फलाशा अवश्य रखेगा। यदि वह उस योग नामकी क्रियाको छोड़ देगा तो उसके छोड़नेका कारण इन्द्रियतृप्तिमें असफलता होगा। अर्थात् वह इन्द्रियासक्ति को ही आपनाये रहेगा और भोगोंमें ही चिपटा हुआ होगा। अब ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है ? इसे कौन नहीं जानता ? ऐसे प्रश्न करने की अवश्यकता ही कहां है ? वह तो जहां का तहां भोगोंके बन्धनमें ही निर्विघ्न रूपमें विराजमान है। अर्थात् उसने 'भोग'को छोडकर 'योग'को कभी नहीं अपनाया। इसलिये योग नामकी क्रियाको प्रारंभ करके फिर उसे छोड़ देनेपर, उसकेलिये बादलके टुकड़े के समान उभयभ्रष्ट होकर 'नाश' होजाने नामकी स्थिति में चलेजाने की कोई शंका नहीं है। 'भोगस्थिति' ऐसे मनुष्यसे पृथक् नहीं हुई और 'योगस्थिति' ऐसे पुरुषके पास कभी नहीं आयी। इस दृष्टिको ध्यानमें रखते हुए ही इस प्रश्न के अग्रिम उत्तर को समझना चाहिये। अन्यथा इस प्रकरणमें 'योगभ्रष्ट'को भोगीसे श्रेष्ठ या योगी के तुल्य महत्त्वपूर्ण पद देनेकी भ्रान्ति होना अनिवार्य है।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

अन्वय—पार्थ, न एव इह न अमुत्र तस्य (अयतेः) विनाशः विद्यते । तात, कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं न गच्छति ॥

अर्थ— हे पार्थ ! इह अर्थात् वर्तमानमें और अमुत्र अर्थात् भविष्यमें उसका (अयति का) 'विनाश' नहीं है; और हे तात ! कल्याणकामी कोई भी पुरुष दुर्गतिको प्राप्त नहीं हो सकता ।

भाव— अर्जुनने तीन स्थितियोंकी कल्पना की है एक 'योगी होना' दूसरा 'भोगी होना' और तीसरा 'योग और भोग दोनोंसे रहित होकर नाश होजाना' । भगवान् पूर्वार्ध में बतारहे हैं कि 'विनाश' नामकी कोई स्थिति नहीं है । मनुष्य या तो 'भोगी' रहेगा या 'योगी' होगा । जो 'योगी'भी न हो और 'भोगी' भी न हो ऐसे किसी मनुष्यका होना संभव नहीं है । अर्जुनके काल्पित 'योगी'ने तो वस्तुतः कभी भी 'योग' नहीं किया । इसी बातको स्पष्ट करदेने के लिये भगवान् उत्तरार्धमें बतारहे हैं कि योग करनेवाला कभी भोगनामकी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अन्वय—योगभ्रष्टः पुण्यकृतां लोकान् प्राप्य शाश्वतीः समाः उषित्वा शुचीनां श्रीमतां गेहे अभिजायते ॥

अर्थ— योगभ्रष्ट (भोगी) पुण्यकारियोंके लोकोंको (भोगानुकूल संसार-बन्धनको) पाकर अनन्तकाल तक उन्हींमें रहता हुआ शुचि (शृंगार-प्रिय) श्रीमानों (श्रीमदमत्तों) के घरोंमें (अर्थात् ममत्वके या संसारके बंन्धनोंमें) उत्पन्न होता रहता है ।

भाव— जबतक मनुष्य अपने पास भोगी मनोवृत्ति रखता है, तबतक भोग उससे पृथक् नहीं होता । यह भोगी मनोवृत्ति संसारके छोटे बडे समझे हुए सब भोगियों में एक ही रूपसे अनन्तकालसे विराजमान है और रहेगी । यही इस श्लोकका अभिप्राय है ।

संसारमें जितने भोगी हैं, सबके मनमें भोगासक्ति रखनेवाली एक ही सत्ता, वारवार आलसी और भोगपरायण शरीर धारण करती चली आरही है । वह कभी भी भोग छोड़ने की स्थितिको नहीं अपनाती ।

'योगभ्रष्ट' की स्थितिको भोगियोंसे श्रेष्ठ माननेका कोई उचित कारण नहीं है। ऐसा माननेपर यह भ्रान्ति होगी कि 'योग-भ्रष्ट'के सुलभ ऊंचे पद में प्रविष्ट होने के लिये संसार के सब भोगी दो दिन के लिये 'योग' नामकी कार्यवाही करके ही अपने को 'योगभ्रष्ट'की ऊंची समझी हुई कोटि में पहुंचा हुआ मानेंगे। आध्यात्मिकता में ऐसी वंचना को अवसर नहीं मिलसकता। क्योंकि 'योगभ्रष्ट' शब्दमें 'योग' शब्द संयुक्त है, इसलिये योगसे भ्रष्ट होजाने में भी कुछ महत्त्व है, ऐसा समझना विचार की हीनता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—अथवा धीमतां योगिनाम् एव कुले भवति। लोके यत् ईदृशं जन्म एतत् हि दुर्लभतरम् ॥

अर्थ— अथवा (इससे विपरीत स्थिति रखनेवाली योगिसत्ता) धी (व्यव-सायात्मिका बुद्धि) रखनेवाले योगियों के कुलमें (मोहबन्धनरहित समाज में) उत्पन्न हुआ करती है। इस प्रकारका जो जन्म है, यह संसारमें दुर्लभ है।

भाव— भोगासक्तिसे विपरीत अनासक्ति ही 'योगिसत्ता' कहाती है। अनासक्त रहनेकी निश्चयात्मिका बुद्धि रखनेवाले योगी संसारबन्धनसे अतीत रहनेवाले होते हैं। वे सत्यके अतिरिक्त किसी प्रकारके भौतिक बन्धनमें नहीं बंधते। वे विश्वव्यापी सार्वजनीन सत्यको ही अपना 'कुल' मानते हैं। योगियोंके धीमान कुलमें जन्म लेनेका यही अभिप्राय है कि सत्यको अपनानेवाली अनासक्त बुद्धिसे युक्त योगी लोग चाहे जहां उत्पन्न होकर भी एक ही विराट् योगिकुलके पारिवारिक बने रहते हैं।

'योगी' होना प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है। प्रत्येक को 'योग' की अवश्यकता है और प्रत्येक में इसकी योग्यता है। परन्तु इस अधिकार को भोगनेवाले विरले हैं। समाजने इस अपने योगी बनने के अधिकार को त्याग कर 'योगी' होना दुर्लभ कर लिया है। समाज इतना पतित हो गया है कि उसने सदासे आदर्श व्यक्तियों का बहिष्कार किया है। समाज सदासे भोगियों के नेतृ-

त्वमें रहा है । कोई भी भोगी—मनुष्यसमाज आदर्शव्यक्तियों को सहन करने को उद्यत नहीं है। इसका परिणाम योगि-जीवन की विरलता के रूपमें समाजको भोगना पड़ रहा है। आजतक संसारमें जितने आदर्श व्यक्ति हुए हैं, वे यद्यपि सत्य की ही सेवा करते रहे हैं; परन्तु समाजने अपने आपको उनके सेवक जीवनसे लाभ उठानेसे वंचित रखा है और उनकी पूर्ण उपेक्षा की है। उन्हें फांसी, सूली, आग, पानी, पत्थर, और कील आदि की यातना भुगायी हैं । इसका परिणाम यह हुआ है कि वे सन्तलोग अपने अपने जीवनको सफल करके चले गये और समाजकी विषयलोलुप तथा सत्यको न सहनेवाली निकृष्ट स्थिति को प्रकट कर गये। परन्तु सत्यारूढ मनुष्यों के इस निर्यातन से समाजमें उत्पन्न होनेवाले 'योगी' बनने के स्वाभाविक अधिकारी मनुष्यसन्तान की अपार हानि हो गयी। उसको पालनेके लिये योगियों का मोह-बन्धनसे अतीत रहनेवाला समाज नहीं रहा। किन्तु भोगियों का संसारबन्धन उसका सर्वनाश करने के लिये उसके सामने आकर खड़ा होगया। इसीसे 'योगिजीवन' विरल हो गया और समाजमें 'भोगि-जीवन'के प्रतीक्षक आने लगे।

योगियों का समाज में कम आना, मानवसमाजके पापपूर्ण वातावरण का प्रभाव है। भगवान् इस श्लोकमें समाजपर यही कटाक्ष कर रहे हैं।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥

अन्वय—कुरुनन्दन, तत्र तं पौर्वदेहिकं बुद्धिसंयोगं लभते । ततः भूयः संसिद्धौ यतते च ॥

अर्थ— हे कुरुनन्दन ! वह योगिसत्ता वहां (उस योगिजन्ममें) उसी पौर्वदेहिक (पहले के योगिदेहोंमें रहनेवाले) बुद्धिसंयोगको पालेती है, और योगसिद्धिको अपने पास रखने के लिये यत्न (अनासक्त कर्म) करती रहती है ।

भाव— पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोगको पाने का अभिप्राय यह है कि वह योगि-सत्ता पूर्व पूर्व अनन्त देहों में जिस बुद्धिसंयोगको लेकर उत्पन्न हुई थी, अनन्तर होनेवाले योगिदेहों में भी उसी बुद्धिको लेकर आती है और उसी को स्थिर बनाये रहती है।

'योगी' कभी 'भोगी' नहीं होता, इस सत्यका स्पष्टीकरण करनेके लिये यह बताया जारहा है कि, वह व्यापक आत्मतत्त्व जो कि 'योगी' और 'भोगी' दो प्रकारके देह धारण करता है, वह योगिदेहों में सदा योगी ही बनता चला जाता है ।

योगी की निश्चयात्मिका बुद्धि ही उसका 'योग' है । यह बुद्धि योगीके पाससे कभी नहीं हटती । संसारमें जितने योगी हो चुके हैं, जितने वर्तमान हैं, तथा जितने भविष्यमें होंगे, सबमें एक ही बुद्धि वारवार प्रकट होकर 'योगसंसिद्धि'को जीवित बनाये रहती है ।

योगी नामका कोई व्यक्ति योगीके रूपमें जन्म लेता रहता है, यह मन्तव्य सत्य नहीं है । योग की निश्चयात्मिका बुद्धि संसारमें सर्व कालमें योगिदेहों में बनी रहती है और वही बार बार योगसंसिद्धिनामक अनासक्त स्थितिको 'निष्काम कर्म' के रूपमें प्रकट करती रहती है । यही 'योग' का स्वरूप है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

अन्वय–सः तेन एव पूर्वाभ्यासेन अवशः ह्रियते अपि योगस्य जिज्ञासुः शब्दब्रह्म अतिवर्तते अपि ॥

अर्थ— वह उसी पूर्वाभ्याससे अवश होकर (सिद्धिमें) खेंच लिया जाता है । वह योगका जिज्ञासु बनकर शब्दब्रह्मके परे चला जाता है ।

भाव— योगी अपने सदाके योगी रहनेके स्वभावसे विवश रहता है । उसके साथ साथ चलनेवाली उसकी निश्चयात्मिका बुद्धि, उसे अनासक्तिरूपी योगकी स्थिति में खेंच लेती है । वह 'योग' का प्रेमी बनता है और 'शब्दब्रह्म'को पार कर जाता है । अर्थात् वह 'ब्रह्म' नामक किसी अप्राप्तवस्तु की प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाला नहीं होता; किन्तु स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । इसीको उसका 'शब्दब्रह्मातिवर्तन' कहा जाता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

अन्वय–प्रयत्नात् यतमानः संशुद्धकिल्बिषः योगी अनेकजन्मसंसिद्धः ततः परां गतिं याति ॥

अर्थ— प्रयत्न (अपनी स्वाभाविक दृढता) से यतमान (अनासक्त कर्म करनेवाली) अज्ञानमुक्त योगिसत्ता सब जन्मोंमें 'सिद्धयोगी' बनी रहती है और इसके अनन्तर भी 'परागति' (योगसिद्धि) को पाती चली जाती है।

भाव— इस श्लोकमें 'योग'से हीन होते हुए भी 'योगी' कहे जानेवाले किसी व्यक्तिके अनेक जन्ममें क्रमशः प्रयत्न करते रहनेके परिणामके रूपमें, अन्तमें जाकर 'योग' नामक परम गति पानेकी धारणाका समर्थन ढूंढना भ्रान्ति है। 'योगभ्रष्ट' नामक 'भोगी'के योगी बननेको अनेक जन्मके साधनोंका परिणाम मान लें, तो भोग और योगके समझौतेकी एक असंभव स्थितिकी कल्पना करनी पडती है। मनकी अनासक्त स्थितिको 'योग' और आसक्त स्थितिको 'भोग' माननेके अतिरिक्त योग और भोगकी दूसरी कोई उचित परिभाषा कर सकना असंभव है। मनुष्यके मनमें आसक्ति या अनासक्ति ये ही दो स्थिति पायी जाती हैं। मनुष्य इन दोनोंमें ही सीमित रहने के लिये 'विवश' है और इन दोनोंमेंसे किसी एकको अपनाये रहनेमें 'स्वतंत्र' है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मनुष्यके मन में 'योग' और 'भोग' दोनों सम्मिलित होकर रहते हों, या इन दोनोंमेंसे एक भी न रहता हो।

श्लोकके 'अनेक-जन्म' शब्दसे एक व्यक्ति-विशेष के अनेक जन्ममें 'सिद्ध' बनने की कल्पनापर प्रश्न होता है कि क्या किसी व्यक्तिका एक जन्ममें सिद्ध बनना असंभव माना जाता है? यदि 'योगी' होना मानव जीवनका लक्ष्य है और 'योगी' होनेका अभिप्राय अनासक्त मानसिक स्थितिके स्वामी होनेसे भिन्न नहीं है, तो एक जन्ममें नहीं, किन्तु एक ही क्षणमें सिद्ध होना मनुष्यका सर्वप्रधान कर्तव्य होना चाहिये। आसक्त स्थितिको छोड़कर अनासक्त स्थितिका अपनानेमें क्षणभर से अधिक काल लगना स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि भौतिक प्रयत्नोंकी सफलता, भौतिक शक्तिपर निर्भर होती है, इस कारण उसका कालपर निर्भर होना स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु जब दो विरुद्ध मानसिक स्थिति मनुष्यके सामने अपना चुनाव करानेके लिये आकर खड़ी हो जाती हैं, और दोनों कहती हैं

कि या तो मुझे अपनाओ और या उसे अपनाओ; उस समय मनुष्यको इस प्रश्नका निर्णय एक ही क्षणमें करना पड़ता है। ऐसा निर्णय करना कोई क्रियासाध्य स्थिति नहीं है । किन्तु वह स्थिति रुचि अर्थात् स्वभावसे ही सिद्ध रहती है। यही कारण है कि ऐसे निर्णयोंमें आयास या प्रयत्नका अवसर नहीं होता।

यदि इस वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करके इस श्लोकका ऐसा अर्थ किया जाय कि 'योगसिद्ध' बनना एक जन्मका काम नहीं है; किन्तु अनेक जन्मोंका काम है। इस लिये मनुष्य बार बार प्रयत्न करता हुआ 'धीरे धीरे' आसक्ति से मुक्त होकर अनेक जन्मोंमें 'योगसंसिद्धि' को प्राप्त करके 'परा गति'नामकी किसी अज्ञात अवस्थाको प्राप्त कर लेता है; तो इसपर प्रश्न होता है कि जब 'योगसिद्धि'को एक जन्म में प्राप्त करना असंभव बताया जाय, तब उसके साथ ही उन अनेक जन्मोंकी आनुमानिक संख्या भी बतानी चाहिये। परन्तु जब एक जन्ममें सिद्धिका निषेध करके 'अनेक जन्म' शब्दके द्वारा उसकी भविष्यत् प्राप्तिको अनिश्चित रखा जा रहा है, तब मानना पड़ेगा कि वक्ता अपनेको 'योगसिद्धि'के समयके संबन्धमें निश्चित धारणा बनानेमें असमर्थ पा रहा है; वह ऐसे अनिश्चित शब्द कहकर ज्ञानार्थी पाठककी कोई सहायता नहीं कर सक रहा है। ऐसे असमर्थ वक्ताकी एक जन्ममें सिद्धि न मिलने की बातका भी विश्वास कौन करे ? 'अनेकजन्मसिद्धि ' इस शब्दका उक्त प्रकारका अर्थ करें तो इन शब्दोंको अर्थहीन शब्दसंग्रह कहदेना पड़ता है।

इस लिये इस शब्दसे जो अर्थ विवक्षित है वह यह है कि 'योगिसत्ता' अपने स्वभावसे सम्पूर्ण जन्मोंमें दृढतासे यतन करती हुई अनासक्त रहनेवाले 'सिद्ध—योगी'के रूपमें प्रकट रहती है और भविष्यत्में भी सदा योग स्थितिसे च्युत न होनेवाली उस अनासक्ति रूपी 'परा—गति'को पाती चली जाती है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

अन्वय—तपस्विभ्यः ज्ञानिभ्यः कर्मिभ्यः च योगी अधिकः मतः। अर्जुन, तस्मात् योगी भव॥

अर्थ— तपस्वी, ज्ञानी तथा कर्मीसे योगी श्रेष्ठ माना जाता है। हे अर्जुन! इस लिये तुम योगी बनो।

भाव— 'योग'के विना 'तपस्वी' तपस्वी नहीं होता, ज्ञानी 'ज्ञानी' नहीं होता, और कर्म करनेवाला 'कर्मयोगी' नहीं होता। इस दृष्टिसे योगहीन तपस्वी समझे हुए से 'योगी' श्रेष्ठ है, योगहीन ज्ञानी समझे हुए से 'योगी' श्रेष्ठ है, योगहीन कर्मीसे भी 'योगी' श्रेष्ठ है। ज्ञान तथा कर्म अभिन्न हैं, इस सत्यको न जानकर की हुई तपश्चर्या, ज्ञान तथा कर्म तीनों अज्ञान हैं। अनासक्त स्थितिको अपनाकर योगी बन जाने पर ही कोई सच्चा तपस्वी, ज्ञानी या कर्मी हो सकता है। 'योग' हो तो तपस्वी, ज्ञानी और कर्मयोगी में कोई भेद नहीं रहता। 'योग' न हो तो इन तीनों को, भिन्नभिन्न नामोंसे कहे जानेवाले, अपने अपने कर्मबन्धनमें फंसे हुए, फलाकांक्षी अज्ञानी कहा जा सकता है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

अन्वय—सर्वेषां योगिनाम् अपि मध्ये यः श्रद्धावान् मद्गतेन अन्तरात्मना मां भजते सः मे युक्ततमः मतः॥

अर्थ— मैं सब योगी कहलानेवालोंमें उसे सच्चा योगी मानता हूँ, जो अनासक्तिरूपी श्रद्धा रखकर आत्मतत्त्वमें लगाये हुए मनसे आत्मतत्त्वकी आराधना करता रहता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

षष्ठसप्तमाध्यायसंगति—

षष्ठाध्यायमें 'सांख्यस्थिति'का व्यावहारिक रूप बताकर अब 'ज्ञानविज्ञानयोग' नामके सातवें अध्यायमें इस 'सांख्यस्थिति' और 'ज्ञानानन्द'की अभिन्नता का वर्णन किया जा रहा है। सांख्यस्थिति आनन्दमयी है। जहां 'ज्ञान' रहता है वहां 'विज्ञान' अर्थात् 'ज्ञानकृत अनासक्त कर्मोंका आनन्द' अवश्य रहता है।

सप्तम अध्याय

(ज्ञानविज्ञानयोग)

श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—पार्थ, मय्यासक्तमनाः मदाश्रयः योगं युञ्जन् समग्रं मां यथा असंशयं ज्ञास्यसि तत् शृणु ॥ अहं ते इदं सविज्ञानं ज्ञानम् अशेषतः वक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा इह भूयः अन्यत् ज्ञातव्यं न अवशिष्यते ॥

अर्थ— हे पार्थ! आत्मतत्त्वमें मनको स्थिर रखनेवाले, आत्मामें तृप्त रहनेवाले बनकर, योग (अनासक्त होकर कर्म) करते हुए संपूर्ण आत्मतत्त्व को जिस विधि निश्चित रूपसे जानलोगे, उसे सुनो। मैं तुमको 'विज्ञान' सहित 'ज्ञान'को (ज्ञानपूर्वक कर्मके आनन्दके साथ ज्ञानको अर्थात् इन दोनोंके अभिन्न स्वरूपको) पूर्णरूपसे बताने लगा हूं। इसको जाननेके पश्चात् इस संसारमें फिर और कुछ भी जानने योग्य नहीं बचता।

भाव— यहां 'सांख्य' और 'योग'की अभिन्नास्थितिको ही 'ज्ञान' और 'विज्ञान'-के नामसे कहा गया है। पहले अध्यायोंमें अनासक्त स्थितिका वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि ज्ञानीके द्वारा अनासक्त कर्म अनिवार्य रूपसे होते हैं। इस अध्यायमें उसीको 'ज्ञान' तथा 'विज्ञान'-के नामसे कहकर भगवान् यह आश्वासन दे रहे हैं, कि ज्ञानी बन-

जानेके पश्चात् इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको जाननेकी उत्सुकता रूपी भोगवासना नहीं रहती । अनासक्त ज्ञानीकी ज्ञानपिपासा नष्ट हो जाती है । मनुष्य अपने स्वरूपको जानलेनेके पश्चात् पूर्णताको प्राप्त कर लेता है । तब इस जगत्के भौतिक पदार्थ उस ज्ञानीके मनमें ज्ञानपिपासको उद्दीप्त करके उसे अज्ञानी बनानेमें असमर्थ हो जाते हैं । दूसरे शब्दोंमें ज्ञानपिपासाका न रहना ही 'ज्ञान-विज्ञानसे तृप्ति'की अवस्था है । इन्द्रियोंके राग-द्वेषको ही 'ज्ञानपिपासा'या 'अज्ञान' कहते हैं ।

आत्मस्थ हो जानेके पश्चात् मन आत्माको ही परम भोग्यरूपमें पाकर तृप्त हो जाता है । उसका किसी अनात्मवस्तुके साथ 'भोग्य-भोक्ता'का संबन्ध नहीं रहता । यही 'अनासक्त स्थिति' है । इस स्थिति-के आनेपर मनके पास 'विषयान्वेषण' का कोई काम नहीं रह जाता। तब विषयों का संपर्क बन्धनका कारण भी नहीं रहता ।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अन्वय–मनुष्याणां सहस्रेषु सिद्धये कश्चित् यतति । यतताम् अपि सिद्धानां मां तत्त्वतः कश्चित् वेत्ति ॥

अर्थ— असंख्य मनुष्योंमेंसे सिद्धि (योगसिद्धि) के लिये कोई कोई यतन करते हुए पाये जाते हैं । उन यतन करनेवाले सिद्धोंमेंसे कोई कोई आत्मतत्त्व को जानता है ।

भाव— छटे अध्यायमें योगीके विरला होनेका कारण बताया जा चुका है । इस श्लोकमें उसीकी पुनरावृत्तिकी जा रही है । संसारके मनुष्य भोगोंके पीछे जा रहे हैं । भोगोंके पीछे दौडनेवाले संसारमें से किसी किसीको 'योग' करता हुआ भी पाया जाता है । ऐसे 'योग' करने-वालोंमें सबके सब 'योगी' नहीं होते । इनमेंसे अधिकांश लोग 'योग'का नाम लेते रहकर 'भोग'को स्थायी करनेके असंभव उद्योगमें लगे रहते हैं । ये लोग 'व्यर्थयोगी' या 'योगभ्रष्ट' कहाते हैं । यों संसारमेंसे छंटते छंटते अनासक्त स्थितिनामके सच्चे 'योग'को अपनानेवाले 'योगी' संख्यामें न्यून होते हैं । अनासक्तिरूपी अपने स्वरूपको जानकर फलाकांक्षासे रहित बनकर कर्म करते रहना ही 'योग' है और

यही 'योगकी सिद्धि' है। अनासक्त न होकर संसारमें 'योग'के नामसे जो कुछ किया जाता है, सब 'भोगोपासना' है। यही इस श्लोकका भाव है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अन्वय–भूमिः आपः अनलः वायुः खं मनः बुद्धिः अहंकारः एव च इति इयम् अष्टधा भिन्ना मे प्रकृतिः। इयं मे अपरा (प्रकृतिः)। इतः तु अन्यां मे जीवभूतां (जीवरूपेणाभिव्यज्यमानाम्) प्रकृतिं परां विद्धि, यया इदं जगत् धार्यते ॥

अर्थ— भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार इन आठ प्रकारोंवाली आत्माकी प्रकृति है। यह आत्मतत्त्वकी 'अपरा (उत्पत्तिविनाशशील) प्रकृति' है। इससे दूसरी आत्मतत्त्वकी जीवरूपमें व्यक्त होनेवाली प्रकृतिको 'परा' (नित्य) जानो, जिस (परा प्रकृति) ने यह जगत् धारण कररखा है।

भाव— जगत्में जो सृष्टि–स्थिति–प्रलयक्रिया हो रही हैं, यह आत्मतत्त्वका स्वभाव या 'प्रकृति' है। इस प्रकृतिके दो रूप बताये जा रहे हैं। एक 'व्यक्त जगत्' जो कि होकर नष्ट होता जा रहा है। इसे 'अपरा प्रकृति' कहा जा रहा है। परन्तु जो इस जगत्के रूपमें बार बार व्यक्त हो होकर भी अविनाशी बने रहनेवाली अव्यक्त नित्य अविनाशिनी प्रकृति है, उसे 'परा प्रकृति' बताया जा रहा है। यह 'परा प्रकृति' इस नाशवान् जगत्का नाश करती हुई भी उसे ज्यों की त्यों जगत्के रूपमें बनाये रखती है। इस लिये उसे 'जगद्धात्री शक्ति' या 'परा प्रकृति' कहते हैं।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

अन्वय–सर्वाणि भूतामि एतद्योनीनि इति उपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः तथा प्रलयः ॥

अर्थ— सब भूत इसी प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं यह समझलो। आत्मा ही इस संपूर्ण (प्रकृतिसहित) जगत्के उत्पन्न और लीन होनेका स्थान है।

भाव— जगत्को व्यक्त तथा अव्यक्त करते रहनेवाली प्रकृति आत्मतत्त्वके आश्रित है, यह बताया जा रहा है। अर्थात् प्रकृति जगद्धात्री शक्तिके रूपसे जो कुछ कर्म कर रही है, उस कर्म का आधार आत्म-तत्त्व है। आत्मतत्त्वकी शक्तिसे ही ये सब सृष्टि-स्थिति-प्रलयोंकी क्रिया हो रही हैं। शक्ति अपने शक्तिमानके आश्रित होकर ही अपना काम करनेमें समर्थ होती है। आत्मतत्त्व ही शक्तिमान् ईश्वर है। यह प्रकृति उसकी शक्ति है।

यद्यपि यह सृष्टि शक्तिसे उत्पन्न और नष्ट होती है, तो भी शक्ति और शक्तिमान का अभेद होनेके कारण, शक्तिमान आत्मतत्त्व ही इसके सृष्टि स्थिति प्रलयोंका आदिकारण कहाजाता है।

आत्मा शक्तिमान् है और अव्यक्त है। जगत् रूपमें व्यक्त होते रहना उसका स्वभाव है। उसके इस स्वभावको उसकी 'प्रकृति' या उसकी 'अव्यक्त शक्ति' कहते हैं। दृश्यमान् जगत् उसीका व्यक्त रूप है। यों आत्मा, प्रकृति और जगत् ये तीनों अभिन्न हैं।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोत सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥

अन्वय-धनंजय, मत्तः परतरम् अन्यत् किंचित् न अस्ति। सूत्रे मणिगणाः इव इदं सर्वं मयि प्रोतम्॥

अर्थ— हे धनंजय! आत्मतत्त्वसे परतर (भिन्न) कुछ नहीं है। यह सब जगत् मालाके सूत्रमें मणियों के समान आत्मतत्त्वमें ही प्रोत है।

भाव— कोई भी पदार्थ शक्तिके स्वामी शक्तिमानसे भिन्न नहीं है। अर्थात् शक्तिमान आत्मा ही इस जगत्का आदिकारण है। जिस प्रकार मालामें जहां मणि है, वहीं सूत्र है, सूत्रके बाहर मणि कहीं नहीं है, और मणिके बाहर सूत्र भी कहीं नहीं है; इसी प्रकार जहां जगत् है, वहीं आत्मतत्त्व है और जहां आत्मतत्त्व है, वहीं जगत् है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ ८॥

पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

अन्वय—कौन्तेय, अहम् अप्सु रसः शशिसूर्ययोः प्रभा सर्ववेदेषु प्रणवः खे शब्दः नृषु पौरुषं च अस्मि ॥ पृथिव्यां पुण्यः गन्धः विभावसौ तेजः च अस्मि । सर्वभूतेषु जीवनं तपस्विषु तपः च अस्मि ॥

अर्थ— हे कौन्तेय! आत्मतत्त्व जलोंमें रस, चन्द्रसूर्योंमें ज्योति, वेदोंमें प्रणव, आकाशमें शब्द, और मनुष्योंमें मनुष्यता के रूपमें रहता है। आत्मतत्त्व पृथिवीमें पुण्य (स्वाभाविक) गन्ध है, अग्निमें तेज है, सर्वभूतोंमें जीवन है, तपस्वियोंमें तप (सत्यमयी स्थितिकी रक्षा) है ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

अन्वय—पार्थ, मां सर्वभूतानां सनातनं बीजं विद्धि । बुद्धिमतां बुद्धिः अस्मि। तेजस्विनाम् अहं तेजः अस्मि ॥

अर्थ— हे पार्थ ! आत्मतत्त्वको सब भूतोंका सनातन बीज अर्थात् आदि-कारण जानो । बुद्धिमानोंकी बुद्धि आत्मतत्त्व ही है । तेजस्वियों का तेज भी यह आत्मतत्त्व ही है ।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

अन्वय—बलवतां कामरागविवर्जितं बलम् अस्मि । भरतर्षभ, भूतेषु धर्माविरुद्धः कामः अस्मि ॥

अर्थ— बलवानों (ज्ञानियों) में (पाया जानेवाला) कामासक्तिसे रहित (अनासक्ति रूपी) बल आत्मतत्त्व ही है । मनुष्यसमाज में इन्द्रिय-धर्मानुसारी काम (विषयों के प्रति राग-द्वेष) भी आत्मतत्त्व ही है ।

भाव— मनुष्यमें आत्मतत्त्व देही रूपमें विराज रहा है। ज्ञानी पुरुष इस देहीको जिस रूपमें पहचानता है, उसे इस श्लोकमें बताया जा रहा है। मनुष्य की इन्द्रियोंमें अपनेअपने विषयोंके लिये स्वभावसे ही रागद्वेष होता है । जबतक यह रागद्वेष जीवित रहनेके स्वभाव की सीमाको नहीं लांघता, किन्तु देहधारण के उपयोगमें आता रहता है, तबतक वह 'कामराग' नामसे नहीं कहा जाता । इन्द्रियासक्ति इन्द्रियोंका स्वभाव है। उसे ही 'काम' कहा जाता है। इन्द्रिया-

सक्ति या काम दोष रूप नहीं है। किन्तु इसको अपनाना 'दोष' है। इन्द्रियासक्तिको अपनाना ही 'काम-राग' कहा जा रहा है, और इन्द्रियासक्तिके बन्धन में न आनेकी स्थितिको 'अनासक्ति' या 'बल' कहा जा रहा है। देहीका स्वरूप यही है कि यह देही मनुष्यके शरीरमें आसक्ति तथा अनासक्ति दोनों रूपोंमें विद्यमान है। अनासक्त या आसक्त होने की स्वतंत्रता ही 'देहीका स्वरूप' है। यह स्वतंत्रता रूपी आत्मतत्त्व ही अज्ञानी के लिये आसक्ति या अनात्मस्थिति रूपी 'विषयबन्धन' है, और यही ज्ञानीकेलिये अनासक्ति रूपी 'कामरागविवर्जित आत्मस्थिति' है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

अन्वय—ये च एव सात्विकाः राजसाः तामसाः च भावाः मत्तः एव (जाताः) इति तान् विद्धि। न तु अहं तेषु ते मयि ॥

अर्थ— जितने सात्त्विक, राजस, तामस भाव हैं, वे आत्मतत्त्वसे ही उत्पन्न हुए हैं, ऐसा उन्हें जानो। आत्मा उनमें नहीं है, वे आत्मामें हैं।

भाव— मनुष्यके मनमें अपने सामूहिक भोगकी सुगमताको अक्षुण्ण रखने के लिये, अपने व्यक्तिगत भोग पर संयम रखनेकी जो प्रवृत्ति पायी जाती है, उसको 'सात्त्विक-वृत्ति' कहा जाता है। जब मनुष्यके मनमें सामूहिक भोगोंकी सुगमता गौण बन जाती है, और व्यक्तिगत भोगको मुख्यता दे दी जाती है, तब उसे 'राजस-वृत्ति' कहा जाता है। जब मनुष्यके मनमें सामूहिक भोगोंकी सुगमताको पूर्ण रूपसे उपेक्षित किया जाता है और व्यक्तिगत भोगेच्छाको अबाध रूपसे परितृप्त किया जाने लगता है, तब इसे 'तामस-वृत्ति' कहा जाता है। अपने भोगों में संयमकी न्यूनाधिकता करना या संयमकी पूर्ण उपेक्षा करना ही सत्त्व, रज, तम इन तीन नामोंसे कहा जाता है।

सात्त्विक पुरुष भोगोंको नहीं त्यागता। वह भोगोंमें कुछ संयम करता है। उसका लक्ष्य भोगत्याग नहीं है। भोगत्यागी पुरुष को 'त्रिगुणातीत' कहा जाता है। त्रिगुणमयी स्थिति ही भोग करानेवाली है। यह त्रिगुणमयी स्थिति मनुष्य के मनमें ही रहती है। परन्तु मनुष्यको इस त्रिगुणमयी स्थितिसे स्वतंत्र रहनेका पूर्ण अधिकार है।

इसको किन्हीं मिष्ट या मारिच आदि पदार्थोंमें या गोव्याघ्र शूकर आदि प्राणियोंमें स्वीकार करना विचारकी हीनता है। इन वृत्तियोंको मनुष्यके मनमें न देखकर मनुष्यके उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंमें देखना और उन्हें इन तीन रूपोंमें विभक्त देखनेकी इच्छा करना भ्रान्त इच्छा है ।

सात्त्विक, राजस, तामस शब्द मनुष्यके मनकी वृत्तियोंके विषयमें ही व्यवहृत होनेवाले शब्द हैं। क्योंकि किसी पदार्थ या देहमें इन नामोंसे व्यवहृत हो सकनेकी योग्यता नहीं पायी जाती । मनुष्यके मनमें जो भोगासक्ति रखने या न रखनेकी स्वतंत्रता है, वह मनुष्यकी भोगाकांक्षाको चरितार्थ करनेवाले उपायोंको तीन भिन्नभिन्न रूप दे देती है । जिन पदार्थोंमें भोगाकांक्षा नामकी स्थिति निश्चित रूपमें नहीं है, तथा जिन प्राणियोंमें भोगाकांक्षाके संबन्धमें कोई स्वतंत्रता नहीं है, जो स्वभावसे केवल भोगरत रहने के लिये विवश हैं, उन पदार्थों और उन प्राणियों में, केवल मनुष्यकी मनोदशासे संबन्ध रखनेवाले सत्त्व-रज-तमोंका आरोप करना विचार की भ्रान्ति है। वस्तुतः ये तीनों शब्द केवल मनुष्यकी मनोदशाके परिचायक हैं।

पदार्थोंको तीन प्रकारकी भिन्नभिन्न प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाला मानकर या इन्हें तीन प्रकारके मनुष्योंकी भिन्नभिन्न रुचियोंके अनुकूल मानकर ही ये तीन श्रेणी स्थापित की गयी हैं। परन्तु यह श्रेणीविभाग वस्तुस्थितिसे प्रतिकूल है । सृष्टिव्यवस्थाने अपनी अपनी रुचि और अवश्यकता के अनुसार सब प्रकारकी वस्तुओंको प्रयोगमें लानेवाले चार प्रकारके मनुष्य उत्पन्न किये हैं। उनमेंसे कुछको त्रिगुणबन्धनमें रहनेकी और कुछको त्रिगुणातीत रहनेकी स्वतंत्रता दे रखी है। यद्यपि भोग्य पदार्थ एक ही होता है, परन्तु उसके साथ संबन्ध रखनेवाले मनुष्य क्योंकि चार प्रकारकी भिन्नभिन्न रुचि रखनेवाले होते हैं, इस कारण वे अपनी भिन्नभिन्न रुचिके अनुसार उन पदार्थोंको जिन चार भिन्नभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखते हैं, वे दृष्टिकोण 'त्रिगुणमय' या 'त्रिगुणातीत' भाव कहाते हैं।

जिसे कोई भोग्य पदार्थ प्राप्त है, वह उसीसे संतोष मानकर

अपनेको 'सात्त्विक' स्थितिमें समझता है। जिसे वह भोग्य पदार्थ अप्राप्त है, वह उसकी प्राप्तिके लिये उद्यम करनेसे 'राजस' हो जाता है। जिसके लिये वह पदार्थ अप्राप्य है, वह उसके संबन्धमें नैराश्य-पूर्ण मनोदशा रखता है। ऐसा पुरुष 'तामस' भावों का क्रीडाक्षेत्र माना जाता है। परन्तु जो इन तीनोंसे चौथे प्रकारका पुरुष इन प्राप्तिअप्राप्तियोंमें उदासीन रहता है, उसे 'त्रिगुणातीत' कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यही है कि सत्त्व, रज, तम, तथा त्रिगुणातीतता मनुष्यके मनकी स्थितियोंके नाम हैं।

यह बात अनुभवसे समर्थन पानेका अधिकार नहीं रखती कि बाह्य पदार्थोंमें सत्त्व, रज, तमको उत्पन्न करनेकी शक्ति है। यदि इतने पर भी बाह्य पदार्थोंको सात्त्विक, राजस, तामस इन तीन नामोंसे विभक्त करनेका आग्रह नहीं छोड़ा जायगा, तो त्रिगुणातीत स्थिति रखनेवाले मनुष्यके उपयोगमें आने योग्य न तो कोई पदार्थ-ही संसारमें मिलेगा और न उसे जीवनधारण का अधिकार ही रहेगा। इस लिये 'त्रिगुणमयी' या 'त्रिगुणातीत' स्थितिको मनुष्य-मनके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र कल्पना करना उसे अयुक्त स्थानपर टटोलना है। क्योंकि 'त्रिगुणातीत' स्थिति रखनेवाले मनुष्य भी इसी संसारमें रहते हैं, और इसीके पदार्थोंसे अपना जीवन-यापन करते हैं, इस लिये मनुष्योंको ही चार श्रेणियोंमें विभक्त मानना पड़ता है। इन चार श्रेणियोंके मनुष्योंके उपयोगमें आनेवाले संपूर्ण पदार्थोंको यदि सत्त्व, रज, तम इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर दिया जायगा तो चौथी 'त्रिगुणातीत' श्रेणीके मनुष्यके उप-योगके लिये 'त्रिगुणातीत पदार्थ' नामके किसी पदार्थके न होनेसे उसको जीवनाधिकारसे वंचित मान लेना पड़ेगा, जोकि स्वीकरणीय नहीं है।

इस लिये सत्त्व, रज, तम तीनों गुण मनुष्य की भोगाकांक्षा के ही भिन्नभिन्न नाम हैं। 'तम' भोगाकांक्षा है, 'रज' भोगसंग्रह है, और 'सत्त्व' भोगका संरक्षण है। ये तीनों गुण संसारबन्धन हैं। संसारबन्धन-रूपी यह त्रिगुणमयी माया आत्मासे ही उत्पन्न हुई है। इसी लिये त्रिगुणमय भाव आत्मा में है। आत्मा उनमें नहीं है। अर्थात् वह उनके बन्धन में नहीं है, किन्तु त्रिगुणातीत है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ १३॥

अन्वय–एभिः त्रिभिः गुणमयैः भावैः मोहितं इदं सर्व जगत् एभ्यः परम् अव्ययं मां न अभिजानाति॥

अर्थ— इन तीन गुणमय भावों से मोहित हुआ यह सारा संसार इनसे पर (गुणातीत) अविनाशी आत्मतत्त्वको नहीं पहचानता।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ १४॥

अन्वय–मम एषा दैवी गुणमयी माया दुरत्यया। ये माम् एव प्रपद्यन्ते ते एतां मायां तरन्ति॥

अर्थ— आत्माकी यह दैवी (इन्द्रियोंको मोहित करनेवाली) गुणमयी (त्रिगुण–बन्धनरूप) माया (इन्द्रियासक्त मनुष्य के लिये) अनुल्लंघनीय है। जो आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं, वे ही इस माया को पार करते हैं।

भाव— जबतक मनुष्यका मन इन्द्रियोंके बन्धनसे अतीत नहीं हो जायगा, तबतक संसारबन्धनको बन्धनके रूपमें कदापि नहीं पहचान सकेगा और उसे उस बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा भी नहीं हो सकेगी। इसीसे संसारासक्ति रूपी त्रिगुणमयी माया उसके लिये दुस्तर बनी रहेगी। निश्चय ही वह अज्ञानमें फंसा रहेगा और संसारबन्धन को न त्यागनेकी दृढताको अपनाये रहेगा। परन्तु जब कोई अपने मनको इन्द्रियोंके बन्धनसे बाहर निकाल लेगा, अर्थात् अपने मनको अनासक्त स्थिति में सुप्रतिष्ठित कर लेगा, तब उसकी ज्ञानदृष्टि अनासक्तिकी महिमासे उसको संसारबन्धनका परिचय करा देगी। संसारबन्धनको पहचानने को ही 'मायासन्तरण' कहा जा रहा है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥

अन्वय–मायया अपहृतज्ञानाः आसुरं भावम् आश्रिताः दुष्कृतिनः मूढाः नराधमाः मां न प्रपद्यन्ते॥

अर्थ— मायासे अज्ञानी बने हुए, भोगी स्वभावको अपनानेवाले, कुकर्मा, अविवेकी तथा मनुष्यतासे रहित मनुष्य आत्मतत्त्वको नहीं पाते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

अन्वय–भरतर्षभ, अर्जुन, आर्तः जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च चतुर्विधाः सुकृतिनः जनाः मां भजन्ते ॥ तेषां नित्ययुक्तः एकभक्तिः ज्ञानी विशिष्यते । अहं ज्ञानिनः अत्यर्थं प्रियः । स च मम प्रियः ॥

अर्थ— हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त (दुखिया), जिज्ञासु (ज्ञानार्थी), अर्थार्थी (विषयार्थी) और ज्ञानी ये चार सुकृती समझे जानेवाले आत्मतत्त्वको भजते हैं (भजते हुए पाये जाते हैं)। इनमेंसे नित्य-युक्त (सदा अनासक्त कर्म करनेवाला), एकभक्ति (आत्मतत्त्वका अनन्य प्रेमी) ज्ञानी विशेष है (सच्चा भक्त है)। आत्मतत्त्व ज्ञानीको अत्यन्त प्रिय है और ज्ञानी भी आत्मतत्त्वका प्रिय है (वह ज्ञानीका ही बन जाता है)।

भाव— इन चारों भक्तोंका स्वरूप इस प्रकार है–पहला ' आर्त ' जो अपने दुःखनाशका प्रार्थी है। दुःखोंका नाश या सुखोंकी प्राप्ति ही इसका आराध्य है। इसीका यह उपासक है। दूसरा 'जिज्ञासु' जो अपनेको साधक कहता है, सदा साधक बने रहना ही जिसके अभिमानका स्थल है, जो अपनेको सदा अज्ञानकी स्थितिमें रखना स्वीकार कर चुका है, जिसकी 'जिज्ञासा' समाप्त होनेके लिये नहीं है, जो भोगोंको अपनाये रहकर ईश्वरको अपनाना चाहता है, और किसी 'अप्राप्त ज्ञान'के पीछे दौड़नेका अभिनय करता है। तीसरा 'अर्थार्थी' जो पार्थिव भोगोंकी कामना करता है, जिसका ईश्वरके साथ भोगोंके लेन देनका संबन्ध है। चौथा 'ज्ञानी' जो आत्मस्वरूपको जान चुका है और विषयोंमें अनासक्त हो गया है।

' ज्ञानी ' ही सच्चा भक्त है । अज्ञानी पुरुष चाहे दुःखनाशके लिये, या अप्राप्त ईश्वरको पानेके लिये, या पार्थिवभोगोंके लिये भगवान्‌का भजन करता हो, परन्तु उसके भजन को भगवान् स्वीकार नहीं करता । आसुरी स्वभाव रखकर भक्ति करनेवाले ये सब 'ईश्वर–भक्त'नामसे कहे जानेके योग्य नहीं हैं।

भगवान् 'ज्ञानी'का प्यारा है और 'ज्ञानी' भगवान्का प्यारा है। ज्ञानी भगवान्के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहता। भगवान् भी उसकी चाहको पूरा करता हुआ स्वयं ही उसकी आत्मस्थिति या उसका नित्यसंगी बन जाता है। 'ज्ञानी' प्रेमसे आत्मतत्त्वको अपनाना चाहता है और आत्मतत्त्व उसके उस प्रेमसे 'ज्ञानीका' हो जाता है।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

अन्वय—सर्वे एव एते उदाराः ज्ञानी तु आत्मा एव इति मे मतम्। हि सः युक्तात्मा माम् एव अनुत्तमां गतिम् आस्थितः ॥

अर्थ— ये सब के सब उदार हैं (इन सब का संबन्ध ईश्वरके उदार नामके साथ रहता है) परंतु ज्ञानी आत्मस्वरूप है यह मेरा मत है। क्योंकि वह युक्तात्मा सर्वोत्तम गति आत्मतत्त्व को अपनाचुका है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

अन्वय—ज्ञानवान् बहूनां (सर्वेषां) जन्मनाम् अन्ते (मध्ये) वासुदेवः सर्वम् इति मां प्रपद्यते। सः महात्मा सुदुर्लभः ॥

अर्थ— ज्ञानवान् सब जन्मोंमें वासुदेव (सर्वव्यापी आत्मतत्त्व) ही सब कुछ है, इस रूपमें आत्मतत्त्व को समझ जाता है। ऐसा ज्ञानी दुर्लभ होता है।

भाव—चार प्रकारके भक्तों में से भगवानने 'ज्ञानी' को ही 'सच्चा भक्त' कहा है। संसारबन्धनमें फंसे हुए मनुष्यों में भक्त ज्ञानीका दुर्लभ होना आश्चर्य की बात नहीं है। इस श्लोकमें इसी ज्ञानीका वर्णन हो रहा है। ज्ञानी आत्मस्वरूप हो जाता है।

'**बहूनां जन्मनां अन्ते**' इस उक्ति का यही अभिप्राय है कि भूत, भविष्यत्, वर्तमानमें जितने ज्ञानी हो चुके हैं, हैं, और होंगे इन सब में अनासक्तिरूपी एक ही ज्ञानकी स्थिति रहती है। ज्ञानी सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप जान लेता है। सर्वत्र आत्म-तत्त्व का दर्शन करता हुआ ज्ञानी अनात्मविषयोंको अस्वीकार करके विषयबन्धनके अतीत बना रहता है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

अन्वय—स्वया प्रकृत्या नियताः तैः तैः कामैः हृतज्ञानाः तं तं नियमम् आस्थाय अन्यदेवताः प्रपद्यन्ते ॥

अर्थ— अपनी प्रकृतिसे विवश हुए, उन उन कामनाओंसे अज्ञानी बने हुए लोग, उस उस बन्धनको अपनाये रहकर आत्मासे भिन्न देवताओंके बन्धनमें फंस जाते हैं।

भाव— भोगबन्धनमें फंसे हुए अज्ञानी अपनी भोगेच्छाको तृप्त करनेके स्वभावसे विवश होकर देवताओंकी कल्पना करते हैं, और फिर उनका भजन करते हैं। उनका वह देवपूजन भी उनके भोगबन्धनका ही रूपान्तर होता है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

अन्वय—यः यः भक्तः श्रद्धया यां यां तनुम् आर्चितुम् इच्छति (अहं) तस्य तस्य ताम् एव श्रद्धाम् अचलां विदधामि ॥ स भक्तः तया श्रद्धया युक्तः तस्याः राधनम् (आराधनं) ईहते। ततः मया एव विहितान् तान् कामान् लभते च ॥

अर्थ— जो जो भक्त (भोगासक्त मनुष्य) श्रद्धा (आसक्ति) से जिस जिस देहको भजना चाहते हैं, आत्मतत्त्व उन सब मनुष्यों में उसी श्रद्धा (आसक्ति) को दृढ बना देता है। वह विषयभक्त पुरुष उस श्रद्धा (आसक्ति) से युक्त होकर उसी शरीरकी आराधना में लगा रहता है, और उस शरीरसे आत्मतत्त्वके उत्पन्न किये हुए उन भोगों (भोगबन्धनों) को पाता रहता है।

भाव— भोगोंकी इच्छा करनेवाले भोगासक्त भक्त क्योंकि भोगों के लिये ही देवताओंको पूजते हैं इसलिये ये 'देवोपासक' नहीं हैं, किन्तु 'भोगोपासक' हैं। इनका आत्मतत्त्व इनको इनकी उपासनाके अनुरूप भोगबन्धनके रूपमें फल देता है। इनकी आत्मतत्त्वकी उपेक्षा इनके लिये अनात्मविषयों में आसक्तिरूपी बन्धन बनकर इन्हें फांस लेती है। अपनाया हुवा आत्मतत्त्व अनासक्तिके रूपमें मुक्तिका दान करता है। जब मनुष्य आत्मतत्त्वकी उपेक्षा करता है, तब उसे आसक्तिरूपी दृढ भोगबन्धन प्राप्त हो जाता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्वय–अल्पमेधसां तत् फलं तु अन्तवत् भवति । देवयजः देवान् यान्ति । मद्भक्ताः मां यान्ति ॥

अर्थ— अज्ञानियोंका चाहा हुआ वह फल नाशवान् होता है । देवपूजक देवताओंके बन्धनमें रहते हैं । आत्मभक्त आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेते हैं ।

भाव— अज्ञानी लोग अपनी इच्छाके अनुसार नाशवान् भौतिक पदार्थों को भोग्यरूपमें अपने पास रखना चाहते हैं। इन पदार्थों का मिलना न मिलना उनकी चाहपर निर्भर नहीं होता। परन्तु वे भोगासक्ति के कारण निःस्पृह होना नहीं जानते । वे भोगान्ध होनेके कारण इस वातको समझने में असमर्थ रह जाते हैं कि इस सृष्टि का भौतिक प्रबन्ध स्पृहा रखनेवाले तथा निःस्पृह रहनेवाले सबके लिये एक जैसा है । वे लोग इस सत्यको न समझनेके कारण अपनी सुखानुकूल वस्तुओं की स्पृहाके बन्धनमें बंधे रहते हैं । इसलिये भोगोपासक लोगोंकी देवपूजा उन्हें भोगबन्धनोंमें बांधनेवाली होती है । अनासक्त योगी पुरुष भोगातीत रहकर आत्मतत्त्वको प्राप्त करके 'मुक्त' रहता है ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

अन्वय–अबुद्धयः मम अनुत्तमम् अव्ययं परं भावम् अजानन्तः अव्यक्तं मां व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते ॥

अर्थ— अज्ञानी मनुष्य आत्मतत्त्वके अनुपम अविनाशी श्रेष्ठ स्वरूपको न पहचानकर इन्द्रियातीत आत्मतत्त्वको इन्द्रियों के अनुभवमें आनेवाला विषय मान लेते हैं ।

भाव— इस श्लोकमें अज्ञानी भोगासक्त देवपूजकों के अज्ञानका वर्णन किया जा रहा है । भोगासक्त अज्ञानी लोग पार्थिव भोग देनेवाले जिन देवताओंकी कल्पना करके उनकी शरणमें जाते हैं, वे यह समझते हैं कि ये देवता स्तुति नमस्कार आदिसे प्रसन्न हो कर प्रार्थना पूरी कर देते हैं। ऐसे लोग स्वयं तो भोगेच्छाकी प्रार्थना करने के बन्धनमें होते हैं और अपने कल्पित देवतोंको

भोगेच्छाकी प्रार्थना सुनने और उसे पूरा करने के बन्धनमें रखते हैं। यों वे अपने आपको तथा अपने आराधित देवतोंको अपनी भोगासक्तिके बन्धन में फंसा लेते हैं। भोगोपासकोंसे पूजे जानेवाले 'देव' उनके मनमें घुसे हुए 'विषय'ही होते हैं। ये लोग इन्द्रियातीत आत्मतत्त्वको अपना स्वरूप न जाननेके कारण ही इस भ्रांतिमें फंसते हैं। आत्मतत्त्वको जान लेना ही इन्द्रियातीत अनासक्त स्थितिको अपनाना और आत्माके अनुपम इन्द्रियातीत श्रेष्ठ स्वरूप में स्थित हो जाना है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

अन्वय—योगमायासमावृतः अहं सर्वस्य प्रकाशः न। अयं मूढः लोकः अजम् अव्ययं मां न अभिजानाति ॥

अर्थ— त्रिगुणबन्धनरूपी मायाके द्वारा ढका हुआ आत्मतत्त्व सब किसी को नहीं दीखता। यह अज्ञानी मनुष्य अजन्मा, अव्यय आत्मा को नहीं पहचानता।

भाव— आत्मस्वरूपको जाननेवाला पुरुष ही अनासक्त होकर सब भूतों के बन्धनसे अतीत रह सकता है। आत्मदर्शन करने के पश्चात् उसके लिये इस सृष्टिमें अनात्मपदार्थ शेष नहीं रहता। तब कोई भी पदार्थ बन्धन में डाल सकनेवाले विषयके रूपमें स्वीकृत नहीं होता। ज्ञानी के आत्मदर्शन का यही अभिप्राय है कि उसके पास आकर अनात्मजगत् अर्थात् संसारबन्धन व्यर्थ हो जाता है। परन्तु विषयासक्तिरूपी त्रिगुणमयी माया के बन्धनमें आये हुए अज्ञानी के पास आत्मदर्शनकी यह स्थिति नहीं होती, इस कारण उसके लिये यही संसार ' अनात्मा ' अर्थात् बन्धनका कारण हो जाता है। ज्ञानीकी आत्मस्थिति संसारको बन्धनरहित आत्मस्वरूप बना डालती है। अज्ञानीकी विषयासक्ति संसारको बन्धनका रूप दे देती है। जिसके पास ज्ञानदृष्टि नहीं है, वह इस व्यक्त जगत्को अपनी इन्द्रियों का भोग्य मान लेता है और इसी कारण अव्यक्त इन्द्रियातीत आत्मतत्त्वको जाननेसे वंचित रह जाता है।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अन्वय–अर्जुन, अहं समतीतानि वर्तमानानि भविष्याणि च भूतानि वेद । मां तु कश्चन न वेद ॥

अर्थ— हे अर्जुन! आत्मतत्त्व, भूत, वर्तमान तथा भविष्य सब भूतों को जानता है । परन्तु अज्ञानी पुरुष आत्मतत्त्वको नहीं जानते ।

भाव— क्योंकि अव्यक्त आत्मतत्त्व ही अपनी शक्तिसे जगत् रूपमें व्यक्त होता है, इस लिये संपूर्ण जगत्को जाननेवाला उससे दूसरा और कौन हो सकता है ? जगत्को यदि कोई जानता है तो वह स्वयं ही जानता है । इसी अभिप्रायसे कहा जा रहा है कि आत्मतत्त्वके लिये भूत अज्ञात नहीं हैं । अर्थात् भूतोंके उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आत्मतत्त्वसे बाहर नहीं होते । ये उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, आत्म-तत्त्वकी शक्ति या अधिकार की सीमा के भीतर ही भीतर होते रहते हैं, इसी बातको 'आत्मतत्त्वका उनको जानना' कहा जाता है । परन्तु इन्द्रियरूपी क्षुद्र साधनों पर निर्भर रहनेवाले भूत, अपनी इन्द्रियोंसे उस इन्द्रियातीत आत्मतत्त्वको जाननेमें असमर्थ रह जाते हैं । वे अपनी सीमित शक्ति रखनेवाली इन्द्रियोंसे केवल व्यक्त जगत्को जानते हैं । यही उनका 'आत्माको न जानना' है ।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

अन्वय–परन्तप, भारत, इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन सर्वभूतानि सर्गे संमोहं यान्ति ॥

अर्थ— हे परन्तप! अर्जुन! सब अज्ञानी मनुष्य रागद्वेषों से उत्पन्न होनेवाले सुखदुःख आदि द्वन्द्वों के मोहसे सर्गमें (संसारमें) मोह को प्राप्त हो जाते हैं । (संसारमें लिपटे रहते हैं)।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

अन्वय–येषां पुण्यकर्मणां जनानां पापम् अन्तगतं (भवति) ते द्वन्द्वमोह-निर्मुक्ताः दृढव्रताः मां भजन्ते ॥

अर्थ— जिन अनासक्त कर्म करनेवालोंका अज्ञान नष्ट हो चुकता है, वे सुख-दुःखके मोह से छूटकर अनासक्त स्थितिमें दृढ रहकर आत्म-स्वरूपकी आराधना करते रहते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

अन्वय—ये माम् आश्रित्य जरामरणमोक्षाय यतन्ति ते तत् ब्रह्म, कृत्स्नम् अध्यात्मम् अखिलं कर्म च विदुः ॥

अर्थ— जो आत्मतत्त्वका आश्रय लेकर जरा और मरणकी भ्रान्तिसे मुक्त रहनेके लिये यतन अर्थात् अनासक्त कर्म करते रहते हैं, वे परब्रह्मको संपूर्ण अध्यात्मको तथा अखिल (विराट्) कर्मको जानलेते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

अन्वय—ये साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च मां विदुः ते युक्तचेतसः प्रयाण-काले अपि मां विदुः ॥

अर्थ— जो अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञसहित आत्मतत्त्वको पहचान जाते हैं, वे योगी प्रयाणकालमें भी उसे जानते हैं।

भाव— 'अधिभूत' 'अधिदैव' तथा 'अधियज्ञ'के सहित आत्माको जानलिया जाय तो प्रयाणकालमें भी आत्मतत्त्व अविस्मृत रहता है; इस बातको कहकर, आत्मज्ञानका सच्चा स्वरूप बताया जा रहा है। अगले अध्यायोंमें 'अधिभूत' 'अधिदैव' तथा 'अधियज्ञ'की व्याख्या की गई है।

प्रयाणकालमें भी आत्मविस्मृतिमें न पडना, आत्मदर्शनका सच्चा स्वरूप है, यह इस श्लोकमें कहा जा रहा है। अर्थात् प्रयाणकालकी व्याख्या हो जानेसे ही आत्मदर्शनका अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। इस श्लोकमें **स्थित्वास्यामन्तकालेपि, प्राक्शरीरविमोक्षणात्** आदिकी ही प्रतिध्वनि की गई है। चाहे इस शरीरका अन्त होना स्वीकार करना पडे, तब भी अनासक्तिरूपी विदेह-स्थितिमें स्थित रहना ही 'आत्मज्ञान' है। क्योंकि शरीरके अन्त होनेका कोई निश्चित समय नहीं है और क्योंकि यह शरीर नाशवान् है, इस कारण प्रत्येक क्षणको इसका 'अन्तकाल' या 'प्रयाणकाल' माना जाना चाहिये।

इस दृष्टिसे इस श्लोकसे यही अभिप्राय व्यक्त किया जा रहा है कि जो मनुष्य आत्मज्ञानी होकर अनासक्त कर्म करनेवाला होता है, वह जीवनके प्रत्येक क्षण अनासक्त आत्मज्ञानी बना रहता है। चाहे किसी भी क्षण इस शरीरका अन्त आजाय, वह आकर उसे विदेह स्थितिमें पाता है और अमरत्वका दान करके चला जाता है। आत्मज्ञानी अमर है। शरीरके अन्तके साथ ज्ञानीकी मृत्यु नहीं होती।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोध्यायः ॥ ७ ॥

सप्तमाष्टमाध्यायसंगति—

'ज्ञान' तथा 'ज्ञानकृत कर्मके आनन्द'की अभिन्न स्थिति है। 'ज्ञान-विज्ञानयोग' नाम के सातवें अध्याय में यही बात समझाई जा चुकी है। अब आठवें में फिर उसीको ज्ञानी की स्वरूपस्थिति के साथ 'अक्षर, कालातीत अखण्ड सत्ताकी एकता या अभेदात्मक स्थिति' के रूपमें बताया जा रहा है।

अष्टम अध्याय

(अक्षरब्रह्मयोग)

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियातत्माभिः ॥ २ ॥

अन्वय–पुरुषोत्तम, तत् ब्रह्म किम्? अध्यात्मं किम्? कर्म किम्? अधिभूतं च किं प्रोक्तम्? अधिदैवं किम् उच्यते? अत्र अस्मिन् देहे च अधियज्ञः कः कथं च? मधुसूदन प्रयाणकाले नियतात्मभिः कथं ज्ञेयः असि?

अर्थ— हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत क्या कहाता है और अधिदैव किसे कहते हैं? इस देह में अधियज्ञ कौन है और कैसे है? और हे मधुसूदन! प्रयाणकाल में नियतात्मा मनुष्य तुमको (आत्मतत्वको) क्यों कर पहचानते हैं?

भाव— सातवें अध्यायके २९ तथा ३० श्लोकमें (१) ब्रह्म (२) अध्यात्म (३) कर्म (४) अधिभूत (५) अधिदैव और (६) अधियज्ञ ये सब शब्द कृष्ण भगवान्के मुखसे सुनकर अब अर्जुन इनका स्वरूप जानना चाहता है। अर्जुनका सातवां प्रश्न प्रयाणकाल में आत्मज्ञानकी विधि जानने के लिये है।

श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अन्वय–परमम् अक्षरम् ब्रह्म उच्यते । स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते । भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

अर्थ— परम अक्षर तत्त्व ' ब्रह्म ' कहाता है। स्वभाव (अपने अक्षर भावमें अविचलित रहना) ' अध्यात्म ' कहाता है । भूतभाव (अनेकता) को उत्पन्न करनेवाला विसर्ग (सृष्टिव्यापार) ' कर्म ' कहाता है ।

भाव— जिसका कोई कारण नहीं है, जो इस जगत्का आदि कारण है, उस परम अक्षर तत्त्वको ' ब्रह्म ' कहते हैं। इसी अक्षर तत्त्वका स्वरूपमें रहने का (स्वरूपसंभोग करते रहने का) स्वभाव ' अध्यात्म ' कहाता है । वह एक, अविनाशी, अक्षरतत्व जिस सृष्टिव्यापारको करता हुआ भूतोंके रूपमें अनेक बन गया है, उसके इस सृष्टिव्यापारको 'कर्म' नामसे कहा जाता है। अर्थात् यह संपूर्ण सृष्टि एक विराट् 'कर्म' है । भूतोंके उत्पत्ति, स्थिति, विनाश तथा भूतदेहोंसे किये जानेवाले संपूर्ण कर्म इस सृष्टिरूपी विराट् 'कर्म'के अन्तर्गत हैं। इस 'कर्म'से बाहर कहीं कोई कर्म नहीं हो रहा है ।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्वय–क्षरः भावः अधिभूतं पुरुषः च अधिदैवतं (अस्ति) देहभृतां वर, अत्र देहे अहम् एव अधियज्ञः ॥

अर्थ— (संपूर्ण जगत्का) नाशवान् स्वभाव 'आधिभूत' है । (सब भूतोंका स्वाभाविक प्रेरक) व्यापक आत्मतत्त्व 'अधिदैवत' है।हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ ! इस मनुष्य शरीरमें रहनेवाला (अनासक्त स्थितिरूपी) आत्मस्वरूप ही ' अधियज्ञ ' है।

भाव— अविनाशी आत्मतत्त्व सर्वव्यापी है । वही सब कुछ हो गया है। इस नाशवान् जगत्के नाश होनेका स्वभाव भी उसी का स्वभाव है । जड, चेतन, चर, अचर सब भूतों में जो कुछ स्वाभाविक क्रिया हो रही हैं, वे सब सर्वव्यापी आत्मतत्वकी विद्यमानतासे ही हो रही हैं । सब भूतोंका स्वभाव आत्मतत्त्वका ही स्वभाव है । आत्मतत्त्व इस मनुष्यदेहमें भी सब भूतों के समान ही रहता है । परन्तु वह इस मनुष्यशरीरमें अनासक्त स्थितिके रूपमें 'विशेष रूप'से रहता है। आत्मतत्त्व

ही संपूर्ण जगतके नाशवान् रूपमें व्यक्त हुआ ' अधिभूत ' है। वही सब भूतोंका सर्वव्यापी स्वभाव या 'पुरुष' है। उसीको 'आधिदैवत' कहते हैं । वही मनुष्यशरीरमें रहनेवाली अनासक्तिरूपी आत्मस्थिति भी है। उसे ' अधियज्ञ ' कहा जाता है।

आत्मतत्त्व सब भूतों में 'क्षरभाव' तथा 'आधिदैवत' नामक दो रूपोंमें विराजमान है। परन्तु वही आत्मतत्त्व मनुष्यदेहमें (१) 'क्षरभाव' (२) 'अधिदैवत' तथा (३) 'अधियज्ञ' इन तीन रूपों में विराज रहा है।

दुसरे सब भूतों के क्षरभावको 'अधिभूत' और पुरुषको 'अधिदैव' कहने के पश्चात् 'अहं' अर्थात् अपने आपको मनुष्यशरीरमें 'अधि-यज्ञ'नामसे परिचित करानेका यही अभिप्राय है कि 'मनुष्यहृदय' ही अक्षर ब्रह्मरूपी आत्मस्वरूपके दर्शन करनेका स्थान है; तथा अनासक्तिरूपी आत्मस्थिति ही उसका स्वरूप है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्वय—यः च अन्तकाले माम् एव स्मरन् कलेवरं मुक्त्वा प्रयाति सः मद्भावं याति अत्र संशयः न ॥

अर्थ— और जो अन्तकालमें (प्रतिक्षण) 'आधियज्ञ' को ही स्मरण करता रहकर, देहबन्धनको त्यागकर (विदेह स्थितिमें रहकर) जीवन-यात्रा करता रहता है वह आत्मस्वरूपको प्राप्त करलेता है।

भाव— इस श्लोकमें ' मां ' शब्द इससे प्रथम श्लोक के ' अहं ' का वाचक है। पहले श्लोकमें 'अहं'को 'आधियज्ञ' अर्थात् अनासक्त स्थितिके नामसे कहा गया है। अब इस श्लोकमें उसी स्थितिको अपनाये रहनेका महत्त्व बताया जा रहा है। मनुष्यदेहमें रहनेवाली 'अधियज्ञ' रूपी अनासक्त स्थिति ही 'आत्मतत्त्वका स्वरूप' है। इसीको प्राप्त कर लेना 'मनुष्यजीवन का लक्ष्य' है। प्रत्येक क्षण ही इस नाशवान् शरीरका 'अन्तकाल' है। इस लिये जो मनुष्य प्रत्येक क्षण देहबन्धनरूपी आसक्ति के अतीत रहकर, फलाशासे रहित होकर, कर्म करता हुआ 'शरीरयात्रा' करता है; वह आत्मदर्शन कर चुकनेवाला 'युक्त

पुरुष' कहता है। इसको आधिक विस्तारसे जानने के लिये दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोक की व्याख्या देखनी चाहिये।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

अन्वय–कौन्तेय, यं यं वा अपि भावं स्मरन् अन्ते कलेवरं त्यजति सदा तद्भावभावितः तं तम् एव (भावं) एति॥

अर्थ— हे कौन्तेय! (मनुष्य) जिस जिस भावको स्मरण करता हुआ अन्तमें देहको छोडता है, उस भावसे सदा (जीवनके प्रत्येक क्षण) प्रभावित वह उसी भावमें वेष्टित हुआ रहता है।

भाव— प्रत्येक क्षण इस शरीरका अन्त हो रहा है। मनुष्य इस परिवर्तनशील शरीरके प्रत्येक क्षण होनेवाले अन्तमें, नवीन देहके साथ संबन्ध जोडता है, और प्राचीन देहसे संबन्ध छोडता है। मनुष्य प्रत्येक क्षण शरीरको छोडते रहने के इस अवसरपर या तो 'विदेहस्थिति'में रहता है या 'देहबन्धन'में फंसा रहता है। प्रत्येक मनुष्य के लिये इन दोनोंमेंसे किसी एक भावनाको अपनाये रहना अनिवार्य है। जो मनुष्य वर्तमानमें विदेहस्थितिरूपी अनासक्त भावनाको अपनाता है, वह जीवनभर अनासक्त रहता है; और जो वर्तमान क्षणमें देहबन्धनरूपी आसक्तिकी स्थितिको अपनाये रहता है, उसका संपूर्ण जीवन आसक्ति (बन्धन)में फंसा रहता है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥

अन्वय–तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युद्ध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिः असंशयं माम् एव एष्यसि॥

अर्थ— इस लिये जीवनके प्रत्येक क्षण 'आधियज्ञ'को स्मरण रख और युद्ध कर। 'अधियज्ञ'में मन बुद्धि को अर्पण करनेवाला तू निश्चय ही 'अधियज्ञ'को पालेगा।

भाव— इस श्लोकमें प्रतिक्षण अधियज्ञरूपी अनासक्तस्थितिमें रहनेकी महिमा गायी जा रही है। अग्रिम श्लोकोंमें भी इसी भावको व्यक्त किया गया है। उन सबका संकलित अर्थ यही है कि अनासक्त स्थिति ही 'जीवनके प्रत्येक क्षण अपनाये जाने योग्य परम ईश्वरतत्त्व' है। इस लिये इन

अग्रिम श्लोकोंकी विस्तृत व्याख्या न करके केवल शब्दार्थ दिया गया है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अन्वय–पार्थ, अभ्यासयोगयुक्तेन नान्यगामिना चेतसा दिव्यं परमं पुरुषम् अनुचिन्तयन् दिव्यं परमं पुरुषं याति ॥

अर्थ— हे पार्थ ! अभ्यास (दृढता) और योग (फलाशारहितकर्म करनेकी प्रवृत्ति) से युक्त, विषयोंमें न जानेवाले मनसे दिव्य (स्वयंप्रकाश) परमेश्वरतत्त्वकी चिन्ता रखता हुआ पुरुष, स्वयंप्रकाश परमेश्वर तत्त्व हो जाता है।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

अन्वय–यः प्रयाणकाले भक्त्या योगबलेन च युक्तः अचलेन मनसा भ्रुवोः मध्ये प्राणं सम्यक् आवेश्य कविं पुराणम् अनुशासितारम् अणोः अणीयांसं सर्वस्य धातारम् अचिन्त्यरूपं तमसः परस्तात् आदित्यवर्णं पुरुषम् अनुस्मरेत् सः तं दिव्यं परमं पुरुषम् उपैति ॥

अर्थ— जो मनुष्य प्रयाणकालमें (प्रत्येक क्षण), भक्ति (दृढनिष्ठा) और योगबलसे युक्त होकर (अनासक्ति रूपी शक्तिसे शक्तिमान होकर), अचल मनसे प्राणको भौओंके बीचमें भली भांति आविष्ट करके (इन्द्रियोंको विषयभोगका साधन न बनने देकर), कवि, पुराण, अनुशासिता, अणुसे भी अणु, सबके धारक, अचिन्त्यस्वरूप, अज्ञान-रहित, ज्ञानप्रकाशसे युक्त पुरुषका अनुस्मरण करता रहे, वह उस दिव्य परम पुरुषको पा जाता है।

भाव— यहां पांचवें अध्यायके २८--२९ श्लोकोक्त भावकी पुनरावृत्ति की गई है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

अन्वय–वेदविदः यत् अक्षरं वदन्ति, वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत् पदं ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

अर्थ— वेदज्ञ लोग जिस अक्षरका वर्णन करते हैं, वीतराग यति लोग जिसमें लीन हो जाते हैं, जिसके प्रेमी ब्रह्मचर्य (श्रेष्ठ आचरण) करते हैं, उस पद (मानव जीवनमें प्राप्तव्य स्थिति) को संक्षेपसे कहता हूं।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अन्वय–यः सर्वद्वाराणि संयम्य मनः हृदि निरुध्य च आत्मनः प्राणं मूर्ध्नि आधाय योगधारणाम् आस्थितः ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् माम् अनुस्मरन् देहं त्यजन् प्रयाति सः परमां गतिं याति ॥

अर्थ— जो मनुष्य सब द्वारों (इन्द्रियों) को संयत करके, मनको हृदय (आत्मतत्त्व) में निरोध (तृप्त) करके, अपने प्राण (कर्म-शक्ति) को मूर्धा (अकर्ताहं बुद्धि रूपी विवेक) में समर्पित करके, अनासक्त स्थितिमें स्थित होकर ओम् नामसे कहे जानेवाले एक अक्षर ब्रह्मको जपता तथा, अधियज्ञको स्मरण करता हुआ शरीरबन्धनके अतीत रहकर जीवनयात्रा करता है, वह परम अक्षर तत्त्वको प्राप्त करता है। इसी भावका समर्थन अग्रिम श्लोकमें आ रहा है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

अन्वय–पार्थ, यः अनन्यचेताः मां सततं नित्यशः स्मरति, अहं तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः सुलभः ॥

अर्थ— हे पार्थ ! जो अनन्यचेता (विषयोंमें अनासक्त मनवाला) होकर अधियज्ञको नित्य निरन्तर स्मरण करता है, ईश्वर उस नित्य अनासक्त कर्म करनेवाले योगी को स्वभावसे प्राप्त है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

अन्वय–माम् उपेत्य परमां संसिद्धिम् गताः महात्मानः दुःखालयम् अशाश्वतं तु पुनर्जन्म न आप्नुवन्ति ॥

अर्थ— अधियज्ञको प्राप्त करके परम सिद्धि को पाये हुए महात्मा लोग दुःखोंके घर, अनित्य, पुनर्जन्म (पुनर्जन्मकी भ्रान्ति = अज्ञान) को प्राप्त नहीं होते ।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अन्वय–कौन्तेय, अर्जुन, लोकाः आब्रह्मभुवनात् पुनरावर्तिनः माम् उपेत्य तु पुनर्जन्म न विद्यते ॥

अर्थ— हे कौन्तेय अर्जुन! ब्रह्माण्डोदरवर्ती यह संपूर्ण जगत् पुनरावर्ती (हो होकर बार बार नष्ट होनेवाला; उत्पत्तिविनाशशील) है परन्तु 'अधियज्ञ'को प्राप्तकर लेनेवाले मनुष्य के पास 'पुनर्जन्मकी भ्रान्ति' नहीं रहती । (क्योंकि वह अक्षर तत्त्व को ही अपना स्वरूप जान लेता है) ।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रां, तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अन्वय–ये जनाः यत् सहस्रयुगपर्यंतं ब्रह्मणः अहः (विदुः) तां (एव) युग-सहस्रां (ब्रह्मणः) रात्रिं विदुः ते अहोरात्रविदः ॥

अर्थ— जो लोग जिस (काल) को 'अनन्त युगोंका ब्रह्मका दिन' (जगत् रूपमें व्यक्त होते रहनेका काल) जानते हैं; उसीको 'अनन्त युगोंकी (ब्रह्मकी) 'रात्रि' (जगत्के अव्यक्त होते रहने का काल) भी जानते हैं, वे ' अहोरात्रविद् ' हैं ।

भाव— यह जगत आत्माका व्यक्त रूप है । अर्थात् यह जगत् होहोकर नष्ट होते रहनेवाला पुनरावर्तनशील है । अनन्त कालसे इस जगतका 'व्यक्त होना' और फिर 'अव्यक्त होजाना' चलरहा है । जगत् जिस समयमें व्यक्त हो रहा है उसी समयमें अव्यक्त भी हो रहा है । इस नाशवान जगतमें यह होनेजानेकी क्रिया निरन्तर चल रही है

परन्तु ब्रह्म स्वयं अविनाशी अक्षर तत्व है। ब्रह्मका नित्य अव्यक्त रूप, जगत् के व्यक्त या नष्ट होनेकी क्रियामें न तो व्यक्त ही होता है और न नष्ट ही होता है। उसका यह सनातन अव्यक्त रूप इस नाशवान् जगत् के व्यक्त तथा अव्यक्त होनेके स्वभावसे परे है। जो मनुष्य उसी अव्यक्त आत्मतत्व को अपना स्वरूप जान लेता है वह जन्म मरणकी भ्रान्तिके अतीत 'अहोरात्र विद्' ज्ञानी बना रहता है।

पदार्थोंके प्रकट और स्थित होनेकी क्रियाको ही यहां 'अहः' कहा गया है; तथा उनके विनष्ट होते रहने के काल को यहां 'रात्रि' कहा गया है। दिनरात नामसे कही हुई ये दोनों क्रिया सृष्टिमें अनन्त कालसे साथसाथ चली आ रही हैं। इस लिये इस श्लोकका यह तात्पर्य नहीं है कि कुछ लम्बे कालतक संपूर्ण सृष्टिके व्यक्त होनेका समय होता है तथा फिर उतने ही लम्बे कालतक सृष्टिके प्रलय होने या अव्यक्त होनेका काल होता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

अन्वय—सर्वाः व्यक्तयः अहरागमे अव्यक्तात् प्रभवन्ति। रात्र्यागमे तत्रैव अव्यक्तसंज्ञके प्रलीयन्ते॥

अर्थ— सब पदार्थ 'दिन' अर्थात् प्रकट होनेका काल आनेपर अव्यक्तसे उत्पन्न होजाते हैं और 'रात्रि' अर्थात् अप्रकट होनेका काल आनेपर उसी अव्यक्तमें विलीन होजाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

अन्वय—पार्थ, स एव अयं भूतग्रामः भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे अवशः प्रलीयते। अहरागमे (अवशः) प्रभवति॥

अर्थ— हे पार्थ! वे ही ये पदार्थ वारंवार उत्पन्न होते रहकर अप्रकट होनेका काल आनेपर विवश होकर विलीन होजाते हैं और प्रकट होनेका काल आनेपर (विवश होकर) प्रकट हो जाते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ २०॥

अन्वय–तस्मात् तु अव्यक्तात् परः अन्यः सनातनः अव्यक्तः भावः यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

अर्थ— उस अव्यक्तसे श्रेष्ठ दूसरा एक सनातन अव्यक्त भाव है जो सब भूतोंके नष्ट होजाने पर भी नष्ट नहीं होता ।

भाव— सनातन अव्यक्त भाव जोकि भूतोंके नष्ट होजाने पर भी नष्ट नहीं होता वही सब भूतोंको उत्पन्न करनेवाला वास्तविक अव्यक्त तत्व है। वह हो होकर नष्ट होनेवाले अव्यक्त स्वरूप भावसे इसलिये श्रेष्ठ है कि वह होने तथा नष्ट होने रूप क्रियाओंके होते हुए भी अपने सनातन अक्षर रूपमें बना रहता है ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अन्वय–(यः) अव्यक्तः अक्षरः इति उक्तः, तं (एव) परमां गतिम् आहुः । यं (प्राप्य) न निवर्तन्ते, तत् मम परमं धाम ॥

अर्थ— (जिस) अव्यक्त को 'अक्षर' कहा जाता है, उसी को 'परम गति' कहते हैं। जिसको प्राप्त करके पुनरावर्तनके भ्रमसे रहित होजाते हैं, वही 'अधियज्ञ नामकी उत्कृष्ट स्थिति' है ।

भाव— व्यक्त होना तथा अव्यक्त होना यह ब्रह्मका विनाशी स्वरूप है। व्यक्त होने रूपी क्रिया और अव्यक्त होने रूपी क्रिया के अतीत नित्य अविनाशी अव्यक्त अक्षर रूप ही ब्रह्मका स्वरूप है; क्षर अव्यक्त नहीं । ज्ञानी इसीको अपना स्वरूप जानकर जन्ममरण की भ्रान्तिसे अतीत बना रहता है ।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अन्वय–पार्थ, यस्य अन्तःस्थानि भूतानि येन इदं सर्वं ततं सः परः पुरुषः तु अनन्यया भक्त्या लभ्यः ॥

अर्थ— हे पार्थ! ये सब भूत जिसमें स्थित हैं, जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, वह परम पुरुष 'अनन्य भक्ति'से मिलता है ।

भाव— उस अविनाशी सनातन परम अक्षर ब्रह्मको पा लेना ही 'ज्ञानकी स्थिति' है । ब्रह्मको ही अपना स्वरूप जानना और जन्ममरणकी

भ्रान्तिके अतीत होजाना यही 'ज्ञानकी स्थिति' है। 'अनन्य भक्ति'को इस स्थिति के प्राप्त करने का साधन बताया जा रहा है। मनकी अनासक्तस्थिति ही 'भक्ति' है। अनासक्तस्थितिमें रहनेवाला मनुष्य स्वभावसे कर्तहिंबुद्धि तथा फलाशासे रहित होकर कर्म करता रहता है। यही 'भक्ति'का स्वरूप है। जिस स्थिति के कारण 'ज्ञानी' और 'कर्मयोगी' को एक बताया गया है, वही 'भक्ति' है। इस स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य इस संसारमें ही अर्थात् देहधारण के समयमें ही देहबन्धन के अतीत विदेहस्थिति का उपभोग करता है।

विदेहावस्था मुरदों की संपत्ति नहीं है। देहसे रहित होजाने के पश्चात् उस अव्यक्त अक्षर तत्व को प्राप्त करने की जो भ्रान्त कल्पना जगतमें पायी जाती है, उसका खण्डन करनेके लिये ही इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे केवल 'भक्ति' को 'ब्रह्मप्राप्ति का साधन' कहा जा रहा है। अर्थात् जब 'भक्ति' नामकी अवस्था न रहेगी तब 'ब्रह्मप्राप्ति' नामकी अवस्था भी न रहेगी। क्योंकि विदेहस्थिति ही 'भक्ति' है। देहमें रहते हुए इस देहके जन्ममृत्यु, सुखदुःख आदिसे अप्रभावित मनोदशा ही 'विदेहमुक्ति' है। यह अनासक्ति, भक्ति या मुक्ति आदि अनेक नामों से कही जाती है। इस अवस्थाका होना देहके होते हुए ही संभव है। जब कोई मनुष्य इस बातको न समझकर 'भक्ति' के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे साधनों को ढूंढता है, तब वे साधन, कोई शारीरिक क्रिया या किसी विशेष समय, किसी विशेष स्थानपर, विशेष ढंगसे मरने की इच्छा या इस जैसे कुछ कृत्रिम उपाय होते हैं। इन उपायोंको स्वीकार करनेवाले मनुष्य ब्रह्मप्राप्ति को अपना लक्ष्य न रखकर, शरीरके बन्धनमें फंस जाते हैं। वे लोग शरीरको ही अपनी मुक्तिका विघ्न समझ बैठते हैं, और इसी के साथ संग्राम करते हुए जीवनभर व्यर्थता तथा दुःख को अपनाये रहते हैं। आगे आनेवाले श्लोकों में इसी भ्रान्तिका खण्डन करने के लिये 'विशेष कालमें मरनेके महत्त्व को अज्ञानी जगत् का शाश्वत' मत बताया जारहा है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

अन्वय–भरतर्षभ, तं कालं वक्ष्यामि, यत्र काले प्रयाताः योगिनः (ज्ञानकर्मयोगित्वेन मताः) अनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव यान्ति (इति किंवदन्ती लोके गीयते) अग्निः ज्योतिः अहः शुक्लः षण्मासाः उत्तरायणम् (उत्तरायणरूपाः षण्मासाः) तत्र प्रयाताः (उत्क्रम्य गताः) ब्रह्मविदः (ब्रह्मवित्त्वेन मताः) जनाः ब्रह्म गच्छन्ति (नावर्तन्ते इति लोके कथ्यते) । धूमः रात्रिः कृष्णः तथा षण्मासाः दक्षिणायनं (दक्षिणायनरूपाः षण्मासाः) तत्र प्रयातः (उत्क्रम्य गतः) योगी (कर्मयोगित्वेन मतः) चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तते (पुनरावर्तते इति लोके कथ्यते) ॥

अर्थ— हे भरतर्षभ ! उस समयको बताता हूं जिस समयमें मरे हुए कुछ योगी (कर्मत्यागी ज्ञानयोगी समझे जानेवाले मनुष्य) अनावृत्ति (पुनर्जन्मराहित्य या शरीरधारणहीन मुक्ति) को पाते हैं, तथा कुछ योगी (कर्मबन्धनमें फंसे हुए कर्मयोगी समझे जानेवाले मनुष्य) आवृत्ति रूपी पुनर्जन्मको पाते रहते हैं (ऐसा लोकमें कहा जाता है)। (श्रीकृष्णका भाव यह है कि जिस अनावृत्ति और आवृत्ति के साथ ज्ञानका कोई संबन्ध न होकर, मरने के कालका संबन्ध जोड लिया गया है अब मैं तुम्हें उसका भ्रान्तरूप समझाने लगा हूं)। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण के छ मास इन कालोंमें शरीरको छोडकर जानेवाले ज्ञानयोगी (समझे जानेवाले मनुष्य) ब्रह्मको पाते हैं (ऐसी बात कही जाती है)। धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन के छ मास इस कालमें शरीर छोडकर चान्द्र ज्योति को पाकर (कर्मबन्धन में फंसे हुए) कर्मयोगी (समझे जानेवाले) मनुष्य फिर जन्मग्रहण करने रूप आवृत्ति को पाते हैं। (ऐसा भी कहा जाता है)।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

अन्वय–एते शुक्लकृष्णे (शुक्लकृष्णकालसंबन्धे द्वे) गती जगतः (अज्ञानि-

नाम्) शाश्वते मते । यत् एकया (शुक्लगत्या) अनावृत्तिं याति । अन्यया (कृष्णगत्या) पुनः आवर्तते (जन्ममरणभ्रान्तिम् अनुभवति) ॥

अर्थ— शुक्ल तथा कृष्ण ये दो गति भ्रान्त संसारकी सदाकी मानी हुई हैं कि एकसे तो 'अनावृत्ति' मिलती है और दूसरीसे 'पुनर्जन्म' होता है ।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

अन्वय—पार्थ, एते सृती जानन् (एतयोः सृत्योः भ्रान्तरूपम्, एतयोः कल्पना-मात्रतां वा जानन्) कश्चन योगी न मुह्यति । अर्जुन (यस्मात् विशेष-कालोत्क्रान्त्या मुक्तिलाभकल्पना निर्मूला) तस्मात् त्वं सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव (विशेषकालमरणेन मोक्षलाभभ्रान्तिं परि-त्यज्य क्षणमपि योगं विना मा हापय) ॥

अर्थ— इन मार्गोंको जानता हुआ (इन मार्गोंकी भ्रान्त कल्पना-मूलताको जाननेवाला) कोई योगी इनसे मोहित नहीं हो सकता । हे अर्जुन ! (क्योंकि विशेष समयके मरनेसे मुक्ति मिलनेकी बात आधारहीन है) इस लिये तुम अपने जीवनके प्रत्येक मुहूर्तमें योग-युक्त बने रहो (किसी विशेष समय मरेंगे तो मोक्ष मिलेगा ऐसी भ्रान्तिको त्याग दो और योगके विना एक क्षण भी मत खोओ)।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

अन्वय—योगी इदं सर्वं विदित्वा वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव यत् पुण्यफलं प्रदिष्टं तत् सर्वम् अत्येति । परम् आद्यं स्थानम् उपैति च ॥

अर्थ— योगी पुरुष इन सब बातोंको जानकर, वेदाध्ययनसे, यज्ञानुष्ठानसे, तपस्यासे और दानसे जिस पुण्यफलके मिलनेकी बात कही जाती है, उस सबको त्याग देता है, और परमश्रेष्ठ अधियज्ञरूपी अनासक्त स्थितिको प्राप्तकर लेता (अपनालेता) है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोध्यायः ॥ ८ ॥

अष्टमनवमाध्यायसंगति—

'अक्षरब्रह्मयोग' नामके आठवें अध्यायमें ज्ञानी की अक्षर स्थितिको बता कर, उस अक्षर स्थिति को प्राप्त करने की विद्या को 'राजविद्या' नाम दे कर नौवें अध्याय में उसी का स्वरूप बताया जा रहा है।

नवम अध्याय

(राजविद्या-राजगुह्ययोग)

श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान बोले)

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

अन्वय–अनसूयवे ते इदं तु गुह्यतमं विज्ञानसहितं ज्ञानं वक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा अशुभात् मोक्ष्यसे ॥

अर्थ— श्रद्धालु तुमको यह परम सुरक्षित रखने योग्य 'विज्ञानसहित ज्ञान' बताऊंगा, जिसको जानकर अज्ञान से मुक्त हो जाओगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

अन्वय–इदं (ज्ञानं) राजविद्या राजगुह्यम् उत्तमं पवित्रं प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं कर्तुं सुसुखम् अव्ययं च ॥

अर्थ— यह ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सुरक्षित रखने योग्य सब विद्याओंमें श्रेष्ठ, परमपवित्र, साक्षात् अनुभव होनेवाला स्वयंप्रकाश (अर्थात् यह निर्विषय इन्द्रियातीत स्थिति होने के कारण किसी साधन के आश्रित रहनेवाला ज्ञान नहीं है, किन्तु स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है), मनुष्यके अनासक्ति रूपी स्वधर्म के अनुकूल, अनायाससाध्य (फलकी प्रतीक्षा से रहित होनेके कारण जिसको करना और आनन्द पाना एक ही बात है) तथा अव्यय (सदा साथ रहनेवाला) है।

भाव— जब इन्द्रियोंके अधिकार में विषयों के आनेकी घटना होती है, उसी समय मनुष्योंको विषयों के संबन्धमें ज्ञान होता है। अर्थात् विषयोंका

ज्ञान इन्द्रियाधीन ज्ञान है। परन्तु 'आत्मविद्या' इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ज्ञान होने के समान इन्द्रियसाध्य ज्ञान नहीं है। इस कारण उसे उससे विलक्षण बतानेके भावसे 'प्रत्यक्षावगम' कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को जो अनासक्त स्थितिका अनुभव होता है, वह ऐसी आनन्दमयी स्थिति है कि वह स्वयं ही संपूर्ण अनात्म अनुभूतियों को स्वभावसे त्यागती रहती है । उसकी आनन्दमयता ही उसकी 'उपमा' है। वह पानेसे ही जानी जाती है।

'धर्म्य' शब्द के द्वारा यही अभिप्राय व्यक्त किया जा रहा है कि अनासक्तिरूपी आत्मस्थिति आत्माका स्वधर्म है। इसके विपरीत अनात्मवस्तु के बन्धन में आना उसके स्वभाव के विरुद्ध है । इस लिये अनासक्त होने में मनुष्यको उसका आत्मधर्म नामका स्वभाव सहायता देता है। इसीसे यह 'सुसुखं' अर्थात् अनायाससाध्य है। अर्थात् साधनोंके अधीन नहीं है।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

अन्वय—परन्तप, अस्य धर्मस्य अश्रद्दधानाः पुरुषाः माम् अप्राप्य मृत्युसंसार-वर्त्मनि निवर्तन्ते ॥

अर्थ— हे परन्तप ! इस धर्मपर श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष आधियज्ञ नामकी अनासक्त स्थिति को न पाकर अज्ञानरूपी संसारासक्तिके मार्ग में चक्कर काटते रहते हैं ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

अन्वय—इदं सर्वं जगत् अव्यक्तमूर्तिना मया ततम् (आत्मा जगदाधारः इत्यर्थः) सर्वभूतानि मत्स्थानि (आत्माश्रितानि) अहं च तेषु न अवस्थितः (न द्रष्टुमर्हः) भूतानि मत्स्थानि न च (भूतानाम् इन्द्रिय-ग्राह्यतारूपः धर्मः आत्मनि नास्ति) मे ऐश्वरं योगं पश्य (जानीहि) यत् भूतभावनः मम आत्मा भूतभृत् भूतस्थः न च ॥

अर्थ— यह संपूर्ण जगत् अव्यक्त आत्मतत्त्वसे व्याप्त है (अर्थात् आत्मा ही जगत्का आधार है), सब भूत आत्माश्रित हैं। आत्मा भूतोंमें अव-

स्थित नहीं है (अर्थात् आत्मा की अव्यक्त मूर्ति जगत् के भौतिक व्यक्त रूपमें दिखाई नहीं देती), भूत आत्मामें नहीं हैं (अर्थात् आत्माके अव्यक्त स्वरूपमें भौतिकरूप नहीं हैं) तुम आत्मा के इस 'ऐश्वर योग'को समझलो कि भूतों को अस्तित्व देनेवाला आत्मा भूताधार होता हुआ भी भूतोंमें देखा जा सकनेवाला नहीं है।

भाव— संपूर्ण जगत् अव्यक्तमूर्ति आत्मतत्त्वसे व्याप्त है। आत्मतत्त्व इस सब दृश्यमान जगत्का आधार है। यह दृश्यमान जगत् आत्मतत्त्वका आधार नहीं है। इस लिये आत्मतत्त्वके 'ऐश्वर योग' का दर्शन करना ही 'आत्मदर्शन' है। 'ऐश्वर योग' का यही अभिप्राय है कि आत्मा अव्यक्त होता हुआ भी अपनी ही शक्तिसे व्यक्त रूप धारण करलेता है। परन्तु इस व्यक्त स्वरूपको देखलेनेसे 'आत्मदर्शन' नहीं होता। आत्मदर्शन करनेके लिये यह आवश्यक है कि व्यक्तरूपके अव्यक्त कारणको आत्मा या ऐश्वरयोग अर्थात् व्यक्त होनेका स्वभाव रखनेवाला अव्यक्त स्वरूप माना जाय। उस अव्यक्त स्वरूपका दर्शन करनेवाले आत्मदर्शनार्थी को सावधान किया जा रहा है कि वह कभी अव्यक्त आत्मतत्त्वमें व्यक्तरूपका दर्शन करनेकी भ्रान्त इच्छा न करे। क्योंकि आत्मदर्शनका संबन्ध अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियातीत स्थितिसे ही है।

इस आत्मदर्शनकी स्थितिको फिर स्पष्ट भाषामें इस रूपमें वर्णन किया जा रहा है कि यद्यपि आत्मतत्त्व भूतभावन (अर्थात् भूतोंको उनका भौतिक रूप देनेवाला) है तो भी यह भौतिकरूप आत्मदर्शी के लिये आत्मतत्त्वमें द्रष्टव्य बननेका अधिकार नहीं रखता। क्योंकि आत्मदर्शी पुरुष अनासक्तिरूपी आत्मस्थितिमें ही स्वयंतृप्त रहनेका स्वभाव रखता है।

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

अन्वय—यथा (यादृशेन संबन्धेन) सर्वत्रगः महान् वायुः नित्यम् (अभेदभावेन असंगभावेन च) आकाशस्थितः तथा सर्वाणि भूतानि (अभेदभावेन असंगभावेन च) मत्स्थानि इति उपधारय॥

अर्थ— जिस प्रकार (जिस प्रकारका संबन्ध रखकर) सर्वत्रगामी और महान् वायु सदा आकाशमें (अभेद भाव और असंग भावसे) रहता

है, इसी प्रकार ये सब भूत सब कालमें (अभेद भाव और असंग भावसे) आत्मतत्त्वमें रहते हैं, ऐसा जानलो।

भाव— पहले श्लोकमें जगतके आत्मामें रहने तथा न रहने इन दोनों बातोंके संभव होनेका यह अभिप्राय बताया गया कि इस भौतिक जगत के आत्मासे उत्पन्न होनेके कारण आत्मा ही इसका आधार है। यह भौतिक जगत् आत्माके आश्रित है। परन्तु आत्माके स्वरूपमें 'भौतिकपना' नहीं है। जिस भौतिक जगत् की उत्पत्ति भौतिकतासे रहित अव्यक्त आत्मासे हुई है, उस जगत्का यह अस्थिर नाशवान् भौतिकरूप क्योंकिं नित्य स्थिर नहीं है, इसी लिये यह इसका स्वरूप नहीं है। इसका स्वरूप भी इसका उत्पादक नित्य अव्यक्त आत्मा ही है। यही आत्मा का 'ऐश्वर योग' कहाता है।

आत्मा और अनात्माकी इसी 'अभिन्न स्थिति'को स्पष्ट करनेके लिये 'आकाश तथा वायु'की उपमा दी जा रही है। आकाश नित्य, स्थिर, सर्व-व्यापी, अविकृत सत्ता है। आकाशस्थ पदार्थोंको देख कर आकाशकी पूर्णतामें किसी प्रकारकी अपूर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती। अपनेमें किसी दूसरी बाह्य वस्तुको धारण करने की संभावना होना ही 'अपूर्णता' है। दूसरी वस्तुको अपनेमें प्रवेश करनेका अधिकार न देना ही 'पूर्णता'का स्वरूप है। जब कि ऐसे पूर्ण आकाशने वायुको अपनेमें प्रवेशाधिकार दे दिया है, तब निश्चय ही आकाश और वायु एक दूसरेसे 'अभिन्न स्थिति' रखनेवाले पदार्थ हैं। यही कारण है कि जहां आकाश है वहीं वायु है, जहां वायु है वहीं आकाश है। आकाश वायुसे रहित होना नहीं जानता, तथा वायु भी आकाशसे रहित होना नहीं जानता। आकाश स्थिर है, वायु गतिशील और चंचल है। नित्य स्थिरके साथ चंचल पदार्थका यह अनिर्वचनीय मिलन, आत्मा और अनात्माके अपूर्व सम्मेलनकी उपमा है। जहां आत्मा है, वहीं अनात्मजगत है। जहां जगत है वहीं आत्मा है। आत्मा नित्य, स्थिर, अविकृत, अविनाशी है। जगत् चंचल और नाशवान् होता हुआ भी सदा आत्मासे अभिन्न है। आत्मा ही इस चंचल अनात्माका आधार या स्वरूप है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अन्वय--कौन्तेय, सर्वभूतानि कल्पक्षये मामिकां प्रकृतिं यान्ति। कल्पादौ अहं तानि पुनः विसृजामि ॥

अर्थ--- हे कौन्तेय ! सब भूत प्रकट होनेका काल समाप्त होनेपर आत्माकी प्रकृति (सृष्टि स्थिति प्रलय करनेवाली अव्यक्त शक्ति) में विलीन हो जाते हैं तथा प्रकट होनेका काल आनेपर आत्मतत्त्व इन सबको फिर उत्पन्न कर लेता है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

अन्वय--प्रकृतेः वशात् अवशम् इमं कृत्स्नं भूतग्रामं स्वां प्रकृतिम् अवष्टभ्य पुनः पुनः विसृजामि ॥

अर्थ— आत्मतत्व अपनी शक्तिके सहारेसे प्रकृतिके अधीन इन संपूर्ण भूतों को बारबार उत्पन्न कर लेता है।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

अन्वय--धनंजय, तानि कर्माणि तेषु कर्मसु असक्तम् उदासीनवत् आसीनं मां न निबध्नन्ति ॥

अर्थ— हे धनंजय! वे कर्म, उन उत्पित्तिविनाशनामक कर्मों में असक्त और उदासीन के समान रहते हुए आत्मतत्वको बन्धनमें नहीं डालते।

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

अन्वय--मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सचराचरं (जगत्) सूयते। कौन्तेय, अनेन हेतुना जगत् विपरिवर्तते ॥

अर्थ— हे अर्जुन!यह प्रकृति आत्मतत्वकी अध्यक्षतासे चराचर जगतको उत्पन्न कर लेती है। इस कारणसे यह जगत् सदा परिवर्तित होता रहता है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

अन्वय--मोहिनीं राक्षसीम् आसुरीं च एव प्रकृतिं श्रिताः मोघाशाः मोघकर्माणः

मोघज्ञानाः विचेतसः मूढाः मम भूतमहेश्वरं परं भावम् अजानन्तः मानुषीं तनुम् आश्रितं माम् अवजानन्ति ॥

अर्थ— मोहित करनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृतिके आश्रित होकर निष्फल आशा, निष्फल कर्म, तथा निष्फल ज्ञानवाले, हिताहित ज्ञानसे शून्य अज्ञानी लोग, आत्मतत्वके भूतमहेश्वर परम (अविनाशी) भावको न पहचानकर, मनुष्यदेहधारी देहीरूपी आत्मतत्वको भूले रहते हैं।

भाव— यह मानवदेह भूतोंके एकमात्र स्वामी देहीरूपी आत्मतत्वके दर्शन करने का साधन है। अज्ञानी पुरुष इसके इस परम प्रयोजनको भूलकर, इसे भोगका साधन बनाकर, आत्मदर्शनसे वंचित रह जाते हैं। उसका कारण यह है कि वे 'विषयासक्ति'को अपनाये रहते हैं। यह विषयासक्ति मनुष्योंके मन और बुद्धिको मोहित कर लेती है। यह उनके मनमें अतृप्तिरूपी राक्षसीको जगा देती है इससे वे भौतिकसुख को ही सुख मानकर उसके पीछे चलनेवाले 'असुर' बन जाते हैं। उनकी सुख की आशा व्यर्थ होती रहती है। वे इस आशा को पूरी करने के लिये जो कर्म करते हैं, वे सब निष्फल होते हैं। ऐसे मनुष्य सदा अज्ञानी बने रहते हैं। वे हिताहित बुद्धिसे रहित हो जाते हैं। इसी को 'मानवदेहधारण की व्यर्थता या 'आत्मतत्व का अपमान करना' कहा जा रहा है।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

अन्वय–पार्थ, दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः महात्मानः तु भूतादिम् अव्ययं (मां) ज्ञात्वा अनन्यमनसः मां भजन्ति ॥

अर्थ— परन्तु हे पार्थ! दैवी स्वभाव को (अनासक्तिरूपी दैवी स्वभाव को) अपनानेवाले ज्ञानी लोग भूतोंके आदिकारण अक्षरतत्वको जानकर (अपना स्वरूप जानकर) आत्मनिष्ठ होकर अधियज्ञरूपी अनासक्त स्थिति को अपनाये हुए रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

अन्वय—दृढव्रताः (महात्मानः) मां सततं कीर्तयन्तः यतन्तः भक्त्या मां नमस्यन्तः च नित्ययुक्ताः उपासते ॥

अर्थ— दृढव्रत (अनासक्तिरूपी दृढ स्थितिको अपनानेवाले) ज्ञानी लोग अनासक्तिका ही गुणकीर्तन तथा निष्काम कर्मानुष्ठान करते हुए अहंकाररहित होकर अपने कर्तापनको अद्वैत आत्मतत्वमें विलीन करके निष्ठाके साथ आत्मस्वरूपकी आराधना करते रहते हैं।

भाव— अनासक्तस्थिति ही ज्ञानी के मनमें रहनेवाला 'अधियज्ञ रूपी आत्मा स्वरूप अक्षर तत्व' है। ज्ञानीपुरुष उसमें स्थित होजाने के अनन्तर मन, वचन, कर्मसे जो कुछ करता है, उससे आत्मतत्वका ही कीर्तन, भजन और आराधन होता रहता है। अर्थात् ज्ञानीका संपूर्ण जीवन ज्ञानकी पूर्णतासे मण्डित हो जाता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

अन्वय—अन्ये च अपि विश्वतोमुखं मां ज्ञानयज्ञेन यजन्तः बहुधा एकत्वेन पृथक्त्वेन च उपासते ॥

अर्थ— और कुछ लोग सर्वव्यापी आत्मतत्वको ज्ञानयज्ञसे यजन करते हुए अनेक प्रकारोंसे, एकत्वसे और अनेकत्वसे उपासना करते हैं।

भाव— पहले श्लोकमें ज्ञानी की स्थिति बताकर अब इस श्लोकमें 'अन्ये' शब्द के द्वारा अज्ञानियों की स्थिति का वर्णन किया जा रहा है। क्योंकि ज्ञानि-योंसे कीगई आत्माकी उपासना का बहुत प्रकार का होना संभव नहीं है। अनासक्ति ही ज्ञानकी एकमात्र स्थिति है। सब ज्ञानियोंमें ज्ञानका स्वरूप एक ही होता है और उनकी उपासना भी एकसी ही होती है। क्योंकि ज्ञानियोंकी उपासनाका 'बहुधा' होना संभव नहीं है, इस लिये इस श्लोकका 'बहुधा' शब्द अज्ञानियोंकी उपासनाके लिये व्यव-हृत हुआ है। 'बहुधा' उपासना करनेवाले अज्ञानी अपनी मनमानी क्रियाको 'ज्ञानयज्ञ'का नाम दे देते हैं। वे आत्माको चाहे 'एक' मान-कर उपासना करें या 'अनेक' मानकर उपासना करें, उनकी उपासनाका रूप विषयासक्ति ही होता है। इस लिये उनकी उपासना अज्ञान नामसे कही जाने योग्य है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

अन्वय–अहं क्रतुः अहं यज्ञः अहं स्वधा अहम् औषधम् अहं मन्त्रः अहम् एव आज्यम् अहम् अग्निः अहं हुतम्। अहम् अस्य जगतः पिता माता धाता पितामहः वेद्यं पवित्रम् ओंकारः तथा ऋक् साम यजुः एव च। अहं गतिः भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं अव्ययं बीजं च अस्मि। अर्जुन, अहं तपामि अहं वर्षं निगृह्णामि उत्सृजामि च। अमृतं मृत्युः सत् असत् च अहम् एव ॥

अर्थ— आत्मा ही ऋतु (यज्ञका संकल्प), यज्ञ (यज्ञक्रिया), स्वधा (देवताके उद्देश्यसे दान), औषध (अन्न), मन्त्र, आज्य (घृत), अग्नि और हुत (हवनक्रिया) ये सब है। आत्मा ही इस जगत्का पिता, माता, धाता (पोषक), पितामह, वेद्से ज्ञातव्य पवित्र ओंकार तथा ऋक्, साम, और यजु नामका वेद है। आत्मा ही इस जगतकी गति (अन्तिम आश्रय), भर्ता (पोषक), प्रभु, साक्षी (द्रष्टा), निवास (आश्रय), शरण (रक्षक), सुहृत् (हिताचिन्तक), प्रभव (उत्पत्ति), प्रलय (विनाश), स्थान (स्थिति), निधान (लयस्थान), तथा अविनाशी कारण है। हे अर्जुन! आत्मा ही (सूर्य बनकर) तपता है, आत्मा ही वर्षाको रोकनेवाला है और वही वर्षा बरसाता है। जीवन भी आत्मा है और मृत्यु भी आत्मा है। अविनाशी आत्मा भी आत्मा है और विनाशी जगत् भी आत्मा है।

भाव— क्योंकि आत्मा ही एक मात्र उपास्य है, इस लिये उसके इस रूपको न जानकर जो नाना भावसे उपासना करते हैं, वे भ्रान्त हैं। इन श्लोकोंमें उपास्यकी एकता बतायी गयी है, और उपासना की विविधताका खण्डन किया गया है।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

अन्वय–त्रैविद्याः सोमपाः यज्ञैः इष्ट्वा पूतपापाः सन्तः स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । ते दिवि पुण्यं सुरेन्द्रलोकम् आसाद्य दिव्यान् देवभोगान् अश्नन्ति । ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा पुण्ये क्षीणे मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयी-धर्मम् अनुप्रपन्नाः कामकामाः गतागतं लभन्ते ॥

अर्थ— वेदत्रयी के अनुगामी लोग यज्ञ करके अपनेको निष्पाप बना हुआ समझकर स्वर्ग (भोगसुख) की प्रार्थना करते हैं। ये सब लोग संसाररूपी भोगक्षेत्र में भोगियोंको बांधनेवाले संसारबन्धनको प्राप्त करके इन्द्रियतृप्तिदायी भोगोंको भोगते रहते हैं। ये उस (अपनी कल्पना के) विशाल संसारको भोगकर पुण्यों के क्षीण होजानेपर (भोगसाधनों के समाप्त होजानेपर) मृत्यु लोकमें आते हैं (अर्थात् भोगाकांक्षासे सताये जाते रहते हैं) इस प्रकार वैदिक यज्ञानुष्ठान करनेवाले भोगाभिलाषी लोग भोगोंका ही चक्कर काटते रहते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

अन्वय–ये जनाः अनन्याः (सन्तः) चिन्तयन्तः माम् उपासते अहं नित्या-भियुक्तानां तेषां योगक्षेमं (योगक्षेमौ) वहामि ॥

अर्थ— जो मनुष्य निर्विषय होकर आत्मचिन्तन करते हुए अधियज्ञरूपी अनासक्तिको अपनाये रहते हैं, आत्मा उन सदा आत्मस्थितिमें रहनेवालों के योग (अप्राप्तकी प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्तकी रक्षा) की चिन्ता को हर लेता है।

भाव— आत्मनिष्ठ योगी अनासक्त होकर कर्म करता रहता है। अनासक्तिरूपी आत्मतत्व उससे कभी पृथक नहीं होता। उसके लिये वही एक-

मात्र प्राप्तव्य वस्तु है, और वह उसे स्वभावसे प्राप्त रहती है। यों आत्मतत्वको प्राप्त करलेनेपर उसके मनमें 'किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कि चिन्ता' और 'किसी प्राप्त वस्तु की रक्षाकी चिन्ता' नहीं रहती।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

अन्वय–कौन्तेय, श्रद्धया अन्विताः ये अपि अन्यदेवताभक्ताः यजन्ते ते अपि अविधिपूर्वकं माम् एव यजन्ति ॥ अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता प्रभुः एव च (अस्मि) ते (एवं) मां न तु अभिजानान्ति अतः तत्त्वेन च्यवन्ति ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! श्रद्धा (आसक्ति) रखनेवाले आत्मासे भिन्न देवताओंके उपासक जो लोग (उनकी) उपासना करते हैं, वे भी अविधिपूर्वक आत्मको ही पूजते हैं। आत्मा ही सब यज्ञोंका भोक्ता और सब यज्ञोंका प्रभु है। परन्तु वे (अज्ञानपूर्वक यजन करनेवाले) आत्मा को इस प्रकारसे नहीं जानते। इसलिये वे तत्वदर्शनसे वंचित रहजाते हैं।

भाव—इस संसारमें आत्माको ही मनुष्यों के द्वारा पूजित होनेका स्वाभाविक अधिकार है। मनुष्यके मनमें जो स्वाभाविक पूजाप्रवृत्ति है, वह उसका आत्मप्रेम ही है। जब मनुष्यका वह आत्मप्रेम आत्मा में नियुक्त न होकर अनात्म पदार्थों में जा फंसता है, तब वह 'अन्य देवताओं की पूजा' का रूप धारण कर लेता है।

आत्माको छोडकर अन्य देवताओंको पूजनेवाले जो मनुष्य इस स्वाभाविक पूजाधिकारीको अस्वीकार कर देते हैं, वे सब आत्म-विस्मृति में पडे हुए अज्ञानी हैं। अनात्म विषयोंके लिये आसक्ति ही उनकी श्रद्धा का रूप होता है। विषयोंकी पूजा ही उनकी पूजा है। आत्माको न जानना ही उनके अज्ञानका स्वरूप है। वे नहीं जानते कि वे जिन विषयों में आसक्त होकर देवपूजा नामक इन्द्रियासक्ति में फंसे हुए हैं, वे विषय भी तो आत्माके ही व्यक्त रूप हैं। वे अव्यक्त

आत्माको न जानकर उसीके नाशवान् व्यक्त रूपमें आसक्त रहते हैं। उनके 'अविधिपूर्वक आत्माको भजने' का यही अभिप्राय है

इस संसारमें यज्ञ नामसे जितनी क्रिया होती हैं, उन क्रियाओं को प्रेरित करनेवाली भावना ही आत्मा है। यह आत्मा मनुष्यमनमें 'आसक्ति' या 'अनासक्ति' की भावनाके रूपमें विराजता है। मनुष्य जौनसी भावनाको तृप्त करने के लिये यज्ञ आदि करता है, वह भावना ही उस यज्ञका भोग करनेवाली बन जाती है। इस दृष्टिसे मनुष्य जो कोई कर्म करता है, उसका भोक्ता आत्मासे भिन्न कोई नहीं होता। परन्तु अज्ञानी लोग आत्मा के इस रूपको नहीं जानते। इस लिये वे अपनी इन्द्रियासक्ति को तृप्त करनेके लिये जिन देवताओं को पूजते हैं, उन्हें वे आत्मासे पृथक् मानते हैं। इसलिये वे आत्मपूजा के आनन्द को पानेसे वंचित रह कर अनात्मविषयोंके भोगबन्धनमें फंस जाते ह।

कहनेका अभिप्राय यही है कि आत्मा ही मनुष्यके मनमें 'आसक्ति' बनकर उसे बन्धनमें फंसाता है, और आत्मा ही मनुष्यके मनमें 'अधि-यज्ञरूपी अनासक्ति' बनकर उसे मुक्ति का आनन्ददान करता है। जब मनुष्य इस तत्त्वको जान जाता है, तब विषयासक्ति के बन्धनमें नहीं फंसता। अज्ञानी लोग इस बातको नहीं जानते और विषया-सक्ति के बन्धनमें फंस जाते हैं। उनके 'तत्त्वको समझनेमें असमर्थ रहजाने'का यही अभिप्राय है।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥२५॥

अन्वय–देवव्रताः देवान् यान्ति, पितृव्रताः पितॄन् यान्ति, भूतेज्याः भूतानि यान्ति, मद्याजिनः माम् अपि (एव) यान्ति॥

अर्थ— देवपूजक देवोंके बन्धनमें, पितरोंके पूजक पितरोंके बन्धनमें, भूतोंके पूजक भूतोंके बन्धनमें रहते हैं। आत्मपूजक लोग आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ २६ ॥

अन्वय–यः मे पत्रं पुष्पं फलं तोयं भक्त्या प्रयच्छति प्रयतात्मनः भक्त्युपहृतं तत् अहम् अश्नामि॥

अर्थ— जो आत्माको भक्तिसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि देता है, अनासक्त मनवालेके अनासक्त भावनासे दिये हुए उसको आत्मा भोग लेता है।

भाव— ज्ञानी आत्मस्वरूप हो जाता है। अनासक्तिरूपी अधियज्ञ ही उसके देहमें देही बनकर उसके किये हुए सब कर्मोंका भोक्ता बना रहता है। ज्ञानी पुरुष अन्न, जल, फल आदि जो कुछ स्वयं भोग करता है, या औरोंको दान करता है, उसकी दृष्टिमें उन सब वस्तुओंका भोक्ता अनासक्तिरूपी आत्मतत्त्व ही होता है। ज्ञानी पुरुष एक अविनाशी आत्माको ही अपने तथा दूसरे देहोंमें देहीरूपसे भोक्ता जानकर, भोक्ता या दातापनके अभिमानसे रहित रहता है। इसीको 'भक्त्युपहारको आत्माका स्वीकार करलेना' कहा जाता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

अन्वय—कौन्तेय, यत्करोषि, यत् अश्नासि, यत् जुहोषि, यत् ददासि, यत् तपस्यसि, तत् मदर्पणं कुरुष्व। एवं (कुर्वन्) शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः मोक्ष्यसे। संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तः माम् उपैष्यसि॥

अर्थ— हे कौन्तेय! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो, तप करते हो, उसे (उसके कर्तापनको) आत्मार्पण करदो। ऐसा करनेसे शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे और संन्यासयोगयुक्तात्मा (कर्मफलत्यागी योगी) मुक्त होकर आत्मतत्त्वकी उपासना करोगे।

भाव— आत्मतत्त्वमें अपने कर्तापनको समर्पण करदेना ज्ञानकी स्थिति है। इन दोनों श्लोकोंमें इसी स्थितिका वर्णन किया जा रहा है। अधियज्ञरूपी अनासक्त स्थितिको अपनालेना ही ज्ञानीका कर्म, भोजन, होम, दान, तप आदि सब कुछ है। ज्ञानीके जीवनमें सदा 'अनासक्त रहना' नामका एक ही कर्म होता रहता है। उसके जीवनमें भोजन, होम, दान आदि नामोंसे कहे जानेवाले जो कुछ बाह्यकर्म दीखते हैं, वे सब उसके अनासक्त रहनेरूपी कर्मसे भिन्न नहीं

होते। अनासक्त रहनेवाले ज्ञानीको अपने शरीरसे किये हुए कर्मके भौतिक शुभ फलमें राग तथा भौतिक अशुभ फलमें द्वेष नहीं रहता। वह कर्मफलाकांक्षासे रहित योगी बनकर अपने संपूर्ण आचरणोंमें आत्मतत्त्वकी आराधना करता हुआ 'मुक्त' बना रहता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

अन्वय–अहं सर्वभूतेषु समः। मे द्वेष्यः मे प्रियः च न अस्ति। ये तु मां भक्त्या भजन्ति ते मयि, तेषु च अपि अहम्॥

अर्थ— आत्मतत्त्व सब भूतोंमें 'सम' है। उसका किसी भूतसे द्वेष या प्रेम नहीं है। जो उसको भक्तिसे भजन करते हैं, वे आत्ममें हैं और आत्मा उनमें है।

भाव—आत्मा सर्वभूतोंका स्वरूप है। किसी भी भूतके साथ उसका रागद्वेषका संबन्ध नहीं है। ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों आत्मदर्शनके समान अधिकारी हैं। अज्ञानी आत्मासे द्वेष करता हुआ अनात्मवस्तुमें आसक्त होकर आत्माकी उपेक्षा करता रहता है। ज्ञानी अनासक्तिरूपी आत्मतत्त्वको आश्रय करके अनात्मविषयोंकी उपेक्षा करता रहता है। यों आत्माको विस्मृत कर देनेवाले तथा स्मरण रखनेवाले अज्ञानी तथा ज्ञानी दोनों में समभावसे रहनेवाला आत्मा, अज्ञानी के लिये 'बन्धन' का कारण हो जाता है और ज्ञानीके लिये 'मुक्ति'का कारण बन जाता है। ज्ञानी अनासक्त कर्म करता हुआ अपने अहंकारको आत्मामें विलीन कर देता है। उस समय 'उसका आत्मासे पृथक्' और 'आत्माका उससे पृथक्' अस्तित्व नहीं रहता। इस लिये 'वह आत्मामें' और 'आत्मा उसमें' होता है। सारांश यही है कि ज्ञानी तथा आत्मा एक दूसरे से पृथक् नहीं होते।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

अन्वय–अपिचेत् (यद्यपि) सुदुराचारः माम् अनन्यभाक् भजते स साधुः एव मन्तव्यः। हि सः सम्यक् व्यवसितः। (मां भजन्) क्षिप्रं धर्मात्मा

भवति, शश्वत् शान्तिं निगच्छति। कौन्तेय त्वं प्रतिजानीहि (यत्) मे भक्तः न प्रणश्यति ॥

अर्थ— यदि कोई दुराचारी पुरुष (उस दुराचारको त्यागकर) अनन्यभाक् (निर्विषय) हो कर अधियज्ञरूपी अनासक्ति को अपनालेता है तो उसे 'साधु' ही जानना चाहिये। क्योंकि वह 'व्यवसायात्मिका बुद्धि'को प्राप्त कर चुका है। वह तत्क्षण 'धर्मात्मा' हो जाता है वह 'नित्य शान्ति'को पाजाता है। हे कौन्तेय! तुम यह समझलो कि अनासक्तिका प्रेमी कभी बन्धनमें नहीं फंसता।

भाव— दुराचारी का (दुराचारी रहते हुए) भक्त होना और भक्त का (भक्त रहते हुए) दुराचारी होना संभव नहीं है। भक्त सदा भक्त ही रहता है और दुराचारी सदा दुराचारी ही रहता है। प्रत्येक मनुष्यका या तो 'भक्त' नहीं तो 'दुराचारी' होना अनिवार्य है। अनासक्ति ही 'भक्ति' है। विषयासक्ति ही 'दुराचार' है। इस श्लोकमें इसी अनासक्तिकी महिमा गायी जा रही है। जिस हृदयमें अनासक्ति रूपी भक्ति प्रकट हो गयी है, उस हृदयमें विषयासक्ति नामका दुराचार या अभक्ति नहीं ठहरती। उसकी बुद्धि निश्चयात्मिका होती है। वह उससे प्रत्येक क्षण सदसत्का विचार कराती है, और उसे सत्यारूढ रखती है।

'भक्तिका उदय होना' और 'धर्मात्मा बनना' कालविलम्बको सहन नहीं करता। भक्तिका उदय होनेपर 'साधु' बन जाना क्षणभरका काम है। मनुष्य जिस क्षण अनासक्त होता है, उसी क्षण 'नित्यशान्ति'को पाजाता है। इस बातको दृढता के साथ समझाते हुए भगवान कह रहे हैं कि अनासक्त भक्त कभी संसारबन्धनमें नहीं बंधता। भक्त भी हो और संसारका दुःख भी उठाता रहकर, अपने भाग्यको कोसकर जीवन भर अपनेको पापी दुराचारी मानता हुआ रोता हो, यह भक्तिकी स्थिति नहीं है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

अन्वय–पार्थ, मां हि व्यपाश्रित्य ये अपि पापयोनयः स्त्रियः वैश्याः शूद्राः स्युः ते अपि परां गतिं यान्ति। पुण्याः भक्ताः ब्राह्मणाः राजर्षयः पुनः किम् ? अनित्यम् असुखम् इमं लोकं प्राप्य मां भजस्व ॥

अर्थ— हे पार्थ ! अधियज्ञरूपी अनासक्तस्थिति को अपनानेवाले चाहे कोई अज्ञानी की सन्तानहों, स्त्रीहों, वैश्यहों, शूद्रहों, वे सब श्रेष्ठ ज्ञान की स्थिति को पालेते हैं। फिर सदाचारी तथा भक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियों की बात ही क्या है ? तुम इस अनित्य तथा सुखहीन संसार-को प्राप्त होकर अधियज्ञ रूपी अनासक्त स्थिति को अपनाओ।

भाव— अनासक्ति ही 'भक्ति' है। 'भक्ति' वह अक्षय संपत्ति है, जिसे पाने का मनुष्यमात्र स्वाभाविक अधिकारी है। अज्ञानी के घरमें जन्म लेना किसी के लिये अनासक्ति की प्राप्तिमें बाधक नहीं हो सकता। अनासक्ति को अपनाने में स्त्रीपुरुष का अधिकारभेद नहीं रहता। अनासक्ति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र समझे हुए दैहिक वर्णभेद का भी स्थान नहीं है।

इस श्लोकमें पापयोनि तथा स्त्री, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण और राजर्षियों के पृथक् पृथक् नाम देकर, समग्र मनुष्य-समाज को समभावसे अनासक्तिका अधिकारी बताया जा रहा है। अनासक्ति को अपनानेवाले भक्त 'एकवर्ण' के होते हैं। उनकी पहचान देहभेद या जन्मभेद के साथ संबन्ध नहीं रखती। उन सबके पास वह स्थिति होती है, जिससे श्रेष्ठ स्थिति का होना संसार में संभव नहीं है। उसको विषयासक्तिसे अतीत, सदा अज्ञान को परा-भूत करनेवाली 'ज्ञानकी स्थिति' समझना चाहिये। अज्ञान ही 'संसारबन्धन' है। अर्जुन से कहा जा रहा है कि इस अनित्य संसार में अज्ञानरूपी संसारबन्धन को छिन्न करके अधियज्ञरूपी अनासक्त स्थितिको अपनाये रहना ही 'नित्यसुख को प्राप्त कर लेना' है। इसको पाये बिना यह संसार दुःखमय बना रहता है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४ ॥

अन्वय–मन्मना मद्भक्तः मद्याजी भव। मां नमस्कुरु। एवं मत्परायणः आत्मानं युक्त्वा माम् एव एष्यसि ॥

अर्थ— अनासक्ति में ही मन लगाओ उसी का भजन और यजन करो। उसी में अपने अहंकार को मिटा डालो। इस प्रकारसे अनासक्ति के प्रेमी, आत्मतत्वसे अभिन्न होकर आत्मस्वरूप बन जाओगे।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

नवमदशमाध्यायसंगति—

नवमाध्यायमें निर्विकार, अविनाशी, अक्षरतत्वको अपने ही मनकी अधियज्ञ नामकी अनासक्त स्थितिके रूपमें जानलेना ही 'भक्ति' है और यही 'सब विद्याओंसे श्रेष्ठ विद्या' है यह बताया जाचुका। अब इस 'विभूतियोग' नामवाले दसवें अध्यायमें भक्ति के रूपको यों बताया जा रहा है कि—यह विराट व्यक्त जगत् जिस विभुकी विभूति है, उसकी इस विभूतिके बन्धनमें न फंस कर उस अव्यक्त विभुकी आराधना करना ही 'भक्ति' है। विभूतिके बन्धनमें न फंसना ही 'विभूतियोग' है।

दशम अध्याय

(विभूतियोग)

श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान् बोले)

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

अन्वय—महाबाहो, यत् अहं प्रीयमाणाय ते हितकाम्यया वक्ष्यामि तत् मे परमं वचः भूयः एव शृणु॥

अर्थ— हे महाबाहु! जो मैं, प्रेमसे मेरी बात सुननेवाले तुम्हारे हितार्थ बताने लगा हूं, उस मेरी उत्तम वाणी को फिर भी सुनो।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

अन्वय—सुरगणाः महर्षयः मे प्रभवं न विदुः। देवानां महर्षीणां च (दृष्टौ) अहं हि सर्वशः (सर्वेषां) आदिः॥

अर्थ— सुर और महर्षि आत्माकी उत्पत्तिको नहीं मानते। देवों और महर्षियोंकी दृष्टिमें आत्मतत्त्व ही सबका आदि कारण है।

भाव— आत्माको ही अपना स्वरूप जाननेवाले सुर और महर्षि आदि जितने ज्ञानी हैं, उन सबके ज्ञानका स्वरूप यही है कि 'आत्मा ही सबका कारण है। आत्माका कोई कारण नहीं है'।

ज्ञानीकी ज्ञानदृष्टि ही संपूर्ण जगतके .आदिकारण आत्मतत्वको स्वीकार कर सकती है और वही अनात्म जगतके बन्धनको अस्वीकार करने में समर्थ हो सकती है । परन्तु अज्ञानी की दृष्टि क्योंकि इस नाशवान् जगतमें सीमित रहती है, इस कारण वह आत्माको अस्वीकार कर देती है और नाशवान जगतको ही सब कुछ मानकर, उसीके बन्धनमें फंसी रहती है ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयं—यः असंमूढः माम् अजम् अनादिं लोकमहेश्वरं च वेत्ति सः मर्त्येषु सर्व-पापैः प्रमुच्यते ॥

अर्थ— जो अज्ञानमुक्त पुरुष अधियज्ञरूपी अपने स्वरूपको अजन्मा, अनादि तथा लोकोंका महेश्वर जान जाता है, वह इस संसार के सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अन्वय—बुद्धिः ज्ञानम् असंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः सुखं दुःखं भवः अभावः भयम् अभयम् एव च अहिंसा समता तुष्टिः तपः दानं यशः अयशः एते भूतानां पृथग्विधाः भावाः मत्तः एव भवन्ति ॥

अर्थ— बुद्धि (निर्णयशक्ति), ज्ञान (आत्मज्ञान), असंमोह (अनासक्ति), क्षमा (शत्रुताचरणकारीसे उचित वर्ताव), सत्य (अप्रभावित मनोदशा), दम (इन्द्रियों पर शुद्ध मनका आधिपत्य), शम (मनकी स्वरूपस्थिति), सुख (अनुकूल विषयस्पर्शसे राग), दुःख (प्रतिकूल विषयस्पर्शसे द्वेष), भव (जन्म), अभाव (मरण), भय (भौतिक हानिसे द्वेष), अभय (प्रतिकूलता की उपेक्षा), अहिंसा (काम आदि रिपुओंसे आत्मरक्षा), समता (भौतिक इष्टानिष्टमें रागद्वेषशून्यता), तुष्टि (यदृच्छाप्राप्त अनुकूलता या प्रतिकूलतामें संतोष), तप (मन—वचन—कर्मसे सत्यनिष्ठा), दान (अनधिकार-भोग न करना), यश (शुभकर्मके लिये श्रद्धा), अयश (अशुभ-

कर्मके लिये अश्रद्धा) ये सब नानाप्रकारके भाव आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

अन्वय—लोके (अज्ञानिसंसारदृष्ट्या) येषां इमाः प्रजाः (मन्यन्ते) ते सप्त महर्षयः, पूर्वे चत्वारः (महर्षयः) तथा मनवः (सर्वे मनवः) मद्भावाः मानसाः जाताः । यः मम एतां विभूतिं योगं च तत्त्वतः वेत्ति, सः अविकम्पेन योगेन युज्यते अत्र संशयः न ॥

अर्थ— अज्ञानी संसारकी दृष्टिमें जिनकी ये प्रजा मानी जा रही हैं, वे सात और पहले चार महर्षि तथा जितने मनु हुए हैं ये सब, आत्माके स्वभावसे और आत्माकी इच्छासे उत्पन्न हुए थे। जो आत्माकी इस 'विभूति' (एकसे अनेक होना) और 'योग' (अनेकत्वमें एक रहना) को अभ्रान्तरूपसे जान जाता है, उसे 'निश्चल योग' प्राप्त हो जाता है, इसमें संदेह नहीं ।

भाव— पहले श्लोकोंमें आत्माको ही जगत्का आदिकारण बताया गया है । उसीको स्पष्ट करना इन दोनों श्लोकोंका अभिप्राय है । आत्माके आदिकारण होनेका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि स्थूल दृष्टिसे चाहे एक वस्तु दूसरी वस्तुसे उत्पन्न होती हुई दीखती हो, तब भी वह तत्त्वदृष्टिसे उस वस्तुसे उत्पन्न नहीं होती । किन्तु आत्मासे ही उत्पन्न होती है । यही नियम मनुष्यपर भी लगता है । जो मनुष्य स्वयं सृष्टि-स्थिति-प्रलय करनेवाली प्रकृतिसे उत्पन्न होता है, और उसीके अधीन रहता है, उससे दूसरे मनुष्यकी उत्पत्ति होती हुई दीखने पर भी उसमें उसके कर्तापनका अवसर नहीं है । मनुष्योंको महर्षियों और मनुओंकी प्रजा मान लेनेपर प्रजाओंका सच्चा प्रजापति (आत्मा) अस्वीकृत और विस्मृत हो जाता है । तब प्रजाओंको ही 'प्रजापति' मानलिया जाता है । मनुष्य अज्ञानवश इस आदिकारण आत्माको भूल जाता है और यह मान बैठता है कि एक मनुष्यसे दूसरे मनुष्यकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार अज्ञानी

संसार अपनी दृष्टिको भौतिक जगत् तक सीमित रखता है। इन श्लोकोंमें इसी अज्ञानको त्याज्य रूपमें उपस्थित किया जा रहा है। मनुष्य अपनी स्थूल दृष्टिसे ही यह मानलेता है कि इस जगतमें जितने मनुष्य हैं, ये सब अपने पिता, पितामह आदिसे उत्पन्न होते हैं और यह परम्परा महर्षियों तथा मनुओंतक चली जाती है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यके सन्तान नहीं हैं। सब मनुष्योंके आदिम समझे हुए महर्षि और मनु जिस आदिकारण परमात्मासे उत्पन्न हुए थे, आजके मनुष्य भी उसीसे उत्पन्न हो रहे हैं और ये सब उसीके सन्तान हैं। महर्षि या मनु नामसे विख्यात मनुष्य भी उसी आत्मतत्वकी विभूति हैं, जिसकी विभूति आजके संपूर्ण मनुष्य, जीवजन्तु, अणु और परमाणुतक हैं। इस लिये कोई भी मनुष्य किसी मनुष्यका सन्तान होनेके भ्रममें न रहे। इस तत्वको जाननेवाले ईश्वरकी विभूतियोंको ईश्वर नहीं मानते। वे विभृतिके रूपमें अनेक बन जाने पर भी सबमें सदा एक अविनाशी अक्षररूपमें विराजनेवाले आत्माको ही अपना स्वरूप जानते हैं। यही 'ज्ञानीका ज्ञान' कहाता है। मनुष्य इस ज्ञानको प्राप्त करलेनेपर ही दृढतासे अनासक्त स्थितिको अपनानेवाला भक्तयोगी बन सकता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अन्वय—भावसमन्विताः बुधाः अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते इति मत्वा मां भजन्ते॥

अर्थ—आत्माके स्वभावको जाननेवाले ज्ञानी, यह जानकर कि आत्मा ही सबका उत्पत्तिकारण है, आत्मासे ही सब कुछ होता है, अधियज्ञरूपी अनासक्त स्थितिको अपनाये रहते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

अन्वय—मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः (बुधाः) परस्परं मां बोधयन्तः कथयन्तः च नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

अर्थ—मनको अनासक्त स्थितिमें स्थिर रखनेवाले और इन्द्रियों को आत्मा, रूढ मनके वशमें रखनेवाले ज्ञानी, परस्पर आत्मतत्त्वको समझाते हुए

उसीकी चर्चा करते हुए, सदा आनन्द मनाते हुए, जीवन बिताते हैं ।

भाव— इस श्लोकमें ज्ञानियोंके आचरणोंका स्वरूप बताया जा रहा है। अनासक्ति ही ज्ञानियोंकी स्थिति है । इन्द्रियोंको संयत रखना ही उनका स्वभाव है । ज्ञानीके मन, वचन, कर्म सब अनासक्त स्थिति को प्रकट करनेवाले होते हैं । यहां परस्पर समझानेका अर्थ परस्पर ज्ञानचर्चा करना मात्र ह । ज्ञानीकी ज्ञानमयी भाषाको समझना ज्ञानीका ही काम है । इसलिये ज्ञानी ज्ञानियोंकी गोष्ठीमें बैठकर कथनोपकथनके द्वारा ब्रह्मानन्दका संभोग करता हुआ अपने ज्ञानि-जीवनको आनन्दपूर्वक बिताता रहता है ।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

अन्वय—सततयुक्तानां प्रीतिपूर्वकं भजतां तेषां तं बुद्धियोगं ददामि येन ते माम् उपयान्ति ॥

अर्थ— आत्मतत्त्व निरन्तर योगारूढ तथा दृढतासे अनासक्त रहनेवालोंको उस निश्चयात्मिका बुद्धिको दे चुका है, जिससे वे आत्मस्वरूप हो गये हैं ।

भाव— इस श्लोकका यह अभिप्राय नहीं है कि आत्मा सदा योग करनेवाले और प्रीतिपूर्वक भजन करनेवाले मनुष्यको, उसके 'योग' तथा 'भजन'के परिणामके रूपमें प्रसन्न होकर, उसे कोई ऐसी बुद्धि देता है, जिससे उसे अप्राप्त आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है । क्योंकि मनुष्य आत्मतत्त्वको अप्राप्त रखकर आत्मविस्मृत रहता हुआ जो कुछ करता है वह न तो ' योग ' ही होता है और न उसे 'प्रेमसे भजन करना' ही कहते हैं । प्रत्युत उसमें योग तथा भजनका विरोध करने-वाली अज्ञानरूपी अनात्मस्थिति बनी रहती है । 'आत्माको प्राप्त करना' और 'सतत योग तथा प्रीतिपूर्वक भजनमें लगे रहना' एक ही निश्चयात्मिका बुद्धिके काम हैं । इस लिये 'योग' करना, 'भजन' करना तथा 'आत्माको प्राप्त करना' तीनों एक बात हैं ।

इस श्लोकमें बताया जा रहा है कि आत्माको जानलेनेवाले ज्ञानीने क्योंकि आत्माको अपनालिया है, इस कारण उसके पास स्वभावसे ही

अनात्माका परित्याग करानेवाली निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है। वह जिस बुद्धिसे आत्मारूढ होता है, उसीसे सतत योगारूढ रहकर अनासक्त स्थितिमें दृढ प्रेम रखनेवाला बनकर आनन्दपूर्वक जीवन बिताता है। यह बुद्धि उसके पास कहीं बाहरसे नहीं आती। आत्मारूढ हो जानेसे ही उसकी यह निश्चयात्मिका बुद्धि उसके मन, वचन तथा कर्मसे प्रकट होती रहती है। ज्ञानीका प्राप्त किया हुआ आत्मा ही उसकी 'बुद्धि' बन जाता है। इसीको आत्माका 'ज्ञानीको बुद्धियोग दान करना' कहा जा रहा है।

तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

अन्वय—तेषाम् एव अनुकम्पार्थम् आत्मभावस्थः अहं भास्वता ज्ञानदीपेन अज्ञानजं तमः नाशयामि॥

अर्थ— उन (सततयोगी और दृढतासे अनासक्तिको अपनानेवालों) को आनन्दित करनेके लिये, उनसे अपनाया हुआ आत्मतत्त्व, तेजस्वी ज्ञानदीपकसे अज्ञानज (अज्ञानसे उत्पन्न हुए) मोहको नष्ट कर देता है।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥

आहुस्त्वमृषयः सर्वे देवर्षीर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ १४॥

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ १५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

अन्वय–भवान् परं ब्रह्म परं धाम परमं पवित्रं च। सर्वे ऋषयः देवर्षिः नारदः असितः देवलः व्यासः त्वां शाश्वतं दिव्यम् आदिदेवम् अजं विभुं पुरुषम् आहुः। स्वयं च एव मे ब्रवीषि॥ केशव, यत् मां वदसि एतत् सर्वम् ऋतं मन्ये। भगवन् ते व्यक्तिं देवाः दानवाः न हि विदुः॥ पुरुषोत्तम, भूतभावन, भूतेश, देवदेव, जगत्पते, त्वं स्वयम् एव आत्मना आत्मानं वेत्थ॥ त्वं याभिः विभूतिभिः इमान् लोकान् व्याप्य तिष्ठसि (ताः) दिव्याः आत्मविभूतयः अशेषेण वक्तुम् अर्हसि। योगिन् अहं त्वां सदा परिचिन्तयन् कथं विद्याम्। भगवन्, केषु केषु च भावेषु मया चिन्त्यः असि॥ जनार्दन, आत्मनः योगं विभूतिं च विस्तरेण भूयः कथय। हि अमृतं शृण्वतः मे तृप्तिः न अस्ति॥

अर्थ--- आप परब्रह्म हो, परम आश्रय हो, परम पावन हो। सब ऋषि देवर्षि-नारद, असित, देवल और व्यास आपको नित्य, स्वयंप्रकाश, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा तथा व्यापक बताते हैं और आप स्वयं भी मुझसे ऐसा ही कहते हो। हे केशव! जो कुछ आप कहते हो उस सबको मैं ठीक मानता हूँ। हे भगवन्! तुम्हारे व्यक्त होनेके रहस्यको देव और दानव नहीं जानते। हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगतके पालक! तुम स्वयं ही अपने आपको जानते हो। तुम इस संसारको जिन विभूतियोंसे व्याप्त किये बैठे हो, मुझे उन अपनी विभूतियोंको संपूर्ण सुनाओ। हे योगिन्! यह बताओ कि सब समय तुम्हारी विभूतियोंका चिन्तन करता हुआ मैं तुम्हारे स्वरूपको कैसे पहचानूं। हे भगवन्! मुझे आपका चिन्तन किन किन भावोंमें करना चाहिये। हे जनार्दन! अपने 'योग' तथा 'विभूति'को एकवार फिर विस्तारपूर्वक कह सुनाओ। क्योंकि तुम्हारी अमर वाणी सुनते सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१९॥

अन्वय–कुरुश्रेष्ठ, हन्त ते दिव्याः आत्मविभूतयः प्राधान्यतः कथयिष्यामि। हि मे विस्तरस्य अन्तः न अस्ति॥

अर्थ—हे कुरुश्रेष्ठ ! अच्छा (तुम जानना चाहते हो इसी लिये तुम्हें बताता हूँ, परन्तु है यह व्यर्थ) तुम्हें आत्माकी दिव्य (इन्द्रियगोचर या व्यक्त) विभूतियोंमेंसे मुख्य मुख्यको कहता हूं। क्योंकि आत्मा की विभूतियोंका अन्त नहीं है।

भाव— भगवान्का यही अभिप्राय है कि आत्माकी विभूतिका ध्यान करना 'आत्माका ध्यान करना' नहीं है। यह समस्त व्यक्त जगत् आत्मा की विभूति है। संसारबन्धनमें फंसे हुए लोग इस व्यक्त जगत् में से अपनी अपनी प्यारी समझी हुई वस्तुओंका ध्यान करते ही रहते हैं। अर्जुन भी मोहके वश होकर उन स्वजनरूपी विभूतियों का ध्यान कर ही रहा है। इस लिये विभूतियोंका ध्यान करनेवाले अर्जुनकी, आत्मस्वरूपका दर्शन करनेकी इच्छा, हास्यास्पद स्थिति बनगयी है। भगवान् प्रधान प्रधान विभूतियोंको बताते हुए यह समझा रहे हैं कि केवल प्रधान प्रधान विभूति ही आत्माकी विभूति नहीं हैं, किन्तु छोटेसे छोटे तिनके तक भी उसी की विभूति हैं। आत्मदर्शनमें छोटी या बडी सब विभूति मूल्यहीन हो जाती हैं। यही कारण है कि अगले श्लोकोंमें जहां 'राम' और 'वासुदेव'को विभूति कहा है, वहां 'द्यूत'को भी विभूतिके नामसे उपस्थित किया है। ऐसा करके अर्जुनके मनसे विभूतियोंका ध्यान करनेकी भ्रान्तिको हटाया जा रहा है। विभूतिज्ञान आत्मज्ञान नहीं है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

अन्वय-गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थितः आत्मा अहम्। भूतानाम् आदिः मध्यम् अन्तः एव च अहम् ॥

अर्थ— हे गुडाकेश! सब भूतोंके हृदयोंमें निवास करनेवाला स्वरूप आत्मतत्त्व है। सब जीवोंका आदि, मध्य तथा अन्त आत्मतत्त्व ही है।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

अन्वय-अहम् आदित्यानां विष्णुः, ज्योतिषां मध्ये अंशुमान् रविः, मरुतां मध्ये मरीचिः अस्मि, अहं नक्षत्राणां मध्ये शशी ॥

अर्थ— आदित्यों में विष्णु, प्रकाशकों में रश्मिवाला सूर्य, मरुतों में मरीचि और नक्षत्रों में चन्द्रमा, आत्माकी विभूति है ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

अन्वय—वेदानां सामवेदः अस्मि, देवानां वासवः अस्मि, इन्द्रियाणां मनः च अस्मि, भूतानां चेतना अस्मि ॥

अर्थ— वेदोंमें सामवेद, देवोंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन, और प्राणियोंमें चेतना आत्माकी विभूति है ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

अन्वय—रुद्राणां शंकरः च अस्मि, यक्षरक्षसां वित्तेशः अस्मि, वसूनां पावकः अस्मि, शिखरिणाम् अहं मेरुः ॥

अर्थ— रुद्रोंमें शंकर, यक्षराक्षसोंमें कुबेर, वसुओंमें अग्नि, पर्वतोंमें सुमेरु आत्माकी विभूति है ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

अन्वय—पार्थ, पुरोधसां मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि । अहं सेनानीनां स्कन्दः, सरसां सागरः अस्मि ॥

अर्थ— हे पार्थ ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पतिको आत्माकी विभूति जानो । सेनानायकोंमें स्कन्द, जलाशयोंमें समुद्र, आत्माकी विभूति है ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

अन्वय—महर्षीणाम् अहं भृगुः, गिराम् एकम् अक्षरम् अस्मि । यज्ञानां जपयज्ञः अस्मि, स्थावराणां हिमालयः अस्मि ॥

अर्थ— महर्षियोंमें भृगु, वाणियों में श्रेष्ठ अक्षर ओंकार, यज्ञोंमें जपयज्ञ, स्थावरोंमें हिमालय, आत्माकी विभूति है ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

अन्वय—सर्ववृक्षाणां अश्वत्थः, देवर्षीणां च नारदः, गन्धर्वाणां चित्ररथः, सिद्धानां कपिलः मुनिः ॥

अर्थ— सब वृक्षोंमें अश्वत्थ, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ, तथा सिद्धोंमें कपिल मुनि, आत्माकी विभूति है ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अन्वय—अश्वानां(मध्ये)अमृतोद्भवम् उच्चैःश्रवसं, गजेन्द्राणाम् ऐरावतं, नराणां (मध्ये) नराधिपं च मां विद्धि ॥

अर्थ— अश्वोंमें अमृतमंथनके समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा, गजेन्द्रोंमें ऐरावत तथा मनुष्योंमें नराधिपको आत्मतत्त्वकी विभूति जानलो ।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

अन्वय—आयुधानाम् अहं वज्रम्, धेनूनां कामधुक् अस्मि । प्रजनः कंदर्पः अस्मि । सर्पाणां वासुकिः अस्मि ॥

अर्थ— आयुधोंमें वज्र, धेनुओंमें कामधेनु, प्रजाको उत्पन्न करनेवाला कन्दर्प और सर्पोंमें वासुकि आत्माकी विभूति है ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अन्वय—नागानाम् अनन्तः अस्मि, यादसाम् अहं वरुणः, पितॄणाम् अर्यमा च अस्मि । संयमताम् अहं यमः ॥

अर्थ— नागोंमें अनन्त, जलचरोंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा, और संयमन करनेवालोंमें यम, आत्माकी विभूति है ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

अन्वय—दैत्यानां प्रह्लादः अस्मि । कलयताम् अहं कालः, मृगाणां च अहं मृगेन्द्रः, पक्षिणां च अहं वैनतेयः ॥

अर्थ— दैत्योंमें प्रह्लाद, गणना करनेवालोंमें काल, मृगोंमें मृगेन्द्र और पक्षियोंमें गरुड आत्माकी विभूति है ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

अन्वय—पवतां पवनः अस्मि, शस्त्रभृताम् अहं रामः अस्मि, झषाणां मकरः च अस्मि, स्रोतसां जाह्नवी च अस्मि ॥

अर्थ— पवित्र करनेवालों में पवन, शस्त्रधारियों में राम, मत्स्यों में मकर और नदियों में गंगा आत्मतत्त्वकी विभूति है।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—अर्जुन, सर्गाणाम् आदिः अन्तः मध्यं च एव अहम्। विद्यानाम् अहम् अध्यात्मविद्या प्रवदताम् अहं वादः ॥

अर्थ— हे अर्जुन! सृष्टि के उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय आत्माकी विभूति हैं। विद्याओं में 'आत्मविद्या' तथा संवाद करनेवालों की वाद तथा वितण्डा आदि रीतियोंमें अर्थका निर्णय करनेवाला 'वाद' आत्माकी विभूति है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अन्वय—अक्षराणाम् अकारः अस्मि। सामासिकस्य (मध्ये) द्वन्द्वः, अक्षयः कालः अहम् एव। विश्वतोमुखः धाता अहम् ॥

अर्थ— अक्षरोंमें अकार, समासोंमें द्वन्द्व समास, नित्य स्थिर रहनेवाला काल, तथा सर्वव्यापी सृष्टिरक्षक तत्त्व आत्मा ही है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

अन्वय—सर्वहरः मृत्युः अहं, भविष्यताम् उद्भवः अहं, नारीणां कीर्तिः श्री वाक् स्मृतिः मेधा धृतिः क्षमा अहम् ॥

अर्थ— सर्वसंहारकारी मृत्यु, भविष्यमें उत्पन्न होनेवाले भूतोंकी उत्पत्ति तथा मानवीय शक्तियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा आत्माकी विभूति हैं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

अन्वय—तथा साम्नां बृहत्साम अहं, छन्दसां गायत्री अहम्, मासानाम् अहं मार्गशीर्षः, ऋतूनाम् अहं कुसुमाकरः ॥

अर्थ — सामोंमें बृहत्साम, छन्दोंमें गायत्री, मासोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त आत्माकी विभूति है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

अन्वय–छलयताम् अहं द्यूतम् अस्मि, तेजास्विनाम् अहं तेजः अस्मि, जयः अस्मि, व्यवसायः अस्मि, सत्त्ववताम् अहं सत्त्वम् अस्मि॥

अर्थ— छल करनेवालोंके छलों में द्यूत, तेजास्वियोंका तेज, विजेताओंमें विजय, निश्चयवालोंमें निश्चय, तथा बालियोंका बल आत्माकी विभूति है।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

अन्वय–वृष्णीनां वासुदेवः अस्मि, पाण्डवानां धनंजयः (अस्मि) मुनीनाम् अपि अहं व्यासः अस्मि। कवीनाम् उशना कविः॥

अर्थ— यादवोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें धनंजय, मुनियोंमें व्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य आत्मतत्त्वकी विभूति है।

दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

अन्वय–दमयतां दण्डः आस्मि, जिगीषतां नीतिः अस्मि, गुह्यानां च एव मौनम् अस्मि, ज्ञानवताम् अहं ज्ञानम् अस्मि॥

अर्थ— दमन करनेवालोंमें दण्ड, जयाभिलाषियोंमें नीति, गुह्योंमें मौन और ज्ञानियोंका ज्ञान आत्मतत्त्वकी विभूति है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

अन्वय–अर्जुन, यत् च अपि सर्वभूतानां बीजं तत् अहम्। तत् चराचरं भूतं न अस्ति यत् मया विना स्यात्। परन्तप, मम दिव्यानां विभूतिनाम् अन्तः न आस्ति। एष तु विभूतेः विस्तरः मया उद्देशतः (संक्षेपतः) प्रोक्तः॥

अर्थ— हे अर्जुन ! इन सब भूतोंका जो कारण है वह आत्मतत्त्व है। चराचर कोई भी भूत ऐसा नहीं है जो आत्मतत्त्वके विना हो। हे परन्तप ! आत्माकी दिव्य विभूतियोंकी इति कहीं नहीं है। यह विभूतिविस्तार मैंने संक्षेपसे ही सुनाया है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—यत् यत् सत्त्वं विभूतिमत् श्रीमत् ऊर्जितम् एव वा, तत् तत् एव त्वं मम तेजोंशसंभवम् अवगच्छ ॥

अर्थ— जो जो सत्त्व विभूति (दैहिक शक्ति) से युक्त है, श्री (धनजन-बलकी शक्ति) से संपन्न है, या ऊर्जित (मानसिक शक्तिवाला) है, उस उसको तुम आत्मतत्त्वके शक्तिनामक अंशसे (अर्थात् शक्तिसे) उत्पन्न हुआ विभूतिमात्र जानो।

भाव— इस श्लोकमें जगत्में भौतिक सृष्टिकी असाधारणताको 'ईश्वर' मानलेनेकी जो भ्रान्ति पायी जाती है, उसका खण्डन करनेके लिये, इन विशेषताओंको विभूतिमत्, श्रीमत्, तथा ऊर्जित, इन तीन शब्दोंसे संगृहीत करके, उनको अनीश्वर सिद्ध करनेके लिये उपेक्षणीय कहा जा रहा है।

प्रकृति अपने स्वभावसे इस संसारमें वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि करती ही रहती है। आध्यात्मिक दृष्टिसे प्राकृतिक सृष्टिकी भौतिक विशालताका कोई महत्त्व नहीं है। यदि प्रकृतिने किसी असाधारण शक्तिशाली देहको उत्पन्न कर दिया हो, या किसीको सर्व-साधारणसे अधिक धनजनबलादिसे संपन्न कर दिया हो, अथवा किसीकी मानासिक शक्तिको असाधारण बना डाला हो, तो इतनेसे उसमें 'ईश्वरत्व'का आरोप करना भ्रान्ति है। ईश्वरकी भौतिक शक्ति सर्वत्र अहैतुक रूपसे वैचित्र्यकी उत्पत्ति करती रहती है। उन विचित्रताओंको 'आध्यात्मिकता' मानकर, उन्हें ईश्वरभावसे पूजना इन्द्रियातीत अव्यक्त आत्माको भूल जाना है। इस भूलमें पड़ने-वाला मनुष्य इन्द्रियोंके बंधनोंमें आकर स्थूलविषयोंकी आराधना य इन्द्रियासक्ति रूपी अज्ञानतामें फंसा रहता है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

अन्वय–अथवा अर्जुन, बहुना एतेन ज्ञातेन तव किम्? अहम् इदं सर्वं जगत् एकांशेन विष्टभ्य स्थितः ॥

अर्थ— अथवा हे अर्जुन! इन निरर्थक विभूतियोंको जाननेसे तुम्हें क्या मिलेगा? तुम केवल इतना जानलो कि आत्मतत्त्व इस संपूर्ण जगत्को अपने एकांशसे (अपने शक्तिनामके अंशसे) धारण कर रहा है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

दशमैकादशाध्यायसंगति—

यह समग्र जगत् आत्मासे उत्पन्न हुआ है, यह जानकर अनन्यचित्त होकर आत्मनिष्ठ हो जाना ही 'भक्ति'का स्वरूप है। यह बताते हुए दसवें अध्यायमें विभूतिचिंताको आत्मदर्शनमें अनुपयोगी कहा जा चुका। अब 'विश्वरूप-दर्शनयोग' नामके एकादश अध्यायमें आत्मनिष्ठ योगी, संसारको जिस दृष्टि से देखता है, उसका वर्णन किया जा रहा है।

एकादश अध्याय

(विश्वरूपदर्शनयोग)

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ १॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ २॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ ३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

अन्वय–मदनुग्रहाय यत् अध्यात्मसंज्ञितं परमं गुह्यं वचः त्वया उक्तं तेन मम अयं मोहः विगतः। कमलपत्राक्ष, मया त्वत्तः भूतानां भवाप्ययौ विस्तरशः श्रुतौ, अव्ययं माहात्म्यम् अपि च श्रुतम्। परमेश्वर, यथा त्वम् आत्मानम् आत्थ एवमेतत्। पुरुषोत्तम, ते ऐश्वरं रूपं द्रष्टुम् इच्छामि। प्रभो, योगेश्वर, यदि तत् मया द्रष्टुं शक्यम् इति मन्यसे ततः मे अव्ययम् आत्मानं दर्शय॥

अर्थ— मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो 'अध्यात्म' नामका परम गुह्य वचन कहा है, उससे मेरा यह (विभूतिदर्शनेच्छारूपी) मोह नष्ट हो गया। हे कमलपत्राक्ष! मैंने आपसे जीवों के उत्पत्ति और प्रलय विस्तारपूर्वक सुन लिये। इसके साथ ही आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना। हे परमेश्वर! आप अपनेको जैसा कह रहे हो आप ठीक

वैसे ही हो। हे पुरुषोत्तम! हे योगेश्वर! मैं आपके 'ऐश्वर रूप'को देखना चाहता हूं। हे प्रभो! यदि मुझे उसे देखने योग्य समझते हो तो उस अपने अव्यय स्वरूपको दिखाओ।

भाव—अर्जुनके मनमें जो 'आत्मप्रेम' उदय हुआ था, उसीको इन श्लोकोंमें 'आत्मदर्शनेच्छा' के रूपमें प्रकट किया गया है। यहांकी अर्जुनकी भाषा यद्यपि कृष्ण भगवान्‌के अव्यक्त रूपको देखनेकी इच्छाके रूपमें प्रकट हुई है, तथापि जो विराट आत्मतत्त्व श्रीकृष्णका स्वरूप है, वही अर्जुनका भी स्वरूप है। इस लिये यह स्वीकार करना पडता है कि अर्जुनकी कृष्णभगवान् का स्वरूपदर्शन करनेकी इच्छा, अपना ही स्वरूपदर्शन करनेकी इच्छा थी। क्योंकि अपने स्वरूपको जानलेना ही 'ज्ञान' कहाता है। पिछले अध्यायों में जिस आत्मस्वरूपका वर्णन किया गया है, अर्जुन के मनमें उसीका दर्शन करनेकी इच्छाका होना स्वाभाविक भी है। अर्जुन अपनी मोहातीतताको स्वीकार करके यह सिद्ध कर चुका है कि अब वह केवल आत्मदर्शनार्थी है। उसकी विभूतिदर्शनाभिलाषा समाप्त हो चुकी है। इस दृष्टिसे अर्जुनके आत्मप्रेमको यहां जिस भाषामें व्यक्त किया गया है, उस भाषाको अर्जुनकी ज्ञानमयी स्थितिका ही वर्णन करनेवाला समझना उचित है। क्योंकि अर्जुन आत्मप्रेमी है, इस लिये वह इस भाषाके द्वारा किसी इन्द्रियग्राह्य देहका दर्शन करना चाहता हो, यह संभव नहीं है। क्योंकि तब वह इच्छा वही विभूतिदर्शनकी इच्छा हो जायगी। सारांश यही है कि दसवें अध्यायके अन्तमें अर्जुनको आत्मदर्शन हो चुका है, और तब ही उसकी विभूतिदर्शनकी भ्रान्त इच्छा भी नष्ट हो चुकी है। आत्मदर्शनकी उस स्थितिको अपनानेवाले अर्जुनके मनमें जो भावना उदय हुई थी, वही एकादश अध्यायमें कथनोपकथनके रूपमें वर्णित है।

इस अध्यायके अग्रिम श्लोकोंमें जिन दर्शनोंका वर्णन आ रहा है वे दर्शन अर्जुनकी दर्शनेन्द्रियकी क्रिया नहीं हैं। उन क्रियाओंमें कृष्ण भगवान्‌का भी कर्तापन नहीं है। यह सब अर्जुनका 'मनोमय दर्शन' या 'केवल भावना ही भावना' है।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥५॥

पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

अन्वय—पार्थ, नानाविधानि नानावर्णाकृतीनि च मे शतशः अथ सहस्रशः दिव्यानि रूपाणि पश्य ॥ भारत, आदित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतः तथा अदृष्टपूर्वाणि बहूनि आश्चर्याणि पश्य ॥ गुडाकेश, इह मम देहे एकस्थं सचराचरं कृत्स्नं जगत् अद्य पश्य । यत् च अन्यत् द्रष्टुम् इच्छसि (तदपि पश्य) अनेन एव स्वचक्षुषा मां द्रष्टुं न तु शक्यसे । ते दिव्यं चक्षुः ददामि (तेन चक्षुषा) मे ऐश्वरं योगं पश्य ॥

अर्थ— हे पार्थ ! नाना प्रकारके अनन्तवर्णों तथा अनन्त आकृतियोंवाले आत्मतत्त्वके सैकडों और सहस्रों दिव्यरूपोंको देखो । हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्वियों, मरुतों तथा पहले न देखे हुए बहुतसे आश्चर्योंको देखो । हे गुडाकेश अर्जुन ! एक आत्मामें ही सब चराचर जगत्को देख लो और भी जो कुछ देखना चाहते हो देख लो । परन्तु तुम्हारी इन आंखोंसे आत्मस्वरूपका दर्शन असंभव है । उसके लिये आत्माने ही तुमको ‘ ज्ञानचक्षु ’ दे रखी है । तुम उसी दिव्य चक्षुसे आत्माके ‘ऐश्वर योग’को देखो ।

भाव— इन श्लोकोंमें आदित्य, रुद्र, वसु आदि नानाविभूतियोंका नाम गिनाने का यह अभिप्राय नहीं है कि अर्जुनको आत्मदर्शनके साधनके रूपमें कुछ चमत्कारपूर्ण वस्तुओंका दर्शन कराया जाय । क्योंकि इनके साथ ही दृष्ट, अदृष्ट और द्रष्टव्य सब ही इन्द्रियग्राह्य पदार्थोंको संकलित करके अर्जुनको यह बताया जा रहा है कि इनका जो स्वरूप है यही तुम्हारा भी स्वरूप है । तुम आत्मदर्शन करनेके कारण समग्र जगत्के स्वरूपदर्शन करनेके अधिकारी बन चुके हो । तुम्हारी प्राप्त की हुई आत्मस्थितिने तुम्हारी दर्शनयोग्यता नामकी ज्ञानचक्षुको खोल दिया है ।

संजय उवाच (संजय बोले)
एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

अन्वय—राजन्, एवम् उक्त्वा ततः महायोगेश्वरः हरिः पार्थाय अनेकवक्त्रनयनम् अनेकाद्भुतदर्शनम् अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधं दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनं सर्वाश्चर्यमयं देवम् अनन्तं विश्वतोमुखं परमम् ऐश्वरं रूपं दर्शयामास ॥ यदि दिवि सूर्यसहस्रस्य युगपत् उत्थिता भाः भवेत् सा तस्य महात्मनः भासः (प्रभावस्य) सदृशी स्यात् ॥ तदा पाण्डवः अनेकधा प्रविभक्तं कृत्स्नं जगत् तत्र देवदेवस्य शरीरे एकस्थम् अपश्यत् ॥ ततः विस्मयाविष्टः हृष्टरोमा सः धनंजयः कृतांजलिः सन् देवं शिरसा प्रणम्य अभाषत ॥

अर्थ— राजन् धृतराष्ट्र! यह कहकर फिर महायोगेश्वर हरिने अर्जुनको अनन्त मुख तथा आंखोंवाला, अनन्त अद्भुत दृश्योंवाला, अनन्त दिव्य आभरणोंवाला, दिव्य अनन्त आयुधोंवाला, दिव्यमाला तथा वस्त्र धारण करनेवाला, दिव्यगन्धका लेप किये हुए, संपूर्ण आश्चर्योंसे भरपूर, द्योतनस्वरूप, असीम तथा सर्वतोमुख परम 'ऐश्वर रूप' दिखा दिया । यदि द्युलोकमें हजारों भौतिक सूर्योंका प्रकाश एकसाथ जगमगा उठे तो वह प्रकाश उस महात्माके प्रभावरूप प्रकाशकी उपमा हो। तब पाण्डवने अनन्तभेदोंमें बटे हुए संपूर्ण जगत्को देवोंके भी देवके शरीरमें एकत्रित देखा । तब विस्मयपूर्ण होनेसे पुलकित होकर हाथ जोड़े हुए उस अर्जुनने उस देवको भक्तिपूर्वक प्रणाम करके (निम्नप्रकारसे) अपने अनुभवका वर्णन प्रारंभ किया ।

भाव—इन श्लोकोंमें संजयके द्वारा अर्जुनकी उस समयकी भावनाको दिखाया जा रहा है । संजय अर्जुनकी उस समयकी ज्ञानज्योतिकी तुलनामें

भौतिक जगत्के दिवाकरको भी म्लान बताकर यह कहना चाहता है कि अर्जुनको उस समय दोनों सेनाओंके दिव्य माला तथा गन्धानुलेपनसे सुशोभित योद्धाओंमें एक ही आत्मस्वरूप का दर्शन होने लगा था और उसके मनसे स्वजनमोहरूपी दुःखमयी स्थिति लुप्त हो गयी थी। अर्जुनने ज्ञानसे गद्गद् होकर जो मनोमयी आत्मस्तुतिकी थी उसीका वर्णन आगेके श्लोकोंमें आरहा है।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अन्वय—देव, तव देहे देवान् तथा सर्वान् भूतविशेषसंघान् कमलासनस्थम् ईशं ब्रह्माणं सर्वान् ऋषीन् दिव्यान् उरगान् च पश्यामि॥

अर्थ— हे देव ! आपके देहमें सब देवोंको, तथा सब प्रकारके प्राणियोंके समुदायोंको, कमलासनवासी स्वामी ब्रह्मदेवको, सब ऋषियों तथा दिव्य सर्पोंको देख रहा हूं।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

अन्वय-विश्वेश्वर, विश्वरूप, त्वां अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं सर्वतः अनन्तरूपं पश्यामि। पुनः तव अन्तं मध्यम् आदिं च न पश्यामि॥

अर्थ— हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! मैं तुमको अनन्त बाहु, उदर, मुख, और नेत्रवाला तथा सर्वत्र अनन्त रूपोंमें देख रहा हूं और आपकी समाप्ति, मध्य तथा आरंभ नहीं पा रहा हूं।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥

अन्वय—किरीटिनं गदिनं चक्रिणं सर्वतः दीप्तिमन्तं तेजोराशिं दीप्तानलार्कद्युतिं दुर्निरीक्ष्यम् अप्रमेयं त्वां समन्तात् पश्यामि॥

अर्थ— मुकुट, गदा, चक्र धारण करनेवाले, सब ओरसे दीप्त होते हुए, तेजके पुंज, प्रदीप्त अग्नि तथा सूर्यके समान चमकते हुए, इन्द्रियातीत अनन्त तुमको ही सर्वत्र पा रहा हूं ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

अन्वय—त्वं वेदितव्यं परमम् अक्षरं (असि), त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानम् (असि)। त्वम् अव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता। मे त्वं सनातनः पुरुषः मतः ॥

अर्थ— तुम श्रेष्ठ ज्ञातव्य अक्षर हो, तुम ही इस विश्वके अन्तिम आधार हो। तुम अविनाशी हो, नित्यधर्मके संरक्षक हो, मुझे तुम सनातन पुरुष परमात्मा जान पड रहे हो ।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

अन्वय—अनादिमध्यान्तम् अनन्तवीर्यम् अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रं दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा इदं विश्वं तपन्तं त्वां पश्यामि ॥

अर्थ— आदि, मध्य तथा अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावयुक्त, अनन्तबाहुवाले, चन्द्रसूर्यनेत्रवाले, प्रदीप्त अग्निरूपी मुखवाले, तथा अपने तेजसे इस अज्ञानी जगत्को तपाते हुए तुमको मैं देख रहा हूं ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

अन्वय—महात्मन्, सर्वाः दिशः इदं द्यावापृथिव्योः अन्तरं च त्वया एकेन हि व्याप्तम् । तव इदम् अद्भुतम् उग्रं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितम् ॥

अर्थ— हे महात्मन्! द्युलोक तथा पृथिवी का बीच और समग्र दिशा आप एक तत्त्वने व्याप्त कर रखी हैं। आपके इस अद्भुत, उग्र रूपको देखकर संपूर्ण संसार (अज्ञानी संसार) व्यथा मान रहा है ।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अन्वय-अमी सुरसंघाः त्वां विशन्ति हि। केचित् भीताः प्रांजलयः गृणन्ति । महर्षिसिद्धसंघाः स्वस्ति इति उक्त्वा पुष्कलाभिः स्तुतिभिः त्वां स्तुवन्ति ॥

अर्थ— ये सुरोंके समूह आपमें प्रवेश कर रहे हैं। कोई डरकर, हाथ जोडकर स्तुति करते हैं, तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय स्वस्ति (कल्याण हो) यह कहकर बहुतसे स्तुतिवाक्योंसे आपकी स्तुति करनेमें लगे हुए हैं ।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

अन्वय-ये रुद्रादित्याः वसवः साध्याः च विश्वे अश्विनौ मरुतः च उष्मपाः च गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः (ते) सर्वे एव विस्मिताः त्वां वीक्षन्ते ॥

अर्थ— जो रुद्र, आदित्य, वसु और साध्य नामके गण, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सबके सब विस्मित होकर आपको देख रहे हैं ।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ॥
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

अन्वय-महाबाहो, ते बहुवक्त्रनेत्रं बहुबाहूरुपादं बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं महत् रूपं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथिताः तथा अहम् ॥

अर्थ— हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत भुजा, जंघा तथा पैरोंवाले, बहुतसे उदरोंवाले, बहुतसी दाढ़ोंसे कराल दीखनेवाले, बड़े रूपको देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूं ।

भाव— अर्जुन देख रहा है कि व्यापक आत्मतत्त्व हजारोंको उत्पन्न करके उन्हें हजारों मुखोंसे खाता चला जा रहा है। इन श्लोकोंमें अज्ञानी जगत् को सन्तापित करनेवाले उग्र प्रलयरूपका वर्णनमात्र है। त्रिगुणके बन्धनमें फंसा हुआ अज्ञानी संसार मृत्युसे डरता और थर थर कांपता रहता है। अज्ञानी संसार यह नहीं जानता कि मृत्यु भी उसीके आत्माकी विभूति है।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ २४॥

अन्वय–विष्णो! नभःस्पृशं दीप्तम् अनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं शमं च न विन्दामि हि॥

अर्थ— हे विष्णो! आकाशचुम्बी, प्रकाशयुक्त, अनेक रंगोंवाले, मुंह फैलाये हुए और बड़े चमकीले नेत्रोंवाले तुम्हें देखकर विचलित चित्तवाला हो गया हूं और धीरज तथा शान्ति नहीं पा रहा हूं।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ २५॥

अन्वय–ते दंष्ट्राकरालानि कालानलसंनिभानि च मुखानि दृष्ट्वा दिशः न जाने शर्म न लभे एव च। देवेश, जगन्निवास, प्रसीद॥

अर्थ— दाढोंसे विकराल दीखते हुए तथा कालाग्निके समान दहकते हुए आपके मुखोंको देखकर दिशाओंको भूल गया हूं और चैन नहीं पा रहा हूं। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हो जाओ।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ २६॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

अन्वय—अमी सर्वे एव धृतराष्ट्रस्य पुत्राः अवनिपालसंघैः सह त्वां (विशन्ति)। भीष्मः द्रोणः तथा असौ सूतपुत्रः अस्मदीयैः अपि योधमुख्यैः सह त्वरमाणाः ते दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति। केचित् चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः दशनान्तरेषु विलग्नाः संदृश्यन्ते ॥

अर्थ— सबके सब धृतराष्ट्रके पुत्र, राजाओंके समूहके साथ तुममें प्रविष्ट होते जा रहे हैं। भीष्म, द्रोण तथा यह सूतपुत्र कर्ण, हमारे पक्षके भी प्रधान-योधाओंके साथ तुममें विलीन होनेकी शीघ्रता करते हुए, तुम्हारी विकराल डाढोंवाले भयानक मुखोंमें प्रवेश करते जा रहे हैं। कुछके तो पिसे हुए सिर तुम्हारे दांतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

अन्वय—यथा नदीनां बहवः अम्बुवेगाः समुद्रम् एव अभिमुखाः द्रवन्ति, तथा अमी नरलोकवीराः तव अभिविज्वलन्ति वक्त्राणि विशन्ति ॥

अर्थ— जैसे नदियोंके बहुतसे जलप्रवाह समुद्रकी ओरको दौडते चले जाते हैं, वैसे ही ये मनुष्यलोकके वीर आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रविष्ट होते जा रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगाः
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

अन्वय—यथा पतंगाः नाशाय प्रदीप्तं ज्वलनं समृद्धवेगाः विशन्ति, तथा एव लोकाः अपि नाशाय तव वक्त्राणि समृद्धवेगाः विशन्ति ॥

अर्थ— जैसे पतंग जलमरनेके लिये, वेगयुक्त होकर जलती अग्निमें घुस जाते हैं, इसी प्रकार ये सब लोग मरनेके लिये वेगयुक्त होकर तुम्हारे मुखोंमें प्रविष्ट होते जा रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

अन्वय—समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिः वदनैः ग्रसमानः समन्तात् लेलिह्यसे। विष्णो, तव उग्राः भासः समग्रं जगत् तेजोभिः आपूर्य प्रतपन्ति ॥

अर्थ— तुम सब ओरसे सब लोगोंको प्रज्वलित मुखोंसे निगलते हुए जीभसे चाट रहे हो। हे विष्णो! आप का उग्र प्रकाश संपूर्ण जगत्को तेजोंसे परिपूर्ण करके तप रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—मे आख्याहि भवान् उग्ररूपः कः? देववर, ते नमः अस्तु प्रसीद आद्यं भवन्तं विज्ञातुम् इच्छामि। हि तव प्रवृत्तिं न प्रजानामि ॥

अर्थ— मुझे बताइये कि उग्ररूप धारण करनेवाले आप कौन हो? हे देव-श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप कृपालु हो जाइये। मैं (सबके) आदि पुरुष आपको विशेष रूपसे जानना चाहता हूं। क्योंकि आपकी प्रवृत्तिको नहीं पहचान सक रहा हूं।

भाव— अर्जुनका आत्माकी मृत्युरूपी विभूतिको समझनेकी असमर्थता प्रकट करना इस श्लोक का अभिप्राय नहीं है। क्योंकि आत्मा ही संपूर्ण जगत्का स्रष्टा और पालक होकर स्वयं ही मृत्युरूप बनकर इस समग्र जगत्का ग्रास करता जा रहा है। इसी बातको अर्जुन अपने ज्ञान-नेत्रसे देख रहा है। वह अब विस्मयसूचक स्तुतिकी भाषामें मोहरूपी अज्ञानान्धकारसे मुक्त होकर अनुभवामीश्रित भाषामें आत्माकी ही महिमाका कीर्तन कर रहा है।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

अन्वय–लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः कालः अस्मि । इह लोकान् समाहर्तुं प्रवृत्तः । ये योधाः प्रत्यनीकेषु अवस्थिताः त्वामृकते अपि (ते) सर्वे न भविष्यन्ति ॥

अर्थ— मैं लोकोंका क्षय करनेवाला, बढा हुआ काल हूं । इस समय मैं यहां लोकोंका संहार करनेमें लगा हुआ हूं । जो योधा लोग परस्पर विरोधी सेनाओंमें खडे हैं, यदि तुम युद्धमें भाग न लोगे तो भी इनमेंसे कोई नहीं बच सकेगा ।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

अन्वय–तस्मात् त्वम् उत्तिष्ठ यशः लभस्व, शत्रून् जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व । एते पूर्वम् एव मया निहताः । सव्यसाचिन्, निमित्तमात्रम् एव भव ॥

अर्थ— इस लिये तुम उठ खडे हो, यश लेलो, शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्य भोगो । मैंने ही इन्हें पहलेसे मारा हुआ है । हे सव्यसाचिन् ! तुम केवल (इनके मारे जानेमें) निमित्त बन जाओ ।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यऽस्व जेताऽसि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

अन्वय–द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथा अन्यान् अपि मया हतान् योधवीरान् त्वं जहि । मा व्यथिष्ठाः । रणे सपत्नान् जेतासि । युध्यस्व ॥

अर्थ— तुम द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य भी मेरे मारे हुए वीर योद्धाओंको मारो । कर्तव्यभ्रष्ट मत बनो । तुम युद्धमें वैरियों को जीतोगे । तुम लड़ो ।

संजय उवाच (संजय बोले)

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अन्वय-केशवस्य एतत् वचनं श्रुत्वा वेपमानः किरीटी कृतांजलिः सन् नमस्कृत्वा भूयः एव भीतभीतः प्रणम्य कृष्णं सगद्गदम् आह ॥

अर्थ— केशवकी इस वाणीको सुनकर कांपता हुआ अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके, फिर भी भयभीत होकर प्रणाम करके कृष्णसे गद्गद् होकर बोला ।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अन्वय-हृषीकेश (इति) स्थाने (यत्) तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यति अनुरज्यते च, रक्षांसि भीतानि दिशः द्रवन्ति, सर्वे सिद्धसंघाः नमस्यन्ति च ।

अर्थ— हे हृषीकेश ! यह उचित ही है कि आपके कीर्तनसे जगत् अति हर्ष और अनुराग मानता है, राक्षस लोग भयभीत होकर दिशाओंमें भागते हैं, तथा सब सिद्धसमुदाय नमस्कार करते हैं ।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

अन्वय-महात्मन्, ब्रह्मणः अपि आदिकर्त्रे गरीयसे ते कस्माच्च न नमेरन् अनन्त, देवेश, जगन्निवास, यत् सदसत्तत्परम् अक्षरं (तत्) त्वम् ॥

अर्थ— हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और ब्रह्मासे भी बड़े आपके लिये क्यों न नमें ? हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत् असत् और इनसे (सदसत्से) परे है, वह तुम ही हो ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

अन्वय–त्वम् आदिदेवः पुराणः पुरुषः, त्वम् अस्य विश्वस्य परं निधानं, वेत्ता वेद्यं परं धाम असि, अनन्तरूप त्वया विश्वं ततम् ॥

अर्थ— आप आदिदेव पुराण पुरुष हो, आप इस विश्वके परम आश्रय हो आप जाननेवाले भी हो, जानने योग्य भी हो और श्रेष्ठ धाम भी हो । हे अनन्त रूप ! आपसे यह जगत् व्याप्त है ।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

अन्वय–त्वं वायुः यमः अग्निः वरुणः शशांकः प्रजापतिः च प्रपितामहः (असि) ते सहस्रकृत्वः नमः नमः अस्तु । ते भूयः अपि पुनः च नमः नमः ॥

अर्थ— आप, वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हो । आपको हजारों वार नमस्कार हो। आपके लिये फिर भी बार बार नमस्कार हो ।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

अन्वय--अनन्तवीर्य, ते पुरस्तात् अथ पृष्ठतः नमः । सर्व, ते सर्वतः एव नमः अस्तु । अमितविक्रमः त्वं सर्वं समाप्नोषि, ततः सर्वः असि ॥

अर्थ— हे अनन्त सामर्थ्य रखनेवाले ! आपके लिये सामनेसे और पीछेसे नमस्कार हो । हे सर्वरूप ! हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे नमस्कार हो । क्योंकि अनन्त विक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हो इसीसे आप ' सर्व ' (सब कुछ) हो ।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—तव इदं महिमानम् अजानता सखा इति मत्वा मया प्रणयेन वा प्रमादात् अपि हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे इति यत् प्रसभम् उक्तम् अच्युत, यत् च अवहासार्थं विहारशय्यासनभोजनेषु एकः अथवा तत्समक्षम् अपि असत्कृतः असि तत् अप्रमेयं त्वाम् अहं क्षामये ॥

अर्थ— आपके इस प्रभावको न जानते हुए 'सखा' ऐसा मानकर मैंने, प्रेमसे या प्रमादसे भी हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इस प्रकार जो तिरस्कार-पूर्वक कहदिया हो और हे अच्युत! जोकि हंसीके लिये विहार, शयन, आसन और भोजनादियोंमें अकेले अथवा उन (परिहासी मित्रों) के सामने भी अपमानित किया हो उस (अपराध) को आपसे क्षमा कराता हूं।

भाव— इन श्लोकोंमें अर्जुन अपने पूर्व अज्ञानकी निन्दा कर रहा है। ज्ञानी पुरुष अज्ञानको जिस दृष्टिसे देखता है, आत्मदर्शनकी स्थितिमें पहुंचे हुए अर्जुनकी भी आज वही अवस्था हो गयी है। आज वह कृष्ण भगवान्के और अपने पुराने संबन्धको उसी दृष्टिसे देखने लगा है। क्योंकि ज्ञानकी स्थिति आजाने पर अज्ञानकी स्थितिके लिये ग्लानि और निन्दा होना स्वाभाविक है । उसी ग्लानिको प्रकट करना इन श्लोकोंका अभिप्राय है। ग्लानि प्रकट करनेके अतिरिक्त इन श्लोकोंका दूसरा कोई अभिप्राय होसकना असंभव है। क्योंकि जब मनुष्य किसी मनुष्यशरीरसे मोहका संबन्ध रखता है, तब वह अपने अव्यक्त आत्मस्वरूपकी अवज्ञा करता है। ऐसी अवज्ञा की निन्दा करना ज्ञानीके लिये स्वाभाविक है। अर्जुन भी कृष्ण भगवान्को मिस करके अपनेही आत्मस्वरूपको अपने अज्ञानकी निन्दा सुना रहा है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥

अन्वय–त्वम् अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता गरीयान् गुरुः पूज्यः च असि। अप्रतिमप्रभावः लोकत्रये त्वत्समः अपि अन्यः न अस्ति अभ्यधिकः कुतः ?

अर्थ— आप इस चराचर जगत् के पिता हो। गुरुसे भी बड़े गुरु और पूज्य हो। हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, अधिक कैसे हो ?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ ४४॥

अन्वय–तस्मात् अहं कायं प्रणिधाय प्रणम्य ईड्यं त्वाम् ईशं प्रसादये। देव पिता इव पुत्रस्य, सखा इव सख्युः, प्रियः (इव) प्रियाय (मम अपराधं) सोढुम् अर्हसि॥

अर्थ— इससे मैं शरीरको भूमि पर लिटाकर प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप समर्थसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूं। हे देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे मित्रके, प्रेमी जैसे अपने प्रेमीकेलिये वैसे ही आप मेरे अपराधको सहन कर लीजिये।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ ४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ४६॥

अन्वय–अदृष्टपूर्वं (विश्वरूपं) दृष्ट्वा हृषितः अस्मि मे मनः भयेन प्रव्यथितं च (अहं संप्रति आत्मविस्मृतिपातं भयावहं व्यथोत्पादकं च मन्ये), तत् रूपं (विश्वरूपं) एव मे दर्शय। देव, देवेश, जगान्निवास, प्रसीद। किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं त्वां (संप्रति) तथा एव (विश्वरूपाकारा-कारितमेव) द्रष्टुम् इच्छामि। विश्वमूर्ते, सहस्रबाहो, तेन एव चतुर्भुजेन

(धर्मार्थकाममोक्षरूपचतुर्वर्गभोक्त्रा सर्वग्रासिना) रूपेण भव (दर्शनं देहि) ॥

अर्थ— मैं आपके अदृष्टपूर्व (विश्वरूप) को देखकर हर्ष मान रहा हूं । मैं अब आत्मविस्मृतिमें जानेको भय और व्यथाजनक मान रहा हूं । आप मुझे सदा 'विश्वरूप' ही दिखाते रहिये । देव ! देवेश ! जगन्निवास ! आप प्रसन्न होइये । मैं किरीटधारी, गदाधारी, चक्रपाणि आपको अब विश्वरूपसे पृथक् देखना नहीं चाहता । हे विश्वमूर्ते ! हे सहस्रबाहो ! आप मेरे सामने उसी चतुर्भुज अर्थात् (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चतुर्वर्ग के भोक्ता सर्वभोजी) रूपमें रहो ।

भाव— अर्जुन अदृष्टपूर्व विश्वरूपका दर्शन करके मोहातीत हो जाने के कारण अपनेको भाग्यशाली मानकर हर्षित हो रहा है और अब उसे अज्ञानदशामें जाना भय तथा व्यथाका कारण प्रतीत हो रहा है । ज्ञानी अर्जुन सदा उसी विश्वरूपको देखनेवाला बना रहना चाहता है । वह किरीट-गदा-चक्र-धारी कृष्णको भी विराट् आत्म-तत्त्वके रूपमें देखते रहना चाहता है । वह सहस्रबाहु विश्वमूर्ति आत्मतत्त्वको संबोधन करता हुआ कह रहा है कि तुम मुझे इस व्यक्त जगत्में धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूपी चतुर्वर्गका भोग करने-वाले सर्वभोजी चतुर्भुज रूपमें दर्शन देते रहो ।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

अन्वय-अर्जुन, प्रसन्नेन मया आत्मयोगात् इदं मे परं तेजोमयम् आद्यम् अनन्तं विश्वं रूपं तव दार्शितं यत् त्वदन्येन (त्वादृशज्ञानचक्षुष्मद्-तिरिक्तेन) न दृष्टपूर्वम् ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! प्रसन्न हुए मैंने, अपने योगके प्रभावसे इस आत्माके उस तेजोमय अनन्त (सर्वोत्तम) आद्य, परम, विराट् रूपको तुम्हें दिखा दिया, जो कि इससे पहले तुम (तुम जैसे ज्ञानचक्षुष्मान् आत्म-तत्त्वारूढ) से अतिरिक्त दूसरे किसीके भी द्वारा नहीं देखा गया ।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्नच क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

अन्वय–कुरुप्रवीर, नृलोके त्वदन्येन एवं रूपः अहं न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः न क्रियाभिः न च उग्रैः तपोभिः द्रष्टुं शक्यः ॥

अर्थ— हे कुरुप्रवीर अर्जुन ! मनुष्यलोकमें तुमसे (तुम जैसे ज्ञानदृष्टिसंपन्न भक्तके) अतिरिक्त और किसीसे इस प्रकारके स्वरूपवाला आत्मतत्त्व वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, कर्म अथवा उग्र तपोंसे भी नहीं देखा जा सकता ।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

अन्वय–ईदृक् मम इदं घोरं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा मा, विमूढभावः च मा । व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वं तत् मे इदं रूपं पुनः प्रपश्य ॥

अर्थ— इस प्रकारके मेरे इस विकराल रूपको देखकर तुम व्याकुल मत हो और मूढभावको भी मत आने दो । तुम भयको छोड़कर प्रेमी मनसे मेरे उसी रूप (विश्वरूपको) सदा देखते रहो ।

संजय उवाच (संजय बोले)
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अन्वय–वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा भूयः तथा स्वकं रूपं (विश्वरूपं) दर्शयामास । पुनः च महात्मा सौम्यवपुः भूत्वा एनं भीतम् आश्वासयामास ॥

अर्थ— वासुदेवने अर्जुनसे ऐसा कहकर, फिर उसी अपने रूप (विश्वरूप) को दिखा दिया । उस महात्माने फिर सौम्य मूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको (सदा 'विश्वरूप' दर्शन करते रहनेका) आश्वासन दिया ।

भाव—इस श्लोकका यही अभिप्राय है कि अर्जुन इतने समय तक आत्मस्तुतिमें मग्न हो गया था, इस लिये वह आंखोंके सामने खडे हुए भी श्रीकृष्णका दर्शन नहीं कर सका था । अब जब कि आत्मस्तुति समाप्त हो चुकी, तब फिर वही सौम्यमूर्ति श्रीकृष्णका रूप उसकी आंखोंके सामने आ कर खड़ा हो गया ।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अन्वय--जनार्दन, इदानीं तव इदं सौम्यं मानुषं रूपं दृष्ट्वा सचेताः संवृत्तः प्रकृतिं गतः अस्मि ॥

अर्थ— हे जनार्दन ! अब (विश्वरूपदर्शन करनेवाली ज्ञानदृष्टिको पाकर) मैं आपके इस अतिशान्त मनुष्यरूपको देखकर, अपने स्वभावमें आ गया हूं, और अब स्वाभाविक स्थितिमें हूं । (अर्थात् अनासक्त रहकर आपको देख रहा हूं । अब पहलेके तुल्य आपके दर्शनसे प्रभावित नहीं होता हूं) ।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥

अन्वय–मम यत् इदं सुदुर्दर्शं रूपं दृष्टवान् असि देवाः अपि अस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥

अर्थ— आत्माके अज्ञानियों को न दीखनेवाले जिस इस विश्वरूपको तुमने देखा है, देवता भी सदा इस रूपके दर्शनेच्छु रहते हैं ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

अन्वय–अहं न वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया एवंविधः द्रष्टुं शक्यः यथा मां दृष्टवान् असि ॥

अर्थ— आत्मतत्त्व न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे, और न यज्ञसे वैसा देख जा सकता है जैसा कि तुमने उसे देखा है ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

अन्वय–परन्तप अर्जुन, अनन्यया भक्त्या तु एवंविधः अहं तत्त्वेन ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च शक्यः ॥

अर्थ— हे परन्तप अर्जुन ! अनन्य भक्तिसे ही इस प्रकार आत्माको जानना, दर्शन करना और तत्स्वरूप हो जाना शक्य होता है ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥

अन्वय–पाण्डव, संगवर्जितः यः मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः सर्वभूतेषु निर्वैरः सः माम् एति ॥

अर्थ— हे पाण्डव ! जो कोई आसक्तिरहित पुरुष आत्मस्थितिकी रक्षाके-लिये कर्म करनेवाला, आत्मस्थितिको ही परमगति जाननेवाला, आत्म-स्थितिका अनन्य प्रेमी, किसीसे अशान्त न होनेवाला होता है, वह आत्माको प्राप्त कर चुका होता है ।

भाव— इससे पूर्वके तीन श्लोकोंमें कृष्ण भगवान्ने यह बात स्पष्ट कहदी है कि अर्जुनका देखा हुआ 'विश्वरूप' केवल अर्जुनको ही दिखाने के लिये रचा हुआ 'तात्कालिक इन्द्रजाल' नहीं था, किन्तु वह अनन्य भक्तिसे देखा जानेवाला भक्तमात्रका स्वाभाविक अधिकार था । यह कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि केवल अर्जुनको ही इस प्रकारका कोई 'असाधारण सौभाग्य' प्राप्त कराया गया था । इसी बातको अध्यायके इस आन्तिम श्लोकमें और आधिक स्पष्ट किया जा रहा है कि अनासक्त स्थिति ही 'भक्ति' है और अनासक्ति ही 'आत्मतत्त्व' है । जो अनासक्त है वह सदा अनासक्त स्थितिकी रक्षाके लिये कर्म करनेवाला होता है । उसके लिये अनासक्त रहना ही सबसे श्रेष्ठ प्राप्तव्य स्थिति होती है । इसीमें उसकी अनन्य निष्ठा रहती है । यही उसके आत्माका स्वरूप बन जाती है । संसारके किसी भूतसे अपनेको अशान्त न होने देना उसका स्वभाव हो जाता है । ऐसा पुरुष संपूर्ण विश्वमें और जीवनके प्रत्येक क्षण अनासक्तिकी दृष्टिको लेकर 'विश्वरूप'का दर्शन करता रहता है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

पूर्वोत्तर ग्रन्थका पौर्वापर्य

अब विश्वरूपदर्शन करचुकनेके पश्चात् अर्जुनको स्वभावसे ही युद्धके लिये सन्नद्धता प्रकट करदेनी चाहिये थी। परन्तु यह सन्नद्धता इस अपने स्वाभाविक स्थानको छोड़कर, अगले छः अध्यायके पश्चात्, अठारहवें अध्यायके अन्तमें जाकर दिखायी गयी है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि जब युद्धारम्भके लिये दोनों पक्षके शंखनाद हो चुके थे, जब सब सेना अपने अपने अस्त्रशस्त्र हाथोंमें लेकर प्रहारोद्यत हो चुकी थीं, और जब क्षणभरके विलम्बको भी न सह सकनेवाला तंग अवसर उपस्थित था, उस समय श्रीकृष्णार्जुनसंवाद नामकी यह घटना घटी थी। गीताके ग्रन्थकारने इस घटनाको ' अपनी छन्दोमयी भाषा ' में लिपिबद्ध किया है। उसने अर्जुन तथा श्रीकृष्णके तात्कालिक प्रश्नोत्तरोंके भाव को मनमें बैठाकर उसे ' अपनी भाषा ' में यथोचित विस्तार देकर ' गीता-ग्रन्थ ' का रूप दिया है।

निरपेक्ष दृष्टिसे विचार करनेपर यह निश्चय हो सकता है कि उस समय श्रीकृष्णार्जुनसंवादका अधिक कालतक हो सकना संभव नहीं था। जबकि आज गीता पाठ करनेमें दो घण्टे लगते हैं, तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि युद्धघोषणा की जा चुकनेपर, समस्त युद्धार्थियोंके लिये अनावश्यक चर्चामें इतना समय बिताना अशक्य था। इस लिये यह निश्चित सत्य है कि गीताका वर्तमान विपुल ग्रंथ उस समयके वार्तालापका अक्षरशः संग्रह नहीं है। यदि यह ग्रन्थ उस वार्तालापका ज्यों का त्यों संग्रह होता तो धृतराष्ट्र, संजय, अर्जुन और श्रीकृष्ण चारोंकी एक जैसी भाषा और एक ही छन्द न होकर, यह संग्रह चार प्रकारकी गद्य भाषा में होता। वस्तुस्थिति यह है कि ग्रन्थकारने उन चारों वक्ताओंके तात्कालिक भावोंको अपने मनमें संग्रहकरके, उनके वार्तालापको जनसमाजके कल्याणकी बात जानकर, इस सत्यचर्चाको समाजमें सुरक्षित करदेनेके अभिप्रायसे, अपनी ही भाषा और अपनी ही कल्पना शक्तिकी सहायता लेकर विस्तृत किया है।

इस दृष्टिसे यह बात निश्चित रूपमें कही जा सकती है कि 'विश्वरूपदर्शन' के अनन्तर अब अर्जुनके लिये किसी भी बातमें समय नष्ट करना संभव नहीं रहा था। इस स्थितिको प्राप्त कर चुकनेपर उसे स्वस्थ चित्त होकर गाण्डीव हाथमें उठालेना चाहिये था। परन्तु गीताके ग्रन्थकारने जान बूझकर तत्काल उपस्थित करने योग्य इस घटनाको, कुछ समयके लिये

ग्रन्थमें उपस्थित करना इस विचारसे स्थगित रखा, कि पूर्व अध्यायोंमें वर्णित कुछ उपयोगी विषयोंको कृष्णार्जुनसंवादके अभिप्रायके अनुसार विशेष रूपसे स्पष्ट कर दिया जाय। गीताके ग्रन्थकारका यही महत्त्वपूर्ण उद्यम अगले सात अध्यायोंके रूपमें हमें प्राप्त हुआ है। ग्रन्थकार अपनी लेखनशैलीके सुभीतेके अनुसार पहले अर्जुनकी ओरसे प्रश्न करालेते हैं और फिर उसका उत्तर दे लेते हैं। ये सब प्रश्न अर्जुनके अज्ञानसे किये गये प्रश्न नहीं हैं। किन्तु सत्यका निर्णय करनेके लिये ग्रन्थकारने ही अपनी ओरसे भाषाको प्रश्नका रूप दिया है।

एकादशद्वादशाध्यायसंगति–

एकादश अध्यायमें 'विश्वरूपदर्शन'का वर्णन किया गया। जिस अनन्य भक्तिसे उस विश्वरूपका दर्शन होता है और मनुष्य संसारके शोकमोहसे अतीत रहता है, अब उसी 'भक्ति'की महिमाका कीर्तन 'भक्ति योग' नामसे द्वादश अध्यायमें किया जा रहा है।

द्वादश अध्याय

(भक्तियोग)

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अन्वय–ये भक्ताः एवं सततयुक्ताः त्वां पर्युपासते ये च अपि अक्षरम् अव्यक्तं (उपासते) तेषां योगवित्तमाः के ?

अर्थ— जो भक्त (अनन्य प्रेमी) इस प्रकारसे सदा युक्त होकर आत्मा की उपासना करते हैं और जो अक्षर (अविनाशी) अव्यक्तकी उपासना करते हैं, इन दोनोंमें 'श्रेष्ठ योगज्ञ' कौनसे हैं ?

भाव— पूर्व अध्यायमें वर्णित 'भक्ति' पृथक् है और 'अव्यक्त अक्षरकी उपासना' दूसरी है, इस कल्पनाने इस प्रश्नको उत्पन्न किया है। कृष्ण भगवान्‌से इस प्रश्नके अनुरूप उत्तरकी आशा करना अनुचित है।

श्रीभगवानुवाच। (श्रीभगवान् बोले)

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

अन्वय–नित्ययुक्ताः ये मयि मनः आवेश्य परया श्रद्धया उपेताः माम् उपासते ते मे युक्ततमाः मताः ॥

अर्थ— नित्ययुक्त जो मनुष्य आत्मतत्त्वमें मनको लगाकर परम श्रद्धासे युक्त होकर आत्मतत्त्वकी उपासना करते रहते हैं, वे हमारे अभिप्रेत 'श्रेष्ठयोगी' हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

अन्वय—ये तु इन्द्रियग्रामं संनियम्य सर्वत्र समबुद्धयः सर्वभूतहितेरताः सर्वत्र-गम् अचिन्त्यं कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तम् अक्षरं पर्युपासते ते माम् एव प्राप्नुवन्ति ॥

अर्थ— परन्तु जो भक्त इन्द्रियोंको संयत करके, सर्वत्र समबुद्धि होकर, सर्व-भूतहितरत (किसी भी भूतका अहित न करनेवाले) बनकर, सर्व-व्यापी, आचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अनिर्देश्य (अकथनीय), अव्यक्त, अक्षर आत्मतत्त्वकी उपासना करते हैं, वे भी आत्मस्वरूप को ही प्राप्त होते हैं ।

भाव— यद्यपि इस श्लोकके इस कथन से कि 'अव्यक्तोपासक भी आत्मतत्त्वको प्राप्त करता है', ऐसा अभिप्राय निकाला जा सकता है कि पूर्व श्लोकमें वर्णित भक्ति ' व्यक्तोपासना ' है, और वह इस ' अव्यक्तोपासना'से पृथक् है। परन्तु जिस समय उस ' व्यक्तोपासना ' का स्वरूप विचारा जाता है, उस समय 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' उपासना का भेद हाथ नहीं आता । वस्तुतः 'व्यक्तोपासना' और 'अव्यक्तोपासना' में कोई भेद नहीं है। उनका भेद काल्पनिक है। जब कि अनासक्ति ही दोनों उपासनाओंका प्राप्तव्य है, तब भेदकी कल्पना करना निरर्थक और निराधार है। ' व्यक्तोपासना ' का यही अर्थ किया जा सकता है कि यह समग्र जगत् आत्मतत्त्वका ही व्यक्त रूप है । इस व्यक्त जगत्में अनासक्त रहनेको ही इसमें सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वका दर्शन करना रूपी ' व्यक्तोपासना ' कहा जा सकता है। ऐसी व्यक्तो-पासनामें और अव्यक्तोपासनामें निश्चय ही कोई भेद नहीं है ।

इससे पिछले अध्यायके अन्तिम श्लोकमें जिस भक्तिसे आत्म-तत्त्वको प्राप्त करना बताया गया है, उसीको पिछले श्लोकमें ' श्रेष्ठ-योग ' कहा गया है, और अब इन श्लोकोंमें यह कहा जा रहा है, कि अक्षर उपासनासे भी आत्मप्राप्ति होती है। इन श्लोकोंका यही अभिप्राय है कि ' अक्षरोपासना ' और ' भक्ति ' एक दूसरेसे पृथक् नहीं है। केवल शाब्दिक पृथक्तासे इन दोनों उपासनाओंको पृथक् मानना अनुचित है । अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला भक्त जानता है कि भक्ति अक्षरोपासनासे पृथक् स्थिति नहीं है। अक्षरोपासक भी यह समझता है कि अनासक्ति रूपी भक्तिके विना अक्षरोपासना नामकी किसी उपासनाका होना असंभव है ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

अन्वय--हि देहवद्भिः (देहाभिमानं वहाद्भिः) अव्यक्ता गतिः दुःखम् अवाप्यते (न अवाप्यते इत्यर्थः) तस्मात् अव्यक्तासक्तचेतसां (अव्यक्तोपासनाभिनयं कुर्वतां) तेषां (देहाभिमानं वहतां) अधिकतरः क्लेशः भवति (ते अव्यक्तोपासनायां क्लेशमनुभूय तां दूरादेव परित्यजन्तीति भावः) ॥

अर्थ— क्योंकि देहाभिमान रखनेवालोंको अव्यक्त गति प्राप्त नहीं होती, इस लिये अव्यक्तोपासनाका अभिनय करनेवाले उन लोगोंको क्लेश होता है (अर्थात् वे अव्यक्तोपासनामें क्लेश देखकर उसे त्याग देते हैं)।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

अन्वय--ये तु मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य मत्पराः माम् एव अनन्येन योगेन ध्यायन्तः उपासते पार्थ, अहं मयि आवेशितचेतसां तेषां मृत्युसंसारसागरात् न चिरात् समुद्धर्ता भवामि ॥

अर्थ— जो सब कर्मोंके कर्तापनको आत्मतत्त्वमें अर्पण करके, आत्मपरायण होकर, आत्माका ही अनन्य योगसे ध्यान करते हुए अनासक्त कर्म करते हैं, हे पार्थ ! आत्मा उन आत्मनिष्ठोंको मृत्युसंसारसागर (अज्ञानरूपी मृत्यु) से तत्क्षण उद्धार करनेवाला होता है ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अन्वय—मयि एव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय, अतः ऊर्ध्वं मयि एव निवसिष्यसि (अत्र) संशयः न ॥

अर्थ—(इस लिये) आत्मामें ही मनको लगाओ और बुद्धिको ठहराओ । जब इतना कर चुकोगे तब तुम आत्मामें ही निवास पा चुके होगे इसमें संशय नहीं है ।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

अन्वय–धनंजय, अथ चित्तं मयि स्थिरं समाधातुं न शक्नोषि ततः अभ्यास-योगेन माम् आप्तुम् इच्छ। अभ्यासे अपि असमर्थः असि (तर्हि) मत्कर्मपरमः भव। मदर्थं कर्माणि कुर्वन् अपि सिद्धिम् अवाप्स्यसि॥ अथ एतत् अपि कर्तुम् अशक्तः असि ततः यतात्मवान् मद्योगम् आश्रितः सर्वकर्मफलत्यागं कुरु॥

अर्थ— हे धनंजय! यदि (इस रीतिसे) चित्तको आत्मामें अचल समाधिस्थ न करसको तो 'अभ्यासयोग' के द्वारा (दृढताके साथ) आत्मतत्त्वको पानेकी इच्छा करो। यदि अभ्यास (दृढ इच्छा) करनेमें भी असमर्थ हो तो 'मत्कर्म परम' (आत्मार्थ कर्म करनेवाले) बनो (अर्थात् मैं कर्ता, मैं भोक्ता इस भ्रान्त बुद्धिको त्यागकर कर्मपरायण हो जाओ); आत्मार्थ कर्म करोगे तो (कर्म-बन्धनमुक्तिरूपी) सिद्धिको पा लोगे। यदि यह भी करनेमें अशक्त हो तो 'आत्मयोग'का आश्रय करके यतात्मा (आत्मारूढ) बनकर 'सर्वकर्मफलत्याग' कर डालो।

भाव— नवम श्लोकमें अभ्यासयोगके द्वारा आत्मतत्त्वको पानेकी इच्छा करनेका भाव यहीं है कि दृढ इच्छा न करना ही असमर्थताका कारण हो जाता है। दृढ इच्छा ही 'अभ्यास' है। इच्छा करना और प्राप्त करना दोनों एक बात हैं।

इन तीनों श्लोकोंका संक्षिप्त भाव यह है कि (१) आत्मामें मन स्थिर करना (२) अभ्यासयोग नामक दृढ इच्छा करना (३) कर्ताहंबुद्धिको त्यागना और (४) फलाकांक्षा छोडना ये सब एक ही मनोदशा हैं। चारोंमें से किसी भी एक नामसे अनासक्ति नामकी मनोदशाको अपना लेने के आतिरिक्ति अन्य कोई गति नहीं है।

इन तीनों श्लोकोंमें शब्दों का हेरफेर है। भावमें कोई अन्तर नहीं है। शब्दों का हेरफेर वक्ताकी विनोदगर्भित वचनचातुरी

है। वे यह दिखाना चाहते हैं कि चाहे जिस प्रकारसे और चाहे जिस नामसे समझ लो संसारमें इस एकके अतिरिक्ति और कोई कल्याणका मार्ग नहीं है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥

अन्वय—अभ्यासात् ज्ञानं श्रेयः हि। ज्ञानात् ध्यानं विशिष्यते। ध्यानात् कर्मफलत्यागः (विशिष्यते) त्यागात् अनन्तरं शान्तिः॥

अर्थ— अभ्यास से ज्ञान निश्चय ही श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान विशेष है। ध्यानसे कर्मफलत्याग उत्तम है। क्योंकि कर्मफलत्यागके अनन्तर (तत्क्षण) शान्ति मिलती है।

भाव— जिसके पास शान्ति होगी उसके मनमें कर्मफलाकांक्षा कभी न ठहरेगी। जिसके मनमें कर्मफलकी आकांक्षा न होगी उसके मनमें निरन्तर आत्मतत्त्वका ध्यान बना रह सकेगा। आत्मतत्त्व ही एकमात्र कर्ता है, इस बुद्धिसे मनुष्यका अहंकार नष्ट हो जाता है। आत्माका ध्यान करनेवाला सदा आत्मज्ञानकी स्थितिमें रहता है। कर्ममें अनासक्त रहनेकी दृढता दिखाना, इस स्थितिमें रहनेवाले मनुष्यका स्वभाव होता है। वही 'अभ्यासयोग' या 'निष्काम कर्मयोग' कहाता है। निष्कर्ष यही है कि भोगेच्छाका त्याग ही 'शान्तिकी कुंजी' है। फलाकांक्षारहित हुए बिना ज्ञान, ध्यान, अभ्यास आदि का दिखावा मात्र हो सकता है। मुख्य वस्तु फलाकांक्षाका त्याग है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

अन्वय—यः सर्वभूतानाम् अद्वेष्टा मैत्रः करुणः एव च निर्ममः निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः मय्यर्पितमनोबुद्धिः मद्भक्तः स मे प्रियः॥

अर्थ— जो किसी भूतसे द्वेष न करनेवाला, मित्रता (निःस्वार्थसंबन्ध) रखनेवाला, करुण (हितकारी), ममतारहित, निरहंकार (कर्ताहं बुद्धिसे

रहित), समदुःखसुख (दुःखद्वेष तथा सुखरागसे विहीन), क्षमी (अपकार करनेवालेके साथ यथोचित वर्ताव करनेवाला), सन्तुष्ट (भौतिक लाभहानिसे अप्रभावित), सततयोगी (सदा अनासक्त कर्म करनेवाला), यतात्मा (संयतेन्द्रिय), दृढनिश्चय (निश्चयात्मिका बुद्धि रखनेवाला), अपने मन तथा बुद्धिको आत्मतत्त्वमें समर्पित करनेवाला, आत्मप्रेमी है, वही आत्मतत्त्वका प्रीतिभाजन है। (आत्मा उससे अदृश्य नहीं रह सकता)।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

अन्वय—यस्मात् लोकः न उद्विजते यः च लोकात् न उद्विजते, यः हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तः स मे प्रियः ॥

अर्थ— जो दूसरोंके अधिकार पर हस्तक्षेप नहीं करता और जो दूसरोंसे अपनेको उद्विग्न नहीं होने देता, जो हर्ष (भौतिक लाभमें उत्साह), अमर्ष (ईर्ष्या), भय (भौतिक हानिसे द्वेष) तथा उद्वेग (अस्थिरचित्तता) से रहित है, वह आत्माका प्यारा है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अन्वय—यः अनपेक्षः शुचिः दक्षः उदासीनः गतव्यथः सर्वारंभपरित्यागी मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

अर्थ— जो अनपेक्ष (आत्मतृप्त), शुचि (भोगबन्धनरहित), दक्ष (अनासक्त कर्म करनेवाला), उदासीन (किसी विषयमें ममत्वबुद्धि न रखनेवाला), गतव्यथ (भ्रान्तिरहित), सर्वारंभपरित्यागी (क्योंकि कर्मत्याग असंभव है, इस लिये इस शब्दका अर्थ सब कर्मोंके कर्तापनको छोड़नेवाला, अर्थात् ईश्वरके कर्तृत्वसे सब कर्म करनेवाला है), आत्मभक्त है वही आत्माका प्यारा है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

अन्वय—यः न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति, यः शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् सः मे प्रियः ॥

अर्थ— जो (प्रियके संयोगसे) हर्ष नहीं करता, जो (अप्रियकी प्राप्तिसे) द्वेष नहीं मानता, जो (प्रियके वियोगसे) शोक नहीं करता, जो (अप्राप्तकी प्राप्तिकी) कामना नहीं रखता, जो शुभाशुभका परित्यागी (भौतिक लाभालाभसे रागद्वेषरहित), भक्तियुक्त पुरुष है, वह आत्माका प्रिय है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

अन्वय–शत्रौ मित्रे च समः तथा मानापमानयोः (समः) शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ तुल्यनिन्दास्तुतिः मौनी येन केनचित् सन्तुष्टः अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् नरः मे प्रियः ॥

अर्थ— शत्रु (शत्रुताचरणकारी) और मित्रके साथ सम (दोनोंके साथ अनासक्तिसे यथोचित वर्ताव करनेवाला) तथा मान (पूजा) अपमान (तिरस्कार) में सम (दूसरोंके किये हुए मानापमानोंकी उपेक्षा करके उनसे यथोचित वर्ताव करनेवाला), शीत, उष्ण और भौतिक सुखदुःखमें सम (सरदी, गरमी आदि शारीरिक परिस्थितियोंमें चंचल न होकर यथोचित कर्तव्यपालन करनेवाला), किसीमें भी संग (आसक्ति) न रखनेवाला, तुल्यनिन्दास्तुति (निन्दा तथा स्तुतिसे अप्रभावित), मौनी (आत्मस्थितिसे च्युत होकर बात न करनेके स्वभाववाला), सब परिस्थितियोंमें संतुष्ट रहनेवाला, अनिकेत (वासस्थानमें ममता न रखनेवाला), स्थिरमति भक्तिमान् पुरुष आत्माको प्रिय है ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

अन्वय–ये तु श्रद्दधानाः मत्परमाः इदं यथोक्तं धर्म्यामृतं पर्युपासते ते भक्ताः मे अतीव प्रियाः ॥

अर्थ—जो श्रद्धा रखनेवाले, आत्मप्राप्तिपरायण लोग इस पूर्वोक्त स्वभावप्राप्त अमृतकी उपासनामें लगे रहते हैं, वे भक्त आत्माको अत्यन्त प्यारे हैं ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

द्वादशत्रयोदशाध्यायसंगति—

बारहवें अध्यायमें वर्णित अनासक्तिरूपी भक्तिको अब 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योग'नामक तेरहवें अध्यायमें 'ज्ञान' नामसे कहा जा रहा है ।

त्रयोदश अध्याय

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग)

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥ १ ॥

अन्वय—कौन्तेय, इदं शरीरं क्षेत्रम् इति अभिधीयते । यः एतत् वेत्ति (स्वायत्तीकरोति) तं तद्विदः क्षेत्रज्ञं प्राहुः ॥

अर्थ— हे कौन्तेय ! यह शरीर ' क्षेत्र ' कहाता है और जो इस शरीर को जानता है (अपनाता है) उसे ज्ञानी लोग ' क्षेत्रज्ञ ' कहते हैं ।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

अन्वय—भारत, सर्वक्षेत्रेषु माम् अपि (एव) क्षेत्रज्ञं विद्धि । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः यत् ज्ञानं तत् ज्ञानं मम मतम् ॥

अर्थ— सब देहोंमें एक ही आत्मा क्षेत्रज्ञ है ऐसा जान लो । मैं तो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के यथार्थ ज्ञान को ही ' ज्ञान ' मानता हूं ।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अन्वय--तत् क्षेत्रं यत् च यादृक् च यद्विकारि यतः च यत् । स (क्षेत्रज्ञः) च यः यत्प्रभावः च तत् समासेन मे शृणु ॥ ऋषिभिः विविधैः छन्दोभिः विनिश्चितैः हेतुमद्भिः ब्रह्मसूत्रपदैः एव च पृथक् बहुधा गीतम् ॥

अर्थ— वह ‘ क्षेत्र ’ जो है, जैसा है, जिन विकारोंवाला है, जिससे जो कुछ होता है, तथा वह ‘क्षेत्रज्ञ’ जो है (जिस स्वरूपवाला है), वह जिस प्रभाववाला है, सो सब संक्षेपसे मुझसे सुनलो । ऋषियोंने तो इन बातोंको नाना प्रकारके छन्दोंसे, सुनिश्चित अर्थवाले युक्तियुक्त ब्रह्म-सूत्रोंसे भिन्नभिन्न स्थलोंपर विस्तारपूर्वक गाया है ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—महाभूतानि अहंकारः बुद्धिः अव्यक्तम् एव च, दश इन्द्रियाणि एकं च पंच च इन्द्रियगोचराः ॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातः चेतना धृतिः एतत् क्षेत्रं सविकारं समासेन उदाहृतम् ॥

अर्थ— पांच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त, दस इन्द्रियां तथा एक मन और इंद्रियोंके पांच विषय तथा इच्छा (वैषयिक सुख तथा उसके साधनोंकी स्पृहा), द्वेष (दुःख तथा उसके साधनोंसे वचनेकी स्पृहा), सुख (विषयस्पर्शसे मिलनेवाली प्रसन्नता), दुःख (प्रतिकूल विषयके स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाली अप्रसन्नता), देह, जीवनी शक्ति तथा शरीरधारणका उद्यम, यह सब विकारसहित ‘क्षेत्र’ (क्षेत्र तथा उससे उत्पन्न होनेवाले विकारोंको भी ‘ क्षेत्र ’ में ही गिन कर) तुमसे संक्षेप कहा गया है ।

अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अन्वय—अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा क्षान्तिः आर्जवम् आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् अनहंकारः एव च जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ असक्तिः पुत्रदारगृहादिषु अनभिष्वंगः, इष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यं समाचित्तत्वं च ॥ मयि च अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वं, जन-संसदि अरतिः ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम्। यत् अतः अन्यथा (तत्) अज्ञानम् ॥

अर्थ— अमानित्व (भौतिक श्रेष्ठताकी उपेक्षा), अदम्भित्व (अकपट), अहिंसा (काम आदि रिपुओंसे आत्मरक्षा), क्षमा (शत्रुताचरण करनेवालेके साथ यथोचित व्यवहार), आर्जव (धार्मिकके साथ अकपट व्यवहार । अधार्मिकके साथ अकपट व्यवहार करनेसे अधर्म को सहायता मिलती है, इसलिये उसे अधार्मिकता या अज्ञान कहा जाता है, आर्जव नहीं । जिसके साथ हमारा विश्वासका संबन्ध है, उसी को हमसे अकपट व्यवहार पानेका अधिकार है), आचार्योपासना (ज्ञानियोंसे सादर व्यवहार), शौच (मानसिक पवित्रताके अनुसार बाह्य शुद्धि), स्थैर्य (स्थिरचित्तता), आत्मविनिग्रह (इन्द्रियसंयम), इन्द्रियोंके विषयों में वैराग्य (विषयभोगमें ब्रह्मा-नन्द न होनेसे उसे त्याज्य मानना), अनहंकार (कर्तृत्वाभिमानका त्याग), जन्म, मरण, जरा, रोग और दुःखोंको अज्ञानरूपी दोष समझते रहना (अपनेमें जन्म जरा मरण आदि मानने को अज्ञान मानना), आसक्ति (भौतिक भोगोंमें अनासक्ति), पुत्र, स्त्री, गृहादियोंमें ममत्वहीनता, इष्ट-आनिष्टकी प्राप्तिमें सदा समचित्तता (भौतिक लाभ हानिमें सदा समबुद्धि), अनन्यचिन्तनके द्वारा आत्मतत्त्वमें अटल भक्ति, विविक्तदेशसेवित्व (संसारबन्धन न माननेवाली मानसिक स्थिति), जनसमाजमें अरति (जनसमाजके प्रति मोहशून्यता), अध्यात्मज्ञाननित्यत्व (नित्य अध्यात्मज्ञानमें स्थिति), तत्त्व-ज्ञानार्थदर्शन (सर्वत्र सर्वावस्थामें परमार्थका दर्शन), यही 'ज्ञान' कहाता है । जो इसके विपरीत है वह सब 'अज्ञान' है ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

अन्वय–यत् ज्ञेयं ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते तत् अनादिमत् परं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि। तत् न सत् न असत् उच्यते ॥

अर्थ— अब जिस जानने योग्यको जानकर (मनुष्य) अमर हो जाता है, उस अनादि परब्रह्मको बताते हैं। वह न सत् कहाता है और न असत् कहा जाता है।

भाव— क्योंकि अव्यय आत्मतत्त्व तथा नाशवान जगत् दोनों मिलकर 'ब्रह्म' शब्दके अर्थ में सम्मिलित हैं, इसलिये ब्रह्मतत्त्वको इन दोनोंमेंसे किसी एक नामसे नहीं कहा जा सकता। यदि उसे 'असत्' कहें तब भी वह अधूरा कहा जाता है, और यदि 'सत्' कहें तब भी वह अधूरा ही कहा जाता है। परब्रह्मको यदि केवल 'सत्' ही सत् कहें, तब यह न्यूनता रहती है कि असत् जगत्की पृथक् सत्ता स्वीकार करनी पडती है और सत्को सीमाबद्ध द्वैत सत्ता समझा जाता है। परब्रह्मको यदि 'असत्'ही असत् कहें तो आत्मतत्त्व अस्वीकृत हो जाता है। इन सब दृष्टियोंसे परब्रह्म तत्त्वको न तो केवल 'सत्' और न केवल 'असत्' कहना संभव है। किन्तु सत् और असत् दोनोंके दोनों मिलकर ही 'ब्रह्मतत्त्व' हैं।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

अन्वय–तत् सर्वतः पाणिपादं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमत् (सत्) लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति ॥

अर्थ— वह सब ओर हाथ पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुंहवाला, सब ओर श्रोत्रवाला होकर संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।

भाव— आत्मा ही संसारके सब प्राणियोंके हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुंह और श्रोत्र आदि अवयवोंका स्वामी है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

अन्वय–सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् असक्तम् एव च सर्वभृत् निर्गुणम् एव च गुणभोक्तृ ॥

अर्थ— वह सब इन्द्रियोंके स्वभावमें प्रकट होनेवाला होकर भी सब इन्द्रियोंसे रहित अर्थात् अतीत है (क्योंकि इन्द्रियोंसे युक्त होना व्यक्त रूप कहा जाता है, इसलिये उसका अव्यक्त रूप इन्द्रियातीत है), वह असक्त अर्थात् संगशून्य होकर भी सबका धारक है। वह निर्गुण अर्थात् त्रिगुणबन्धनसे अतीत होता हुआ भी गुणोंसे उत्पन्न सुखदुःखोंका भोक्ता (इनको भोगनेमें स्वतंत्र) है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अन्वय–तत् भूतानां बहिः अन्तः च चरम् अचरम् एव च। तत् सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयम्, तत् दूरस्थं च अन्तिके च ॥

अर्थ— वह भूतोंके बाहर भी है और अन्दर भी है, स्थावर भी है और जंगम भी है। वह सूक्ष्म (इन्द्रियातीत अव्यक्त) होनेसे अविज्ञेय (इन्द्रियोंसे अग्राह्य) है। दूर भी वही है पास भी वही है (सर्वव्यापी है)।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अन्वय–भूतेषु अविभक्तं च विभक्तम् इव स्थितम्। तत् भूतभर्तृ ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ज्ञेयम् ॥

अर्थ—(वह आत्मतत्त्व) चराचर भूतोंमें अविभक्त (अभेद्भावसे स्थित) होकर भी भिन्न भिन्नसा हुआ बैठा है। उसे ही भूतोंका पालक, भूतोंका ग्रास करनेवाला और प्रभविष्णु (अर्थात् नानारूपोंमें स्वयं ही उत्पन्न हो जानेवाला) जानलो।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

अन्वय–तत् ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः तमसः परं ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं सर्वस्य हृदि धिष्ठितं च उच्यते ॥

अर्थ—वह आत्मतत्त्व (चन्द्रसूर्य आदि) ज्योतियोंका भी प्रकाशक है। वह तम अर्थात् अज्ञान से अतीत बताया जाता है। वही 'ज्ञान' है, वही 'ज्ञेय' है, वही 'ज्ञानगम्य' तथा मनुष्यमात्रके हृदयमें स्थित कहा जाता है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

अन्वय–इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं च समासतः उक्तम् । मद्भक्तः एतत् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते ॥

अर्थ— इस प्रकार हमने क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयको संक्षेपसे बता दिया । आत्माका भक्त इन तीनोंको जानकर आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

अन्वय–प्रकृतिं पुरुषं च उभौ एव अनादी विद्धि । विकारान् गुणान् च अपि प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि ॥

अर्थ— प्रकृति (पुरुषकी शक्ति) और पुरुष (आत्मतत्त्व) दोनोंको अनादि जान लो । विकारों (५–६ श्लोकोंमें वर्णित महाभूत देहेन्द्रियादि विकारों) और गुणों (सुखदुःखादि कल्पनाके उत्पादक सत्व, रज, तम, नामक तीन गुणों) को प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जानो ।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

अन्वय–प्रकृतिः कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते । पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ॥

अर्थ—प्रकृति, विकार तथा विकारके साधनोंको उत्पन्न करनेमें ‘ हेतु ’ कही जाती है (कार्यकारणोंकी उत्पत्ति करते रहना प्रकृतिका स्वभाव है), पुरुष, सुखदुःखोंके भोगमें ‘ हेतु ’ कहाता है (वह सुखदुःखों को भोगने या न भोगनेकी स्वतंत्रता रखता है) ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अन्वय–प्रकृतिस्थः पुरुषः प्रकृतिजान् गुणान् भुंक्ते हि । अस्य सदसद्योनिजन्मसु गुणसंगः कारणम् ॥

अर्थ— प्रकृतिके बन्धनमें आया हुआ पुरुष (आत्मा) प्रकृतिसे उत्पन्न सुखदुःखादि गुणोंको भोगता है । यह गुणसंग ही इसके सदसद्योनि

में अपने जन्म लेनेकी भ्रान्तिको अपनानेका कारण होता है (इसकी दृष्टिमें जो योनि भोगानुकूल हैं, वे अच्छी हैं, तथा जो भोगके विपरीत हैं, वे बुरी हैं)।

भाव — मनुष्ययोनि 'सद्योनि' है। शेष सब योनि 'असद्योनि' कहाती हैं। आत्माका स्वभाव ही मनुष्य तथा मनुष्येतर योनियोंमें आत्माके देहधारण करनेका कारण है। सदा प्रकृतिके साथ रहना आत्माका स्वभाव है। वह सदा स्वभावसे प्रकृतिके साथ रहता है। वह अकेला (स्वभावहीन) कभी नहीं रहता ।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

अन्वय—अस्मिन् देहे स्थितः परः पुरुषः उपद्रष्टा अनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः परमात्मा इति च अपि उक्तः ॥

अर्थ— इस मानवदेहमें स्थित हुआ वही परम पुरुष उदासीन द्रष्टा, अनुमतिदाता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा कहा जाता है ।

भाव—इसमें मनुष्यके स्वरूपको ही उसका आराध्य 'ईश्वर' कहा गया है ।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

अन्वय—यः पुरुषं गुणैः सह प्रकृतिं च एवं वेत्ति स सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते ॥

अर्थ— जो कोई आत्मतत्त्वको तथा गुणोंके सहित प्रकृतिको इस प्रकार पहचान जाता है, वह सब कर्म करता हुआ भी फिर जन्मभ्रांतिमें नहीं पडता (उसे मैं जन्म ले रहा हूं, यह भ्रान्ति कभी नहीं होती)।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्वय—केचित् ध्यानेन आत्मानम् आत्मना आत्मनि पश्यन्ति । अन्ये सांख्येन योगेन अपरे च कर्मयोगेन (पश्यन्ति) ॥ अन्ये तु एवम् अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते, श्रुतिपरायणाः ते अपि मृत्युम् अतितरन्ति एव ॥

अर्थ— कोई इस आत्माको 'ध्यान'से आत्माके द्वारा आत्मामें देखते हैं। कुछ 'सांख्ययोग'के द्वारा तथा कुछ 'कर्मयोग'के द्वारा देखते हैं। परंतु इस बातको स्वयं न समझनेवाले कुछ लोग दूसरे ज्ञानियोंसे सुनकर आत्माकी उपासना करते हैं। वे सुनी हुई ज्ञानकी बातको अपनानेवाले भी अज्ञानरूपी मृत्युको तर जाते हैं।

भाव— इन दोनों श्लोकोंमें इनसे प्रथम श्लोकमें वर्णित ज्ञानकी स्थितिको ही चार प्रकारके भिन्न भिन्न बाह्य रूपोंमें बताकर उनकी एकता बतायी जा रही है। जब मनुष्य आत्माको जानकर अपनेमें ही आत्मतत्त्वका ध्यान करने लगता है, तब वह आत्मज्ञानी निष्काम कर्मयोगी बन जाता है। इसी बातको 'दूसरे प्रकार'से कहें तो यदि कोई आत्माको अपना स्वरूप जानकर ज्ञानमयी निष्काम स्थितिका अधिकारी बन जाता है, तो वह आत्माका ध्यान करनेवाला बन जाता है और फिर उससे निष्काम कर्म होता ही रहता है। इसे ही 'तीसरे प्रकार'से कहें तो यदि कोई निष्काम कर्म करनेवाला कर्मयोगी होता है, तो वह सांख्य स्थितिमें रहकर निरन्तर आत्मध्यानी बन ही जाता है। इसे 'चौथे प्रकार'से कहें तो यदि कोई ध्यान, ज्ञान, कर्मयोग, आदिका स्वरूप न जानकर भी किसी ज्ञानीसे सुनी हुई ज्ञानकी स्थितिको प्रेमसे अपना ले तो वह भी ज्ञानी, ध्यानी और कर्मयोगी बन जाता है। यों प्रथम श्लोकमें वर्णित (१) सब प्रकारके कर्म करते हुए जन्म-बन्धसे मुक्त रहनेवाले ज्ञानी बननेके लिये आत्माका ध्यान करना, (२) आत्मज्ञानकी स्थितिमें रहकर निष्काम कर्म करना, या (३) निष्काम कर्म करते हुए आत्मज्ञानकी स्थितिमें रहना, अथवा (४) दूसरोंसे आत्मज्ञानकी बात सुनकर उसको अपना लेना, ये सब एक ही ज्ञानमयी स्थितिकी भिन्न भिन्न अभिव्यक्ति हैं।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

अन्वय–भरतर्षभ, यावत् किंचित् स्थावरजंगमं सत्त्वं संजायते तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-संयोगात् विद्धि ॥

अर्थ— हे अर्जुन! जो कुछ स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन सबको प्रकृति तथा पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला जानो।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

अन्वय--यः विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु अविनश्यन्तं परमेश्वरं समं तिष्ठन्तं पश्यति सः पश्यति ॥

अर्थ--- जो मनुष्य विनाशशील सब भूतोंमें अविनाशी परमेश्वर तत्त्वको एकसा विराजता हुआ देख रहा है, वही चक्षुष्मान् है ।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

अन्वय--हि सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरं समं पश्यन् आत्मना आत्मानं न हिनस्ति ततः परां गतिं याति ॥

अर्थ--- क्योंकि सर्वत्र व्यापक ईश्वरको समभावसे देखनेवाला पुरुष, आत्मविस्मृतिमें नहीं पडता, इसीसे वह अनासक्तिरूपी परमगतिको पाये रहता है ।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

अन्वय--यः च कर्माणि सर्वशः प्रकृत्या एव क्रियमाणानि (पश्यति) तथा आत्मानम् अकर्तारं पश्यति सः पश्यति ॥

अर्थ--- जो पुरुष सब कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृति (आत्माके स्वभाव) से ही किये जाते हुए जान जाता है, तथा आत्मतत्त्वको अकर्ता (कर्तृत्त्वाभिमानशून्य) पहचान लेता है, वही चक्षुष्मान् है ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

अन्वय--यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततः एव च विस्तारं (पश्यति) तदा ब्रह्म संपद्यते ॥

अर्थ--- जब कोई सब भूतोंके नानापनेको एकत्वके आश्रित (एकत्वमेंसे उत्पन्न) समझ जाता है, और उसी एकत्वमेंसे संपूर्ण भूतोंके विस्तार को देखने लगता है, तब वह ब्रह्मताको प्राप्त कर चुका होता है ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अन्वय–कौन्तेय, अनादित्वात् निर्गुणत्वात् अयम् अव्ययः परमात्मा शरीरस्थः अपि न करोति न लिप्यते ॥

अर्थ— हे कौन्तेय ! अनादि और निर्गुण (गुणबन्धनसे मुक्त) होनेके कारण यह अविनाशी परमात्मा शरीरधारण करके भी न कुछ करता है और न (किये हुएसे) लिप्त होता है ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

अन्वय–यथा सर्वगतम् आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः परमात्मा न लिप्यते ॥

अर्थ— जैसे सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण (जगत् की अशुद्धियोंसे) लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार सब देहोंमें स्थित हुआ आत्मतत्त्व लिप्त नहीं होता ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

अन्वय–भारत, यथा एकः रविः इमं कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति तथा (एकः) क्षेत्री (आत्मा)इमं कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति ॥

अर्थ— हे भारत ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण लोकको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार एक ही क्षेत्री (आत्मा) संपूर्ण क्षेत्र (सब चराचर संसार) को प्रकाशित कर रहा है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

अन्वय–एवं ये क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं भूतप्रकृतिमोक्षं च ज्ञानचक्षुषा विदुः ते परम् यान्ति ॥

अर्थ— इस प्रकार जो पुरुष 'क्षेत्र' तथा 'क्षेत्रज्ञ'के भेदको तथा मनुष्योंके 'प्रकृतिबन्धन (त्रिगुणबन्धन) से मुक्त रहनेके स्वरूप'को ज्ञानचक्षुसे जानते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त हुए रहते हैं ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

त्रयोदशचतुर्दशाध्यायसंगति—

तेरहवें अध्यायमें 'भक्ति' तथा ज्ञानकी अभिन्नता बतायी जा चुकी। उस अध्यायमें जिन प्राकृतिक बन्धनोंसे मुक्त रहनेको 'ज्ञान' का स्वरूप कहा गया, उन्हीं सत्त्व, रज, तम नामके प्राकृतिक बन्धनों और त्रिगुणातीत स्थितिके स्वरूपको 'गुणत्रयविभाग-योग' नामक चौदहवें अध्यायमें दिखाया जा रहा है।

चतुर्दश अध्याय

(गुणत्रयविभागयोग)

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

अन्वय–ज्ञानानाम् उत्तमं (तत्) परं ज्ञानं भूयः प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वा सर्वे मुनयः इतः परां सिद्धिं गताः॥ इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः सर्गे अपि न उपजायन्ते प्रलये च न व्यथन्ति॥

अर्थ— सब ज्ञानोंमें उत्तम, उस श्रेष्ठ ज्ञानको मैं अब फिर बताने लगा हूं, जिसको जानकर सब मुनि परम सिद्धिको पा चुके हैं (प्राकृतिक बन्धनोंसे मुक्त रहकर श्रेष्ठ आत्मभावनाका लाभ कर चुके हैं)। इस ज्ञानका आश्रय करके आत्माके साधर्म्यको (निर्लेप रहने के स्वभावको) प्राप्त हुए ज्ञानी लोग इस संसारमें सृष्ट होकर भी (देहधारण करके भी) जन्म ग्रहण करनेकी भ्रान्तिमें नहीं फंसते तथा प्रलय (देहान्तको) होता देखकर भी अज्ञानरूप दुःख को प्राप्त नहीं होते।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

अन्वय–भारत, महत् ब्रह्म मम योनिः । अहं तस्मिन् गर्भं दधामि । ततः सर्वभूतानां संभवः भवति ॥ कौन्तेय, सर्वयोनिषु याः मूर्तयः संभवन्ति तासां 'योनिः' महद्र ब्रह्म, अहं च बीजप्रदः 'पिता' ॥

अर्थ— हे भारत! महत् ब्रह्म (इस विराट् जगत्को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति) आत्माकी ' योनि ' (व्यक्त होनेका क्षेत्र) है । आत्मतत्त्व उसमें गर्भ (सृष्टिके कारण) को स्थापित करता है। उसीसे सब भूतों की उत्पत्ति होने लगती है । हे कौन्तेय ! मनुष्य आदि सब योनियों में जो जो व्यक्त रूप उत्पन्न होते हैं, उन सबकी 'माता' महत् ब्रह्म (प्रकृति) है और आत्मतत्त्व बीज बोनेवाला 'पिता' है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

अन्वय–महाबाहो,प्रकृतिसंभवाः सत्त्वं रजः तमः इति गुणाः अव्ययं देहिनं देहे निबध्नन्ति ॥

अर्थ— हे महाबाहू ! प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण अव्यय अर्थात् निर्विकार देहीको देहमें बांध डालते (देहके मोहमें फांसे देते) हैं (मोहित करते हैं) ।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

अन्वय–अनघ, तत्र निर्मलत्वात् प्रकाशकं अनामयं सत्त्वं (दोहिनं) सुखसंगेन ज्ञानसंगेन च बध्नाति ॥

अर्थ— हे निष्पाप ! इन तीनों गुणोंमें निर्मल (रजतमसे उत्कृष्ट) होनेके कारण, प्रकाश करनेवाला (रजतमको निकृष्ट बतानेवाला), अनामय (शान्तिप्रिय) सत्त्व गुण, देहीको सुखासक्ति और ज्ञानासक्तिसे बांधता है

भाव— भोगोंको निष्कंटक बनानेकी चतुराई 'सत्त्व-गुण' है । सत्त्वगुणी पुरुष 'विषयसुख' भी चाहता है और 'ज्ञान' भी चाहता है। परन्तु विषयासक्ति और ज्ञान ये दोनों एक मनमें स्थान नहीं पाते। इस

लिये यह ' सत्त्वगुण ' अज्ञानका ही रूपान्तर है। सत्त्वगुणी पुरुष अपनी सुखासक्तिके कारण ज्ञानको भौतिक सुखका साधन बना लेना चाहता है । परन्तु उसकी यह असंभव आशा कदापि पूरी नहीं होती; इस लिये उसका ज्ञान भी ' ज्ञान ' नहीं कहाता ।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

अन्वय–कौन्तेय, रजः रागात्मकं विद्धि । तृष्णासंगसमुद्भवं तत् देहिनं कर्मसंगेन निबध्नाति ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! रजको राग (काम) रूप जानो । तृष्णा और आसक्तिको उत्पन्न करनेवाला वह रजोगुण, देही (देहाभिमान रखनेवाले) को कर्मासक्तिसे बांध देता है ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

अन्वय–भारत, तमः तु अज्ञानजं विद्धि, सर्वदेहिनां मोहनं तत् (देहिनं) प्रमादालस्यनिद्राभिः निबध्नाति ॥

अर्थ— हे भारत! तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न हुआ समझो । सब देहधारियोंको भ्रममें फांसनेवाला 'तम' देहीको प्रमाद, आलस्य तथा निद्रासे बांध लेता है ।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्माणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

अन्वय–भारत, सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि (संजयति), तमः तु ज्ञानम् आवृत्य प्रमादे उत संजयति ॥

अर्थ— हे भारत !' सत्त्व ' सुखमें लगा देता है। ' रज ' कर्ममें लगाता है । ' तम ' तो ज्ञानको नष्ट करके मनुष्यको प्रमादमें लगा देता है ।

भाव— इस श्लोकमें यह बात स्पष्ट हो गयी कि उपर्युक्त सत्त्वगुणीमें सुखासक्ति रहती है । उसमें वास्तविक 'ज्ञान' नहीं रहता । इसके रजतमसे पृथक् होनेका यही अभिप्राय कि इस सत्त्वगुणमें सुखको स्थायी करनेकी दूरदर्शिता रहती है; इस कारण वह भोगमें कुछ संयम करता है । इसीसे उसे निर्मल, प्रकाशक, और अनामय समझा जाने

लगता है। रजमें क्योंकि यह भावना गौण हो जाती है; इस कारण उसमें भोगचरितार्थतारूपी कर्मफलासक्ति प्रबल रूप धारण करलेती है। तमोगुणमें क्योंकि इस भावनाका सर्वथा लोप हो जाता है; इस कारण वह पुरुषको निर्बाध भोग करनेवाले असंयत उद्यममें फांस देता है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

अन्वय—भारत, रजः तमः च आभिभूय सत्त्वं भवति। सत्त्वं तमः च (आभिभूय) रजः (भवति) तथा एव सत्त्वं रजः च (आभिभूय) तमः (भवति)॥

अर्थ— रज और तमको ढककर सत्त्व, सत्त्व और तमको ढककर रज, तथा सत्त्व और रजको ढककर तम प्रकट रहता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

अन्वय—यदा अस्मिन् देहे सर्वद्वारेषु प्रकाशः ज्ञानं उपजायते तदा सत्त्वं विवृद्धम् इति विद्यात् ॥

अर्थ— जब इस देहके सब द्वारों (इन्द्रियों) में ज्ञानरूपी प्रकाश होता है, तब सत्त्व गुण बढ़ा है ऐसा जानो।

भाव— सुखासक्तिमें संयमका भाव रहना 'सत्त्व गुण' है। इस श्लोकमें इन्द्रियोंमें ज्ञानप्रकाश होनेका यही अभिप्राय है कि सत्त्वगुणीकी इन्द्रियोंमें रजोगुणी तमोगुणी से संयमरूपी विलक्षणता होती है। यहां इसी संयमको 'प्रकाश' कहा गया है।

लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

अन्वय—भरतर्षभ, रजसि विवृद्धे लोभः प्रवृत्तिः कर्मणाम् आरम्भः अशमः स्पृहा एतानि जायन्ते ॥

अर्थ—हे अर्जुन! रजोगुणके बढ जानेपर लोभ, प्रवृत्ति (कुछ न कुछ करनेकी प्रवृत्ति), कर्मका आरम्भ, अतृप्ति तथा स्पृहा ये सब उत्पन्न होते हैं।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

अन्वय—कुरुनन्दन, तमसि विवृद्धे अप्रकाशः अप्रवृत्तिः च प्रमादः मोहः च एतानि एव जायन्ते ॥

अर्थ— हे कुरुनन्दन ! तमोगुणके बढनेपर अप्रकाश (विवेकभ्रष्टता), अप्रवृत्ति (आलस्य), प्रमाद (कुकर्मासक्ति), तथा मोह (विपरीत बुद्धि) ये सब उत्पन्न हो जाते हैं ।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

अन्वय—यदा तु देहभृत् सत्त्वे प्रवृद्धे प्रलयं याति तदा उत्तमविदाम् अमलान् लोकान् प्रतिपद्यते ॥

अर्थ— जब विराट् देही सत्त्वगुणके प्राधान्यमें देहको त्यागता है, तब उत्त-मज्ञों (सत्त्व गुणवालों) को मिलनेवाले अमल लोकों (निष्कंटक संसारभोगों) को प्राप्त कर लेता है ।

भाव— विराट् आत्मतत्त्वरूपी देही सत्त्वगुणी देहोंको छोडकर दूसरे दूसरे त्रिगुणबन्धनयुक्त सत्त्वगुणी देहोंको धारण करके सत्त्वगुणी देहधारण लीलाकी पुनरावृत्ति करता रहता है ।

यहांपर किसी सत्त्वगुणी समझे हुए व्यक्तिके शरीर त्यागने और शरीरान्तर ग्रहण करनेकी बात नहीं कही जा रही । किन्तु यह कहा जा रहा है कि विराट् देहीका देहधारण करके सत्त्वगुणी बने रहनेका स्वभाव, जिन नाना देहोंमें प्रकट रहता है, उन देहोंमें से यदि कोई एक देह नष्ट हो जाय, तब भी सत्त्वगुणके प्रकट रहनेमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता । अर्थात् अतीत वर्तमान तथा भविष्यके सब सत्त्वगुणी देहोंमें एक ही सत्त्वगुण बार बार प्रकट होता रहता है ।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

अन्वय—रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते । तथा तमसि प्रलीनः मूढ-योनिषु जायते ॥

अर्थ— (विराट्देही) रजोगुणकी प्रबलतामें देहको छोडकर कर्मसंगी (कर्मासक्त) देहोंमें उत्पन्न होता रहता है । तथा वही विराट्देही तमोगुणमें शरीर छोडकर मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है ।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

अन्वय–सुकृतस्य कर्मणः तु सात्त्विकं निर्मलं फलम् आहुः। रजसः फलं दुःखम्। तमसः फलं अज्ञानम् आहुः ॥

अर्थ— सुकृतका (भोगरक्षाके अनुकूल संयमपूर्वक किये हुए कर्मोंका) सात्त्विक निर्मल (भोगसुखरूप) फल बताते हैं। रजका फल दुःख तथा तमका फल अज्ञान कहते हैं।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

अन्वय–सत्त्वात् ज्ञानं संजायते, रजसः च लोभ एव जायते, तमसः प्रमादमोहौ भवतः अज्ञानम् एव च ॥

अर्थ— सत्त्वसे ज्ञान (संयमपूर्वक भोग करनेकी प्रवृत्ति) उत्पन्न होता है। रजसे लोभ होता है। तमसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

अन्वय–सत्त्वस्थाः ऊर्ध्वं गच्छन्ति। राजसाः मध्ये तिष्ठन्ति। जघन्यगुणवृत्तिस्थाः तामसाः अधः गच्छन्ति ॥

अर्थ— सत्त्व गुणवाले उच्च हो जाते हैं (भोगी संसारके ‘ शासक ’ बनकर ऊंचे पदोंपर बैठ जाते हैं), रजोगुणवाले मध्यमें (उनके ‘सहायकः’ बनकर उनसे कुछ नीचे) रहते हैं। निकृष्ट तमोगुणकी वृत्तियोंमें रहनेवाले तामस लोग ‘शासित’ होते रहते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

अन्वय–यदा द्रष्टा गुणेभ्यः अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति गुणेभ्यः च परं वेत्ति (तदा) स मद्भावम् अधिगच्छति ॥

अर्थ— जब द्रष्टा (निर्लेप गुणातीत ज्ञानी) पुरुष, गुणोंसे अन्य (त्रिगुणमयी प्रकृतिसे अतिरिक्त) दूसरे किसी भी कर्ताको नहीं देखता (प्रकृतिके गुणोंको ही कर्ता जान जाता है) और जब वह गुणोंसे अतीत परम आत्मतत्त्वको पहचान जाता है, तब वह मद्भाव को (अधियज्ञरूपी आत्मस्वरूपको) प्राप्त कर चुका होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अन्वय—देही एतान् देहसमुद्भवान् त्रीन् गुणान् अतीत्य जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तः अमृतम् अश्नुते ॥

अर्थ— देहधारी पुरुष इस देहसे (इन्द्रियोंके स्वभावसे) उत्पन्न होनेवाले तीन गुणोंको अतिक्रम कर लेता है तो जन्म, मृत्यु तथा जराके दुःखोंकी भ्रान्तिसे मुक्त होकर अमृतको प्राप्त कर चुका होता है ।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

अन्वय—प्रभो, एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः कैः लिङ्गैः (युक्तः) भवति ? किमाचारः (भवति) ? कथं च एतान् त्रीन् गुणान् अतिवर्तते ?

अर्थ— हे प्रभो ! इन तीन गुणोंसे अतीत पुरुषके कौनसे चिन्ह होते हैं ? उस (त्रिगुणातीत) का आचार कैसा होता है ? तथा वह किन उपायोंसे इन तीन गुणोंको पार करता है ?

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

अन्वय—पाण्डव, (यः) प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहम् एव च (एतानि) संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि निवृत्तानि न कांक्षति ॥ यः उदासीनवत् आसीनः गुणः न विचाल्यते । गुणाः एव वर्तन्ते इति यः अवतिष्ठति, नेङ्गते ॥ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्ठाश्मकांचनः तुल्यप्रियाप्रियः धीरः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ मानापमानयोः तुल्यः, मित्रारिपक्षयोः तुल्यः, सर्वारम्भपरित्यागी सः गुणातीतः उच्यते ॥

अर्थ— हे पाण्डव ! जो पुरुष अपना कार्य करते हुए (अर्थात् इन्द्रियोंमें विषयोंके लिये राग द्वेष उत्पन्न करते हुए) प्रकाश (सत्त्वगुण का कार्य), प्रवृत्ति (रजोगुणका कार्य) तथा मोह (तमोगुण का कार्य) इन तीनोंसे (अर्थात् इनकी विद्यमानतासे) न तो द्वेष करता है और न इनके नष्ट हो जानेकी इच्छा करता है (वह ' गुणातीत ' कहाता है) । जो उदासीन के समान साक्षिभावसे जीवनयात्रा करता है, जो गुणोंसे विचलित (स्वरूपभ्रष्ट) नहीं किया जाता, किन्तु गुण अपना अपना काम कर रहे हैं, यह मानकर शान्त जीवनको अपना लेता है और विचलित नहीं होता (वह ' गुणातीत ' कहाता है) । जो सुखदुःखमें रागद्वेषरहित है, जो आत्मस्वरूपमें स्थित है, जो अनासक्त होकर मिट्टी, पत्थर तथा सोनेका यथोचित उपयोग करता है, जिसे प्रिय और अप्रियमें राग द्वेष नहीं हैं, जो धीर (निश्चयात्मिका बुद्धिसे युक्त) है, जो निन्दा तथा आत्मस्तुतिमें अप्रभावित रहता है (वह 'गुणातीत' कहाता है) । जो मान-अपमानों में अप्रभावित रहकर यथोचित वर्ताव करता है, तथा मित्र और शत्रुके साथ अनासक्त रह कर यथोचित वर्ताव करता है, जिसने सब कर्मों का कर्तृत्वाभिमान त्याग दिया है, वह ' गुणातीत ' कहाता है ।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

अन्वय—यः अव्यभिचारेण भक्तियोगेन मां च सेवते सः एतान् गुणान् समतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

अर्थ— जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोग (अनन्यभक्ति) से आत्मतत्त्वकी ही सेवा करता है, वह तीन गुणोंको पार करके ब्रह्म तत्त्वको प्राप्त कर लेता है ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

अन्वय—अहम् अव्ययस्य अमृतस्य ब्रह्मणः शाश्वतस्य च धर्मस्य ऐकान्तिकस्य सुखस्य च प्रतिष्ठा ॥

अर्थ— आत्मतत्त्व ही अविनाशी तथा अमृत ब्रह्मकी, शाश्वत धर्मकी, तथा ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा (मूल स्वरूप) है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

चतुर्दशपंचदशाध्यायसंगति--

चौदहवें अध्यायमें तीन गुणोंवाली अज्ञानमयी तथा त्रिगुणातीत स्थितिको बताकर, पन्द्रहवें अध्यायमें आत्मतत्त्वकी त्रिगुणातीत स्थितिको क्षर अक्षर-की भेद बुद्धिके अतीत ' पुरुषोत्तम ' नामसे स्पष्ट किया जा रहा है ।

पंचदश अध्याय

(पुरुषोत्तमयोग)

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अन्वय—ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थम् अव्ययम् प्राहुः (वर्णयन्ति) यस्य छन्दांसि (विषयवासनाः) पर्णानि तं (अश्वत्थं) यः वेद स वेदवित् ॥

अर्थ— ऊर्ध्वमूल (नित्यमूल) तथा नीची (अनित्य) शाखावाले इस अश्वत्थ (निरन्तर परिवर्तित होते रहनेवाले संसारवृक्ष) को अव्यय (कभी अस्तित्वहीन न होनेवाला) कहते हैं । छन्द (संसारके वास्तविक स्वरूपको आच्छादित करनेवाली विषयवासना) ही जिस संसारवृक्षको ढकनेवाले पत्ते हैं, जो उसके वास्तविक स्वरूपको जान जाता है, वही 'वेदज्ञ' है ।

भाव— इस श्लोकमें यह संसार ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनोंको जिन दो परस्परविरोधी रूपोंमें दीखता है, उसका वर्णन किया गया है । अज्ञानी का संसार उसके मनमें 'विषयवासना'के रूपमें सदा बना रहता है और वह उसीके कारण बाह्य संसारके साथ भोगबन्धनसे बंध जाता है । ज्ञानी पुरुष विषयवासनाके अतीत रहता है; इस कारण वह इस संसारके भौतिक पदार्थोंके भोगबन्धनमें न आकर, इसके इन्द्रियातीत नित्यमूल अक्षर तत्त्वको जान लेता है । अज्ञानी इस संसारकी अनित्य शाखाओं और इसके नित्यमूलका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होता। उसकी 'विषयवासना' उसकी दृष्टिको अंधा

बनाये रहती है। इस श्लोकमें इसी अभिप्रायसे विषयवासनाको पत्तों की उपमा दी गई है। इसमें छन्दस् शब्द विषयवासनाका वाचक है। जैसे पत्ते वृक्षको ढककर उसे सुन्दर लुभावने वृक्षरूपमें उपस्थित करते हैं, इसी प्रकार अज्ञानीके मनकी विषयवासना ही इस संसारको मनोरम भोग्य विषयका काल्पनिक रूप देती है। वह विषयान्ध पुरुषको संसारवृक्षका वास्तविक रूप देखनेसे वंचित करके भोगबन्धनमें फांसे रहती है। अज्ञानीके मनमें रहनेवाला संसारबन्धन ही उसका कल्पित संसार होता है। जो मनुष्य इस कल्पित संसारको उत्पन्न करनेवाली विषयवासनाको अस्वीकार करके इस अनित्य जगत्के भोगबन्धनमें नहीं फंसता और इसके नित्यमूल अक्षर तत्त्वको जानलेता है, वही 'वेदज्ञ' या 'ज्ञानी' है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

अन्वय—तस्य गुणप्रवृद्धाः विषयप्रवालाः शाखाः अधः च ऊर्ध्वं च प्रसृताः। मनुष्यलोके कर्मानुबन्धीनि मूलानि अधः च अनुसन्ततानि ॥

अर्थ— उस (संसार वृक्ष) की गुणोंसे बढनेवाली विषयरूपी (लुभानेवाले दृष्टिविमोहक लाल लाल कोमल) पत्तोंवाली शाखा नीचे ऊपर (दोनों ओर) फैली हुई हैं (इन्होंने आत्माके 'नित्यरूप'को भी ढक रखा है और संसारके 'अनित्यरूप' को भी ढक रखा है। ये न तो आत्माके नित्यरूपको देखने देती हैं और न अनात्माके ही अनित्यता रूपी दोषको जानने देती हैं। यों ये 'अधः' और 'ऊर्ध्व' दोनों ओर पूरा पूरा ढक कर फैली हुई हैं। (ये ज्ञानालोकका मार्ग रोककर बैठी हैं) मनुष्यलोक (मनुष्यके मानासिक संसार) में (इसी संसारवृक्षकी) कर्मानुबन्धी (कर्मफलासक्तिमें बांधनेवाली वासना नामकी) बहुतसी मूल (यद्यपि मुख्य मूल माया है, तथापि जैसे प्रत्येक वृक्षमें एक मुख्य मूल तथा उसके आसपास बहुतसी उपमूल होती हैं, इसी प्रकार उन उन भोगोंकी वासना नामवाली बहुतसी अमुख्य मूल) नीचेकी ओर विस्तारशील हैं। (बन्धनकी ओर बढती चली जाती हैं। मनुष्यको विनाशोन्मुख कर देती हैं)।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

अन्वय–इह अस्य तथा रूपं न उपलभ्यते (ततः) न अन्तः न आदिः न च संप्रतिष्ठा (उपलभ्यते)। एनं सुविरूढमूलम् अश्वत्थं दृढेन असंग-शस्त्रेण छित्त्वा ततः तत् पदं परिमार्गितव्यं यस्मिन् गताः भूयः न निवर्तन्ति, यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता तम् एव च आद्यं पुरुषं (अहं) प्रपद्ये ॥

अर्थ— परन्तु इस लोकमें संसारबन्धनमें उलझे हुए मनुष्योंको इस संसार-वृक्षका वैसा 'बन्धक' और 'छेद्य' रूप दिखाई नहीं पडता। अज्ञानियों की आंखोंको इसका अन्त, आदि तथा मध्य भी नहीं दीखता। मनुष्यको इस अत्यन्त गहरी मूलोंवाले संसारवृक्षको दृढ अनासक्ति नामके तीव्र शस्त्रसे छेदन करके, उस स्थितिको प्राप्त कर लेना चाहिये जिसे प्राप्त कर चुकनेके अनन्तर फिर संसारबन्धनमें आबद्ध नहीं हुआ जा सकता। हे अर्जुन! जहांसे यह चिरन्तन प्रवृत्ति (नित्य स्थायी रहनेवाली 'माया') उत्पन्न हुई है, मैं स्वयं भी उसी 'आदि पुरुष' का आश्रय किये रहता हूं।

भाव— इस श्लोकमें श्रीकृष्णने अत्यन्त स्पष्ट रूपमें अपने भौतिक आस्तित्व को किसीके उपास्य होनेके भ्रमको हटा दिया है।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

अन्वय–निर्मानमोहाः जितसंगदोषाः अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः सुख-दुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः अमूढाः तत् अव्ययं पदं गच्छन्ति ॥

अर्थ— मान (अहंकार), मोह (अज्ञान) से रहित, संगदोष (आसक्ति) को जीते हुए, आत्मज्ञानमें निष्ठावाले, विषयभोगोंको त्यागे हुए, सुख-दुःख नामवाले द्वन्द्वोंसे विमुक्त, अज्ञानमुक्त (ज्ञानी मानव) उस अविनाशी आत्मपदको प्राप्त कर चुके होते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

अन्वय—तत् सूर्यः न भासयते न शशांकः न पावकः (भासयते) यत् गत्वा न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम॥

अर्थ— उस आत्मपद (आत्मस्थिति) को सूर्य, चन्द्रमा या अग्नि प्रकाशित नहीं करते। जिसे प्राप्त कर चुकनेके अनन्तर फिर संसार-बन्धनमें आबद्ध नहीं हुआ जाता, वही आत्माका परम धाम (वा नित्यज्योति) है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ ७॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ ८॥

अन्वय—जीवलोके जीवभूतः मम एव सनातनः अंशः यत् (यदा) शरीरं अवाप्नोति (तदा) वायुः आशयात् गन्धान् इव प्रकृतिस्थानि मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि कर्षति। यत् (यदा) च अपि (शरीरात्) उत्क्रामति (तदा) वायुः आशयात् गन्धान् इव एतानि (मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि) आशयात् गृहीत्वा एव संयाति॥

अर्थ— इस संसारमें जीव बना हुआ (प्राणी) आत्माका ही सनातन अंश है। वह जब शरीरधारण करता है तब तो प्रकृतिके आश्रित मन और पांचों इन्द्रियोंको इस प्रकार अपने साथ लाता है, जिस प्रकार वायु आशयसे गन्धको साथ लाता है। देही रूपमें अवस्थित वही 'ईश्वर' जब किसी देहको त्यागकर जाता है, तब गन्धाशयसे गन्धको वायुके समान इन छओंको देहसे लेकर चला जाता है।

भाव— जीवके शरीरधारण करनेपर ये छओं इन्द्रिय प्रकृतिमें से उत्पन्न हो जाती हैं और जीवके प्रयाण करते ही ये सब नष्ट हो जाती हैं। यही 'इनको लेकर आना' और यही 'इनको लेकर चला जाना' है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

अन्वय--अयं श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणं मनः च अधिष्ठाय एव विषयान् उपसेवते ॥

अर्थ— यह (देही) श्रोत्र, चक्षु, स्पर्शेन्द्रिय, रसना, घ्राण तथा मनमें बसकर (शब्द आदि) विषयोंका भोग करता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

अन्वय–विमूढाः उत्क्रामन्तं स्थितं वा गुणान्वितं वा भुंजानम् अपि न अनुपश्यन्ति। ज्ञानचक्षुषः पश्यन्ति ॥

अर्थ— अज्ञानी लोग शरीरको त्याग कर जाते हुए देहीको, शररिमें रहते हुएको, गुणोंसे युक्तको और (विषयोंको) भोगते हुएको नहीं पहचानते। ज्ञानी उसे पहचान जाते हैं।

भाव— अज्ञानी मनुष्य भोगासक्त रहनेके कारण देह त्यागकर जानेवाले, देहमें रहनेवाले, भोग करनेवाले, और गुणोंमें रत रहनेवाले आत्मतत्त्वको नहीं देख पाते। ज्ञानके नेत्रवाला अनासक्त व्यक्ति, अनासक्त रहनेके कारण, (भोगासक्त या अनासक्त रहनेकी स्वतंत्रतावाले) आत्मतत्त्वको जान लेता है। वह देखता है कि ईश्वर ही देही बन गया है और वही भोक्ता है। अज्ञानी इसके विपरीत समझता है कि मैं ही भोक्ता हूं, मैं ही देही हूं। अज्ञानी ऐसा मानकर भोगरत हो जाता है। ज्ञानी स्वयं भोक्ताभावको त्यागकर भोगवासनासक्त न होकर, ईश्वरीय स्थितिमें अवस्थान करता है। निर्लिप्तता ही ईश्वरका भोग है। ईश्वरका भोग ही निर्लिप्तता है। भोग न करना ज्ञानीका स्वधर्म है। वही उसकी निर्विकार अप्रभावित त्रिगुणातीत सत्ता है। यही आत्मतत्त्व है।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

अन्वय–यतन्तः योगिनः च एनम् आत्मनि अवस्थितं पश्यन्ति। अकृतात्मानः अचेतसः यतन्तः अपि एनं न पश्यन्ति ॥

अर्थ— अनासक्त कर्म करनेवाले योगी लोग इस आत्मतत्त्वको अपनेमें ही अवस्थित पाते हैं। परन्तु अकृतात्मा (भोगासक्त) अज्ञानी लोग

यतन करते हुए भी इस आत्माको नहीं जान पाते। (अकृतात्मा भोगासक्त पुरुषका यतन ईश्वरप्राप्त्यर्थ दीखता हुआ भी भोगार्थ होता है)।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

अन्वय -यत् आदित्यगतं तेजः अखिलं जगत् भासयते यत् च चन्द्रमसि यत् च अग्नौ तत् तेजः मामकं विद्धि ॥

अथ— जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ सकल जगत्को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमें और अग्निमें है, उसे तुम आत्माका ही तेज पहचानो।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

अन्वय–अहं च गाम् आविश्य ओजसा भूतानि धारयामि । रसात्मकः सोमः भूत्वा सर्वाः ओषधीः पुष्णामि ॥

अर्थ— और आत्मतत्त्व पृथिवीमें प्रविष्ट होकर अपने ओज (तेज) से सब भूतोंको धारण किये रहता है। वह रसरूप सोम होकर अन्न फल आदि संपूर्ण ओषधियोंको पोषण देता रहता है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

अन्वय--अहं प्राणिनां देहम् आश्रितः वैश्वानरः भूत्वा प्राणापानसमायुक्तः चतुर्विधम् अन्नं पचामि ॥

अर्थ— आत्मतत्त्व प्राणियोंके देहमें स्थित होकर, वैश्वानर (उदरकी अग्नि) बनकर, प्राण अपान (श्वास प्रश्वास) से युक्त होकर, चार प्रकारके (भक्ष्य, पेय, लेह्य, चोष्य) अन्नको पचाता है।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

अन्वय–अहं च सर्वस्य हृदि सन्निविष्टः। स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च मत्तः सर्वैः वेदैः अहं एव वेद्यः । वेदान्तकृत् वेदवित् एव च अहम् ॥

अर्थ— आत्मा ही संपूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति ये सब आत्मासे ही होते हैं। सब वेदों (ज्ञानग्रन्थों) से जानने योग्य केवल आत्मतत्त्व ही है। वेदान्तों (ज्ञानग्रन्थोंके सिद्धान्तों) को रचनेवाला और उन वेदों (ज्ञानग्रन्थों) को जाननेवाला भी आत्मतत्त्व ही है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—लोके क्षरः अक्षरः च इमौ द्वौ एव पुरुषौ। सर्वाणि भूतानि क्षरः पुरुषः उच्यते कूटस्थः च अक्षरः पुरुषः उच्यते ॥

अर्थ— संसारमें 'क्षर' (विनाशी व्यक्त जगत्) और 'अक्षर' (अविनाशी अव्यक्त प्रकृति) ये दो ही 'पुरुष' हैं। संपूर्ण नाशवान भूत 'क्षर पुरुष' कहाते हैं तथा इनका जो कारण कूटस्थ निर्विकार अव्यक्त प्रकृति है, उसको 'अक्षर पुरुष' कहा जाता है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

अन्वय—परमात्मा इति उदाहृतः उत्तमः पुरुषः तु स अन्यः यः अव्ययः ईश्वरः लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति ॥

अर्थ— परमात्मा नामसे कहा जानेवाला 'उत्तम पुरुष' तो इन दोनों पुरुषोंसे भिन्न है, जोकि अव्यय ईश्वर है, जिसने समस्त संसारको व्याप्त करके धारण किया है। (वह संसारातीत 'पुरुष' है)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

अन्वय—यस्मात् अहं क्षरम् अतीतः (यस्मात्) च अक्षरात् अपि उत्तमः, अतः लोके वेदे च पुरुषोत्तमः प्रथितः अस्मि ॥

अर्थ— क्योंकि आत्मतत्त्व 'क्षर'से श्रेष्ठ है और 'अक्षर' से भी उत्तम है इसी लिये लोक तथा वेदमें (आत्माको) 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

अन्वय--भारत, एवं यः असंमूढः मां पुरुषोत्तमं जानाति सः सर्ववित् सर्वभावेन मां भजति ॥

अर्थ— हे भारत ! जो इस प्रकार अज्ञानमुक्त होकर अपने आत्माको ही 'पुरुषोत्तम' रूपमें देखने लगता है, वह 'सर्वज्ञ' है । वह सर्वभावसे आत्माका ही भजन करनेमें लग जाता है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

अन्वय--अनघ, भारत, इति इदं गुह्यतमं शास्त्रं मया उक्तम् । एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृत्यकृत्यः च स्यात् ॥

अर्थ— हे निष्पाप अर्जुन ! ऐसा यह गुह्यतम (**असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा** इत्यादि श्लोकोंमें अनासक्तिके रूपमें वर्णित) ' शास्त्र ' मैंने तुमको सुना दिया । इसको जाननेवाला मनुष्य 'ज्ञानी' तथा 'कृतकृत्य' हो जाता है ।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

पंचदशषोडशाध्यायसंगति—

पन्द्रहवें अध्यायमें त्रिगुणातीत आत्मतत्त्वका स्वरूप बताकर सोलहवेंमें त्रिगुणातीत आत्मतत्त्वनिष्ठ ज्ञानी तथा त्रिगुणबन्धनमें रहनेवाले अज्ञानीके आचरणोंको स्पष्ट रूपसे 'दैवी संपत्ति' और 'आसुरी संपत्ति' के नामसे विस्तृत किया जा रहा है।

षोडश अध्याय

(दैवासुरसंपद्विभागयोग)

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

अन्वय–भारत, (१) अभयं (२) सत्त्वसंशुद्धिः (३) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (४) दानं (५) दमः च (६) यज्ञः च (७) स्वाध्यायः (८) तपः (९) आर्जवम् (१०) अहिंसा (११) सत्यम् (१२) अक्रोधः (१३) त्यागः (१४) शान्तिः (१५) अपैशुनं (१६) भूतेषु दया (१७) अलोलुप्त्वं (१८) मार्दवं (१९) ह्रीः (२०) अचापलं (२१) तेजः (२२) क्षमा (२३) धृतिः (२४) शौचम् (२५) अद्रोहः (२६) नातिमानिता (एते गुणाः) दैवीं संपदम् अभिजातस्य भवन्ति॥

अर्थ— हे भारत! (१) अभय (प्रतिकूलताकी उपेक्षा) (२) सत्त्वसंशुद्धि (सुखासक्तिसे रहित 'शुद्ध सत्त्व' अर्थात् सत्त्वगुणमेंसे सुखासक्ति रूपी अशुद्धताको त्याग देना) (३) ज्ञानयोगव्यवस्थिति (ज्ञानपूर्वक कर्म करनेकी स्थिति) (४) दान (अनधिकारभोग न करना) (५) दम (इंद्रियोंका शुद्ध मनके अनुवर्ती रहना)

(६) यज्ञ (अकर्ताहं बुद्धिसे कर्तव्यनिष्ठा) (७) स्वाध्याय (सर्वावस्थामें स्वरूपदर्शन) (८) तप (निर्विकार स्थितिकी रक्षाके लिये सर्वत्याग) (९) आर्जव (स्वधर्मनिष्ठके साथ या जिसके साथ विश्वासका संबन्ध है, उसके साथ अकपट वर्ताव। अधार्मिकके साथ अकपट वर्ताव करनेसे अधर्मको सहायता मिल जाती है; इस लिये वह अधार्मिकता या अज्ञानता हो जाती है; तब वह 'आर्जव' नहीं रहता। जिसके साथ हमारा विश्वास का संबन्ध है, केवल उसी को हमसे अकपट व्यवहार पाने का अधिकार है) (१०) अहिंसा (काम क्रोध आदि रिपुओंसे निरन्तर आत्मरक्षा) (११) सत्य (अविचलित मन या अप्रभावित मनोदशा) (१२) अक्रोध (उचित प्रतिकार करनेमें असामर्थ्य रूपी क्रोधसे बचे रहना) (१३) त्याग (कर्तृत्वाभिमानका त्याग) (१४) शान्ति (नित्य आत्मदर्शन। क्योंकि आत्मविस्मृति ही अशान्ति है) (१५) अपैशुन (व्यक्तिगत निन्दा या परचर्चाका त्याग) (१६) भूतोंपर दया (किसी भूतसे द्वेष न रखना) (१७) अलोलुप्त्व (विषयभोगको निकृष्ट देखना) (१८) मार्दव (तीक्ष्णतासे रहित व्यवहार) (१९) ह्री (आत्मविस्मृतिका असह्य होना) (२०) अचापल (व्यर्थचिन्तन, व्यर्थवचन, और व्यर्थ कर्मसे बचना) (२१) तेज (असत्यका विरोध करनेमें अदम्य विक्रम) (२२) क्षमा (शत्रुताचरण करनेवालेके साथ व्यक्तिगत द्वेषरहित यथोचित कर्तव्यनिष्ठा। उचित प्रतिकार न करना 'मूढता' है, वह 'क्षमा' शब्दका अर्थ नहीं है) (२३) धृति (आत्मशक्तिपर दृढ विश्वास) (२४) शौच (मन और व्यवहारको शुद्ध रखना) (२५) अद्रोह (सत्यका विरोध न करना) (२६) नातिमानिता (अपनी भौतिक शक्तिका आडम्बर न करना) ये सब गुण 'दैवी संपत्ति' को प्राप्त हुए मनुष्यमें होते हैं।

दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

अन्वय—पार्थ, दम्भः दर्पः अतिमानः च क्रोधः पारुष्यम् एव च अज्ञानं च आसुरीं संपदम् अभिजातस्य (भवन्ति) ॥

अर्थ— हे पार्थ ! दम्भ (अपनी हीनताको छिपानेका प्रयत्न), दर्प (भौतिक

शक्तिका अहंकार), अतिमान (भौतिक शक्तिका आडम्बर), क्रोध (लोभको पूरा करनेमें असमर्थ होनेपर उत्पन्न हुआ मनोविकार), पारुष्य (दूसरोंसे स्वार्थयुक्त व्यवहार) तथा अज्ञान (आत्मविस्मृति) ये सब दुर्गुण 'आसुरी संपत्ति' को प्राप्त हुए मनुष्यमें होते हैं।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥

अन्वय--दैवी संपत् विमोक्षाय, आसुरी निबन्धाय मता। पाण्डव, मा शुचः दैवीं संपदम् अभिजातः असि ॥

अर्थ— 'दैवी संपत्ति' मुक्तिके लिये है (मुक्त स्थितिकी रक्षा करनेवाली है) 'आसुरी संपत्ति' बन्धनमें रखनेवाली मानी गयी है। हे पाण्डव! तुम। शोक मत करो। क्योंकि तुम 'दैवी संपत्ति' को प्राप्त किये हुए हो।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

अन्वय–अस्मिन् लोके दैवः आसुरः एव च द्वौ भूतसर्गौ। दैवः विस्तरशः प्रोक्तः पार्थ, आसुरं मे शृणु ॥

अर्थ— इस लोकमें 'दैव' और 'आसुर' इन दो प्रकारके मनुष्योंकी सृष्टि होती रहती है। (इनमेंसे) दैवका वर्णन (प्रथम तीन श्लोकोंमें) विस्तारसे कर दिया। हे अर्जुन! अब मुझसे आसुरको सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

अन्वय– आसुराः जनाः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च न विदुः। तेषु न शौचं न अपि च आचारः न सत्यं विद्यते ॥

अर्थ— आसुरी प्रवृत्तिवाले मनुष्य धर्म अधर्मको नहीं जानते। उनमें शौच, आचार या सत्य कुछ नहीं होता।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

अन्वय–ते जगत् असत्यम् अप्रतिष्ठम् अनीश्वरम् अपरस्परसंभूतं तथा कामहैतुकम् आहुः। किमन्यत् ? (इति च साक्षेपम् आहुः)॥

अर्थ— वे जगत्को असत्य (सत्यसे हीन, विषयातीत आनन्दसे रहित, अथवा जगत्में सत्यको अव्यवहार्य), अप्रतिष्ठ (किसी नित्य स्थिर आश्रयसे हीन), अनीश्वर (स्रष्टासे विहीन अर्थात् विना परमेश्वरका), अपरस्परसंभूत (विभिन्न उपादानोंके मिश्रणसे उत्पन्न हुआ) तथा केवल भोगके उपयोगमें आनेवाला बताते हैं। वे कहते हैं कि इसके अतिरिक्त इसका और क्या प्रयोजन हो सकता है ?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

अन्वय—एतां दृष्टिम् अवष्टभ्य नष्टात्मानः अल्पबुद्धयः अहिताः उग्रकर्माणः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ॥

अर्थ— इस समझको लेकर अज्ञानी अल्पबुद्धि संसारके शत्रु लोग उग्रकर्मा बनकर जगत्को हानि पहुंचानेके लिये उत्पन्न होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

अन्वय- दम्भमानमदान्विताः अशुचिव्रताः दुष्पूरं कामम् आश्रित्य मोहात् असद्ग्राहान् गृहीत्वा प्रवर्तन्ते ॥

अर्थ— दम्भ, मान तथा मदमें भरकर, दुराचारी बनकर, दुष्पूर (कभी पूरी न होनेवाली) कामनाओंको लेकर, मोहसे मिथ्या विचारोंको अपनाकर जीवन बिताते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

अन्वय—प्रलयान्ताम् अपरिमेयां चिन्तां च उपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः एतावत् इति निश्चिताः ॥ आशापाशशतैः बद्धाः कामक्रोधपरायणाः काम-भोगार्थम् अन्यायेन अर्थसंचयान् ईहन्ते ॥

अर्थ— मरणपर्यन्त चलनेवाली अनंत कामनाओंको अपनाए हुए, कामभोगको ही परम पुरुषार्थ माननेवाले, और कामभोगके जीवनको ही सफल जीवन माननेवाले, आशाओंकी सैकडों रस्सियोंसे बंधे हुए, काम-

क्रोधपरायण लोग कामभोगके लिये अन्यायसे धन कमानेकी चेष्टा में लगे रहते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

अन्वय–मया अद्य इदं लब्धम्, इमं मनोरथं प्राप्स्ये, मे इदं धनम् अस्ति, पुनः इदम् अपि भविष्यति ॥ असौ शत्रुः मया हतः, अपरान् अपि अहं हनिष्ये, अहम् ईश्वरः भोगी च, अहं सिद्धः बलवान् सुखी ॥ आढ्यः अभिजनवान् अस्मि, मया सदृशः अन्यः कः अस्ति ? यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इति अज्ञानविमोहिताः ॥ अनेकचित्तविभ्रान्ताः, मोहजाल-समावृताः कामभोगेषु प्रसक्ताः अशुचौ नरके पतन्ति ॥

अर्थ— मैंने आज यह पालिया, इस मनोरथको भी पाऊंगा, मेरे पास यह धन है और फिर यह भी मेरा हो जायगा, यह शत्रु मैंने मारा, दूसरों-को भी मार डालूंगा, मैं समर्थ हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध (सफल) हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, धनी हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, मौज करूंगा, इस प्रकारके अज्ञानोंसे मोहित हुए, अनेक मनोरथोंमें उलझे हुए, मोहजालसे जकडे हुए, कामभोगोंमें आसक्त हुए (ये आसुरलोग) अज्ञान रूपी अशुद्ध नरकमें पडे रहते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८ ॥

अन्वय–धनमानमदान्विताः आत्मसंभाविताः स्तब्धाः अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः आत्मपरदेहेषु मां प्रद्विषन्तः अभ्यसूयकाः ते दम्भेन अविधिपूर्वकं नामयज्ञैः यजन्ते ॥

अर्थ— धनके कारण मिले हुए मान तथा उससे उत्पन्न हुए मदसे युक्त होकर, अपनेको बड़ा माननेवाले और उद्धत बने हुए, अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधमें भूले रहकर, अपने तथा पराये दोनों देहोंके एक ही देही आत्मतत्त्वकी उपेक्षा करनेवाले, सन्मार्गकी निन्दा करनेवाले, वे आसुरी प्रवृत्तिके लोग दम्भसे अविधिपूर्वक यज्ञों का दिखावा करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

अन्वय-अहं तान् अशुभान् द्विषतः क्रूरान् नराधमान् संसारेषु अजस्रम् आसुरीषु योनिषु एव क्षिपामि ॥

अर्थ— आत्मतत्त्व उन अशुभाचारी, संसारशत्रु, क्रूर, नराधमोंको संसारमें सर्वदा आसुरी प्रवृत्ति रखनेवाले शरीरोंमें भोगबन्धनमें फांसे रहता है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

अन्वय-कौन्तेय, आसुरीं योनिम् आपन्नाः मूढाः जन्मनि जन्मनि माम् अप्राप्य एव अधमां गतिं यान्ति ॥

अर्थ— हे कौन्तेय! आसुरी प्रवृत्ति रखनेवाले मूढ देहधारी सब शरीरोंमें आत्मतत्त्वको न पाकर अधमगतिको प्राप्त होते रहते हैं। (अर्थात् संसारबन्धनमें फंसे रहते हैं)।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

अन्वय-कामः क्रोधः तथा लोभः इदं त्रिविधं नरकस्य द्वारम् आत्मनः नाशनं, तस्मात् एतत् त्रयं त्यजेत्॥

अर्थ— काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारके नरकके (अधमगतिमें प्रविष्ट करानेवाले) द्वार मनुष्यका विनाश करनेवाले हैं, इस लिये (कल्याणकामी) इन तीनोंको त्यागे।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

अन्वय-एतैः त्रिभिः तमोद्वारैः विमुक्तः नरः आत्मनः श्रेयः आचरति, ततः परां गतिं याति ॥

अर्थ— इन तीनों तमोद्वारोंसे बचा हुआ मनुष्य आत्मकल्याण करनेमें लगा रहता है (वह वही आचरण करता है जिसमें उसका निश्चित कल्याण हो)। इससे वह परागतिको प्राप्त रहता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

अन्वय—यः शास्त्रविधिम् उत्सृज्य कामकारतः वर्तते सः सिद्धिं न अवाप्नोति सुखं न अवाप्नोति परां गतिं च न अवाप्नोति ॥

अर्थ— जो (विषयभोगासक्त) मनुष्य 'शास्त्र'की विधिको लंघन करके (पन्द्रहवें अध्यायमें वर्णित असंग शस्त्ररूपी सत्यके शासन स्वरूप 'शास्त्र'को अस्वीकार करके) कामकारसे वर्तता है (मिथ्या विषयोंमेंसे कुरस ग्रहण करने रूपी असदाचरण करता है) उसे न सफलता मिलती है, न सुख मिलता है, और न ज्ञानमयी परमगति प्राप्त होती है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

अन्वय—तस्मात् ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ शास्त्रं प्रमाणं (भवितुम् अर्हति)। त्वम् इह कर्म शास्त्रविधानोक्तं ज्ञात्वा, कर्तुम् अर्हसि ॥

अर्थ— इसलिये तुम्हें कर्तव्याकर्तव्यनिर्णय करनेमें 'शास्त्र' (अनासक्तिरूपी सत्यके शासन) को प्रमाण (मान्य) मानना चाहिये। तुम्हें इस संसारमें ' शास्त्रविधानोक्त ' अनासक्तिरूपी सत्यसे अनुमोदित कर्म ही करने चाहियें। अर्थात् कर्म करते हुए तुम्हारे पास यह संतोष होना चाहिए कि तुम इन कर्मोंको अनासक्त होकर कर रहे हो।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

षोडशसप्तदशाध्यायसंगति—

सोलहवें अध्यायमें 'दैवी' और 'आसुरी' संपत्तिके नामसे ज्ञानी तथा अज्ञानी की स्थितियोंका वर्णन करके, सत्यके शासनरूपी 'शास्त्रविधि'को मानते रहना ही 'दैवी संपत्तिसे संपन्न रहना' बताया गया। अब 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सतरहवें अध्यायमें 'सत्यरूपी शास्त्र'के शासनको न माननेवाले आसुरी संपत्ति-वाले अज्ञानियोंकी त्रिगुणमयी स्थितिका वर्णन किया जा रहा है।

सप्तदश अध्याय

(श्रद्धात्रयविभागयोग)

इस अध्यायमें आगे चलकर सत्त्वगुणवालोंका वर्णन करते हुए अफलाकांक्षी, मोक्षकांक्षी, तपस्वी, याज्ञिक, ब्रह्मवादी आदि जितने अच्छे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, ये सब शब्द सत्त्वगुणवालों की आसक्तिपूर्ण मनोदशाके अनुसार आसक्ति-पूर्ण मनोदशाके वाचक हो गये हैं; ऐसा वहां वहां गीतापाठकको समझना चाहिये। क्योंकि इन लोगोंने अनासक्तिरूपी 'शास्त्रविधान'का परित्याग किया है, इस लिये इनकेलिये प्रयुक्त ये सब शब्द, इनको यथा कथंचित् रज तमसे ऊंचा पद देनेके अर्थमें व्यवहृत हुए हैं। सात्त्विक पुरुषको अनासक्त ज्ञानीके समान बताना इन शब्दोंका अभिप्राय नहीं है।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

अन्वय—कृष्ण, ये शास्त्रविधिम् उत्सृज्य श्रद्धयान्विताः यजन्ते तेषां निष्ठा तु का ? सत्त्वं रजः आहो तमः ?

अर्थ— हे कृष्ण ! जो मनुष्य इस शास्त्र (सत्यके शासन) को उल्लंघन कर-के श्रद्धा (विषयासक्ति) से यजन करते हैं, उनकी वह निष्ठा सत्त्व, रज, तममेंसे कौनसी है ?

भाव— सोलहवें अध्यायके अन्तमें जिस 'शास्त्र' शब्दका उल्लेख आया है इससे प्रथम पन्द्रहवें अध्यायमें 'अनासक्तिरूपी शास्त्र'के रूपमें उसकी व्याख्या की जाचुकी। वहां संसारबन्धनको छिन्न करके

ज्ञानी बन जानेको ही 'गुह्यतम शास्त्र'के नामसे कहा गया । इस गीतोक्त अभिप्रायसे बाहर जाकर किसी लिखित ग्रन्थको 'शास्त्र' नाम देना अनुचित है । इस श्लोकमें स्पष्ट प्रश्न यही है कि जो 'अनासक्तिरूपी शास्त्र'का उल्लंघन करके श्रद्धासे यजन करते हैं, उनकी श्रद्धा किस प्रकारकी होती है? यहां अनासक्तिकी उपेक्षा करनेवाली आसक्तिके भिन्न भिन्न रूपोंकी व्याख्या सुननेके लिये आसक्तिको 'श्रद्धा' नामसे कहकर, उसीको सत्त्व, रज, तम या त्रिगुणबन्धनकी स्थितिके रूपमें स्वीकार किया है । इस संपूर्ण अध्यायमें त्रिगुणमयी स्थितिरूपी अज्ञानके भिन्न भिन्न रूपोंका वर्णन किया गया है । कहा जा चुका है कि ग्रन्थकारने जान बूझकर ग्रन्थको अपनी इच्छानुसार विस्तार दिया है । यदि इस श्लोककी 'श्रद्धा'को इससे अधिक महत्त्व दिया जायगा, तो इस समग्र अध्यायका भाव समझना असंभव हो जायगा ।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

अन्वय—देहिनां सा स्वभावजा श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी च इति त्रिविधा एव भवति, तां (मत्तः) शृणु ॥ भारत, सर्वस्य श्रद्धा सत्त्वानुरूपा भवति । अयं पुरुषः श्रद्धामयः । यः यच्छ्रद्धः सः एव सः ॥

अर्थ— मनुष्योंकी वह स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा (आसक्ति) सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी तीन प्रकारकी होती है, उसे सुनो । हे भारत ! सबकी श्रद्धा सत्त्वानुरूप (अपने स्वभावानुसार) होती है । यह पुरुष श्रद्धामय है । जो जिसपर श्रद्धा रखता है, वह वही है ।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

अन्वय—सात्त्विकाः देवान् यजन्ते राजसाः यक्षरक्षांसि अन्ये तामसाः जनाः प्रेतान् भूतगणान् च यजन्ते ॥

अर्थ— सत्त्वगुणवाले (भोगसुखार्थ) देवों (भोगसुख बांटनेवाले कल्पित ईश्वरों) की पूजा करते हैं । रजोगुणवाले (भोगसुखके लिये) धन-

वानों और अत्याचारियोंकी स्तव स्तुति और चाटुकारिता करते हैं तमोगुणवाले (भोगसुखके लिये) दुष्टों, शैतानों, डाकुओं, लुटेरों तथा अपना अधिकार खानेवालोंकी दासता करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

अन्वय–दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ये अचेतसः जनाः शरीरस्थं भूतग्रामम् अन्तःशरीरस्थं मां च कर्शयन्तः (कृशं कुर्वन्तः) अशास्त्र-विहितं घोरं तपः तप्यन्ते तान् आसुरनिश्चयान् विद्धि ॥

अर्थ— जो अज्ञानी लोग दंभ तथा अहंकारसे युक्त और भोगासक्तिसे उत्तेजित होकर शरीरस्थ भूतों (इन्द्रियों) को तथा शरीरवासी इन्द्रियातीत आत्मतत्त्वको कृश करते हुए (उसे सत्यदर्शनसे वंचित करके क्षीण करते हुए) अशास्त्रविहित (अनासक्तिकी उपेक्षा करके) घोर तप तपते हैं (आसक्त होकर दुष्टकर्म करते हैं) उनको आसुर स्वभाववाले अज्ञानी जानो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

अन्वय–आहारः अपि तु सर्वस्य त्रिविधः प्रियः भवति, तथा यज्ञः तपः दानम् (त्रिविधं भवति।) तेषाम् इमं भेदं शृणु ॥

अर्थ— भोजन भी सबको तीन प्रकारका प्रिय लगता है। यही बात यज्ञ, तप तथा दानके विषयमें है। उनके इस वक्ष्यमाण भेदको सुनो।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८ ॥

अन्वय–आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याः आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

अर्थ— आयु, सत्त्व (बुद्धि), बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढानेवाले, रसीले, चिकने, शरीरमें चिरकालतक ठहरनेवाले, हृदयको रुचिकर, आहार सात्त्विकोंको प्रिय होते हैं।

भाव— इस श्लोकमें यह प्रतिपादन नहीं किया गया कि मनुष्य ऐसे आहार को खाकर 'सात्त्विक' बन सकता है। इसमें केवल सात्त्विक पुरुषोंकी रुचि दिखाई गई। इसी प्रकार अग्रिम दो श्लोकोंमें भी जानना चाहिए।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

अन्वय–दुःखशोकामयप्रदाः कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः आहाराः राजसस्य इष्टाः॥

अर्थ— दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले कड़वे, खट्टे, खारे, अतिउष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक भोजन राजसको प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

अन्वय–यत् (भोजनं) यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च उच्छिष्टम् अमेध्यं च अपि तत् तामसप्रियम्॥

अर्थ—जो भोजन ठण्डा, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, झूठा तथा अपवित्र है वह तामसको रुचिकर होता है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

अन्वय–विधिदृष्टः यः यज्ञः यष्टव्यम् एव इति मनः समाधाय अफलाकांक्षिभिः इज्यते स सात्त्विकः॥

अर्थ— विधि अर्थात् शास्त्र नामकी पुस्तकमें देखे हुए धर्मानुष्ठान करने ही चाहियें, ऐसा मानकर जो धर्मानुष्ठान अफलाकांक्षियोंसे किये जाते हैं, वे सात्त्विक कहाते हैं।

भाव— इस श्लोकमें सात्त्विकवृत्तिवाला मनुष्य यज्ञका अनुष्ठान करता हुआ जिस मनोभावनाको रखता है, उसीका स्वरूप बताया जा रहा है। यहांपर शुद्ध सत्त्व रखनेवाले 'ज्ञानी-सात्विक' का वर्णन नहीं है। सात्त्विक-वृत्तिवाले मनुष्यका ' यज्ञ ' मनकी अनासक्त स्थिति नहीं है। वह तो अपने भोगोंको सुरक्षित रखनेकेलिये अनुकूल धर्मानुष्ठानको 'शास्त्र' नामकी किसी पुस्तकसे ढूंढ लेता है। इसी अध्यायके प्रथम श्लोकमें इन त्रिगुणासक्तोंके अवहेलित 'शास्त्र' (अनासक्तिके शासन

रूपी शास्त्र) से ग्यारहवें श्लोकका 'शास्त्र' निराला है। यह 'शास्त्र' भोगानुकूल मार्ग बतानेवाला, इनकी अपनी रुचिसे स्वीकार किया हुआ कोई 'ग्रन्थ विशेष' है। इस सात्त्विक पुरुषको इस ग्रन्थ नामके शास्त्रके बताये हुए अनुष्ठानकी सफलताके लिये जिन भोगोंको त्यागना पड़ता है, वह अपने भोगकी अनुकूलता करनेके लिये उन्हें त्यागनेको सहर्ष उद्यत हो जाता है। ऐसी मनोभावनासे किये जाने-वाले यज्ञोंको करते समय सात्त्विक पुरुष जो त्याग (भोगका संयम) दिखाता है, उसीसे वह अपनेको 'अफलाकांक्षी' माननेका मिथ्या संतोष भोग लेता है। वह सत्त्वगुणी पुरुष 'शास्त्र'की आज्ञाका पालन करनेके परिणामके रूपमें जिस फलाकांक्षाको मनमें बैठाये रहता है, वह फलाकांक्षा उसके मनसे कदापि लुप्त नहीं हो सकती। उसकी शास्त्रविधिपालन करनेकी प्रवृत्तिका मर्म भोगानुकूलता ढूंढनेकी प्रवृत्तिमें है। वह भोगसंरक्षणकी अनुकूलता ढूंढनेकी प्रवृत्तिका दास बनकर, दूसरोंकी बतायी विधियोंको स्वीकार कर लेता है। जो मनुष्य स्वयं अपना हिताहित देखनेमें समर्थ होता है, वह सम्यग्दर्शी ज्ञानी हो जाता है। उसे अंधेके समान 'शास्त्र' नामवाली दूसरे की बतायी विधिको पालनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं ही अपना शास्त्र और स्वयं ही अपना अनुयायी होता है।

इस श्लोकमें **विधिदृष्टः** इस शब्दके द्वारा सात्त्विक मनोवृत्तिवाले को सत्यदर्शनमें असमर्थ, पुस्तकोंपर निर्भर रहनेवाला बताकर, यह ध्वनित कर दिया है, कि वह सच्चे अर्थोंमें अफलाकांक्षी नहीं है। वह आपात दृष्टिसे ही अफलाकांक्षी है। क्योंकि वह भोगोंके पीछे चलनेवाला और भोगसंयमके साथ साथ भोगानुकूल फल देनेवाले यज्ञोंको करने-वाला है। यदि वह पूर्ण अफलाकांक्षी होता तो न तो वह सत्त्वगुणी ही रहता और न दूसरोंके लिखे हुए 'शास्त्र'के बन्धनमें रहता। 'शास्त्र'के बन्धनमें रहना ही सत्त्वगुणीके भोगबन्धनको सिद्ध कर रहा है। भोगबन्धनमें रहकर यज्ञानुष्ठान करना उसकी फलाकांक्षाका परिचायक है। उस यज्ञानुष्ठानकी सफलताके लिये जितनी आवश्यकता हो उतना संयम कर लेने तक ही उसकी अफलाकांक्षा है। वास्तविक फलाकांक्षाको छिपानेवाले भोगसंयमके साथ 'यज्ञ' करना ही उसकी नाममात्रकी अफलाकांक्षाका स्वरूप है।

अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

अन्वय–भरतश्रेष्ठ, यत् फलम् अभिसन्धाय दम्भार्थम् अपि च एव इज्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि॥

अर्थ— परन्तु हे भरतश्रेष्ठ! जो (यज्ञ) फलकी इच्छा रखकर अथवा अपनेको धर्माचारी कहलानेके लिये किया जाता है उसे राजस यज्ञ समझो।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

अन्वय–विधिहीनम् असृष्टान्नं मन्त्रहीनम् अदक्षिणं श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

अर्थ— विधिहीन (स्वेच्छाचारपूर्ण), अन्नदानरहित, मंत्रहीन, दक्षिणारहित तथा श्रद्धारहित यज्ञ तामस (यज्ञ) कहाता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

अन्वय–देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचम् आर्जवं ब्रह्मचर्यम् अहिंसा च शारीरं तपः उच्यते।

अर्थ— देव (ईश्वर), द्विज (ब्रह्मज्ञानी), गुरु (पितामाता आदि गुरुजन), तथा प्राज्ञों (कल्याण बुद्धि रखनेवाले सदुपदेष्टाओं) की पूजा, पवित्रता, आर्जव (स्वधर्मनिष्ठोंके साथ अकपट वर्ताव), ब्रह्मचर्य (ईश्वरार्थ कर्म करना), अहिंसा (क्रोध आदि रिपुओंसे अप्रभावित वर्ताव) यह शारीरिक तप कहाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

अन्वय–अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् स्वाध्यायाभ्यसनं च एव वाङ्मयं तपः उच्यते॥

अर्थ— जो वाणी शान्तिदायक हो, सत्य हो, (जिज्ञासु श्रोताको) प्रिय तथा हितकारी हो, सद्ग्रन्थ (सन्तोंकी पवित्र मनोदशाका वर्णन करनेवाले ग्रन्थ) का अभ्यास हो अर्थात् सत्संग या भगवत्प्रसंग रूप हो उसे वाङ्मय तप कहते हैं।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनम् आत्मविनिग्रहः भावसंशुद्धिः इति एतत् मानसं तपः उच्यते ॥

अर्थ— मनकी शुद्धता, शान्तमूर्ति, मौन अर्थात् व्यर्थ बातोंका त्याग, इन्द्रियोंका शुद्ध मनका अनुवर्ती होना तथा भावसंशुद्धि (मनकी आत्मारूढ स्थिति) इनको मानस तप कहते हैं ।

भाव— ऊपरके तीन श्लोकोंमें तपकी जो परिभाषा की गई है उसमें ज्ञानकी वास्तविक स्थितिका वर्णन है । अगले श्लोकोंमें यह ' तप ' अभिप्रेत नहीं है । उनमें तो त्रिगुणबंधनमें पडे हुए मनुष्योंके अविधिपूर्वक तप करनेका वर्णन आरहा है ।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तांत्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

अन्वय—अफलाकांक्षिभिः युक्तैः नरैः परया श्रद्धया तप्तं तत् त्रिविधं तपः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

अर्थ— अफलाकांक्षी, युक्त नरोंसे परम श्रद्धासे किया गया तीन प्रकारका (कायिक, वाचिक, मानस) तप सात्त्विक कहाता है ।

भाव— इस श्लोकके श्रद्धा,अफलाकांक्षी, तथा युक्त आदि शब्दोंका अभिप्राय सुखासक्ति तथा भोगसंरक्षणके लिये आवश्यक संयम है । इसी अध्यायके ११ वें श्लोकमें तथा अध्यायकी प्रारंभिक सूचनामें इसको स्पष्ट किया जा चुका है ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

अन्वय—यत् सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन च क्रियते तत् चलम् अध्रुवं तपः इह राजसं प्रोक्तम् ॥

अर्थ— जो अपने सत्कार, मान या पूजाके लिये अथवा दम्भसे किया जाता है वह चंचल और अस्थिर तप राजस कहाता है ।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

अन्वय—मूढग्राहेण आत्मनः पीडया परस्य उत्सादनार्थं वा यत् तपः क्रियते तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

अर्थ— जो तप किसी मूर्ख आग्रहसे शरीरको या अपने आपको कष्ट देकर या दूसरों को सताने के लिये किया जाता है वह तामस कहाता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

अन्वय—दातव्यम् इति यत् दानं देशे काले पात्रे च अनुपकारिणे दीयते तत् दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

अर्थ— जो दान देना ही चाहिये यह समझकर, देश-काल-पात्रका विचार करके, अपने ऊपर प्रत्युपकार न करनेवाले को दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहाता है । (सात्त्विकदानी उपकृतसे बदला न चाहकर अपने कल्पित ईश्वरसे चाहता है । इस लिये यह भी ज्ञानीकी स्थिति नहीं है । इसका अज्ञान गुप्तावस्थामें है ।)

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

अन्वय—यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलं वा उद्दिश्य पुनः परिक्लिष्टं च दीयते तत् दानं राजसं स्मृतम् ॥

अर्थ— परन्तु जो उपकारके बदलेमें या किसी फलको पानेकेलिये या दुःखी होकर दिया जाता है, वह राजस दान कहाता है ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अन्वय—यत् दानम् अदेशकाले अपात्रेभ्यः असत्कृतम् अवज्ञातं दीयते तत् तामसम् उदाहृतम् ॥

अर्थ— जो दान अयोग्य देशमें, अनधिकारी लोगोंको, असत्कार तथा अपमानपूर्वक दिया जाता है वह दान तामस कहाता है ।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

अन्वय—ब्रह्मणः ॐ तत् सत् इति त्रिविधः निर्देशः स्मृतः । तेन पुरा वेदाः ब्राह्मणः यज्ञाः च विहिताः (इति किंवदन्ती वर्तते) ।

अर्थ— ब्रह्म तत्त्वका ॐ तत् सत् इन तीन प्रकारका निर्देश (नाम या स्वरूप) बताया गया है । (कहा जाता है कि) पहले इसीसे ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञोंका निर्माण हुआ था ।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

अन्वय— तस्मात् ब्रह्मवादिनां विधानोक्ताः यज्ञदानतपः क्रियाः सततम् ओम् इति उदाहृत्य प्रवर्तन्ते ॥

अर्थ— इसी लिये ब्रह्मवादी लोगोंके शास्त्रोक्त यज्ञ,दान,तप तथा अन्य जीवन-व्यवहार सदा ओम् का उच्चारण करनेके अनन्तर प्रारम्भ होते हैं ।

भाव— सत्त्वगुणी लोगोंने जिन शास्त्रोंसे यज्ञ,दान, तप आदि क्रियाओंको लिया है, उन शास्त्रोंका निर्माण करनेवाले ब्रह्मवादी नामके सत्त्वगुणी लोग, इन अपनी क्रियाओंमें 'ॐ तत् सत्' नाम से जिस भावनाको लगाना चाहते हैं, उसकी व्याख्या अग्रिम श्लोकोंमें की जा रही है ।

सत्त्वगुणीकी क्रियामें जिस शुद्धताकी कल्पना की जाती है, वह यही है कि वह अपने बाह्य आचरणोंके साथ ईश्वरका नाम जोडे रखना चाहता है। इस श्लोकका ऐसा अभिप्राय निकालनेका कारण यह है कि सुखासक्तिके रहते हुए ईश्वरसे केवल नाममात्रका संबन्ध रखनेकी भावना रह सकती है । शास्त्रविधानके रूपमें ईश्वरकी कल्पना बनावटी वस्तु है। इस लिये इस श्लोकमें यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि सत्त्वगुणी लोग जिन शास्त्रोंको अपनी यज्ञादि क्रियाओंकेलिये प्रमाण मानते हैं, वे शास्त्र उनके मनकी स्वाभाविक अनासक्ति रूपी सत्यके शासन नहीं हैं । किन्तु वे कुछ लोगोंके घडे हुए कुछ आचरणोंकी सूची हैं । उन्हींने कुछ भावनाओंको कुछ शब्दोच्चारणके साथ लगाये रखनका क्रम प्रचलित किया है ।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

अन्वय—मोक्षकांक्षिभिः (भोगस्य दुःखरूपादवश्यंभाविपरिणामाद्बिभ्यद्भिः) तत् इति फलम् अनभिसन्धाय (फलानभिसंधिं नाटयित्वा) यज्ञ-तपःक्रियाः विविधाः दानक्रियाः च क्रियन्ते ॥

अर्थ— मोक्षार्थी (भोगके दुःखरूपी अवश्यंभावी परिणामसे डरनेवाले) लोग 'तत्' शब्दको बोलकर मनमें फलकी आशा न रखकर (फलाशा न रखनेका दिखावा करके) यज्ञ, तप, दान आदि विविध व्यवहार करते रहते हैं ।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

अन्वय-सद्भावे साधुभावे च सत् इति एतत् प्रयुज्यते। पार्थ, तथा प्रशस्ते कर्मणि सत् शब्दः प्रयुज्यते॥

अर्थ— सद्भाव तथा साधुता इन दो भावोंको कहनेमें 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। हे पार्थ! इसी प्रकार प्रशस्त कर्मोंके लिये भी सत् शब्द प्रयुक्त होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ २७॥

अन्वय-यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सत् इति च उच्यते। तदर्थीयं कर्म च सत् इति एव अभिधीयते॥

अर्थ— यज्ञ, तप तथा दानमें स्थितिको भी 'सत्' कहा जाता है। इनके निमित्त जो कर्म करना पड़ता है वह भी सत् ही कहाता है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ २८॥

अन्वय-यत् अश्रद्धया हुतं दत्तं तपः तप्तं कृतं च तत् असत् इति उच्यते। न च तत् प्रेत्य नो इह॥

अर्थ— जो अश्रद्धासे हवन किया हो, दिया हो, तप किया हो, कर्म किया हो, वह सब असत् कहाता है। उसे न इस वर्तमान संसारमें और न पर काल (भविष्य) में सुखदायी माना जाता है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

सप्तदशाष्टादशाध्यायसंगति—

सतरहवें अध्यायमें त्रिगुण बन्धनमें रहनेवाले अज्ञानकी स्थितिको बताकर अठारहवेंमें त्रिगुणातीत शुद्ध सत्त्वकी ज्ञानमयी स्थितिको स्पष्ट दिखाया जा रहा है।

अष्टादश अध्याय

(मोक्षसंन्यासयोग)

द्वितीयाध्याय (२–४५) के 'नित्यसत्त्वस्थ' पदकी व्याख्या गीतामें कही नहीं है। उसीकी व्याख्याके रूपमें इस अध्यायके द्वारा गीताका उपसंहार किया जा रहा है।

ग्रन्थकारने शुद्ध सत्त्वका वर्णन करनेके प्रसंगमें त्रिगुणबन्धनयुक्त सत्त्वका पृथक् वर्णन करना अनावश्यक समझा है। उसने इस अध्यायमें त्रिगुण-बन्धनमयी अज्ञानकी स्थितिको केवल रज तम दो ही नामोंसे वर्णन कर डाला है। त्रिगुणबंधनयुक्त सत्त्व इन्हीं दोमें समाविष्ट है।

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अन्वय—महाबाहो, हृषीकेश, केशिनिषूदन, संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक् वेदितुम् इच्छामि ॥

अर्थ— हे महाबाहु! हे हृषीकेश! हे केशिदैत्यके मारनेवाले! मैं संन्यास तथा त्यागका तत्त्व पृथक् पृथक् जानना चाहता हूं।

श्रीभगवानुवाच (श्रीभगवान् बोले)

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

अन्वय—कवयः काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं विदुः। विचक्षणाः सर्वकर्मफलत्यागं त्यागं प्राहुः ॥

अर्थ— कवि (ज्ञानी लोग) काम्य कर्मोंके त्यागको 'संन्यास' जानते हैं; तथा विचक्षण (विचारवान) लोग सब कर्मोंके फलके छोडनेको ही 'त्याग' कहते हैं। (अर्थात् फलाकांक्षा छोड़कर कर्म करना 'त्याग' है)।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

अन्वय–एके मनीषिणः प्राहुः कर्म दोषवत् इति (हेतोः) त्याज्यम्। यज्ञदानतपः-कर्म न त्याज्यम् इति च अपरे ॥

अर्थ— कुछ मनीषी समझे हुए लोग तो कहते हैं कि (सब) कर्म दोषयुक्त हैं, इस लिये वे त्याग देने चाहियें। दूसरे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूपी कर्म न छोडना चाहिये।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

अन्वय–भरतसत्तम, पुरुषव्याघ्र, तत्र त्यागे मे निश्चयं शृणु। पुरुषव्याघ्र त्यागो हि त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥

अर्थ— हे भरतश्रेष्ठ! तथा हे पुरुषश्रेष्ठ! त्यागके विषयमें मेरा निर्णय सुनो त्याग तीन प्रकारका कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

अन्वय–यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं तत् कार्यम् एव। यज्ञः दानं तपः च मनीषिणां पावनानि ॥

अर्थ— यज्ञ, दान, तप रूपी कर्मका त्याग न करना चाहिये। इनको करना ही चाहिये। यज्ञ, दान, और तप बुद्धिमानोंको पवित्र रखनेवाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अन्वय–पार्थ, एतानि अपि तु कर्माणि संगं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति मे निश्चितम् उत्तमं मतम् ॥

अर्थ— हे पार्थ ! इन कर्मोंको आसक्ति तथा फलाभिलाषाको त्यागकर करता रहे, इस प्रकारका मेरा निश्चित श्रेष्ठ मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

अन्वय–नियतस्य कर्मणः तु संन्यासः न उपपद्यते। तस्य मोहात् परित्यागः तामसः परिकीर्तितः॥

अर्थ— नियत (अनिवार्य रूपमें स्वभावसे होनेवाले) कर्मका संन्यास करना शक्य नहीं है। उसका मोहसे किया हुआ त्याग (उसे त्यागनेकी असफल चेष्टा) 'तामस त्याग' कहाता है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

अन्वय–यः यत् कर्म (तत्) दुःखम् एव इति कायक्लेशभयात् (कर्म) त्यजेत् सः राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं नैव लभेत्॥

अर्थ— जो मनुष्य कर्ममात्र दुःखदायी है, यह मानकर शरीरको क्लेश पहुँच जानेके डरसे कर्मको छोड़ बैठता है, वह राजसत्याग करके त्यागके फलसे वंचित रह जाता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥

अन्वय–अर्जुन, यत् नियतं कर्म कार्यम् एव इति संगं फलं च त्यक्त्वा क्रियते स सात्त्विकः त्यागः मतः॥

अर्थ— हे अर्जुन! जब अनिवार्य रूपसे स्वभावसे होनेवाले कर्मको यह कर्तव्य है ऐसा मानकर, आसक्ति और फल (फलाकांक्षा) को त्यागकर, किया जाता है, तब वह 'सात्त्विक (वास्तविक) त्याग' माना जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥

अन्वय–यः अकुशलं कर्म न द्वेष्टि, कुशले न अनुषज्जते, सत्त्वसमाविष्टः छिन्नसंशयः स मेधावी त्यागी॥

अर्थ— जो भौतिक हानिकारक कर्तव्यसे द्वेष नहीं मानता, जो भौतिक फलदायी कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह सत्त्वयुक्त संदेहरहित बुद्धिमान पुरुष 'त्यागी' है॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥

अन्वय–हि देहभृता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं (अतः) यः तु कर्मफलत्यागी सः त्यागी इति अभिधीयते॥

अर्थ— क्योंकि देहधारीसे कर्मोंका त्याग होना किसी प्रकार भी संभव नहीं है, इस अवस्थामें जो केवल कर्मफल (कर्मफलाकांक्षा) का त्यागी है वही सच्चा ' त्यागी ' कहाता है ।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

अन्वय–अनिष्टम् इष्टं मिश्रं च इति कर्मणः त्रिविधं फलम् अत्यागिनां प्रेत्य भवति संन्यासिनां क्वचित् तु न ॥

अर्थ— अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित यह तीन प्रकारका कर्मफल त्यागहीन पुरुषों की कल्पनामें ही भविष्यत्‌में मिलनेवाला होता है (कर्मफल उसे न त्यागनेवालोंकी ही भविष्यत् आशाका विषय रहता है) संन्यासियोंका उस फलसे कोई संबन्ध नहीं होता (वह उनकी भविष्यत् आशाका विषय नहीं होता) ।

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

अन्वय–महाबाहो, सर्वकर्मणां सिद्धये एतानि सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि पंच कारणानि मे निबोध ॥

अर्थ— हे महाबाहु ! सब कर्मोंके निष्पन्न होनेमें सांख्य सिद्धान्तमें कहे हुए इन पांच कारणोंको मुझसे समझलो ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

अन्वय–अधिष्ठानं तथा कर्ता पृथग्विधं करणं च, विविधाः पृथक् चेष्टाः च, अत्र पंचमं दैवं च (सर्वकर्मणां सिद्धये कारणानि) ॥

अर्थ— (१) अधिष्ठान (आधार या स्थान) तथा (२) कर्ता (३) भिन्नभिन्न कारण (४) नानाप्रकारकी पृथक् पृथक् चेष्टा और उनके साथ ही (५) पांचवां दैव (ईश्वरेच्छा), (ये सब कर्मोंके होनेके कारण हैं) ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

अन्वय–नरः शरीरवाङ्मनोभिः न्याय्यं वा विपरीतं वा यत् कर्म प्रारभते तस्य एते पंच हेतवः ॥

अर्थ— मनुष्य अपने शरीर, वाणी और मनसे न्याययुक्त या अन्याययुक्त जो भी कोई कर्म करता है, उसके ये 'पांच कारण' होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

अन्वय–एवं सति तु यः अकृतबुद्धित्वात् तत्र केवलम् आत्मानं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिः न पश्यति ॥

अर्थ— ऐसा (प्रत्येक कर्मके पांचकारण) होने पर भी जो पुरुष अज्ञानी होने के कारण केवल एक अपने आपको ही (कर्मका) कर्ता समझता है, उस दुर्मतिको कुछ नहीं सूझता।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

अन्वय–यस्य अहंकृतः भावः न, यस्य बुद्धिः न लिप्यते, सः इमान् लोकान् हत्वा अपि न निबध्यते ॥

अर्थ— जिसमें अपने कर्तापनकी भावना नहीं है, जिसकी बुद्धि अनासक्त रहती है, वह यदि इस (अत्याचारी, पराधिकारलोलुप) संसारको मार डाले तब भी न तो वह किसीको मारता है और न वह उस मारनेरूपी कर्मसे बंधता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

अन्वय–ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता (इति) त्रिविधा कर्मचोदना, करणं कर्म कर्ता इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः (अस्ति) ॥

अर्थ—कर्म करनेकी प्रेरणामें ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनोंका समावेश रहता है। कर्मके उत्पन्न होनेमें कारण, कर्म तथा कर्ता ये तीन आधार होते हैं।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

अन्वय–ज्ञानं कर्म च कर्ता एव च गुणभेदतः गुणसंख्याने त्रिधा प्रोच्यते, तानि अपि यथावत् शृणु ॥

अर्थ— गुणसंख्यान (सांख्यसिद्धान्त) में गुणोंके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्ता तीन तीन प्रकारके कहे जाते हैं। उन्हें भले प्रकार सुनो।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ २०॥

अन्वय—येन विभक्तेषु सर्वभूतेषु एकम् अविभक्तम् अव्ययं भावम् ईक्षते तत् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि॥

अर्थ— जिस (ज्ञान) के द्वारा पृथक् पृथक् सब भूतोंमें एक ही अविभक्त अव्ययभाव रूपी सत्ता परिज्ञात हो जाती है, उस ज्ञानको 'सात्त्विक (शुद्ध सात्त्विक, त्रिगुणातीत) ज्ञान' जानलो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ २१॥

अन्वय—यत् ज्ञानं सर्वभूतेषु पृथग्विधान् नानाभावान् पृथक्त्वेन वेत्ति, तत् ज्ञानं राजसं विद्धि॥

अर्थ— जिस ज्ञानसे सब भूतोंमें भिन्न भिन्न प्रकारवाले नाना प्राणियोंको न्यारा न्यारा समझा जाता है, उस ज्ञानको 'राजस ज्ञान' (अज्ञान) समझो।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥ २२॥

अन्वय—यत्तु एकस्मिन् कार्ये कृत्स्नवत् सक्तम् अहैतुकम् अतत्त्वार्थवत् अल्पं च तत् तामसम् उदाहृतम्॥

अर्थ— परन्तु जो एक कार्यमें (अर्थात् संसारके एक क्षुद्र शरीररूपी भागमें, या भोगके किसी बाह्य साधनमें) संपूर्णके समान सक्त हो जाता है (उसीको संसारका सर्वस्व मान लेता है), जो बिना ही युक्तिसे स्वीकार करलिया जाता है, जो सत्यसे रहित होता है, जो तुच्छ होता है, वह 'तामस ज्ञान' (अज्ञान) कहाता है।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥ २३॥

अन्वय—यत् कर्म नियतं संगरहितम् अफलप्रेप्सुना अरागद्वेषतः कृतं तत् सात्त्विकम् उच्यते॥

अर्थ—जो कर्म कर्तव्य रूपसे स्वीकृत हो, कर्ता भोक्तापनकी आसक्तिको त्यागकर किया गया हो, फलप्राप्तिकी इच्छा न रखकर किया गया हो, वह कर्म 'सात्त्विक (त्रिगुणबन्धनसे रहित) कर्म' कहाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अन्वय—यत् तु बहुलायासं कर्म कामेप्सुना साहंकारेण वा क्रियते तत् राजसम् उदाहृतम् ॥

अर्थ— जो शक्तिसे अधिक परिश्रमवाला कर्म, फलेच्छु या अहंकारयुक्त बुद्धि रखनेवाले पुरुषसे किया जाता है, वह कर्म 'राजस' कहाता है।

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

अन्वय—यत् कर्म अनुबन्धं क्षयं हिंसां पौरुषं च अनपेक्ष्य मोहात् आरभ्यते तत् तामसम् उच्यते ॥

अर्थ— जो कर्म अनुबन्ध (परिणाम), हानि, आत्मपातित्य और सामर्थ्य-का विचार किये विना प्रारम्भ कर दिया जाता है, वह 'तामस' कहाता है।

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

अन्वय—मुक्तसंगः अनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योः निर्विकारः कर्ता सात्त्विकः उच्यते ॥

अर्थ— जो कर्ता आसक्तिसे रहित है, अहंकारसे रहित है, धैर्य और उत्साहसे युक्त है, भौतिक शुभाशुभ फलमें निर्विकार है, उसे 'सात्त्विक (त्रिगुणातीत) कर्ता' कहते हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

अन्वय—रागी कर्मफलप्रेप्सुः लुब्धः हिंसात्मकः अशुचिः हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

अर्थ— विषयासक्त, कर्मफल पानेकी इच्छा रखनेवाला, लोभी, हिंसाशील, अपवित्राचारी, हर्ष और शोक मनानेवाला कर्ता 'राजस' कहाता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

अन्वय–अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठः नैष्कृतिकः अलसः विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामसः उच्यते ॥

अर्थ— विक्षिप्त चित्तवाला, असभ्य, घमण्डी, धूर्त, दूसरोंका काम बिगाड़नेवाला, आलसी, अप्रसन्न रहनेवाला और दीर्घसूत्री कर्ता 'तामस' कहाता है ।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

अन्वय–धनंजय, मया पृथक्त्वेन अशेषेण प्रोच्यमानं बुद्धेः धृतेः च गुणतः त्रिविधं भेदं शृणु ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! मुझसे पृथक् पृथक् और संपूर्ण रूपसे कहे जाते हुए बुद्धि और धृतिके गुणानुसारी तीन प्रकारके भेदोंको सुनो ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

अन्वय–पार्थ, प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये बन्धं मोक्षं च या वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी ॥

अर्थ— हे पार्थ ! जो प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय-अभयको तथा बन्ध और मोक्षको जानती है, वह बुद्धि 'सात्त्विक' (त्रिगुणातीत) है ।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

अन्वय–पार्थ, यया धर्मम् अधर्मम् च कार्यम् अकार्यम् एव च अयथावत् प्रजानाति सा बुद्धिः राजसी ॥

अर्थ—हे पार्थ ! जिससे धर्म और अधर्मको तथा कार्य और अकार्यको यथार्थ रूपसे (ठीक ठीक) नहीं जानता, वह बुद्धि 'राजसी' (बुद्धिहीनता) है ।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

अन्वय–पार्थ, या तमसा आवृता अधर्मं धर्मम् इति मन्यते सर्वार्थान् च विपरीतान् मन्यते सा बुद्धिः तामसी ॥

अर्थ— हे पार्थ ! जो बुद्धि तमसे व्याप्त होकर अधर्मको धर्म मानती और सब बातों को विपरीत समझ जाती है, वह बुद्धि ' तामसी ' (बुद्धिहीनता) है ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

अन्वय–पार्थ, यया अव्यभिचारिण्या धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः योगेन धारयते सा सात्त्विकी धृतिः ॥

अर्थ— जिस अव्यभिचारिणी (निश्चल) धृतिसे, मन, प्राण तथा इन्द्रियों के व्यापारोंको अनासक्तिके द्वारा करता है, वह धृति ' सात्त्विकी (त्रिगुणातीत) कहाती है ।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

अन्वय–पार्थ अर्जुन, यया तु धृत्या धर्मकामार्थान् धारयते, प्रसंगेन फलाकांक्षी च (भवति) सा राजसी ॥

अर्थ— हे पृथापुत्र अर्जुन ! जिस धृतिसे धर्म, काम और अर्थको सिद्ध करता और प्रसंग (अर्थात् कर्तृत्वाभिमान) से फलकी इच्छा रखता है, वह धृति 'राजसी' (चित्तचांचल्यरूप) है ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

अन्वय–पार्थ, यया (धृत्या) दुर्मेधाः स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदम् एव च न विमुंचति सा धृतिः तामसी ॥

अर्थ— हे पार्थ ! जिस धृतिसे पुरुष दुष्ट बुद्धिवाला होकर निद्रा, भय, शोक, विषाद और मदको नहीं छोड़ता वह धृति ' तामस ' है ।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—इदानीं तु भरतर्षभ, त्रिविधं सुखं मे शृणु; यत्र अभ्यासात् रमते, दुःखान्तं च निगच्छति, यत् तत् अग्रे विषम् इव परिणामे अमृतोपमम् आत्मबुद्धिप्रसादजं तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥

अर्थ— अब हे भरतर्षभ ! मुझसे तीन प्रकारका सुख सुनो । जिसमें (मनुष्य) अभ्यास अर्थात् दृढतासे रम जाता है और दुःखान्तकी अवस्थामें रहता है, जो प्रारंभमें (आपातदृष्टिसे इन्द्रियोंके भौतिक आकर्षणका विरोधी होनेसे) विषतुल्य लगता है, परन्तु परिणाममें (वास्तवमें) अमृतके तुल्य (अमृत ही) होता है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धिकी निर्मलता (अनासक्ति) से प्राप्त होता है, वह सुख 'सात्त्विक' (त्रिगुणातीत) कहाता है ।

भाव—इन श्लोकोंमें भौतिक सुखदुःखके बन्धनसे अतीत 'नित्य सुख'का वर्णन हो रहा है । जिस सुखको इससे प्रथम **सुसुखं कर्तुमव्ययम्** (गीता ९-२) जैसी उत्साहवर्धक भाषामें वर्णन किया है, उसे ही यदि अब इस प्रकार आरम्भमें 'विषतुल्य दुःखदायी' कह दिया जायगा और 'परिणाममें सुखस्वरूप' हो जानेकी कल्पना की जायगी, तो निश्चय ही उसकी नित्यसुखरूपता अस्वीकृत कर डाली जायगी। जो सुख आरम्भमें सुख है, वही अन्ततक सुख बना रह सकता है । जो आरम्भमें दुःख है, वह निश्चय ही अन्ततक दुःखरूप बना रहेगा । दुःख कभी सुखरूपमें रूपान्तरित नहीं होगा । सुख भी कभी दुःखरूपमें प्रतीत या परिणत नहीं हो सकेगा ।

मनुष्य आरम्भमें जिस मानसिक स्थितिको लेकर किसी वस्तुको 'सुख' मानकर अपनाता है, जब तक उसकी वह मनोवृत्ति नहीं बदलती, तब तक वह उसे दुःख नहीं मान सकता । इसी प्रकार जो मनोवृत्ति आरम्भमें किसी वस्तुको 'दुःख' मान लेती है, फिर वह उसे कभी नहीं अपनाती । इसीसे उस वस्तुके परिणामके रूपमें सुख प्राप्त होनेकी आशा करना भी असंभव कल्पना है ।

जिस मनोवृत्तिको लेकर आरम्भसे ही किसी वस्तुको 'दुःख' मान लिया जाता है, निश्चय ही उसको आरम्भमें ही स्वभावसे अस्वीकृत कर देना पड़ता है । दुःख माननेका अभिप्राय दुःखदायी वस्तुको त्याग देना है । किसी वस्तुको विषतुल्यभी मानना और उसे ग्रहण भी करते रहना यह अस्वाभाविक अवस्था है । इस प्रकार

का आचरण अस्वाभाविक मानसिक स्थिति रखनेवाला पुरुष ही कर सकता है; स्वस्थ नहीं।

इस लिये इन श्लोकोंमें नित्य सुखको अपनानेवाली जिस मानसिक स्थितिका वर्णन किया गया है, वह मानसिक स्थिति इन्द्रियों के आपातमधुर बन्धनको त्यागकर, जिस 'नित्य सुख'को अपनाती है, उस नित्य सुखको आपात दृष्टिसे ही 'विषोपम' कहा जा सकता है। क्योंकि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो वह (नित्यसुख) आरम्भमें भी 'अमृतोपम' है और अन्तमें भी 'अमृतोपम' है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ ३८॥

अन्वय–यत् तत् (सुखं) विषयेन्द्रियसंयोगात् (भवति), अग्रे अमृतोपमं परिणामे विषम् इव तत् सुखं राजसं स्मृतम्॥

अर्थ— जो (सुख) विषयों और इन्द्रियोंके संयोगसे मिलता है, जो आपात दृष्टिसे अमृतसा स्वादु लगता है, जो परिणाम (वास्तव) में विष ही होता है वह सुख 'राजस सुख' (दुखःको सुख माननेकी भ्रांति) कहाता है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥ ३९॥

अन्वय–यत् सुखम् अग्रे च अनुबन्धे च आत्मनः मोहनं निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसम् उदाहृतम्॥

अर्थ— जो सुख आरंभमें और परिणाममें मनुष्यको मोहमें फंसानेवाला है, जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमादसे प्राप्त होता है, वह 'तामस सुख' कहाता है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ ४०॥

अन्वय–पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः तत् सत्वं न आस्ति यत् प्रकृतिजैः एभिः त्रिभिः गुणैः मुक्तं स्यात्॥

अर्थ— समग्र संसारमें ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जो प्रकृतिके इन तीनों गुणोंसे रहित हो।

भाव— मनुष्यमात्र आसक्ति या अनासक्ति इन दोनों स्थितियोंमेंसे किसी एकको अपनानेमें स्वतंत्र होता है। आसक्ति त्रिगुणमयी स्थिति है। संसारका एक भी मनुष्य इससे मुक्त नहीं है। आसक्तिकी स्थिति त्रिगुणातीत ज्ञानीके पास भी है। त्रिगुणातीत ज्ञानी आसक्ति-पर विजय प्राप्त करके ही अनासक्त होनेका सौभाग्य प्राप्त करता है।

इस अध्यायमें त्रिगुणातीत शुद्ध सत्त्वका वर्णन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जो मनुष्य त्रिगुणात्मक सत्त्वगुणके बन्धन से मुक्त होकर 'शुद्धसत्त्वस्थ' हो जाता है, उसका आसक्तिपर विजय प्राप्त करना अनिवार्य होता है। त्रिगुणबन्धनके अधिकार में रहकर उसके अधिकारको व्यर्थ करते रहना ही 'शुद्धसत्त्व' का स्वरूप है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ ४१॥

अन्वय—परन्तप, ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च कर्माणि स्वभावप्रभवैः गुणैः प्रविभक्तानि॥

अर्थ— हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंके कर्म प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणों (त्रिगुणबन्धन) ही के कारण विभक्त हो गये हैं।

भाव— अर्थात् यदि मनुष्य सत्त्व-रज-तमनामके त्रिगुणबन्धनको न अप-नाता तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रनामके चार प्रकारके वर्णोंका विभाग न होता, और कर्मोंके भिन्न भिन्न होने के आधारपर उच्च नीच वर्णोंकी इस प्रकारकी कल्पना भी न होती।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ ४४॥

अन्वय—शमः दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवम् एव च, ज्ञानम् विज्ञानम् आस्ति-क्यं स्वभावजं ब्रह्मकर्म॥ शौर्यं तेजः धृतिः दाक्ष्यं युद्धे च अपि अप-

लायनं दानम् ईश्वरभावः च स्वभावजं क्षात्रं कर्म ॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं स्वभावजं वैश्यकर्म, परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्य अपि स्वभावजं (कर्म) ॥

अर्थ— शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान तथा आस्तिक्य यह ब्राह्मणका स्वभावजन्य कर्म है। शूरता, तेजस्विता, धृति, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान, ईश्वरभाव ये क्षत्रियके स्वभावजन्य कर्म हैं। खेती, गोपालन तथा व्यापार ये वैश्यके स्वभावजन्य कर्म हैं। सेवा-रूप कर्म शूद्रका स्वभावजन्य कर्म है।

भाव— इस प्रकारका वर्णविभाग क्योंकि त्रिगुणबन्धनसे उत्पन्न होता है, इस लिये यह निश्चय रूपसे अज्ञानमूलक है। चार वृत्तियोंवाली मनुष्य-ताको चार मनुष्योंमें बांट देना अज्ञानयुक्त कल्पना है। त्रिगुणा-तीत ज्ञानी पुरुषोंमें इस प्रकारका वर्णविभाग होना संभव नहीं है। इस विषयपर गीताके २-३१, ४-१३ तथा ८-३२ श्लोकोंमें विस्तार-पूर्वक विचार किया जा चुका है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

अन्वय—स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः नरः संसिद्धिं लभते। स्वकर्मनिरतः यथा सिद्धिं विन्दति तत् शृणु ॥

अर्थ— अपना कर्तव्यपालन करनेवाला मनुष्य सिद्धिको पाता है। अपने कर्तव्यमें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धिको पाता है, उसे सुनो।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

अन्वय—यतः भूतानां प्रवृत्तिः, येन इदं सर्वं ततं, तं स्वकर्मणा अभ्यर्च्य मानवः सिद्धिं विन्दति ॥

अर्थ— जिसमेंसे सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति हुई है, जिसने इस जगत्को व्याप्त कर रखा है, स्वकर्मसे उस तत्त्वकी पूजा (अनासक्त भावसे कर्तव्य-पालन) करके मनुष्यको सिद्धि मिलती है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् किल्बिषं न आप्नोति ॥

अर्थ— भलेप्रकार पाले हुए (भोगानुकूल फल देनेवाले) परधर्म (इन्द्रियों के धर्म) से विगुण (भौतिक लाभसे हीन) स्वधर्म (आत्मधर्म)

कल्याणकारी है। अनासक्त भावसे स्वीकार किये हुए कर्तव्यको पालन करता हुआ पुरुष कर्मबन्धनरूपी पापको प्राप्त नहीं होता।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

अन्वय—कौन्तेय, सदोषम् अपि सहजं कर्म न त्यजेत्। हि धूमेन अग्निः इव सर्वारम्भाः दोषेण आवृताः ॥

अर्थ— हे अर्जुन! सदोष (बन्धनकी संभावनासे युक्त होते हुए) भी स्वाभाविक (अनिवार्य) कर्मको न छोड़े (छोड़नेकी भ्रान्त इच्छा न करे) क्योंकि धूमसे अग्निके समान सबके सब कर्म (कर्म छोड़ना रूपी कर्म और कर्म करना रूपी कर्म) दोष (बन्धन करनेकी संभावना) से युक्त हैं।

भाव— इस श्लोकमें कर्मत्याग करनेकी भूलका खण्डन किया जा रहा है। जो मनुष्य कर्मत्याग करनेकी भ्रान्त इच्छा करता है, वह अवांछित फलसे बचने और वांछित फलको पानेकेलिये, पहले कर्मको छोड़कर दूसरे किसी कर्मको अपना लेता है। वह अपने मनमें एक कर्मको त्यागने और दूसरेको अपनानेकी दोनों अवस्थाओंमें फलाशारूपी आसक्तिको बैठाये रहता है। मनमें रहनेवाली यह आसक्ति ही 'कर्म-बन्धन' है। बन्धन या दोष कर्ममें नहीं है; किन्तु अज्ञानी पुरुषके मनमें है। बन्धनको कर्ममें समझना भ्रान्ति है। प्रत्येक कर्म आसक्ति या अनासक्ति दोनोंमेंसे किसी एकको अपनानेका अवसर बन सकता है। आसक्तिका अवसर ही कर्मबंधनसे मुक्त अनासक्त बननेका अवसर होता है। क्योंकि प्रत्येक कर्ममें बन्धनकी संभावना है इसी लिये प्रत्येक कर्म बंधन-मुक्तिका कारण बन सकता है। यदि कोई पुरुष कर्मको केवल आसक्तिका अवसर माननेकी भूल करेगा, और इसी लिये उसे त्यागनेकी इच्छा कर बैठेगा, तो निश्चय ही वह अनासक्तिके अवसर से भी हाथ धो लेगा; और इस धोकेमें किसी दूसरे आसक्तिपूर्ण कर्मको ग्रहण करलेगा। अज्ञानी लोग कर्मोंको इसी रूपमें देखनेकी भूलकरते हैं और उन (निरपराधकर्मों)पर बन्धनकारक होनेका वृथा आरोप लगा देते हैं।

कर्म करना जैसे कर्म है, इसी प्रकार कर्मत्यागना भी कर्म है। अज्ञानी पुरुष आसक्ति रखकर कर्म करता है और आसक्ति रखकर ही कर्मत्यागरूपी कर्म करता है। वह कर्म करके भी आसक्तिरूपी बन्धनमें रहता है और कर्मत्यागरूपी कर्म करते समय भी आसक्ति-रूपी बन्धनमें रहता है। वह जब कर्म छोड़नेकी भ्रान्ति करता है, तब पहले कर्मके स्थानपर दूसरे कर्मको अपनाते समय आसक्तिसे ही पहले कर्मको छोड़ता है और आसक्तिसे ही दूसरे को अपनाता है। वह कर्म करने और उसे त्यागनेकी दोनों स्थितियोंमें आसक्तिरूपी बन्धनमें रहता है।

जैसे धूम अग्निका नित्य साथी है, इसी प्रकार 'बन्धनसंभावना' भी कर्मका नित्य साथी है। अज्ञानी आसक्त होकर सब कर्मोंको करता हुआ बन्धनको अपनाये रहता है। ज्ञानी अपनी अनासक्तिरूपी ज्ञानाग्निको प्रज्वलित रखता हुआ उस 'बन्धनसंभावना' रूपी धूम को व्यर्थ करता रहता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

अन्वय–सर्वत्र असक्तबुद्धिः जितात्मा विगतस्पृहः संन्यासेन परमां नैष्कर्म्य-सिद्धिम् अधिगच्छति ॥

अर्थ— कहीं भी बुद्धिको आसक्त न होने देनेवाला, मनको वशमें रखनेवाला, स्पृहाशून्य पुरुष संन्यास (कर्मफलत्याग) के द्वारा नैष्कर्म्य (कर्म-बन्धनरहित स्थिति रूपी) सिद्धिको प्राप्त रहता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

अन्वय–सिद्धिं प्राप्तः पुरुषः ज्ञानस्य या परा निष्ठा तत् ब्रह्म यथा आप्नोति तथा मे समासेन एव निबोध ॥

अर्थ— (नैष्कर्म्यरूप) सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष ज्ञानकी परा निष्ठा, उस ब्रह्मको जिस रीतिसे प्राप्त रहता है, उसे मुझसे संक्षेपमें सुनो।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

अन्वय–विशुद्धया बुद्धया युक्तः धृत्या आत्मानं नियम्य च, शब्दादीन् विषयान् त्यक्त्वा, रागद्वेषौ व्युदस्य च, विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः नित्यं ध्यानयोगपरः वैराग्यं समुपाश्रितः अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य निर्ममः शान्तः ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

अर्थ— विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर, धैर्यसे मनको संयत करके, शब्द आदि विषयोंमें अनासक्त रहकर, रागद्वेषोंको त्यागकर, विविक्तसेवी (संसारबन्धन न माननेवाली मानासिक स्थितिमें रहनेवाला), लघ्वाशी (त्यागसे विषयोंका उपयोग करनेवाला), मन, वचन तथा कर्मको संयत रखनेवाला, प्रत्येक क्षण आत्माचिन्तन करनेवाला, वैराग्यसे युक्त (विषयासक्तिमें ब्रह्मानन्दका अभाव देखनेवाला), अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह (पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि) को त्यागकर शांत तथा ममताहीन बना हुआ मनुष्य ब्रह्मरूप होचुकता है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥ ५५ ॥

अन्वय–ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, सर्वभूतेषु समः परां मद्भक्तिं लभते ॥ (अहं) यः च यावान् च अस्मि भक्त्या मां तत्त्वतः जानाति । ततः तत्त्वतः ज्ञात्वा तदनन्तरं मां विशते ॥

अर्थ— ब्रह्मरूप हुआ पुरुष प्रसन्नात्मा होता है । वह न द्वेष करता है और न कोई मांग करता है । वह सब भूतोंमें समदृष्टि होकर आत्माके परम-प्रेमको प्राप्त कर चुका होता है । वह पुरुष आत्मा जो है, जैसा है, भक्तिसे उसके उस तात्त्विक रूपको जान जाता है । वह आत्माको तत्त्वसे जानते ही तत्क्षण आत्मामें (ऐक्य भावसे) प्रविष्ट हो जाता है ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

अन्वय–मद्व्यपाश्रयः सर्वकर्माणि सदा कुर्वाणः अपि मत्प्रसादात् शाश्वतम् अव्ययं पदम् अवाप्नोति ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! आत्मतत्त्वका आश्रय करनेवाला सब कर्मोंको सदा करता हुआ भी आत्मतत्त्वकी कृपा (ज्ञान) से सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हुआ रहता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

अन्वय–सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य मत्परः बुद्धियोगम् उपाश्रित्य सततं मच्चित्तः भव ॥

अर्थ— इस लिये तुम सब कर्मोंके कर्तापनको मनसे आत्मतत्त्वमें समर्पित करके आत्मपरायण होकर 'बुद्धियोग'के आश्रयसे निरन्तर आत्म-स्वरूप हुए रहो ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥ ५८ ॥

अन्वय–मच्चित्तः मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि । अथ चेत् त्वम् अहंकारात् न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥

अर्थ— तुम आत्मस्वरूप हो जानेपर आत्मज्ञानसे सब कठिनाइयोंको पारकर जाओगे । यदि तुम अहंकारके वशमें फंसकर हमारी बात न मानोगे तो पतित हो जाओगे ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

अन्वय–यत् अहंकारम् आश्रित्य न योत्स्ये इति मन्यसे एषः ते व्यवसायः मिथ्या प्रकृतिः त्वां नियोक्ष्यति ॥

अर्थ— जो कि तुम अहंकारमें भरकर मैं युद्ध नहीं करूंगा, ऐसा माने बैठे हो यह तुम्हारा निश्चय व्यर्थ हो कर रहेगा । तुम्हांरा स्वभाव तुम्हें युद्धमें लगाकर छोड़ेगा ।

भाव— इस श्लोकसे यह अभिप्राय प्रतिध्वनित किया जा रहा है कि अर्जुन किसी भी अवस्थामें युद्धको नहीं त्याग सकता था । इस युद्धमें अर्जुनके समान और भी बहुतसे योद्धा थे । निश्चय ही उनमेंसे कुछ ज्ञानी और कुछ अज्ञानी होंगे । उन सबके सामने भी अर्जुनके समान

ही ममताको छोडने या न छोडनेका प्रश्न आया होगा। परन्तु उनमेंसे कोई भी युद्धको त्यागकर नहीं गया। उन सबने अपने ही मनसे प्रश्न किया होगा और सबने अपने ही मनसे उसका उत्तर भी दिया होगा। जबकि उनमेंसे किसीके भी सामने युद्धको त्यागकर भाग-जानेका प्रश्न नहीं आया;तब निश्चय ही अर्जुनके मनमें भी युद्धको त्याग-कर भागजानेका प्रश्न नहीं आया था। उसका आना अस्वाभाविक था।

यदि उस समय अर्जुनके पास श्रीकृष्ण जैसे ज्ञानी पुरुष उप-स्थित न होते तो यह चर्चा 'गीता'के रूपमें जन्म न लेती। यदि उस समय वहां श्रीकृष्ण न होते तो इस प्रश्नको अर्जुनने स्वयं ही अपनी बुद्धिके अनुसार सुलझा लिया होता और तब वह भी अपने अन्य साथियोंके समान युद्धको अनिवार्य मानकर उसमें संलग्न होगया होता। अर्जुनने देखा कि ज्ञानी श्रीकृष्णकी विद्यमानतासे लाभ उठा लेना चाहिये। इस लिये उसने अपने मनके तात्कालिक प्रश्नको अकेले निर्णीत न करके, श्रीकृष्णके साथ बात करके निर्णय कर लिया।

वस्तुतः अन्य योद्धाओंके समान अर्जुन भी युद्धको छोडकर चले जानेकी स्थितिको कदापि नहीं अपनासकता था। अर्जुनके सामने युद्ध त्यागनेका प्रश्न नहीं था। किन्तु युद्धके संबंधमें दृष्टिकोणका ही प्रश्न था। उसके सामने युद्धस्थलमें ज्ञानी रहकर युद्ध करने या अज्ञानी बने रहकर युद्ध करनेकी दो स्थितियोंमेंसे किसी एकको अपनाकर युद्ध करनेका प्रश्न स्वाभाविक रूपसे उपस्थित होगया था। यदि अर्जुनने ज्ञानके उपदेशको न अपनाया होता, तो वह अनासक्त होकर ज्ञानी योद्धाओंके समान युद्ध न करता, किन्तु अज्ञानी योद्धाओंके समान आसक्त होकर युद्ध करता। इस विचारसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्जुन युद्धसे भागनेकी स्थितिको स्वीकार करलेता, यह कोरी कल्पना ही कल्पना है।

इस श्लोकसे यह कल्पना स्पष्ट खंडित हो रही है कि यदि कृष्ण-भगवान् अर्जुनको समझा बुझाकर तथा 'विश्वरूप' नामक ऐन्द्रजालिक दृश्य दिखाकर, उसे युद्धके लिये सन्नद्ध न करते तो अर्जुन युद्धको छोडकर भाग जाता।

अर्जुन जिस ज्ञानकी स्थितिमें रहकर कुरुक्षेत्रका युद्ध लडनेके लिये उद्यत हो गया था, उस ज्ञानकी स्थितिको समझनेके लिये उस

अवसरपर कृष्णभगवान्के साथ उसकी जो चर्चा हुई थी, वही महाभारतकारकी कृपासे गीतोपदेशका रूप धारण कर गयी।

कहनेका अभिप्राय यही है कि गीतोपदेशने आकर युद्धविमुख अर्जुनको युद्धोन्मुख करादिया यह कल्पना असत्य है । वस्तुतः श्रीकृष्णकी सहायता न मिलनेपर युद्धार्थी अर्जुनकी विचारबुद्धि युद्धविमुखताके प्रश्नको स्वयं ही हटाती। परन्तु इस अवसरपर कृष्ण-भगवान्के उपस्थित होनेसे, उनके साथ विचारविनिमय करनेका सु-अवसर हाथ आगया। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुन ज्ञानकी स्थितिको समझ गया। अब वह युद्धको कर्तव्य समझकर करनेकी स्थितिमें आगया।

अर्जुनने युद्ध न करनेका मुख्य कारण 'स्वजनहीन होकर जीवित रहनेकी अनिच्छा' को बताया है। परन्तु इस बातके साथ ही अर्जुन यह समझता ही होगा कि इस युद्धक्षेत्रसे उसके भागजानेपर भी भीम जैसे कठोर स्वभाववाले पुरुषके नेतृत्वमें संचालित होनेवाली सेना, उसके साथ युद्धक्षेत्र नहीं छोड़ेगी। अर्जुनके हट जानेपर भी युद्ध होता और सबके सब मरते और तब भी अर्जुनको स्वजनहीन होकर अकेले ही दिन काटने पड़ते। वस्तुतः स्वजनहीन बनकर जीवित रहनेकी दुःखमयी संभावना, युद्ध करनेकी अपेक्षा युद्ध त्यागनेमें अधिक थी। क्योंकि युद्ध करनेमें स्वजनोंके साथ मरजानेकी संभावना भी थी जो कि शोकावसरको नष्ट करदेनेवाली थी। परन्तु युद्ध छोड़देनेपर तो अकेलेका स्वजनहीन, शोकपूर्ण जीवनमें रहना ही निश्चित था। इन सब बातोंपर पूर्वापर विचार किया जाय तो यही प्रतीत होता है, कि अर्जुनके लिये ज्ञानी या अज्ञानी दोनों स्थितियोंमें, युद्ध करनेका निश्चय करना ही अनिवार्य था, जैसा कि इस श्लोकसे ध्वनित हो रहा है। अर्जुनके कृष्णको सारथि रूपमें पानेका परिणाम यह हुआ कि अब वह ज्ञानी बनकर युद्ध करनेको उद्यत है।

यदि गीतोपदेशका अभिप्राय अर्जुनको लड़ाना ही होता, तो इतना लम्बा चौड़ा उपदेश न देकर केवल डेढ बात कहनेसे काम चल जाता तब अर्जुनको केवल इतना बतानां पर्याप्त होता कि 'यदि तुम स्वजन-

हीन होनेकी दुःखमयी स्थितिसे बचना चाहते हो, तो रणक्षेत्रसे मत हटो। क्योंकि यहां तो तुम मरकर इस दुःखमयी स्थितिसे बच भी सकते हो। परन्तु यदि तुम युद्धक्षेत्र छोड़दोगे तो यह दुःखमयी स्थिति तुम्हारे लिये निश्चित हो जायगी'। यदि अर्जुनको जिस किसी प्रकार लड़ाना ही अभिप्रेत होता तो उससे यह कहना चाहिये था कि 'यदि तुम युद्धक्षेत्र त्यागकर भाग भी जाओगे तो भी दूसरे लोग तुम्हारे साथ नहीं जायंगे। तुम यहांसे भागकर अपने आप ही अपनेको स्वजनहीन करलोगे। यदि तुम यहांसे न भागोगे तो तुमको स्वजनोंको साथ मर जानेका अवसर मिल सकना भी संभव है। तुम इन दोनों अवस्थाओंमेंसे एकको चुनलो'।

इन सब विवेचनोंसे यही निश्चय होता है कि अर्जुनको युद्धप्रेरणा देना गीतोपदेशका अभिप्राय नहीं था। किन्तु उसे स्थितप्रज्ञ, बुद्धि-युक्त, योगारूढ, कर्मयोगी, भक्त बनाना और कर्तव्यपालन करनेकी शोकातीत स्थितिके साथ परिचित करा देना गीतोपदेशका अभिप्राय था।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

अन्वय—कौन्तेय, यत् मोहात् न कर्तुम् इच्छसि तत् अपि स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः अवशः करिष्यसि ॥

अर्थ— हे अर्जुन! तुम मोहवश होकर जिस (युद्धरूपी कर्म) को न करने (छोड़ने) की इच्छा कर रहे हो, उसे ही अपने स्वभावजन्य कर्मसे बंधे हुए होनेके कारण बेबस होकर करोगे।

भाव— इस श्लोकका अभिप्राय यही है कि कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है। मनुष्य इस अपने स्वभावके सामने विवश है। इस अपनी विवशताको न समझनेवाला मनुष्य कर्म छोड़नेकी केवल इच्छा ही इच्छा कर सकता है। मनुष्यके वशमें यह बात नहीं है कि वह कर्मको सर्वथा छोड़ सके। मनुष्य कर्मको बदल सकता है। अज्ञानसे कर्मको छोड़नेवाला मनुष्य दूसरे किसी अज्ञानजनित कर्मको अपनालेता है। मनुष्यको चाहिये कि वह कर्म छोड़नेको

अपना अनधिकार जान ले और ऐसी अनधिकारचेष्टा कभी न करे; किन्तु कर्म करते समय अपने ज्ञानी बने रहनेके अधिकारमें रहे ।

रणक्षेत्रमें अर्जुनके लिये दूसरे किसी कर्मको ग्रहण करनेका अवसर नहीं था । क्योंकि वहांकी प्रत्येक परिस्थिति उसे युद्धके लिये विवश करनेवाली थी ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

अन्वय—अर्जुन, यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ॥ भारत, सर्वभावेन तम् एव शरणं गच्छ । तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं स्थानं प्राप्स्यसि ॥

अर्थ— हे अर्जुन ! सब यन्त्रारूढ (शरीररूपी कर्मयन्त्रको अपनानेवाले) मनुष्योंको मायासे कर्मोंमें प्रवृत्त करता हुआ ईश्वर, सब मनुष्योंके हृदयदेशमें बस रहा है । हे भारत ! इस लिये तुम सर्वभावसे उस अपने हृदयवासी ईश्वरकी शरणमें चले जाओ । तुम्हें उसकी प्रसन्नतासे परम शान्ति और नित्यस्थान प्राप्त हो जायगा ।

भाव— गीताके बहुतसे श्लोकोंमें कृष्णभगवान्ने जो ‘ अस्मत् ’ शब्दका प्रयोग किया है, इस श्लोकमें आकर स्वयं ही उसका मर्म खोल दिया है । इस श्लोकमें उन्होंने यह बतादिया कि मेरे अपने लिये प्रयुक्त ‘अस्मत्’ शब्दको आत्मतत्त्वका ही वाचक मानना चाहिये । इसी लिए इस टीकामें सर्वत्र ‘ अस्मत् ’ शब्दका अर्थ आत्मतत्त्व किया गया है । इन श्लोकोंमें व्यवहृत ‘ तत् ’ और ‘ईश्वर’ शब्दोंके द्वारा इसी मन्तव्यका स्पष्ट समर्थन हो रहा है । **तमेव चाद्यं शरणं प्रपद्ये** में भी कृष्णभगवान्ने इसी बातका संकेत किया है । इन श्लोकोंमें अर्जुनको स्पष्ट भाषामें अपने ही हृदयवासी आत्मतत्त्वको ईश्वर बताते हुए उसीकी शरणमें जानेका उपदेश दिया है ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

अन्वय–इति गुह्यात् गुह्यतरं ज्ञानं मया ते आख्यातम्। एतत् अशेषेण विमृश्य यथा इच्छसि तथा कुरु ॥

अर्थ— मैंने यह गुह्यसे भी गुह्य ज्ञान तुमसे कहा है। इसपर पूर्ण रूपसे विचार करो और फिर जो इच्छा हो सो करो।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

अन्वय–सर्वगुह्यतमं मे परमं वचः भूयः शृणु। मे दृढम् इष्टः असि ततः इति ते हितं वक्ष्यामि ॥

अर्थ— मेरी एक सबसे अधिक गुह्य (रहस्यपूर्ण) बात अन्तमें और भी सुनलो। तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो इसीसे यह हितकी बात तुम्हें बताने लगा हूं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यासि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

अन्वय–मन्मना भव। मद्भक्तः (भव) मद्याजी (भव) मां नमस्कुरु। अहं ते सत्यं प्रतिजाने माम् एव एष्यसि। मे प्रियः असि ॥

अर्थ— आत्मामें अपना मन रखो, आत्माके भक्त हो जाओ, आत्माका यजन करनेवाले बने, आत्माको नमस्कार (ऐक्यभावना रूपी प्रह्वीभाव) करो। मैं तुमसे सत्य कहता हूं कि तुम आत्मा ही हो जाओगे। क्योंकि तुम्हारे मनमें आत्मभाक्ति (आत्माके प्रकट होनेकी योग्यता) विद्यमान है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

अन्वय–सर्वधर्मान् परित्यज्य एकं मां शरणं व्रज। अहं त्वा (त्वां) सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

अर्थ— सब धर्मों (ईश्वरप्राप्तिके साधन समझे हुए सब प्रकारके धर्मों) को छोड़कर एक आत्मतत्त्वको ही अनन्यभावसे आश्रय करो। तुम्हारा अपनाया हुआ आत्मतत्त्वरूपी ईश्वर तुमको सब बन्धनोंसे मुक्त कर देगा।

भाव— आत्मा ही आत्मप्राप्तिका साधन है। इसको अपनालेनेके अतिरिक्त इसे प्राप्त करनेका दूसरा कोई साधन नहीं है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

अन्वय–इदम् ते (इदम्) अतपस्काय न वाच्यम् अभक्ताय कदाचन न (वाच्यम्) अशुश्रूषवे न वाच्यं यः माम् अभ्यसूयति (तस्मै) न वाच्यम् ॥

अर्थ— यह तुम जैसे आत्मज्ञानीके लिये है । इसे किसी ऐसे मनुष्यसे मत कहना जो अतपस्वी, अभक्त, अशुश्रूषु और ईश्वरनिन्दक हो ।

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

अन्वय–यः इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेषु अभिधास्यति सः मयि परां भक्तिं कृत्वा असंशयः माम् एव एष्यसि ॥ मनुष्येषु कश्चित् तस्मात् मे प्रियकृत्तमः न च । तस्मात् अन्यः मे प्रियतरः भुवि न च भविता ॥

अर्थ— जो इस परम गुह्य ज्ञानको आत्मप्रेमियोंको सुनायेगा, उसका यह सुनाना भी आत्माकी परम भक्ति होगा । वह निःसंदेह आत्मतत्त्वको प्राप्त होकर रहेगा । मनुष्योंमें कोई भी उसकी अपेक्षा आत्माका प्रिय करनेवाला न होगा । उसकी अपेक्षा आत्माका अधिक प्रिय इस संसारमें दूसरा कोई भी न होगा ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

अन्वय–यः च आवयोः इमं धर्म्यं संवादम् अध्येष्यते तेन ज्ञानयज्ञेन अहम् इष्टः स्याम् इति मे मतिः ॥

अर्थ— जो कोई हम दोनोंके इस धर्मयुक्त संवादको समझेगा, आत्मतत्त्व उसके ज्ञानयज्ञसे पूजित हो जायगा, ऐसा मैं समझता हूं ।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

अन्वय–श्रद्धावान् अनसूयः च यः नरः (इमम् आवयोः धर्म्यं संवादं) शृणुयात् अपि सः अपि मुक्तः पुण्यकर्मणां शुभान् लोकान् प्राप्नुयात् ॥

अर्थ— जो श्रद्धा करनेवाला तथा अनिन्दक मनुष्य इस हमारे धर्मयुक्त संवादको सुन भी लेगा (सुनकर भी समझ लेगा) वह भी मुक्त होकर ज्ञानियोंकी अनासक्त स्थितिको प्राप्त हो जायगा ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अन्वय—पार्थ, कच्चित् एतत् त्वया एकाग्रेण चेतसा श्रुतम् ? धनंजय, कच्चित् ते अज्ञानसंमोहः प्रनष्टः ?

अर्थ— पार्थ ! क्या तुमने यह सब एकाग्र चित्तसे सुन लिया ? हे धनंजय ! क्या तुम्हारा अज्ञानमोह नष्ट हो गया ?

अर्जुन उवाच (अर्जुन बोले)

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

अन्वय—अच्युत, त्वत्प्रसादात् मोहः नष्टः । मया स्मृतिः लब्धा । गतसंदेहः स्थितः अस्मि । तव वचनं करिष्ये ॥

अर्थ— हे अच्युत ! आपकी कृपासे मोह नष्ट हो गया । मुझे कर्तव्यका ध्यान आगया । मैं अब निःसंदेह हो चुका हूं । मैं आपके उपदेशानुसार ज्ञानपूर्वक युद्ध करूंगा ।

संजय उवाच (संजय बोले)

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

अन्वय—इति अहं वासुदेवस्य महात्मनः पार्थस्य च इमम् अद्भुतं रोमहर्षणं संवादम् अश्रौषम् ॥

अर्थ— इस प्रकार मैंने वासुदेव तथा महात्मा अर्जुनका यह अद्भुत रोमांचकारी संवाद सुना है ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

अन्वय—व्यासप्रसादात् अहम् एतत् परं गुह्यं योगं साक्षात् कथयतः स्वयं योगेश्वरात् कृष्णात् श्रुतवान् ॥

अर्थ— मैंने व्यासजीके अनुग्रहसे इस परमगुह्य योगको साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णसे सुना है ।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

अन्वय—राजन्, केशवार्जुनयोः इमं पुण्यम् अद्भुतं च संवादं संस्मृत्य संस्मृत्य मुहुःमुहुः हृष्यामि ॥

अर्थ— हे राजन् (धृतराष्ट्र)! केशव तथा अर्जुनके इस पुण्यकारक अद्भुत संवादको स्मरण कर करके वार वार हर्षित हो रहा हूं ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

अन्वय—राजन् (धृतराष्ट्र), हरेः तत् अति अद्भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयः । अहं पुनः पुनः हृष्यामि च ॥

अर्थ— हे राजा (धृतराष्ट्र)! हरिका वह अति अद्भुत रूप वार वार स्मृतिपर आ आकर मुझे बड़ा विस्मय हो रहा है और बार बार हर्ष हो रहा है ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

अन्वय—यत्र योगेश्वरः कृष्णः, यत्र धनुर्धरः पार्थः, तत्र श्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिः (इति) मे मतिः ॥

अर्थ— जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं श्री, विजय विभूति और अचलनीति है ऐसा मेरा मत है ।

भाव— प्रश्नकर्ता जिस मनोभावसे प्रश्न करता है, वह भाव उत्तरदाताके अन्तिम उत्तरसे स्पष्ट होता है । गीताके प्रथम श्लोकमें धृतराष्ट्रने दुर्योधनकी विजयसंभावना सुननेकी छिपी हुई इच्छाको लेकर ही संजयसे युद्धकी परिस्थितिके विषयमें प्रश्न किया था । यह बात प्रथम श्लोककी व्याख्यामें कही जा चुकी है । वहां वैसी व्याख्या करनेका आधार (कारण) इस श्लोकमें विद्यमान है । इस श्लोकमें संजय धृतराष्ट्रके कहे हुए गीताके प्रथम श्लोकका यह उत्तर दे रहा है कि युद्धकी वर्तमान परिस्थितिमें पाण्डवपक्षकी विजय निश्चित है । यदि तुमने कौरवोंकी विजयके लिये अपने मनमें अब भी कोई आशा बना रखी हो, तो वह तुम्हारी भ्रान्ति है ।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

गीतापरिशीलनभाष्य समाप्त ।

गीतापरिशीलन—परिशिष्ट

पहला प्रकरण

गीतोपदेशका अभिप्राय

सब योद्धाओंके मनमें अर्जुनके समान भावोंकी संभावना।

अर्जुनने कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें डटी हुई दोनों युद्धार्थी सेनाओंके बीचमें खडे होकर, जो दृश्य देखा था, उसे उसीने नहीं, किन्तु प्रत्येक युद्धार्थीने देखा था। उस समय उसके मनमें जो प्रश्न उठा था, उसने प्रत्येक युद्धार्थीके मनको व्याकुल किया होगा। जहां स्वाभाविक शत्रुता होती है, वहीं एक दूसरे पर निःसंकोच प्रहार करना संभव होता है। इस युद्धक्षेत्रमें किसीसे किसीकी स्वाभाविक शत्रुता नहीं थी। प्रत्युत सबके सामने अपने अपने मोहपात्र(संबंधी) लोहा लेनेकेलिये खडे थे। यह मान लेना पडता है, कि तब सब युद्धार्थियोंने युद्धक्षेत्रमें उतरते ही, इस संबन्धमें, या तो मनही मन, या उस समय अपने-पास खडे हुए किसी साथींसे, इस रूपमें क्षणिक चर्चा अवश्य छेडी होगी, कि 'क्या हम इन स्वजनोंका वध करनेकेलिये ही इस रणक्षेत्रमें आये हैं? और क्या ऐसा करना हमारे लिये उचित है?' इस विचारके पश्चात् जब उन्हें इस संहारलीलासे बचनेका कोई उचित कारण न दीखा होगा, तब उन सबने, इस युद्धको अनिवार्य पाया होगा, और वे सब इसे अपना कर्तव्य मानलेनेके लिये विवश होगये होंगे।

अर्जुनके लिए युद्ध अनिवार्य था।

उस समय अर्जुनके पास दैवयोगसे श्रीकृष्ण विद्यमान थे। दूसरे युद्धार्थियों-के समान उसने भी इस विषयकी चर्चा, अपने उस समयके साथी श्रीकृष्णसे छेडी थी। प्रतीत होता है कि यह चर्चा दूसरोंकी चर्चासे कुछ अधिक देर तक होती रही थी। युद्धविमुखता या युद्धतत्परताके विचारकी दृष्टिसे इस चर्चाका दूसरी चर्चाओंसे अधिक महत्त्व नहीं था। क्योंकि अर्जुनके पास भी दूसरे योद्धाओंके समान युद्धक्षेत्रको त्यागनेकी मनोदशा नहीं थी।

महाभारतमें श्रीकृष्णार्जुनसंवादके उल्लेखका कारण।

महाभारतकार महर्षि व्यासदेवने, इस संवादको महत्त्व देकर, इसे चित्ता-कर्षक विस्तृत रूपमें इस लिये उपस्थित किया है, कि यह संवाद श्रीकृष्ण जैसे ज्ञानीके साथ हुआ था। देशकाल तथा पात्रोंकी योग्यता तथा विषयकी महत्ताके कारण, इसे महाभारतकारकी लेखनीमें आनेका पूर्ण अधिकार था।

परन्तु यह स्वीकार करनेका कोई भी उचित कारण नहीं है, कि गीताका अभिप्राय अर्जुनको युद्धके लिये प्रेरित करना था।

अर्जुन संन्यास लेकर, भीख मांगकर, जीवन बितानेके लिये उद्यत नहीं था।

उस समय अर्जुनके मनमें संन्यासकी स्थिति आनेका गीतामें कोई प्रमाण नहीं है। अर्जुनकी संन्यास लेनेकी इच्छा, गीताके टीकाकारोंकी कल्पना है। गीताकारने, उस दृश्यको देखकर सब योद्धाओंके मनमें उठे हुए स्वाभाविक प्रश्नको अकेले अर्जुनके शब्दोंमें यों कहा है कि इन स्वजनोंको मारकर जीवित रहूंगा तो मुझे सुख कैसे मिलेगा? इससे तो अच्छा है कि मैं भीख मांगने लगूं। मुझे राज्यसुखकी कौनसी आवश्यकता है? अर्जुनके मनमें उस समयके दृश्यको देखकर जो स्वाभाविक भाव उठे थे, महाभारतकारने उनको अपनी भाषामें व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है। भिक्षाजीवन ग्रहण करनेकी बातको 'अर्जुनकी संन्यासेच्छा' कहना सर्वथा भ्रान्ति है। उसका स्पष्ट कारण यह है कि यदि उसके मनमें संन्यासकी स्थिति आगयी होती, तो उसे स्वजनोंके साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु वह तो अपने मनमें स्वजनसुखकी इच्छाको सुरक्षित रखकर भिक्षा नामके कर्मको ग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट करता हुआ पाया जा रहा है। उसकी इस बातको भिक्षाजीवन बितानेका दृढ निश्चय नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यह भाषा उस समयके कर्तव्यके विद्रोही बने हुए अर्जुनकी मनोदशाको व्यक्त करनेकेलिये लिखी गयी है। किसी कामकी निन्दा करनेकेलिये आज भी भाषामें ऐसा कहनेकी परिपाटी पायी जाती है कि 'इस कामसे तो भीख मांगना अच्छा है'। इस भाषासे यह भाव नहीं निकाला जा सकता कि अर्जुनने अपने मनमें भिक्षा मांगकर जीवन बितानेको श्रेष्ठ मान लिया था।

अर्जुन सुखसे स्वजनोंकेसाथ रहनेकेलिए ही युद्ध त्यागना चाहता था।

गीताके शब्दोंके अनुसार अर्जुनकी स्वजनोंके साथ सुखसे जीनेकी इच्छा ही युद्धका विरोध कर रही थी। यह नहीं कहा जा सकता कि यह विरोध केवल अर्जुनके ही मनमें था। इस प्रकारका विरोध अर्जुनके समान दूसरे योद्धाओंके मनमें भी चल रहा था। उस समय सबके सामने इस विरोधके समाधानके केवल दो मार्ग थे (१) या तो इस भावनाको सुधारकर, ज्ञानी

होकर, संतोषसे युद्ध किया जाय, या (२) पश्चात्ताप करनेवाले अज्ञानी दुखिया बने रहकर, अपनेको युद्धकेलिये विवश मानकर युद्ध किया जाय।

गीतोपदेशका अभिप्राय अर्जुनको युद्धकेलिये प्रेरित करना नहीं था, किन्तु ज्ञानी बनाकर कर्तव्य कराना था।

यदि अर्जुन युद्धस्थलसे चला भी जाता तो भी, अब उसका स्वजनोंके साथ रह सकना संभव नहीं रहा था। अब उसकेलिये यह अनिवार्य हो गया था कि वह या तो अपनेको विवश मानकर युद्ध करे, या युद्धको अपने कर्तव्य अर्थात् स्वधर्मके रूपमें स्वीकार करे। यदि यह मान लिया जाय कि अर्जुनने युद्धत्यागका निश्चय कर लिया था, और श्रीकृष्ण उसे जिस किसी प्रकार लड़ाना ही चाहते थे, तो गीताकारको इस कामकेलिये कृष्ण भगवान्के मुखसे इतनी लम्बी चौड़ी, उकतानेवाली, प्रसंगसे बाहरकी बात सुनवानेकी कोई आवश्यकता न होती। तब गीताकारको उनके मुखसे, अर्जुनके प्रति यह कहलाकर, उसकी दुराशाका खण्डन करा देना चाहिये था कि 'तुम जिस सुखकेलिये युद्ध छोडना चाह रहे हो, वह सुख तुम्हें युद्धस्थलको त्यागकर चले जानेपर भी नहीं मिल सकेगा। क्योंकि तुम्हारे युद्धके साथी युद्धत्यागमें तुम्हारा साथ नहीं देंगे। यह युद्ध अवश्यंभावी है। यदि तुम इस अवश्यंभावी युद्धको त्यागकर चले भी जाओगे, तब भी उसका वही परिणाम होगा जिससे तुम बचना चाह रहे हो'। यदि अर्जुनने युद्धत्यागका निश्चय कर लिया होता तो उसे समझानेकेलिये उपर्युक्त युक्ति पर्याप्त होती। तब इतने लम्बे चौड़े उपदेशकी कोई आवश्यकता न पड़ती।

वास्तविकता यह है कि इतना विस्तृत उपदेश अर्जुनको ज्ञानी बनानेकेलिये ही प्रवृत्त हुआ था; केवल युद्धप्रेरणा देनेकेलिये नहीं। गीतोपदेश उस अर्जुनको दिया गया था जिसके पास युद्धसे बचनेकी कोई स्थिति नहीं रही थी, जिसकेलिये युद्ध करना अनिवार्य बन चुका था। गीतोपदेशने आकर यह निर्णय नहीं किया कि अर्जुन युद्ध करे या न करे? किन्तु यह निर्णय किया है कि अर्जुन युद्धको लाभालाभ, जयपराजय आदि भावनाओंसे मुक्त होकर, ज्ञानकी सुखदुःखातीत, निर्विकार, आनन्दमयी, अनासक्त-स्थितिमें रहकर, अपने कर्तव्यरूपमें स्वीकार करे।

गीताकी रचना मानवसमाजके कल्याणकी दृष्टिसे हुई है।

श्रीकृष्णने अर्जुनको अनासक्त होकर कर्म करनेका उपदेश दिया था। महाभारतकारने श्रीकृष्णके इसी उपदेशको आधार बनाकर, ज्ञानकी स्थितिका विशद् वर्णन करनेकेलिये, समग्र मानव समाजके कर्तव्यशास्त्रके रूपमें 'गीता'का निर्माण किया है। उनका अभिप्राय मनुष्यको यह समझाना है, कि यह समग्र संसार 'संग्रामक्षेत्र' है। जो कर्म मनुष्यमात्रको अनिवार्य रूपसे करना पड़ रहा है, वह कर्म ही 'मनुष्यजीवनमें लड़ा जानेवाला संग्राम' है। इस 'संग्राम'से निवृत्त रहना किसीके भी वशमें नहीं है। प्रत्येक मनुष्य इस संग्रामको लड़नेकेलिये विवश है। जो संग्राम मनुष्यको विवश होकर भी लड़ना ही पड़ेगा, मनुष्य उस कर्म नामके अनिवार्य संग्रामको ज्ञानकी स्थितिमें रहकर करे, यही 'सफल-जीवन'की अवस्था है। इसीको सुखदुःखातीत ब्रह्मानन्द या अनासक्त स्थिति कहा जाता है। गीतामें अर्जुनको द्वार बनाकर संपूर्ण मनुष्यसमाजको, कर्तव्य-पालन करानेवाली ज्ञानमयी स्थितिसे परिचित कराया गया है। यही गीतोप-देशका अभिप्राय है।

दूसरा प्रकरण

गीता मानवधर्मशास्त्र है, सांप्रदायिक ग्रन्थ नहीं है।

फलाशासे ही कर्मोंमें उच्च, नीच आदि भेद होता है। इसीसे सांप्रदायिकता उत्पन्न होती है।

संसारके सम्पूर्ण मनुष्य अपनी अपनी भौतिक परिस्थितियोंके अनुसार भिन्न भिन्न कर्मोंमें लगे रहते हैं। कर्मोंमें लगे रहना प्रत्येक मनुष्यकेलिये अपरिहार्य है। परन्तु इन अनिवार्य कर्मोंसे किसी फलकी आकांक्षा करना मनुष्यकी भूल है। इस भूलने संसारके कर्मोंको वृथा ही छोटा—बडा, उच्च—नीच, सुखदायी—दुःखदायी आदि भिन्नभिन्न रूप दे दिया है। इसने मनुष्योंमें भी उच्च—नीच, सुखी—दुःखी आदिकी भेदबुद्धिको उत्पन्न कर दिया है। परन्तु कर्म निर्दोष है, उसमें इन दोषोंमेंसे कोई दोष नहीं है। यदि मनुष्य अपने आपको किसी कर्मका कर्ता होनेके कारण, बडा कर्मकरनेवाला, और किसी दूसरेको अन्य प्रकारके कर्मका कर्ता होनेके कारण, छोटा कर्म करनेवाला, अथवा उच्च नीच, या सुखदायी दुःखदायी कर्म करनेवाला मानता हो, तो उसका कारण उसके मनकी फलाकांक्षारूपी भ्रान्तिमें मिलेगा। यह फलाकांक्षा मनुष्यके मनका

दोष है । यह कर्मका दोष नहीं है । मनुष्यने अपनी भ्रान्तिसे मनके फला-कांक्षारूपी दोषको, कर्मोंमें आरोपित कर लिया है । मनुष्यके मनकी यह फलाकांक्षा, नाना प्रकारके कर्म करनेवाले संपूर्ण मनुष्योंको, सुखी दुःखी या उच्च नीच बनाती रहती है । यदि मनुष्य कर्मसे फलाकांक्षाका संबन्ध तोड दे, और कर्मके शुद्ध स्वरूपको देखले, तो उसे यह कर्म, शुद्ध कर्तव्यके रूपमें दीखने लगे । फिर यह उसके लिये छोटा बडा, उत्तम अधम, सुखदायी दुःखदायी आदि न रहे । मनुष्य फलाकांक्षा छोड देनेपर ही ' शुद्ध कर्म ' करनेके योग्य बनता है ।

गीतामें शुद्ध कर्तव्य करानेवाली इस फलाकांक्षारहित मानसिक स्थिति-को ही मनुष्यका अधिकार बताया गया है । उसमें कर्मको दूषित करनेवाली फलाकांक्षाको, मनुष्यका अनधिकार, या अज्ञान कहा है । अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा, और प्राप्त वस्तुकी रक्षाकी चिन्ता, ' फलाकांक्षा ' कहाती है । इस फलाकांक्षाने ही भिन्नभिन्न संप्रदायोंको जन्म दिया है ।

संप्रदायोंकी ईश्वरकल्पना सार्वजनिक अनुमोदन नहीं पा सकती ।

सांप्रदायिक भावनामें मनुष्यको अप्राप्त ईश्वरकी ढूंढ, उसीकी आराधना, पूजा, स्तुति आदि करके, स्वर्ग आदि नामोंवाले कल्पित अप्राप्त सुख मिलनेके विश्वास दिलाये जाते हैं । जो मनुष्य अपनेको किसी अप्राप्त वस्तुको पानेका इच्छुक, या प्राप्त वस्तुकी रक्षाकेलिये चिन्तित, बनाये रहता है, उसे किसी न किसी भौतिक शक्ति या पदार्थपर निर्भर रहना पड़ता है । दूसरोंपर निर्भर रहनेवाले मनुष्य ही संप्रदायोंके अनुयायी होते हैं । जो जिस संप्रदायमें अपनी आकांक्षाको, पूरा होता देखता है, वह उसी संप्रदायको अपनालेता है । जिस संप्रदायमें अपनी इच्छा पूरी करनेवाला ईश्वर दीखता है, अज्ञानी मनुष्य अपनेको उसी संप्रदायका अनुयायी बना लेता है । ईश्वरको अप्राप्त मान लेना और किसी विशेष पद्धतिसे उसकी प्राप्तिकी भावना रखना, ' सांप्रदायिक मनोवृत्ति' कहाती है । संप्रदायोंमें उपास्य रूपसे स्वीकृत किया गया ईश्वर, सार्वजनिक ईश्वर नहीं है । वह ईश्वर केवल उसी संप्रदायवालोंकी रुचिको पूरा कर सकनेवाला, केवल उसी संप्रदायका माना हुआ घरेलू ईश्वर होता है । संप्रदायोंकी ईश्वरकल्पना और उनका उपासनामार्ग, एक दसेरेसे सर्वथ भिन्न होते हैं । इन संप्रदायोंने नाना प्रकारके ईश्वरोंकी सृष्टि कर डाली है, और ईश्वरोंके नामपर संसारमें द्वेष फैला डाला है ।

सांप्रदायिक भावना मनुष्यको शक्तिहीन बनाती है।

सांप्रदायिक भावनामें मनुष्यमात्रके उपास्य होने योग्य ईश्वरका दर्शन होना संभव नहीं है। सांप्रदायिक मनुष्यके मनमें सदा अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति तथा प्राप्तकी रक्षाकी चिन्तामें फंसानेवाली फलाशा बनी रहती है। यह फलाशा मनुष्यके मनमें कामनाके रूपमें रहती है। यह मनुष्यको सब बन्धनोंसे अतीत रहनेवाला शक्तिमान् मनुष्य नहीं बनने देती।

गीताने सम्प्रदायकल्पित ईश्वरकी उपेक्षा की है।

गीताग्रन्थकी यही विशेषता है, कि इसमें सर्वत्र सांप्रदायिक दुर्बल मनोवृत्ति की उपेक्षा की गयी है। इसमें मनुष्यको, उसीके मनमें रहनेवाली शक्तिका दर्शन कराया गया है। गीताने मनुष्यसे स्पष्ट भाषामें कहा है कि मनुष्यका ईश्वर कहीं बाहरसे ढूंढनेकी वस्तु नहीं है। उसके मन्तव्यानुसार मनुष्यका ईश्वर, मनुष्यके ही हृदयमें है।

फलाशारहित स्थिति ही मनुष्यका उपास्य ईश्वर है।

मनुष्यके मनकी भोगाकांक्षा कभी पूरी नहीं होती। संसारमें इस भोगाकांक्षाको पूरा करनेवाली कोई शक्ति नहीं है। परन्तु मनुष्यने अपनी भ्रान्तिसे भोगाकांक्षा पूरी करनेवाली शक्तिको घड लिया है और उसे 'ईश्वर' नाम दे दिया है। भोगेच्छा फलेच्छाको उत्पन्न किया करती है। अज्ञानी मनुष्य अपने अधिकारसे बाहर निकल जाता है, और कर्मफलकी असंभव आशा बांधकर, अपनेको वृथा ही उसके बन्धनमें बांध लेता है। जिस समय मनुष्य इस अपनी फलाशा नामकी भ्रान्तिको पहचानेगा, उस समय उसे जो भ्रान्तिशून्य स्थिति दीखेगी, वही मनुष्यका आराध्य 'सच्चा ईश्वर' होगा।

जो मनुष्य इस ईश्वरको पहचानेगा, वह किसी संप्रदायके कल्पित ईश्वरसे अपना संबन्ध नहीं रख सकेगा। इस स्थितिमें पहुंचा हुआ मनुष्य, अपने जीवनके प्रत्येक क्षण, कर्तव्यका दर्शन करता रहेगा, और उसे अपने अधिकारमें रहकर पालता हुआ 'ब्राह्मी स्थिति'में स्थित रहेगा। उसकी पायी हुई 'ब्राह्मी स्थिति' स्वयं ही अपनी रक्षा करती रहेगी। उस स्थितिमें पहुंचनेवाला मनुष्य किसी कर्मसे किसी भौतिक फलकी आशा नहीं बांधेगा, और उस आशाको पूरा करनेवाले किसी ईश्वरके दरबारका भिखारी भी नहीं बनेगा।

गीताके सांप्रदायिक दीखनेवाले श्लोकोंका समन्वय।

मनुष्यको ईश्वर नामवाली सार्वजनिक शक्तिसे परिचित करानेवाली गीताके लिये किसी संप्रदायसे संबन्ध रखनेवाले उपासनामार्गका वर्णन कर सकना संभव नहीं है। यद्यपि गीतामें कुछ ऐसे श्लोक हैं, जिनका सांप्रदायिक अर्थ किया जा सकता है, परन्तु जिस गीतामें सांप्रदायिक संकीर्णताको छिन्नभिन्न करनेवाले 'सत्य'का अखण्ड वर्णन किया गया है, उसके कुछ श्लोक, सत्यविरोधी सांप्रदायिक भावको कदापि व्यक्त नहीं कंर सकते। प्रत्युत उन्हें भी 'सार्वजनिक सत्य'का ही समर्थक बन जाना पड़ता है। गीतामें जिस 'सत्य' को वार वार दोहराया गया है, जो 'सत्य' गीताका स्वतंत्र स्वाध्याय करनेवाले मनुष्यके मनमें प्रज्वलित हो उठता है, उसी 'सत्य' की उपेक्षा करनेवाले सांप्रदायिक भावोंको, गीतामेंसे ढूंढ निकालनेका प्रयत्न करना, सत्यकी अवहेलना करना है और गीताके अभिप्रायसे दूर चला जाना है। गीताके प्रकरणानुसारी भावोंकी उपेक्षा करके, उसके कुछ श्लोकोंको प्रकरणमेंसे बाहर निकालकर, उन यूथभ्रष्ट श्लोकोंका कुछ मनमाना अर्थ लगाकर, उनसे सांप्रदायिक भाव लेना, गीतामें सर्वत्र वर्णित निर्मल सत्यको मलिन बना डालना है। फलाकांक्षाको त्याग देनेवाला ज्ञानी पुरुष, अनासक्तिके रूपमें ईश्वरको पा चुका है। ऐसा ज्ञानी किसी संप्रदायके प्रवर्तक आचार्यको कदापि अपना मार्गदर्शक स्वीकार नहीं कर सकता। किसी सांप्रदायिक धर्मग्रन्थका वचन मनुष्यमात्रके आराध्य 'सार्वजनिक ईश्वर'का दर्शन नहीं करा सकता। जिन वचनोंमें ज्ञानीकी मानसिक स्थितिरूपी ईश्वरका वर्णन पाया जाता हो, वे वचन संप्रदायोंकी चार दिवारीसे बाहर निकल जाते हैं। वे सार्वजनिक सत्यका वर्णन करनेवाले होते हैं।

अपने हृदयमें ही ईश्वरदर्शनका उपदेश देनेवाली गीता सांप्रदायिकता का विरोधी मानव धर्मशास्त्र है।

गीताने मनुष्यकी दृष्टिको, इस 'सत्य'की प्राप्तिके लिये किसी सांप्रदायिक धर्मग्रन्थ, देवदूत, या किसी आचार्यकी ओर आकृष्ट नहीं किया। उसने उसे अपने मनमेंसे ही ढूंढ निकालनेका उपदेश दिया है। गीताने इस स्वतंत्र विचारपद्धतिको स्वीकार करके संपूर्ण सांप्रदायिक संकीर्णताका खण्डन करडाला है। फलाकांक्षारहित मानसिक अवस्था ही गीताका मुख्य प्रतिपाद्य विषय

है। यह एक ऐसा विषय है जिसे सार्वजनिक समर्थन पाने का पूरा अधिकार है। गीताके इस प्रतिपाद्य विषयको स्वीकार करनेमें किसी भी विचारशील मनुष्य का मन विद्रोह नहीं कर सकता। जो 'गीता' जगत्के सामने मनुष्यके मनकी इस सार्वजनिक उदार अवस्थाको अत्यन्त उज्ज्वल रूपमें रखने के लिये अवतीर्ण हुई है, उस को सांप्रदायिक धर्मग्रन्थ न कहकर '**मानव धर्मशास्त्र**' कहना ही उचित है।

तीसरा प्रकरण

गीतोक्त सत्यका स्वरूप

अनासक्त स्थिति ही गीतोक्त सत्य है।

गीताने सर्वत्र सत् असत्को देही और देह इन दो रूपोंमें दिखाया है। वह जहां कहीं देहीके स्वरूपका वर्णन करती है, वहीं उसे अव्यक्त, अविनाशी, अजन्मा, सत्य कहती है। उसने सत्यदर्शन करनेके लिये मनुष्यकी दृष्टिको दृश्यमान जगत्की ओरसे हटाकर अपनी ही मानसिक, इन्द्रियातीत, अनासक्त स्थितिको अपनानेका उपदेश दिया है। यही 'गीतोक्त सत्य' का स्वरूप है। इसीको स्थितप्रज्ञकी स्थिति, या ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। गीताने इसी स्थितिको 'सत्य' माना है। उसने योगारूढ स्थिति, भक्ति, अनासक्ति, या असंगशस्त्र आदि अनेक नामोंसे इस स्थितिकी प्रशंसा की है। संपूर्ण गीताशास्त्र इसी 'सत्य' का प्रचारक बना हुआ है। गीता इस सत्य की पुनरुक्ति करती हुई नहीं थकती। प्रत्युत वह ऐसा करनेमें अपना गौरव मानती है। जो मनुष्य गीतोक्त अमृतका पान करना चाहे, वह पहले अपने मनमें अनासक्ति रूपी सत्यका दर्शन करले।

आसक्ति ही 'असत्य' है।

गीतामें अर्जुनसे देहबन्धनसे अतीत और स्वजनमोहसे मुक्त होकर युद्ध करनेको कहा गया है। उसमें देहासक्ति को 'असत्य' का स्वरूप बताया गया है। गीतामें जहां 'सत्य' का वर्णन है, वहां सत्यके विरोधी 'असत्यको' देहासक्तिके नामसे कहा है। गीता का 'सत्य' यही है कि अपनेको भौतिक जगत् में आसक्त न होने दिया जाय। उसमें इस समग्र जगत्को सर्वभूतस्थ आत्माकी 'विभूति' कहा है। वह जगत्को आत्माकी विभूति बताकर यह कहना चाहती

है कि जबतक कोई मनुष्य उस एक, नित्य, अविनाशी आत्माको, जो कि विभूतियोंके रूपमें अनेक होगया है, अपने मनमें अनासक्त अवस्थाके रूपमें नहीं देखलेगा, तबतक वह विभूतिके बन्धनसे मुक्त नहीं होसकेगा। मनुष्यकी बन्धनमुक्त स्थिति इसीको कहा जाता है कि वह जगत्के अनेक रूपोंमें एक अविनाशी आत्माका दर्शन करनेवाला बना रहे। मनुष्यके मनकी इस अवस्था-को ही गीतामें 'भक्ति' कहा गया है। गीतामें जहां कहीं 'भक्ति' का वर्णन आया है, वहीं उसे मनकी अनासक्त स्थितिके रूपमें दिखाया है। आसक्ति ही अज्ञान है। आसक्ति इस लिये अज्ञान है कि यह मनुष्यको आत्माके स्वरूपका दर्शन नहीं होने देती। अनासक्त मनुष्यका किसी भी भूतके साथ ममताका बन्धन नहीं रहता। भौतिक पदार्थोंको अपनानेवाली ममताने ही इस जगत्को मनुष्यका बन्धक बना डाला है। मनुष्य इसी बन्धनमें बंधकर किसीको शत्रु तथा किसीको मित्र मान लेता है। वह इस आसक्तिरूपी अज्ञान या असत्यके कारण ही बाह्य पदार्थोंसे नाना प्रकारके रागद्वेषपूर्ण संबन्ध जोड़ लेता है। परन्तु जो मनुष्य इस आसक्तिपर विजय पा लेता है, वह सब भूतोंमें निर्वैर, समदर्शी भक्त बन जाता है।

अनासक्ति ही गीताका आत्मा है। यह संसार अनासक्त मनुष्यके लिए बंधन नहीं है।

अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य, इस जगत्को, अपने बन्धनका कारण नहीं मानता। वह तो इस संपूर्ण संसारको, अनासक्त स्थितिको प्रकट करनेवाला साधन बना लेता है। संसारके समस्त पदार्थोंको अनासक्त दृष्टिसे देखना ही 'समदर्शनकी स्थिति' है। मनकी इस, सब कर्मोंमेंसे फला-सक्ति छुड़ानेवाली, तथा सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्वका दर्शन करानेवाली, साम्या-वस्था अर्थात् समदर्शनकी स्थितिको ही योग, यज्ञ, सर्वगत ब्रह्मतत्त्व आदि नामोंसे कहा गया है। गीता 'सत्य'स्वरूप देहीका दर्शन करानेके लिये, जिस मानसिक स्थितिको अपनानेका उपदेश देती है, उसीको वह स्थितप्रज्ञकी ब्राह्मी स्थिति, ज्ञानीकी सांख्य स्थिति, निष्काम कर्मयोगीका कर्मयोग, यज्ञ, त्रिगुणातीतका नित्य सत्त्व, तथा निर्वैर स्थितिरूपी भक्ति बताती है। गीताने जिस 'सत्य'का प्रचार किया है, उसे अनासक्ति, या 'अप्रभावित पवित्र मन' कहा जा सकता है। अनासक्त मनुष्य अपने आपको जिस रूपमें देखता है, उसीको गीतामें सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व, नित्य, अविनाशी, अव्यय, सत्य

कहा है। गीतामें इसके अतिरिक्त सत्यदर्शन या सत्यपालनकी न तो कोई रीति बतायी गयी है और न किसी इन्द्रियग्राह्य व्यक्त रूपको 'सत्य' माना गया है।

गीता भिन्न भिन्न नामोंसे अनासक्तिका ही गुणगान कर रही है।

जो मनुष्य अपने अनासक्त मनके रूपमें सत्यस्वरूप आत्मतत्त्वका दर्शन कर चुकता है; वह अपनेको जगत्के संपूर्ण पदार्थों और प्राणियोंमें अनासक्त, निर्वैर, निर्भय, समबुद्धि, भक्त, योगी, यज्ञविद्, ज्ञानी, ब्रह्मीभूत, स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत तथा मुक्त पाता है। भक्तकी भक्ति, योगीका योग, यज्ञविद्का यज्ञ, ज्ञानीका ज्ञान, ब्रह्मीभूतका ब्रह्म, स्थितप्रज्ञकी स्थिर प्रज्ञा, त्रिगुणातीतका नित्यसत्त्व, और मुक्तकी मुक्ति ये सब मनुष्यके मनकी अनासक्त स्थितिरूपी एक ही 'सत्य' के अनेक नाम हैं। अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य, अपने मन, वचन, कर्मसे, जब जो आचरण करता है, वही उसका सत्यदर्शन, सत्यवचन, और सत्य व्यवहार होता है।

चौथा प्रकरण

ईश्वरका स्वरूप

गीता मनुष्यसमाजको अनासक्तिरूपी ईश्वरसे परिचित कराती है और ईश्वरके भौतिक दर्शनका विरोध करती है।

गीतामें मनुष्यके मनको ईश्वरदर्शनका स्थान बताया गया है। अनासक्ति ही गीताके ईश्वरका स्वरूप है। उसके कथनानुसार मनुष्यको संपूर्ण जगत्के उत्पादन, रक्षण तथा विनाश करनेवाले, किसी सर्वव्यापी ईश्वरको बाह्य जगत्मेंसे ढूंढनेका वृथा प्रयत्न नहीं करना पड़ता; किन्तु अपने मनको शान्त और सुखी बनानेवाले, अनासक्तिरूपी सच्चे ईश्वरका दर्शन अपने ही मनमें करना होता है।

गीतामें ईश्वरको देही, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, अक्षर, पुरुषोत्तम, क्षेत्रज्ञ, अधियज्ञ, तथा यज्ञ आदि अनेक नामोंसे याद किया है। उसमें ईश्वरके स्वरूपको अव्यय, अविनाशी, अज, अविकारी, नित्य, शाश्वत, अमर, सनातन, कूटस्थ, अव्यक्त आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। ईश्वरके इन नामों और विशेषणोंकी विद्यमानतामें, कोई भी मनुष्य यह आशा न करे, कि

वह कभी कहीं भौतिक जगत्में, अपनी इन्द्रियोंसे ईश्वरको देख सकेगा। गीताका ईश्वर, स्पष्ट रूपसे इन्द्रियातीत सत्ता है। वह इन्द्रियोंको दीखनेवाला ईश्वर नहीं है।

अनासक्ति या आसक्तिको अपनानेकी स्वतंत्रता 'मन' कहाती है। मनका 'अनासक्ति'को अपनालेना ही गीताका 'ईश्वरदर्शन' है।

गीताके वर्णनानुसार मनुष्यके मनकी इन्द्रियातीत अर्थात् इन्द्रियोंके बन्धनसे मुक्त रहनेवाली त्रिगुणातीत अवस्था ही 'ईश्वर' है। इस इन्द्रियातीत अवस्थाको समझनेके लिये, इन्द्रियोंके स्वरूप, स्वभाव तथा उनके बन्धनमें न रहनेकी अवस्थाके विषयमें पूर्ण विचार किया जाना चाहिये। मनुष्य अपनी इन्द्रियोंसे केवल नाशवान भौतिक जगत्का दर्शन कर सकता है। देहसे इन्द्रियोंका अभेद्य संबन्ध है। इन्द्रियां देहीका दर्शन नहीं कर सकतीं। । देही आत्मा मनके रूपमें प्रकट होता है और इन्द्रियोंसे संपूण जगत्को देखता तथा भोगता है । मन इन्द्रियोंका नियामक है । यद्यपि इन्द्रियोंमें स्वभावसे अपने अपने विषयोंके लिये रागद्वेष हैं, परन्तु मन इन रागद्वेषोंको अपनाने या न अपनानेके लिये पूर्ण स्वतंत्र है। जब मन इन रागद्वेषोंके बन्धनमें आ जाता है, तब वह इस व्यक्त जगत्का संभोग करनेमें आसक्त हो जाता है। जबतक मन इस व्यक्त जगत्के भोगबन्धनमें रहता है, अर्थात् जबतक वह इन्द्रियोंकी रुचिके अधीन बना रहता है, तबतक वह निश्चय ही अपने अव्यक्त स्वरूपको भूला रहता है। परन्तु जब वह मन अपनी इन्द्रियातीत अव्यक्त स्थितिको अपनालेता है, तब उसे अपने ऐश्वर रूपमें, या अनासक्तस्थितिमें पहुंचा हुआ कहा जाता है। अर्जुनने इसी 'ऐश्वर रूप' का दर्शन किया था। इसीको ग्यारहवें अध्यायमें 'विश्वरूपदर्शन' नाम दिया गया है। वहां अर्जुनके मुखसे वर्णित विश्वरूपको उसकी मानासिक स्थितिका वणन समझना चाहिये। आज भी जो कोई मनुष्य अर्जुनकी मानासिक स्थितिको अपनालेगा, उसे भी उसीके समान 'विश्वरूपदर्शन' होने लगेगा। विश्वरूप-दर्शनकी स्थिति ही मनुष्यके मनमें रहनेवाला अनासक्ति रूपी ईश्वर है। अर्जुन विश्वरूपदर्शनके अवसरपर समस्त भूतोंको, इस सब संसारको, तथा इसके सृष्टि स्थिति प्रलयोंको, अपने ही स्वरूपकी विभूतिके रूपमें देख रहा था। तब वह अपनी संसारबन्धनातीत, निर्विकार, अप्रभावित मानसिक स्थितिको देख रहा था। संपूर्ण अज्ञानी संसार, जिस कालके भयसे कांपता रहता है, अर्जुन उसे

भी अपना ही विश्वरूप जानकर ' मृत्युञ्जय ' बन चुका था। अनासक्त रहनेवाले प्रत्येक भक्तका यह स्वाभाविक धर्म है, कि वह प्रतिक्षण ऐसे ' विश्वरूप ' का दर्शन करता रहे। यह बात गीतामें अनेक स्थानोंपर स्पष्ट भाषामें वर्णित हुई है। जो ज्ञानी अपने पांचभौतिक देहसे अनासक्तिका संबन्ध रखता है, वह संसारके संपूर्ण भूतों और पदार्थोंके संबन्धमें अनिवार्य रूपसे अनासक्त बन जाता है। भक्त मनुष्य संसारके पदार्थोंके उत्पत्ति स्थिति विनाशोंके साथ जो संबन्ध रखता है, वही ' अनासक्ति ' है। 'अनासक्ति' ही भक्तोंका आराध्य ' ईश्वर ' है। भक्तलोग इसी अनासक्तिरूपी ईश्वरकी आराधना किया करते हैं।

अनासक्त स्थिति ही ईश्वर, ब्राह्मी स्थिति, अथवा ईश्वरभक्ति है। मनुष्य इस स्थितिको भूलकर ही संसारमें बंधता है।

गीतामें वर्णित अनासक्त स्थिति, संसारबन्धनरूपी 'माया' का छेदन करनेवाली है। अनासक्ति स्वयं ही अपने आपको भक्तजीवनमें प्रकट करके 'ब्राह्मी स्थिति ' या 'ईश्वर' बन जाती है। भक्तको संसारबन्धनसे मुक्ति पानेके लिये अनासक्तिसे दूसरे किसी ईश्वरकी शरणमें जानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

जब अज्ञानी मनुष्य अपने अनासक्ति रूपी ईश्वरको भूल जाता है, तब संसारके रूपरस आदि विषयोंके बन्धनमें आ जाता है। आत्मविस्मृतिसे उत्पन्न हुआ संसारबन्धन ही आसक्ति है। अज्ञानी मनुष्य इसी आसक्तिके प्रभावमें आ जाता है। वह अपने मनसे ही संसारको भोग्य पदार्थ मान लेता है और इसके साथ भोगबन्धनमें बंध जाता है।

जगत् न रहनेपर मुक्त होनेकी कल्पनाकी निस्सरता।

इस संसारको बन्धनकारी समझना मनुष्यकी भूल है। भूल इसलिये है कि ज्ञानी लोग भी तो इसी संसारमें अनासक्त रहकर बन्धनातीत रहते हुए पाये जाते हैं। अज्ञानी मनुष्य अपनी भूलसे इसमें आसक्त हो जाता है, और अपने ही काल्पनिक संसारबन्धनोंमें उलझ जाता है। गीताने मनुष्यको इस मायाजनित, आसक्तिरूपी, काल्पनिक संसारका समूलोच्छेद करनेवाले 'असंगशस्त्र'का परिचय दिया है। अनासक्त स्थिति ही गीताका 'असंगशस्त्र' है। यह अनासक्त स्थिति, मनुष्यके मनमें सदा रहनेवाली आत्मस्थिति, या आत्मस्वरूप ईश्वरतत्त्व है। स्वरूपस्थ हो जाना ही ' ईश्वरदर्शन करना ' है। जो नित्य अक्षर तत्त्व, इस संपूर्ण सृष्टिका मूल है, जिसके कारण यह संसारवृक्ष

सदा परिवर्तनशील होता हुआ भी अस्तित्वहीन नहीं होता, वही अव्यक्त अक्षर तत्त्व, संपूर्ण सृष्टिका स्वरूप या ईश्वर है। क्योंकि यह जगत् कभी अस्तित्वरहित नहीं होता; इस लिये 'जब यह जगत् न रहेगा तब संसार बंन्धनसे मुक्ति मिलेगी' ऐसी कल्पना निराधार है। मनुष्यको इस संसारके रहते हुए ही, केवल अपने मनके कल्पित संसारबन्धनको काटना है। अपने कल्पित संसारबन्धनको काट देना ही, मनुष्यका 'ईश्वरदर्शन करना' है। मनुष्यको ईश्वरदर्शनके लिये अपनी भौतिक आंखोंके सामनेसे भौतिक संसारको हटानेकी, या भौतिक जगत्की ओरसे अपनी आंखोंको फेर लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। गीताने मनुष्यको इस अनासक्त स्थितिका स्वाभाविक अधिकारी बताकर, उसे जिस ईश्वरके स्वरूपका समाचार सुनाया है, वह ईश्वर स्तव, स्तुति, पूजा, होम, या उपासना आदिसे संतुष्ट किये जानेकी प्रतीक्षामें रहनेवाला ईश्वर नहीं है। गीताका ईश्वर भक्तोंके अधीन रहनेवाला ईश्वर है। क्योंकि वह सदा अनासक्त अवस्थाके रूपमें अपने भक्तोंके पास विद्यमान रहता है। गीताका ईश्वर किसी अज्ञात स्थानमें रहनेवाला और भक्तोंको दर्शन देने या न देनेकी स्वतंत्रताको अपने अधि-कारमें रखनेवाला अज्ञेय ईश्वर नहीं है। अनासक्त ईश्वरभक्त कभी किसी अनिश्चित कृपा करनेवाले ईश्वरके दर्शनका अभिलाषी नहीं बनता।

प्रत्येक मनुष्यको ईश्वरदर्शनका अधिकार है; केवल कुछ विशेष प्रकारके मनुष्यों को नहीं।

गीताने इस महासत्यका प्रचार किया है कि ईश्वरदर्शन प्रत्येक मनुष्यका स्वाभाविक अधिकार है। इस सत्यका प्रचार करनेवाली गीतामें कहीं भी इस कल्पनाका समर्थन नहीं है, कि ईश्वर किन्हीं अलौकिक शक्ति रखनेवाले मनुष्योंको मिलता है। प्रत्युत **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु** आदि योगिचर्याका वर्णन करनेवाली गीताने यह स्पष्ट बता दिया है, कि ईश्वरके भक्तकी जीवनचर्या साधारण मनुष्योंके समान होती है। गीताका भक्त, ईश्वरकी अस्वाभाविक सृष्टि नहीं है। गीताका ईश्वर, किन्हीं अस्वाभा-विक मनुष्योंसे संबन्ध जोडनेवाला ईश्वर नहीं है। गीताने भक्तको कहीं भी उन्मत्त, जड, पिशाच, नग्न, वाताहारी, निद्रात्यागी, निर्निमेष, संज्ञाहीन (बेहोश), वृत्तिरहित (मूढ समाधिका प्रेमी), भक्तिके नामपर निरन्तर रोनेवाला या विशेष शारीरिक लक्षणोंवाला नहीं बताया। गीताने उस ईश्वरका वर्णन किया है, जो

मनुष्योंके सार्वजनिक अधिकारमें रहता है, और जो अपनेको सदा प्रत्येक मनुष्यके प्राप्त करने योग्य बनाये रखता है।

भक्तका अपना सत्यारूढ मन ही उसका आराध्य ईश्वर है।

ईश्वरका सच्चा रूप, अपने ही वशमें रहनेवाला, अपना ही शुद्ध निर्विकार तथा विषयोंसे अप्रभावित मन है। यह ऐसा ईश्वर है, जो कभी अपने भक्तसे ओझल नहीं होता। गीताने कर्तव्यमय जीवन बितानेवाले भक्तोंके जीवनमें प्रत्येक क्षण प्रकट रहनेवाली अनासक्तिको ही, मनुष्यमात्रका आराध्य 'ईश्वर' कहा है। गीताके मन्तव्यानुसार, भक्त अपने जीवनमें प्रत्येक क्षण, ईश्वरोपासना करता रहता है, और उसके जीवनका प्रत्येक कर्तव्य, ईश्वरोपासना होता है।

गीता किसी उपाय अथवा क्रियाविशेषसे अप्राप्त ईश्वरकी प्राप्तिका विरोध करती है।

गीताने स्पष्ट शब्दोंमें क्रियाविशेषोंपर आश्रित रहनेवाली उपासनाओं और भजनमार्गोंकी उपेक्षा और निन्दा की है। गीतामें किसी भी पद्धतिको, अप्राप्त ईश्वरको प्राप्त करानेवाली युक्तिके रूपमें, स्वीकार नहीं किया गया। उसमें अनासक्तिरूपी ईश्वरके अतिरिक्त, किसी दूसरे प्रकारके ईश्वरसे संबन्ध जोडनेवाला, कोई उपाय स्वीकृत नहीं हुआ। मनकी अनासक्तिके रूपमें ईश्वरका प्रचार करनेवाली गीताने, साहसपूर्वक अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें, इस सत्यकी घोषणा की है, कि अप्राप्त ईश्वर, भजन, पूजा, होम, उपासना आदिसे प्राप्त नहीं हो सकता। उसने कहा है कि भक्त लोग सदा स्वभावसे प्राप्त रहनेवाले ईश्वरका ही भजनपूजन आदि किया करते हैं। पवित्र मनकी इन्द्रियातीत शुद्ध स्थितिके अतिरिक्त मनुष्यका और कोई आराध्य देव नहीं है।

शुद्ध निर्विकार अप्रभावित मन ही 'गीतोक्त ईश्वरका स्वरूप' है।

पांचवां प्रकरण

सुखदुःखका स्वरूप

रागद्वेष इन्द्रियोंके धर्म हैं; मनुष्य इन्हें अपनाने या न अपनानेमें स्वतंत्र है। जो अपने स्वरूपसुखको अपनालेता है, उसका इन्द्रियसुखोंके पीछे भागना समाप्त हो जाता है।

संसारमें बहुधा इन्द्रियोंकी रुचिके अनुकूल परिस्थितिमें रहनेको 'सुख' और प्रतिकूल परिस्थितिमें रहनेको 'दुःख' माना जाता है। देहके जीवित

रहनेका स्वभाव ' इन्द्रिय ' कहाता है। जब जीवित देहकी इन्द्रियोंसे विषयोंका संबन्ध होता है, तब प्रत्येक मनुष्यको जो स्वाभाविक अनुभूति अनिवार्य रूपसे होती हैं, उनमेंसे कुछ तो जीवनधारणके अनुकूल, और कुछ प्रतिकूल होती हैं। इन्द्रियां विषयसंयोग होते ही, अनुकूलविषयोंसे राग, और प्रतिकूलविषयोंसे द्वेष मानती हैं। ये रागद्वेष इन्द्रियोंके धर्म हैं। इन्द्रियोंके इन रागद्वेषोंसे ही मनुष्यदेह जीवित रहता है। यदि इन्द्रियोंमें रागद्वेष न रहें, तो यह मनुष्यदेह, जीवित रहनेके अयोग्य बन जाय। इन्द्रियोंके ये रागद्वेष ' प्राणशक्ति ' या ' जीवनव्यापार ' कहाते हैं। जीवित देहका यह स्वभाव है, और उसका यह उचित अधिकार है, कि वह जीवन-विरोधी अवस्थाओंके साथ संग्राम करता रहे। इस संग्रामको करनेवाली इन्द्रियां जिन विषयोंमें रागद्वेष रखती हैं, वे मनुष्यको उन विषयोंके ग्रहण या त्यागके लिये प्रेरित किया करती हैं। मनुष्य इस प्रेरणाके अनन्तर इसके अनुसार कार्य करने या न करनेमें पूर्ण स्वतंत्र रहता है। वह ग्रहण या त्याग इन दोनोंमेंसे किसी भी एकको अपनासकता है। मनुष्यकी इस स्वतंत्रताका सच्चा उपयोग तो यही है, कि वह पहलेसे ही सच्चे सुखकी स्थितिमें प्रतिष्ठित हो जाय और फिर इन्द्रियोंके रागकी वस्तुओंका ग्रहण तथा उनके द्वेषकी वस्तुओंका त्याग इस ढंगसे करे कि दुःखसे मुक्त बना रहे। परन्तु जबतक मनुष्य पहलेसे ही सदा रहनेवाले सुखकी स्थितिमें प्रतिष्ठित नहीं हो गया होगा, तबतक वह किसी भी प्रकार दुःखसे मुक्त नहीं हो सकेगा। यदि मनुष्यने अपनेको सुखसे रहित मानलिया होगा, और किसी अप्राप्त सुखको पानेकी इच्छासे कुछ कर्म करेगा, तो निश्चय ही दुःख उसके पास सदा बना रहेगा।

अनुकूलता-प्रतिकूलताकी उपेक्षा करना ही अनासक्तिरूपी ' सच्चा सुख ' है।

मनुष्यको यह बात समझनी चाहिये कि इन्द्रियोंकी रुचिकी अनुकूलतामें सुख या प्रतिकूलतामें दुःख नहीं है। किन्तु जिस मानसिक स्थितिसे इन्द्रियोंकी रुचिकी अनुकूलताको सुरक्षित रखनेका उद्यम किया जाता है, वह मानसिक स्थिति ही 'सुख' या 'दुःख' होती है। जीवन धारण करते ही मनुष्यकी इन्द्रियां प्रतिकूल अवस्थाओंसे संग्राम करनेमें जुट पडती हैं। यह संग्राम जीवनके अन्तिम श्वासतक होता रहता है। परन्तु अन्तमें इस देहको प्रतिकूल अवस्थायें हरा डालती हैं। तब यह देह मृत्युरूपी अवश्यंभावी परिणामको पाकर

लुप्त हो जाता है। मनुष्य अपने जीवनभर इन्द्रियोंकी प्रेरणासे, अनुकूलताको सुरक्षित रखनेके लिये, जिस संग्रामको लडता है, उसमें प्रतिकूलताको ही अन्तिम विजय मिलती है, और अनुकूलताके सब उद्यम हार जाते हैं। संसारमें शारीरिक अनुकूलता नामक ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिसमें स्थित होकर प्रतिकूलतासे बचे रहनेकी कोई स्थिति प्राप्त हो सकती हो। इस लिये जो मनुष्य यह चाहता हो कि मुझे इस संग्रामसे सुख नामकी वस्तु प्राप्त हो जाय, तो समझलो कि उसने 'सुख' के स्वरूपको नहीं समझा। उसने एक ऐसी असंभव अवस्था को 'सुख' का नाम दे दिया, जिसका कोई अस्तित्व नहीं। उस सुखको देनेवाली अनुकूलता सदा पराजित होती रहती है, और उसका विरोध करनेवाली प्रतिकूलताकी विजय निश्चित रूपसे होती है। ऐसे 'सुख' को 'सुख' कहनेवाला मनुष्य भ्रान्तिमें है। यदि मनुष्य अपनेको इस भ्रान्तिसे बचाले अर्थात् अनुकूलताको 'सुख' मानना छोड दे, तो वह देखे कि वह 'सुखी' है और कोई भी सांसारिक प्रतिकूलता उसके लिये 'दुःख' नहीं है। जो मनुष्य इस सुखदुःखके अनुकूलता प्रतिकूलतारूपी भ्रमसे मुक्त होगया हो, उसे अनासक्तिरूपी ज्ञानकी स्थितिमें आरूढ हुआ जानो। जो मनुष्य अनासक्तिरूपी सच्चे सुखकी स्थितिमें स्थित होकर अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंकी उपेक्षा कर रहा हो, निश्चय है कि उसे अनासक्तिरूपी सच्चा सुख प्राप्त है। अनासक्तिरूपी सच्चा सुख अनुकूलता प्रतिकूलताकी उपेक्षा करनेसे ही सुरक्षित रहता है।

सच्चा सुख शारीरिक अनुकूलताकी मांगसे परे अनासक्तिमें छिपा हुआ है।

अनासक्त मानसिक स्थिति ही 'सुख' या 'ज्ञान' की स्थिति है। आसक्त मानसिक स्थिति 'दुःख' या 'अज्ञान' है। सच्चे सुखकी स्थिति यही है कि अनासक्त मानसिक स्थितिमें रहकर अनिवार्य जीवन संग्राम करते रहा जाय। जो आसक्त मानसिक स्थितिको लेकर जीवन संग्राम लड रहा है, वह दुःखकी स्थितिमें है। मनुष्य सदा प्राप्त सुखमें प्रतिष्ठित रहकर ही दुःखातीत रह सकता है, अन्यथा नहीं। यही 'सच्चे सुख' अर्थात् 'ब्रह्म सुख' की अवस्था है। जो शरीर स्वयं अस्थिर है, उसकी अनुकूलता नामवाला, ऐसा कोई प्राप्त सुख नहीं है, जहां खड़ा होकर मनुष्य प्रतिकूलताओंसे बचा रह सके। क्योंकि मनुष्य की इन्द्रियां सदा प्रतिकूलतासे संग्राम करती रहती हैं, इसीसे यह सिद्ध

होता है, कि उसके शरीरमें सदा प्रतिकूल अवस्था बनी रहती है। इस लिये शरीरकी अनुकूलतासे संबन्ध रखनेवाले किसी भी 'सुख' को 'सुख' नहीं माना जा सकता। जब कि सुखमें सदा स्थिर रहना ही सच्चे 'सुख' की अवस्था है, तब यह निश्चित है कि इस सदा न रहनेवाले शरीरसे सच्चे सुखका कोई संबन्ध नहीं है। मन की अनासक्त स्थिति ही 'सच्चा सुख' है। मनुष्य पहले अनासक्तिमें प्रतिष्ठित होकर ही आसक्ति नामके 'दुःख' से बचा रह सकता है, अन्यथा नहीं।

अनासक्ति ही केवल एक ऐसा सुख है, जिसपर मनुष्यका पूरा अधिकार है। इससे भिन्न दूसरे किसी भी सुखनामधारी पदार्थपर मनुष्यका कोई वश नहीं है। जिस सुखपर मनुष्यका किसी भी प्रकारका अधिकार न हो उस सुखको सुख कहना मनुष्यकी भ्रान्ति है। इस दृष्टिसे कहना पडता है कि 'अनासक्ति' ही मनुष्यका 'सच्चा सुख' है।

विनाशी पदार्थोंमेंसे सच्चा सुख ढूंढना भ्रान्ति है।

इस भौतिक संसारमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। भौतिक संसार प्रत्येक क्षण अपने रूपको बदल रहा है। सृष्टिके पदार्थोंमें कहीं स्थायित्व नहीं है। अर्थात् सृष्टि प्रत्येक क्षण विनष्ट होती रहती है। मनुष्यका शरीर भी इसी सर्व-व्यापी विनाशके अधीन है। यह भी प्रतिक्षण विनाशकी ओर दौड लगा रहा है। यदि कोई अज्ञानी मनुष्य विनाशकी इस दौडमेंसे भी, अनुकूलता या अवि-नाशी अवस्था को ढूंढ रहा हो, तो वह मूढता कर रहा है। क्योंकि जो मनुष्य शारीरिक अनुकूलतारूपी सुखको चाहता है, वह यह नहीं समझता, कि मैं प्रतिकूलताके रथमें बैठकर, अनुकूलताके पीछे दौड रहा हूँ। ऐसे पुरुषका उद्यम निश्चित रूपसे भ्रान्त है। सच्चे सुखकी स्थिति तो यही है, कि मनुष्य पहिले सुखदुःखातीत मानसिक स्थितिमें जमकर खडा हो जाय, और वहां खडा रहकर शारीरिक अनुकूलता प्रतिकूलताओंसे अप्रभावित बना रहे। यह सच्चा सुख वह निर्विकार मानसिक अवस्था है, जो इस विनाशी शरीरकी अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंसे अप्रभावित रहती है। यही 'अक्षय सुख'की अवस्था है। जो मनुष्य पहलेसे ही इस अक्षय सुखकी अवस्थाको अपनाचुका होता है, वही इन्द्रियोंके रागद्वेषोंको अपनानेका प्रश्न आनेपर, अपनी स्वतंत्रताका सदुपयोग कर सकता है, और अपनेको दुःखसे मुक्त रख सकता है।

अज्ञानी ही शरीरसंबन्धी घटनाओंमें सुखदुःख मनाता है। ज्ञानी इनसे अप्रभावित रहकर सदा सुखी रहता है।

अज्ञानी मनुष्य, अपने जीवन धारण करनेकी सीमामें नहीं रहते। वे इन्द्रियोंके अभिलषित पदार्थोंको अपना भोग्य बना लेना चाहते हैं। अर्थात् वे अपनेको इन्द्रियोंके रागद्वेषके बन्धनसे बांध लेते हैं। बन्धनकी स्थितिमें फंस जानेवाले मनुष्योंके जीवन, भोगोंमें लग जाते हैं। वे इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आनेवाले विषयोंको अपना भोग्य पदार्थ मान लेते हैं। वे अपने रागकी अवस्था या पदार्थोंकी प्राप्तिमें 'सुख' और द्वेषकी अवस्था या पदार्थोंकी प्राप्तिमें 'दुःख' मानते हैं। परन्तु इस प्रकारके सुखकी इच्छा करना, या इस प्रकारके दुःखसे द्वेष मानना, अपने अधिकारसे बाहर जाना है। इन्द्रियोंके स्वाभाविक रागद्वेष जीवनकेलिये आवश्यक हैं, परन्तु यदि मनुष्य इन रागद्वेषोंका सदुपयोग न करे, और इनके बंधनमें आजाय, अर्थात् जीवित रहनेके अधिकारकी सीमाको लांघकर, इन्हें भोगमें प्रयुक्त करना चाहे, तो इसे अनधिकारचेष्टा, विषयासक्ति, या अज्ञान कहा जायगा। मनुष्य इस अज्ञानसे ही सुखदुःखकी भ्रान्त कल्पना किया करता है। भोगेच्छाकी दासता करनेवाला मनुष्य, काल्पनिक सुखदुःखोंके बन्धनमें फंसा रहता है, और अपने देहसे संबन्ध रखनेवाली घटनाओंको, निर्विकार भावसे देखनेमें असमर्थ हो जाता है। वह उन घटनाओंको अपने रागद्वेषका विषय बना लेता है। वह देहके इन धर्मोंमें आसक्त होनेके कारण, सदा रोग, शोक, मृत्यु आदिसे डरता रहता है। वह अपनेको सदा इन्द्रियभोग्य विषयोंसे घिरा हुआ देखना चाहता है। वह इंद्रियोंके स्वाभाविक रागद्वेषोंको अपने भोगका साधन बनाकर उनका दुरुपयोग करता है। परन्तु यह सब उसकी भूल है। उसे तो यह जानना चाहिये कि जैसे जीवन जीवित शरीरकी स्वाभाविक अवस्था है, इसी प्रकार मृत्यु भी इस शरीरका स्वाभाविक परिणाम है। जब कि मृत्यु भी स्वाभाविक है, तब जीवित रहनेको अनुचित महत्त्व देना, और मरणसे भय मानते रहना, अर्थात् उससे अनुचित द्वेष मानना, मनुष्य की भ्रान्ति है। मनुष्यको समझना चाहिये कि न तो जीवन सुख है, और न मरण दुःख है। ये दोनों तो मनुष्यके शरीरकी स्वाभाविक अवस्था हैं। जीवनको 'सुख' और मृत्युको 'दुःख' मानना स्वभावका विद्रोही बनना है, और अधिकारसे बाहर चला जाना है। इनको सुखदुःख मानना और इनके कारण अपनेको सुखी दुःखी समझना, मनुष्यका अज्ञान है। इस देहमें रोग,

मृत्यु, दाह, आघात आदि प्राकृतिक घटना स्वभावसे होती रहती हैं। इन्हें सुखदुःख नाम देकर मनुष्यने बड़ी भूल की है। अज्ञानी मनुष्य अपने भोगासक्ति-रूपी अज्ञानके कारण इन घटनाओंको सुखदुःख कहने लगता है। वह सारे संसारको सुखदायी या दुःखदायी केवल इन्हीं दो रूपोंमें देखता है। वह संसारको सुखदुःखातीत रूपमें देखनेकी कलाको भूलगया है। यदि मनुष्य अपनेको सुख-दुःखातीत अवस्थामें रखनेवाली ज्ञानमयी स्थितिको अपनाले, तो वह संसारको न तो सुखदायी रूपमें देखे, और न दुःखदायी रूपमें देखे। तब यह संसार उसके सुखदुःखातीत अनासक्त अवस्थासे अभेद्य संबन्ध बनाये रखनेके उपयोगमें आने लगे। गीताने मनुष्य को ' तितिक्षा ' का उपदेश इसीलिये दिया है कि मनुष्य संसारको देख कर इससे प्रभावित होना छोड दे। वह सुखदुःखातीत स्थितिका दर्शन करनेमें इसका उपयोग किया करे। सुखदुःखमें सम होना ही गीताकी ' तितिक्षा ' है। जबतक मनुष्य सुखदुःखमें 'सम' नहीं होगा, तबतक उसे कल्याण प्राप्त नहीं होगा।

शारीरिक अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सुखदुःखकी कल्पना भ्रान्ति है।

या तो सुखको भी दुःख मान लो, या दुःखको भी सुख मान लो, यह सुख-दुःखमें सम होनेका अभिप्राय नहीं है। 'सुखदुःखमें सम होना' इसीको कहते हैं कि इन सुखदुःखोंको कल्पनाका विषय मान कर इन्हें अस्वीकार कर दो। संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल रूपमें जो दो विपरीत परिस्थिति दीखती हैं, कोई भी मनुष्य उनका निषेध नहीं कर सकता। क्योंकि किसी पदार्थका अनुकूल और किसीका प्रतिकूल प्रतीत होना, यह जीवित देहकी स्वाभाविक अवस्था है। इस स्वाभाविक अवस्थाको कदापि नहीं हटाया जासकता। मनुष्य केवल इतना कर सकता है, कि इन्हें सुखदुःख कहना छोड़ दे। यदि मनुष्य इन्हें सुखदुःख कहना नहीं छोड़ेगा, तो उसका 'सुखदुःखमें सम होजाना,' असंबद्ध बात हो जायगी। क्योंकि पहले इन्हें सुखदुःख मानकर, फिर इनमें 'सम' होजा-नेका कोई अर्थ नहीं होगा। तब यह अर्थहीन वाक्ययोजना हो जायगी। इसलिये उचित यह है, कि मनुष्य अनुकूल-प्रतिकूल अनुभूतियोंको, जीवित देहका अनिवार्य स्वभाव मानकर, इनके कारण काल्पित किये हुए सुखमें स्पृहा न रखे, और दुःखमें उद्वेगरहित बना रहे। यही गीतोक्त 'सुखदुःखमें समता' या ' तितिक्षा ' है। अर्थात् शरीरको प्रतिकूल लगनेवाली अनुभूतिसे उद्विग्न न होना और अनुकूल लगनेवाली अनुभूतिके लिये स्पृहा न रखना, यही ' गीताप्रतिपादित

समता' की अवस्था है। यदि मनुष्य अपने शरीरके अनुकूल या प्रतिकूल प्रतीतियोंको केवल जीवित रहनेके उपयोगमें लाये और इन्हें भोगके उपयोगमें कदापि न लाये, तो वह अपनेको वास्तवमें सुखी रख सकता है। यह ठीक है कि जीवन-धारण करनेके लिये शरीरकी अनुकूलताका ग्रहण और प्रतिकूलताका विरोध करना ही पडता है; परन्तु गीता इस संबन्धमें यह कहती है कि मनुष्य इस ग्रहण या विरोधको सुखदुःखका नाम न दे। वह इसे केवल 'जीवन धारण करना' मात्र समझे। वह इसे जीवनधारणके लिये आवश्यक कर्तव्य मानकर करे। क्योंकि जीवनधारण स्वयं सुख भी नहीं है और दुःख भी नहीं है। जीवनधारण करना तो 'सुखदुःखातीत अवस्था' है।

सुखदुःखातीत जीवन ही सच्चे सुखका जीवन है।

जो मनुष्य अपने जीवनको भोगके काममें लाता है, वही अपने मनमें सुखदुःखकी कल्पनाको बैठा लेता है। इन्द्रियोंके रागद्वेषको अपनानेवाला मनुष्य इन अनुकूल तथा प्रतिकूल अनुभूतियोंको अन·धिकारपूर्वक भोग करनेकी कामनासे ' सुख ' कहता है, और अन-धिकारपूर्वक त्यागनेकी भावनाको लेकर ' दुःख ' का नाम देता है। इन्द्रियोंके धर्मोंको अपनानेके कारण इन्द्रियासक्त बने हुए मनके ये सुख और दुःख दोनों कल्पना हैं। परन्तु जिस मनुष्यके पास केवल जीवनधारण करनेका प्रश्न है, जिसने भोगके प्रश्नको जान बूझकर अपमानित किया है, वह सुख दुःखकी कल्पनामें कभी नहीं फंसता। वह तो गीताकी समताकी स्थितिमें जीवन बिताता है। उसके जीवनको न तो 'सुखी जीवन' कहा जा सकता है, और न 'दुःखी जीवन' कहा जा सकता है। उसके जीवनको तो ' सुखदुःखातीत जीवन ' कहना पडता है। सुखदुःखातीत जीवन ही 'सच्चे सुखका जीवन' है।

सुखदुःखातीत स्थिति ही मनुष्यकी स्वाभाविक स्थिति है। सुखदुःखके बंधनमें रहकर सुख मनाते रहना अस्वाभाविक अवस्था है।

'सुखदुःखमें सम रहना' अर्थात् ' तितिक्षा करना ' ज्ञानीका स्वभाव है। गीता काल्पनिक अनित्यसुखोंको ' सुख ' नाम देना तथा अनित्य दुःखोंको ' दुःख ' कहना नहीं चाहती। वह केवल नित्यसुखको ही ' सुख ' कहना, तथा नित्यसुख न पानेको ही 'दुःख' बताना चाहती है। वह केवल नित्यसुखका ही वर्णन करती है। वह जिस सुखदुःखातीत (इन्द्रियोंके बन्धनसे अतीत)

नित्यसुखमयी स्थितिका वर्णन करती है, उसीको 'ब्राह्मी स्थिति' कहती है। मनुष्यको नित्यसुख देनेवाला 'गीतोक्त स्वधर्म' यही है कि इन्द्रियासक्त मनके रचे हुए काल्पनिक सुखदुःखके बन्धनोंको काटकर फेंक दो, और अपनी सुखदुःखातीत अनासक्त अवस्थामें रहने लगो। इस संसारमें मनुष्यके लिये यदि कोई स्वाभाविक विश्रामस्थान है तो वह 'अनात्म पदार्थोंके भोगके बन्धनसे अप्रभावित रहनेवाली आत्मस्थिति' है। उदाहरणके रूपमें माताकी गोद बालकके लिये स्वाभाविक विश्रामस्थान है। जब कोई अन्य पुरुष, किसी बालकको लोभकी वस्तु दिखाकर, उसे माताकी गोदसे बाहर निकालना चाहता है, तब यदि उसने माताकी गोदनामके सुखदुःखातीत आनन्दमय स्वाभाविक विश्रामस्थानको भुला दिया हो, तो वह उस अनधिकारीकी दिखाई हुई लोभकी वस्तु पानेको 'सुख' और न पानेको 'दुःख' मानता है! यदि उस बालकने, अपनी माताकी गोदरूपी स्वाभाविक स्थानको न भुलाया हो, तो उसके सामने बाह्य वस्तुको पाने या न पानेका प्रश्न ही नहीं आता, और तब उसके सुखदुःख मनानेका अवसर भी नहीं होता। बालक तबतक ही सुख-दुःखातीत नित्यसुखकी स्थितिमें रह सकता है, जबतक कि वह अपने स्वाभाविक निवासस्थानको न भूला हो। आत्मस्थितिमें रहनेवाला ज्ञानी, माताकी गोदमें लेटनेवाले मुग्ध बालकके समान होता है। इस स्थितिको अपनानेवाला ज्ञानी मनुष्य, बाहरके काल्पनिक सुखोंके धोकेमें आनेको 'दुःख' मानता है, और उन्हें स्वभावसे अस्वीकार करता रहता है। जिस मनुष्यका मन अनासक्ति कहानेवाली आत्मस्थितिरूपी माताकी गोदमें बैठा रहता है, वह जब अपनी इन्द्रियोंसे इस संसारको देखता है, तब अपने आपको 'सम' अवस्थामें पाता है। वह इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आनेवाले विषयोंमें राग या द्वेष नहीं मानता। उसे स्वभावसे मिले हुए अनासक्तिरूपी ब्रह्मसुखसे वंचित रहना दुःखदायी प्रतीत होने लगता है।

विषयासक्ति ही 'दुःख' तथा अनासक्ति ही 'सुख' है।

गीता ज्ञानीकी अनासक्त स्थितिको ही 'ब्रह्मसुख' या 'सच्चा सुख' कहती है और विषयासक्तिको 'दुःख' बताती है। गीतामें सुखदुःखका यही स्वरूप वर्णित हुआ है।

छठा प्रकरण

आत्माका एकत्व

‘ सब देहोंका एक ही देही है ’ इस बातको समझलेनेपर ही शोक मिट सकता है।

मनुष्यका स्वजनोंके लिये शोक करना क्यों अज्ञान है ? अर्थात् मनुष्यके स्वजन अशोच्य क्यों हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये गीताकारने देहीके स्वरूपका वर्णन किया है। अर्थात् गीता समझती है कि यदि मनुष्य देहीके स्वरूपको जान जायगा, तो वह शोकरहित ज्ञानमयी अवस्थामें रहसकेगा, और यदि वह देहीके स्वरूपको न समझेगा, तो वह शोकातीत नहीं बन सकेगा। गीता कहती है कि संसारभरके देहोंका देही एक ही है। वह नित्य और अविनाशी है। उसके ये सब देह नाशवान् तथा अनित्य हैं। मनुष्य इस देहीको ही अपना स्वरूप जाने, और नाशवान् देहोंमें आसक्तिको त्यागदे, यही मनुष्यकी ‘ शोकातीत अवस्था ’ है।

अनेक आत्मा स्वीकार करना, ईश्वरको अस्वीकार करना है।

गीताके जिन श्लोकोंमें देही या आत्माका वर्णन है, यद्यपि उनमें सर्वत्र देही-शब्द एकवचनान्त और देह शब्द बहुवचनान्त हैं; अर्थात् व्याकरणके अनुसार देही एक है और देह अनेक हैं। परंतु व्याकरणकी ही दृष्टिसे इस एकवचनान्त देही शब्दको जातिवाचक भी कहा जा सकता है। इस लिये आत्माकी एकता या अनेकताका निर्णय करनेके लिये विचार करना आवश्यक है। क्योंकि इन दोनों विरुद्ध बातोंको स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि आत्माको एक, सर्वव्यापी, अविनाशी, अव्यक्त तत्व स्वीकार किया जायगा, तो उसकी अनेकताको अवश्य अस्वीकार करना पडेगा। यदि आत्माकी अनेकताको सत्य माना जायगा, तो उन अनेक आत्माओंको परस्पर भिन्न रखनेवाला कोई ऐसा विशेष धर्म मानना पडेगा, जिस (विरोधी धर्म) के होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् बने रहें, और तब यह भी मानना पडेगा, कि उन अनेकोंमें कोई एक समान धर्म नहीं है, जिससे वे एक कहासकें। इस दृष्टिसे अविनाश तथा अव्ययत्व आदि गुणोंवाले अनेक आत्माओंकी कल्पना निराधार हो जाती है। यदि भिन्नभिन्न गुण रखनेवाले अनेक आत्मा माने जायंगे, और उनसे संपूर्ण जगत्को व्याप्त माना जायगा, तो फिर उनसे भिन्न, सर्वव्यापी विराट्

ईश्वर तत्वका अस्तित्व स्वीकार करने योग्य नहीं रहेगा। परन्तु सर्वव्यापी ईश्वरके माननेपर वे सब उसीमें समाजाते हैं और उनकी पृथक् सत्ता लुप्त हो जाती है। आत्माओंको अनेक मान लेनेपर मनुष्यके सामने सर्वव्यापक एक सत्यस्वरूपी ईश्वर सत्ताके अनावश्यक बनजानेका विरोध उपस्थित हो जाता है। क्योंकि तब सर्वव्यापी ईश्वरतत्व इन्हीं सर्वव्यापी आत्माओंमें समाजाता है और उसकी पृथक् सत्ता अनावश्यक हो जाती है। विचारवान मनुष्य इस प्रकारकी अव्यवस्थाको उत्पन्न करने वाले ऐसे विचारको, जिससे एक नित्य शाश्वत सत्ताको ही अस्वीकार करना पडे, कदापि नहीं अपना-सकेगा और सब देहोंके एक ही सर्वव्यापी देहीको मानेगा।

सब देहोंमें देहीके एकत्वको पहचान लेनेपर ही मनुष्यका शोकातीत होना संभव है।

गीताके आत्मस्वरूपका वर्णन करनेवाले श्लोकोंके अभ्रान्त अर्थको समझनेके लिये, मनुष्यको सबसे पहले शोकातीत स्थितिके स्वरूपको समझना चाहिये। शोक क्या है? वह क्यों किया जाता है? तथा जिस ज्ञानके प्राप्त होजानेपर उसकी निवृत्ति हो जाती है, उस ज्ञानका स्वरूप क्या है? इन सब बातोंपर स्पष्ट विचार करना आत्माका स्वरूपनिर्णय करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि इन सब बातोंका विचार किये बिना आत्मस्वरूपका निर्णय कर सकना संभव नहीं है। गीताने अर्जुनको आत्माके स्वरूपको समझाकर ही शोकातीत ज्ञानमयी स्थितिसे परिचित कराया है। अर्जुन शोकग्रस्त होनेके कारण युद्धरूपी कर्तव्यसे विमुख हो रहा था। इस कर्तव्यमूढ अवस्थासे मुक्त होनेके लिये, उसका पहले शोकातींत अवस्थाको प्राप्त कर लेना आवश्यक था। गीतापाठकको यह विचारना चाहिये कि क्या शोकातीत अवस्थामें रहनेवाला कोई मनुष्य दूसरे देहोंके देहीको अपने आत्मस्वरूपसे भिन्न समझ सकता है? मनुष्य नाशवान् देहोंकी ममता अर्थात् आसक्तिसे ही शोक किया करता है। वह जिसे अपनाता है, उसका विनाश होता देखकर शोक मनाता है। परन्तु आत्मा एक ऐसी अविनाशी अव्यय सत्ता है, कि इसका कभी विनाश या अभाव नहीं होता, इस लिये इसको अपनानेवालेके पास शोक मनानेका प्रसंग कभी नहीं आता। इस अविनाशी अव्यय वस्तुको ही गीताने 'सब देहोंका एक देही' बताया है। जो मनुष्य इस देहीको जानलेता है, वह अपने और पराये देहोंके देहीको एक (अभिन्न) रूपमें देखता है। देहीका परि-

चय हो जाना ऐसी अवस्था है, कि जिसके होनेसे किसी भी भौतिक देहमें ममता या आसक्ति रखना असंभव हो जाता है। जबतक मनुष्य आत्म-स्वरूपको नहीं जान जायगा, तबतक ममता या आसक्ति अनिवार्य रूपसे बनी रहेगी। जब मनुष्य एक विश्वव्यापी अविनाशी आत्मतत्त्वको अपना और सब भूतोंका स्वरूप जान जायगा, तब वह ज्ञानकी शोकातीत स्थितिमें पहुंच जायगा। शोकातीत स्थितिमें पहुंचे हुए मनुष्यके लिये, दुसरे देहोंके साथ ममता रखना तथा उन देहोंके देहीसे अपने स्वरूपको भिन्न समझना, ये दोनों बात असंभव हो जायंगी। देहासक्तिसे मुक्त होकर निर्विकार शोकातीत आत्मस्वरूपका दर्शन करना ही 'ज्ञानकी स्थिति' है। ज्ञानी अपनेमें तथा संपूर्ण विश्वमें एक ही आत्मतत्त्वका दर्शन करता है। जिस प्रकार भिन्नभिन्न आधारोंमें भरे हुए स्वच्छ आकाश, वायु तथा जलोंको, एक ही तत्त्व माना जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष संसारके संपूर्ण भिन्नभिन्न देहोंमें उन सब देहोंके देहीकी अभिन्नताको स्पष्टरूपसे देखता रहता है। शोकातीत ज्ञान-वाली अवस्था ही 'आत्मदर्शनकी अवस्था' है। आत्मदर्शी मनुष्य सर्वभूतस्थ आत्मस्वरूपको अपना स्वरूप जानता है। वह देहोंके जनन मरणको एक आत्माके नवीन वस्त्रधारण तथा जीर्णवस्त्रत्यागके रूपमें देखता है और शोका-तीत बना रहता है। **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं** से लेकर अन्ततक संपूर्ण गीताने भिन्नभिन्न प्रकारोंसे आत्माके इसी स्वरूपका वर्णन किया है।

सातवां प्रकरण

पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग, नरक

देहकी मृत्युकी उपेक्षा करके, शोकके अवसरोंपर शोकातीत बने रहना 'आत्मदर्शन' है।

शरीरके जन्ममृत्युको अपरिहार्य बताया गया है, और इसी कारण इनकी मृत्युको शोक करनेके अयोग्य कहा गया है। शरीरके जन्ममृत्युके अधीन रहते हुए भी, मनुष्यमें शोकातीत आत्मस्थितिको पानेकी शक्ति है। देहके उत्पत्ति-विनाशशील होनेसे शोकातीत स्थितिके दर्शनमें कोई रुकावट नहीं पडती। क्यों-कि मनुष्यदेह उत्पत्ति और विनाशके नियमसे जकडा हुआ है, और क्योंकि वह शोक उत्पन्न करनेवाला है, इसी कारणसे मनुष्यको शोकातीत आत्म-

स्थितिका दर्शन होता है। शोकका अवसर होनेपर ही शोकातीत रहनेका कौशल दिखाया जा सकता है। गीताने बार बार कहा है कि अनिवार्य जन्म-मरणोंकी उपेक्षा करके आत्मदर्शन करो, यही 'मनुष्यजीवनका स्पष्ट उद्देश्य' है। आत्मदर्शन करना 'मनुष्यका श्रेष्ठ कर्तव्य' है।

वर्तमानमें शरीरके विद्यमान होनेसे अपनेको बद्ध मानना तथा शरीररहित मुक्तिकी कल्पना करना भ्रान्ति है।

वर्तमान देहमें और वर्तमान कालमें आत्मदर्शन न करना, इसके लिये किसी शरीररहित अवस्थाकी प्रतीक्षा करते रहना, शरीरके रहनेतक अपनेको बद्ध मानते रहना, और यों अपने आपको, कुछ पुस्तकलेखकोंकी कल्पित 'अशरीरिणी मुक्ति'की अनिश्चित आशामें फंसाये रखना, यह सब हाथकी वस्तुको फेंककर अप्राप्त वस्तुकी चाहमें भटकनेकी चेष्टा करना है। ऐसे मनुष्यको देखकर यही कहना होगा कि इसने प्राप्त वस्तुको अप्राप्त मान लिया है, और उसकी प्राप्तिको, अपने अधिकारसे बाहर रहनेवाली किसी कल्पित तथा असंभव अवस्थाके लिये स्थगित करदिया है। यह बडे भारी अज्ञानकी बात है कि शरीर होनेको ही अपराधोंकी सूचना मान लिया जाय; जबतक शरीर है तबतक अपनेको शोकमोहातीत मुक्तावस्थाका अनधिकारी समझ लिया जाय; तथा मुक्त बननेके लिये शरीररहित अवस्थाकी दुराशा बांधी जाय। यह ऐसी बात है जैसे कि कोई हाथकी वस्तुको पानीमें डुबोकर उसे ढूंढनेके लिये पृथ्वीको खोद रहा हो। क्योंकि हम शरीरधारी हैं, इस लिये हम मुक्त नहीं होसकते, यह 'अज्ञानमूलक कुविश्वास' है। गीताने मनुष्यको शरीरधारण होनेके कारण, मुक्तिका अनधिकारी नहीं बताया। वह तो कहती है कि मनुष्य, शरीरके रहते ही रहते, शोकातीत अवस्थाको प्राप्त करे, और आत्मस्वरूपका दर्शन करे। गीताकी दृष्टिमें मानवमात्रका यही पुनीत कर्तव्य है, तथा यही 'गीताकी मुक्ति' है।

'पुनर्जन्मके दुःखालय होने' तथा 'ज्ञानीके पुनर्जन्म न होने'का अभिप्राय

मानव देहके जीवनकालमें ही मुक्तिके अस्तित्वको बतानेवाली स्पष्ट उक्ति जिस गीतामें भरी पडी हैं, उसमें जहां पुनर्जन्मको दुःखालय तथा अशाश्वत कहा है, वहां उसका यही भाव लेना युक्तिसंगत होगा, कि जो मनुष्य अपने आपको शरीरके बन्धनमें मानता है, वह दुःखालय अशाश्वत पुनर्जन्मकी भ्रान्तिमें फंसा हुआ है। वहां गीता मनुष्यको यह बताना चाहती है, कि कोई भी मनुष्य

विराट् देहीके सदा होते रहनेवाले पुनर्जन्मको दुःखालय और अशाश्वत रूपमें देखनेकी भ्रान्ति न करे। किन्तु यह समझे कि वह विराट देही, सदा पुनः पुनः जन्म लेता रहता है। जन्म लेते रहना उसका शाश्वत स्वभाव है। कोई भी मनुष्य उसके इस स्वभावको अपना स्वभाव माननेके भ्रममें न फंसे।

शरीरके होते हुए मुक्त न होसकनेकी धारणा भ्रांत है।

यदि गीताके ऐसे सब वाक्योंका यह अभिप्राय लिया जायगा, कि जबतक मनुष्य शरीरधारी अर्थात् जीवित है, तबतक 'बद्ध' है; अर्थात् तबतक वह 'मुक्तिका अनधिकारी' है, और तबतक उसका यही कर्तव्य है, कि वह जीवन-कालमें न मिलनेवाली, तथा मरणके अनन्तर मिलनेवाली, शरीरहीन मुक्तिके लिये प्रयत्न किया करे; तो कहना पड़ेगा कि गीतामें इसी शरीरमें प्राप्त करने योग्य, स्थितप्रज्ञता, ब्राह्मी स्थिति, गुणातीत स्थिति, भक्ति, योगारूढ स्थिति आदिका जो उज्ज्वल वर्णन किया गया है, वह सब निरर्थक वाग्जाल है। तब इसका यह स्पष्ट अभिप्राय मानना पड़ेगा, कि गीतापाठक इन सब उज्ज्वल स्थितियोंको अप्राप्तव्य माने, और जबतक जीवन है, तबतक शरीरकी विद्य-मानतारूपी अपराधके कारण अपनेको बन्धनदशामें समझे, और मुक्ति पानेके लिये अन्तहीन प्रयत्न करनेवाला शोकातुर, मृत्युसे भयभीत बना रहकर स्वजनादियोंके बंधनोंमें फंसा पडा रहे। कोई भी विचारशील मनुष्य इस प्रका-रकी निराशाभरी बातोंको उपदेशके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकारकी बातोंको, अध्यात्ममार्गमें अनुत्साहित करनेवाली और अज्ञा-नकी स्थितिका समर्थन करनेवाली मानकर अज्ञान कहना पड़ेगा।

पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग, नरक आदिका वास्तविक अभिप्राय।

इस दृष्टिसे गीतामें उल्लिखित पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग, नरक आदि शब्दोंका यही स्वीकरणीय अर्थ हो सकता है कि मनुष्य किसी भी अनिश्चित भविष्यत्‌की प्रतीक्षामें न रहे। वह शरीरके जीवनकालमें ही देहबन्धनके अतीत होकर, अर्थात् विदेह मुक्तिको पाकर, पुनर्जन्म आदिकी भ्रान्तिसे बचा रहे, आत्मस्थिति नामवाले 'स्वर्ग' को प्राप्त करे, और अज्ञान रूपी 'नरक' से मुक्त हो जाय। जिन जन्ममरणोंको रोकना मनुष्यके वशमें नहीं है, जो इस सृष्टिमें स्वभावसे हो रहे हैं, जिन्हें स्वयं प्रकृतिमाता इसी लिये कर रही है, कि मनुष्यको शरीरबन्धन देकर, देहबन्धनातीत विदेहमुक्तिके आनन्द लेनेका अवसर दिया जाय; ऐसे जन्ममरणरूपी सुअवसरको, वृथा ही

बन्धन मानकर कोसते रहना, और फिर उनसे मुक्त होनेकी कल्पना करना 'मुक्तिको धक्का दे देना' है। यह मुक्तिको अस्वीकार करनेकी अवस्था है। जबतक मनुष्य अपनेको शोकमोहके अधीन अज्ञानी और बद्ध मानता रहेगा, तबतक वह अपनेको तथा अपने स्वजनोंको, जन्मने मरनेवाला समझनेकी भ्रान्ति नहीं छोड़ेगा। मनुष्यको यह जानना चाहिये, कि यह शरीर ही जन्मता है, आत्मा नहीं। गीतामें जहां कहीं पुनर्जन्मसे छुटकारा पानेकी बात कही है, वहां उसका यही अभिप्राय लेना चाहिये कि मनुष्य शोकातीत होकर आत्मस्वरूपको जाने, अपनेको जन्मने मरनेवाला न माने, तथा पुनर्जन्मकी भ्रान्तिसे मुक्त रहे। जिसे यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता, वह संसारबन्धनरूपी अज्ञानको अपनाये रहता है। अज्ञानको अपनाये रहना ही 'नरक' कहाता है। 'स्वर्ग' अर्थात् स्वरूप स्थिति यही है कि मनुष्य जन्मबन्धनातीत स्थितिमें रहकर निष्काम कर्म करता रहे, और अनासक्त बना रहे। इसके अतिरिक्त मृत्युके पश्चात् जिस स्वर्ग, नरक और मुक्ति मिलनेकी बात कही जाती है, वह सब अज्ञानियोंकी कल्पना है।

भोगाभिलाषा ही भविष्यत्में होनेवाले स्वर्गनरकादिकी कल्पना कराती है।

भोगपरायण मनुष्य, जब इस देहमें अपने भोगरूपी लक्ष्यको अतृप्त पाते हैं, तब अपनेको किसी भावी अनुकूल अवस्थामें देखनेकी और वहां भी भोग भोगनेकी कल्पना करते हैं। ऐसे लोग चाहते हैं कि हम दूसरा शरीर लेकर वहां भी अपनी भोगेच्छाको तृप्त करें। त्यागकी अवस्था भोगोंसे उत्कृष्ट अवस्था है। इस अवस्थाके माहात्म्य और अस्तित्वको न समझनेवाले भोगपरायण मनुष्य अंधकारपूर्ण भविष्यके लिये भी इन्द्रियसुख चाहते हैं। ये लोग, अपनी अतृप्त भोगवासनाके कारण, मृत्युके पश्चात् भी स्वर्ग नामवाली भोगभूमिकी कल्पना कर लेते हैं। ये उस कल्पित स्वर्गमें पहुंचकर, भोगतृप्तिकी आशा बांधते हैं। ये वर्तमानमें भी केवल भोग चाहते हैं, और भविष्यमें भी भोग ही चाहते हैं। ये भोगेच्छाके रूपमें प्रकट होनेवाले अपने अज्ञानसे, भविष्यके लिये स्वर्ग नामक भोगस्थानकी कल्पना कर लेते हैं।

मृत्युके पश्चात् मुक्ति चाहना, भोगासक्तिकी अचूक सूचना है।

जो मनुष्य इस शरीरके जीवनकालमें मुक्त होना असंभव मानता हो, और मृत्युके अनन्तर मिलनेवाली मुक्तिकी कल्पना करता हो, निश्चय जानो

कि वह देहमें आसक्त है। उसने शरीरके होनेको ही बन्धन मान रखा है। उसने अपनेको शरीरके जीवित रहनेतक शरीरके बन्धनमें रहनेके लिये विवश मान लिया है। उसके ऐसा माननेसे उसकी देहासक्तिकी सूचना मिलती है। क्योंकि वह अपनेको शरीरके जीवनकाल तक उसमें अनासक्त रहनेवाली मुक्तावस्थाको भोगनेमें असमर्थ पा रहा है, इसीसे उसकी मुक्ति वर्तमानकी वास्तविक स्थिति नहीं है, किन्तु भविष्यत्के लिये कोरी कल्पना है।

अज्ञानसे ही भावी बन्धन तथा भावी मुक्तिकी कल्पना होती है।

मनुष्य अपने देहके जीवनकाल तक ही अपनेको या तो 'बद्ध' या 'मुक्त' रखनेका अधिकारी है। मरनेके पश्चात् अपनेको बद्ध या मुक्त रखनेकी चिन्ता करना मनुष्यका अधिकार नहीं है। जो मनुष्य इस अपने अधिकारसे बाहर पैर रखता है, और मरणोत्तर कालके विषयमें कल्पना दौडाता है, वह अज्ञानी है। अपने अधिकारसे बाहर निकल कर मृत्युके अनन्तर जहां मनुष्यका लेशमात्र भी अधिकार नहीं है, वहां किसी अवस्था को पानेकी इच्छा करना मनुष्यका अज्ञान है। इस अज्ञानने ही 'पुनर्जन्म-वाद' या 'शरीरान्त होनेपर मिलनेवाली किसी मुक्ति नामक अलौकिक अवस्था' की कल्पना करायी है।

भोगपरायणतासे ही भावी सुखकी आशा बांधी जाती है, उसी आशाका एक रूप 'पुनर्जन्म' और दूसरा 'न्यायका दिन' है।

इस दृष्टिसे जो लोग लगातार पुनर्जन्म नहीं मानते, किन्तु सर्वप्रलयके दिन किसी न्यायालयसे न्यायभिक्षा चाहते हैं, वे भी सब पुनर्जन्मवादियोंमें ही सम्मिलित हो जाते हैं। क्योंकि ये सब लोग शरीरके अस्तित्व कालसे बाहर निकलकर किसी ऐसी अवस्थाको पाना चाहते हैं, जो इनकी इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाली हो। जिन लोगोंने इन्द्रियतृप्तिकी कसौटीपर, सुखदुःखकी कल्पना की है, और जो इस कसौटीके सुखदुःखोंको, इस शरीरके पश्चात् भी भोगना चाहते हैं, उनमेंसे किसीको भी, पुनर्जन्मवादियोंकी पंक्तिसे बाहर नहीं किया जा सकता।

जीवनकालसे बाहरकी बात सोचना अकर्तव्य तथा अशान्ति है।

स्वस्थ बुद्धि रखनेवाले प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनकालके लिये ही कुछ सोचने या समझनेका अधिकार है। जो मनुष्य इस सीमासे बाहर निकलकर कुछ सोचना, समझना या समझाना चाहता है, वह अनधिकारचेष्टा कर रहा

है। उसकी बुद्धि स्वस्थ नहीं है। अपने जीवनकालसे बाहरके विषयमें बातें कहना, और ऐसी बातोंपर विश्वास करना, मिथ्या प्रलाप करना और मिथ्या जालमें फंस जाना है। मनुष्यका कर्तव्य केवल जीवनकालसे संबन्ध रखता है। इस सीमासे बाहरके लिये जो कोई, जो कुछ सोचता है, सब कर्तव्यभ्रष्टता है, सब मानवजीवनके लक्ष्यसे पतित होना है। ऐसी बातें मनुष्यको कर्तव्यसे हटानेवाली और अकर्तव्य तथा अज्ञानमें फंसानेवाली हैं। ऐसी बातोंसे मनुष्यकी शान्ति खोयी जाती है, और वह जीवनभरके लिये अशान्त हो जाता है। मनुष्यके मनकी यदि कोई अमूल्य निधि है, तो वह 'शान्ति' है। शान्तिको छीननेवाली किसी कल्पनाको मानना, मनुष्यका अज्ञान है। पुनर्जन्मवाद, सर्व प्रलयके दिन न्यायकी आशा या मरणोत्तर मिलनेवाली मुक्तिकी कल्पना, मनुष्यसे इस शान्तिको छीनकर, उसे अशान्त बना देती हैं। मनुष्यके मनसे शान्तिको हटानेवाली इस असंभव तथा अस्वाभाविक कल्पनाको, भोगासक्तिका दुष्टजाल कहना अनुचित नहीं है।

आठवां प्रकरण

कर्मानुसार देहप्राप्ति

भोगासक्ति ही कर्मानुसार जन्म होनेकी कल्पनाका आधार है। यह मन्तव्य गीताको मान्य नहीं है।

गीता कहती है कि कर्मफलानुसार नाना प्रकारके जन्म होनेकी बात उन भोगासक्त अज्ञानी मनुष्योंकी घडी हुई है, जिनके पास व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं है, जिनकी बुद्धि काम तथा भोगमें आसक्त होनेके कारण, नाना प्रकारकी क्रियाओंसे मोहित हो रही है। गीतामें कहीं भी इस सिद्धान्तका समर्थन नहीं है, कि शुभाशुभ जन्म, किन्हीं शुभाशुभ कर्मोंके फलके रूपमें प्राप्त होते हैं। गीताने अर्जुनसे यह कहीं नहीं कहा, कि भविष्यमें अपने अभीष्ट जन्मको पानेके लिये, इस शरीरमें शुभ समझे हुए कर्म करते रहो। गीताने जानबूझकर, इन सब प्रचलित कुविश्वासोंकी उपेक्षा की है, और केवल मनुष्यकी ज्ञानमयी स्थितिका वर्णन किया है।

ज्ञानका अधिकार मनुष्यमात्रको है। इसी लिये ज्ञान किसी भी कर्मका फल नहीं है, इन्द्रियजनित सुखदुःखको शुभअशुभ कर्मोंके फल मानना अज्ञानमयी कल्पना है।

गीताने किसी भी मनुष्यको ज्ञानाधिकारसे वंचित नहीं माना। गीताके मतमें संसारके पापयोनि समझे हुए लोग भी ज्ञानाधिकारी हैं। गीता मनुष्यमात्रको ज्ञानका पवित्र संदेश सुना रही है। ज्ञानके अधिकारी न होनेसे ही, किसीके जन्मको 'अशुभ जन्म' कहा जा सकता था। परन्तु गीता किसे भी मनुष्यशरीरको 'अशुभ जन्म' नहीं समझती। प्रत्युत वह अज्ञानियोंकी दृष्टिमें अशुभ और पापयोनि समझे हुए मनुष्यदेहोंको भी ज्ञानाधिकारसे मंडित देख रही है। गीताने मनुष्यमात्रको ब्राह्मी स्थितिरूपी उत्तम ज्ञानका अधिकारी स्वीकार किया है। इसका भाव यह हुआ कि गीता ज्ञानाधिकारको किसी कर्मफलका दिलाया हुआ अधिकार नहीं मान रही है। जबकि कोई मनुष्य भौतिक दृष्टिसे सुखी, दुःखी, छोटा, बडा, हल्का, भारी, रोगी, निरोग आदि होनेपर भी ज्ञाननामकी सर्वोच्च स्थितिका स्वाभाविक अधिकारी बना ही रहता है, तब किसी मनुष्यके पास ज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त तुच्छ भौतिक सुख न होने जैसी बातको, किन्हीं अशुभ कर्मोंका फल कैसे माना जा सकता है? ज्ञानाधिकार जैसा उच्च अधिकार तो किसी कर्मका फल न हो, और भौतिक सुखदुःख जैसी तुच्छ बात किन्हीं कर्मोंका फल हो, इस बातको कौन विचारशील स्वीकार कर सकता है? वास्तवमें मनुष्यके पास भौतिक सुख न होना दुःखकी बात नहीं है, किन्तु ज्ञान न होना ही मनुष्यके लिये दुःखकी बात है। भौतिक सुख न होना अशुभ अर्थात् दुःखकी बात है। और यह सुखोंका अभाव किन्हीं अशुभ कर्मोंका फल है, यह कल्पना उन लोगोंने की है, जिन्होंने भौतिक सुखको ही सुख माना है, और जो इस सुखके आधारसे ही किसीको शुभअशुभ कहना चाहते हैं। इस प्रकारकी कल्पना करनेवाले सब लोग इन्द्रियासक्त हैं, और अज्ञानी हैं।

शरीरोंकी उत्पत्ति शुभाशुभ कर्मोंका फल नहीं है, यह तो आत्माका स्वभाव है।

ज्ञानी मनुष्य अपनेको सदा ज्ञानका अधिकारी मानता है। उसकी दृष्टिमें मनुष्यदेहधारण करना ही 'ज्ञानाधिकार अर्थात् शुभजन्म पालेना' है। ज्ञानी प्रत्येक क्षण ज्ञानमयी स्थितिमें रहता है। उसकी ज्ञानमयी स्थिति, भविष्यमें प्राप्त करने योग्य स्थिति नहीं है। उसका प्रत्येक क्षण उसका

सफल जीवन है। स्वाभाविक ज्ञानमयी स्थितिमें दृढ प्रतिष्ठित रहना; यही ज्ञानीके जीवनका 'शुभकर्म' है। ज्ञानीको इस स्थितिसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। उसकी दृष्टिमें भौतिक सुख न होना, ज्ञानका विघ्न नहीं है। ज्ञानी भौतिक पदार्थ न होनेको दुःख या अशुभ अवस्था नहीं मानता। उसकी दृष्टिमें किसीके पास भौतिक वस्तु न होना किन्हीं अशुभकर्मोंका फल नहीं है। गीतोक्त ज्ञानमयी स्थितिको समझनेवाला कोई भी मनुष्य अज्ञानियोंकी इस कल्पनाको कदापि नहीं मानसकता, कि यह मनुष्यदेह किन्हीं कर्मोंके फलके रूपमें उत्पन्न हुआ है। गीताके अनुसार यह संपूर्ण जगत् आत्माके स्वाभाविक कर्तापनसे उत्पन्न हुआ है, और उसीसे नष्ट होता रहता है। अर्थात् इस संपूर्ण जगत्को आत्माके स्वभावने उत्पन्न किया है, और वही इसका नाश करनेवाला है। यह जगत् केवल आत्माके विद्यमान होनेसे अपनेआप उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है। हमने अपने आपको अपने शुभाशुभ कर्मोंके द्वारा, भौतिक सुखदुःख भोगनेवालेके रूपमें उत्पन्न किया है, इस प्रकारका कर्तृत्वाभिमान रखना अज्ञानकी बात है। जिस मनुष्यने अपनेको इस कर्तृत्वाभिमानरूपी अज्ञानसे मुक्त कर लिया है, वह ज्ञानकी स्थितिमें है। उसका मनुष्यजीवन सफल है। गीतामें कहीं भी शुभ कर्मोंसे शुभजन्म पानेकी आशा बंधानेवाला उपदेश नहीं है।

ज्ञान तथा अज्ञानसे शुभाशुभ कर्म उत्पन्न होते हैं। शुभाशुभ कर्मसे ज्ञान तथा अज्ञान उत्पन्न नहीं होते।

आत्मा अपनी ही मायासे अव्यक्तसे व्यक्त रूपमें आता है, और फिर व्यक्तसे अव्यक्त रूपमें चला जाता है। अव्यक्त आत्माकी यह बीचकी व्यक्त होनेकी स्थिति ही 'मनुष्यका जन्म' या 'देहधारणकी अवस्था' है। गीताने मनुष्यको इस वर्तमान देहमें जिस स्थितिको अपनानेके लिये प्रोत्साहित किया है, उसे किसी कर्मसे मिलनेवाली नहीं बताया। प्रत्युत यही कहा है कि जो कर्म मनुष्यमात्रको स्वभावसे अनिवार्य रूपसे करना पड़ा रहा है, मनुष्यको चाहिये कि वह उसे अनासक्त रहकर करे। गीताकी दृष्टिमें अनासक्ति ही कर्तृत्वाभिमानशून्य, कर्मफलाशारहित ज्ञानकी स्थिति है। ज्ञानकी स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य, जो कर्म करता है, वही 'शुभकर्म' और अज्ञानकी स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य जो कर्म करता है, वही 'अशुभ कर्म' होता है। इस प्रकार ज्ञान तथा अज्ञानको ही निःसंदिग्ध रूपमें, शुभाशुभ कर्मोंका

कारण पाया जा रहा है। इतनेपर भी शुभअशुभ कर्मोंको ज्ञान या अज्ञानका कारण मानना, स्पष्ट रूपसे भूल है।

शुभाशुभ कर्मोंके शुभाशुभ फलकी कल्पना अज्ञानमूलक है।

ज्ञान या अज्ञानकी स्थितिको ही मनुष्य जीवनमें ग्राह्य या त्याज्य अर्थात् शुभाशुभ माना जा सकता है। कर्मोंसे भौतिक शुभाशुभ फल उत्पन्न होते हैं, ऐसा मानना मनुष्यका अज्ञान है। वस्तुस्थिति यह है कि कर्मका कोई शुभाशुभ फल नहीं होता। प्रत्युत मनकी ज्ञान या अज्ञानरूपी शुभ अशुभ स्थितिका 'शुभाशुभ कर्म' बन जाता है। इस लिये भौतिक दृष्टिसे कर्मके शुभाशुभ फलकी कल्पना करना भ्रान्ति है। क्योंकि यह कल्पना भ्रान्त है, इसी कारण गीताने कर्मफलाशाको मनुष्यका अनधिकार कहा है। उसने मनुष्यको ज्ञान और अज्ञानकी दो स्थितियोंमेंसे ज्ञानकी स्थितिको अपनानेका अधिकार दिया है, और यह अधिकार देकर स्पष्ट स्वीकार करलिया कि मनुष्यको कर्मके परिणामके रूपमें किसी फलकी इच्छा करनेका कोई अधिकार नहीं है। ऐसा करना अपने अधिकारसे बाहर चला जाना है और यह मनुष्यका अज्ञान है। गीता समझ रही है कि इस संसारमें कर्मफल नामकी कोई वस्तु नहीं है। जिसे संसारकी दृष्टिमें 'फल मिलना' समझा जाता है, वह भी किसी कर्मका परिणाम नहीं है। किन्तु सृष्टिव्यवस्थाके उत्पत्तिस्थितिविनाशरूपी विराट् कर्मका ही एक भाग है। मनुष्य अपनी भोगासक्त अल्पबुद्धिसे सृष्टिव्यवस्थाकी कर्ममालामेंसे, पहले कर्मोंको कर्म, तथा पिछले कर्मोंको उनका फल समझलेता है। परन्तु गीताने इस संबन्धमें अपने सिद्धान्तको अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त किया है, कि जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानव जीवनकी अवस्थायें किन्हीं कर्मोंके फल नहीं हैं। इन्हें किन्हीं शुभाशुभ समझे हुए कर्मोंका फल मानना भ्रान्ति है।

नवां प्रकरण

कर्मफल

कर्म मनुष्यके स्वभावसे हो रहा है। कर्मोंके फल मिलनेकी कल्पना भ्रान्त है।

श्रीकृष्णने अर्जुनको गीतामें कहीं ऐसा उपदेश नहीं दिया, कि तुम शुभ फलके लिये शुभ कर्म करो। प्रत्युत सर्वत्र यही कहा है कि तुम ज्ञानकी

स्थितिमें रहकर, फलाशा त्यागकर, कर्म करते रहो। क्योंकि कर्म करना अनिवार्य तथा स्वाभाविक है, इस लिये मनुष्यको कर्म छोडनेकी भ्रान्ति कभी न करनी चाहिये। गीताका मुख्य उपदेश यही है कि फलाकांक्षासे रहित होकर कर्म करते रहो। फलाकांक्षा त्यागकर कर्म करनेकी बात मनुष्यसे इस लिये कही गयी है कि इस सृष्टिमें होनेवाला स्वाभाविक कर्म मनुष्यके करनेसे नहीं हो रहा है। वह तो स्वभावसे हो रहा है। अर्थात् सृष्टिके स्वाभाविक कर्ममें मनुष्यका कर्तापन नहीं है। यही स्वभाव मनुष्यको भी सदा कर्म करनेके लिये विवश रखता है। कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है। स्वभाव फल नहीं चाहता। उदाहरणके रूपमें दाह अग्निका स्वभाव है। यह किसी फलके लिये नहीं है। क्योंकि कर्म करना मनुष्यका स्वभाव है, इस लिये मनुष्यको कर्म तो करना ही पडेगा, परन्तु उसे इस कर्मका फल मांगनेकी भ्रान्ति छोड देनी चाहिये। जो मनुष्य कर्मके इस सिद्धान्तको न समझकर कर्तृत्वाभिमान रखकर कर्म करता है, वह अपनेको उस कर्मके फलको भोगनेवाला भी अवश्य मानता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्वका नित्य साथ है। कहा जा चुका है कि मनुष्य कर्मका कर्ता नहीं है। स्वभाव ही कर्मका सच्चा कर्ता है। मनुष्य जिस कर्मका कर्ता नहीं है, उससे किसी फलकी इच्छा करना उसका अज्ञान है।

कर्मफल मिलना भ्रमपूर्ण सिद्धान्त है। कर्तव्यपालन ही मनुष्यका अधिकार है।

यद्यपि सृष्टिकी स्वाभाविक व्यवस्थामें, एक कर्मसे दूसरे कर्मका कार्यकारण संबन्ध दिखाई पडता है, परन्तु वस्तुतः इनमें कार्यकारण संबन्ध नहीं है। ये सब कर्म विराट् कर्मके अन्तर्गत अगले पिछले कर्म हैं। इन कर्मोंमेंसे किसी कर्मको दूसरे कर्मका फल समझना, और उसीकी आशासे कर्म करना, मनुष्यकी भ्रान्ति है। सृष्टिव्यवस्था इस भ्रान्तिको सदा तोडती रहती है। वह मनुष्यके कर्म और उसके फलके कार्यकारण भावकी कल्पनापर सदा चोट करती रहती है। क्योंकि मनुष्यकी इच्छाके अनुकूल फल कहा जा सकनेवाला कोई भी कर्म संसारमें नहीं हो रहा है, इस लिये मनुष्य जिसको अपने कर्मका फल समझ लेता है, वह वस्तुतः किसी कर्मका फल नहीं है, किन्तु वह भी महती सृष्टिव्यवस्था ही है। अज्ञानी मनुष्य वृथा ही अपनेको इस सृष्टिव्यवस्थासे पृथक् कर्म करनेवाला, तथा उसके फलको

भोगनेवाला, स्वतंत्र कर्ता-भोक्ता मानकर, दुःखी बना रहता है। गीताने इस (फल न होनेके) सिद्धान्तके आधारपर ही फलाकांक्षाको मनुष्यका अनधिकार कहा है। उसने कर्मफल न होनेके कारण ही मनुष्यको कर्म फलकी ओरसे निरुत्साहित किया है, तथा सृष्टिव्यवस्थामें निष्काम कर्मका ही अखण्ड साम्राज्य होनेके कारण, उसे कर्तव्यपालनके प्रति उत्साहित किया है। यह कहना अनुचित नहीं है कि गीताग्रन्थको फलका अस्तित्व स्वीकार नहीं है। मनुष्यको जो अवस्था प्राप्त हो रही हैं, ये किन्हीं पूर्व कर्मोंके फलके रूपमें प्राप्त हो रही हैं, यह सिद्धान्त गीताको मान्य नहीं है। वह समझती है कि मनुष्य कुछ कर्तव्योंको पालनेके लिये संसारमें आया है। कुछ कर्तव्योंने ही अपने आपको मनुष्यके रूपमें प्रकट किया है। कर्तव्यपालनका सन्तोष ही कर्तव्यपालनका फल है। कर्तव्य पालन करनेवाला मनुष्य कदापि आसक्त जीवन नहीं बिता सकता। वह सदा अनासक्त पवित्र जीवन बिताता है। फलासक्ति रखनेवाले मनुष्य अनधिकारभोगेच्छामें फंस जाते हैं। गीता स्पष्ट कह रही है कि इस सृष्टिमें स्वभावसे कर्म ही कर्म हो रहा है। इसमें किसी मनुष्यका कर्तृत्व या ' कर्मफलसंयोग ' नहीं है। अर्थात् इस संसारमें न तो कोई मनुष्य कर्ता है, और न यहां किसी मनुष्यको किसी कर्मका कोई फल मिल रहा है। यहां तो केवल स्वभाव ही सब कुछ करता चला जा रहा है। कर्तृत्वका अभिमान तथा कर्मफल होनेकी कल्पना करना मनुष्यका अज्ञान है।

मनुष्य पूर्वजन्मके कर्मोंसे ज्ञानी या अज्ञानी नहीं बनता।

जब कि कर्मका कोई फल नहीं है, और जब कि मनुष्य स्वतंत्रतासे ज्ञानी या अज्ञानी बनकर जो कुछ करता है, उसे ही ' शुभाशुभ कर्म ' कहा जाता है, तब इस बातको इस उलटे रूपमें कैसे कहा जासकता है ? कि मनुष्यका ज्ञानी या अज्ञानी होना किन्हीं पहले किये हुए शुभ अशुभ कर्मोंका परिणाम है। भाव यह है कि मनुष्य शुभ अशुभ कर्म करके ज्ञानी या अज्ञानी नहीं बना है, प्रत्युत ज्ञानी होकर फिर जो करता है, वही ' शुभ कर्म ' और अज्ञानी होकर जो करता है, वही ' अशुभ कर्म ' कहाता है। ज्ञानी होनेसे पहले कोई मनुष्य शुभ कर्म नहीं कर सकता, और अज्ञानी होनेसे पहले कोई मनुष्य अशुभ कर्म नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे इस

संसारमें आनेवाले मनुष्योंको किन्हीं पूर्वजन्मोंमें किये हुए कर्मोंके फलों-से बंधा हुआ मानना, और इस जन्ममें किये कर्मोंके कारण किसी कल्पित अगले जन्ममें उनका फल भोगनेके नियमसे बंधा हुआ समझना, अज्ञानकी बात है।

कर्मफलकी कल्पना इन्द्रियसुखके बटवारेके आधार पर की गई है। यह अज्ञान है।

यदि मनुष्य विचार करे, और इस कर्मफलकी कल्पनाके मूल तक पहुंचे, तो वह स्पष्ट रूपसे इसका विद्रोही हो जाय, और कहे, कि यह सब अज्ञानियोंकी कल्पना है। इन्द्रियसुखको ही सुख माननेवाले अज्ञानी लोग, जब इस संसारमें भौतिक साधनोंको न्यूनाधिक बंटा हुआ देखते हैं तब वे इस विषमताके कारणकी ढूंढमें लग जाते हैं। क्योंकि इन्द्रिय-सुखको सुख मानना अज्ञान है, इस लिये ऐन्द्रियक सुखोंकी न्यूनाधिकताका कारण ढूंढना भी अज्ञानकी बात है। ऐन्द्रियक सुखोंकी उपासना करनेवालोंका ईश्वर, केवल भौतिक सुखदुःख बांटने और भौतिक सुखोंका प्रबन्ध करनेवाला होता है। ये लोग जब इस संसारमें भौतिक सुखोंके प्रबन्धमें विचित्रता देखते हैं, तब अपने कल्पित ईश्वरके ऊपरसे पक्षपातका दोष हटानेके लिये ही यह कल्पना करते हैं, कि मनुष्यको अपने कर्मोंसे ही सुखदुःख मिलते हैं और इसी कारण मनुष्यके पास सुखदुःखके न्यूनाधिक साधन पाये जाते हैं।

भोगके विघ्नोंको हटाने तथा भोगविघ्नकारियोंको डरानेके लिए कर्मफलके सिद्धान्तकी कल्पना हुई है।

मनुष्यको भोगानुकूल (शुभ) कर्मोंमें प्रोत्साहित करने, और भोगके प्रतिकूल (अशुभ) कर्मोंसे निरुत्साहित करनेके लिये ही कर्मफलकी कल्पना की गयी है। मनुष्यसे इन शुभाशुभ कर्मोंको करानेका यही अभिप्राय है, कि मनुष्य सदा इस संसारमें भोगोंकी उपासना करता रहे, और कल्पित जन्मजन्मा-न्तर तक भोगोंकी अनुकूलताको सुरक्षित रखनेके प्रयत्न किया करे। जो मनुष्य दूसरोंके भोगोंमें हस्तक्षेप करते हैं, उन्हें डराकर रोकनेके लिये, ईश्वरके दण्डसे भयभीत रखनेकी कल्पना की गयी है। अज्ञानी ही भौतिक सुख-भोगके बंधनमें रहते हैं। भौतिक सुखोंमें आसक्त अज्ञानी ही एक दूसरेके भोगोंमें विघ्न डाला करते हैं। दूसरोंके भोगोंपर अधिकारहीन हस्तक्षेप

करनेवाले अज्ञानियोंको डरानेके लिये काल्पित किया हुआ कर्मफल अज्ञानी मस्तिष्ककी उपज है। यह निपट अज्ञानकी बात है। इस कल्पनाका ध्येय केवल भोगरक्षा है। भोगानुकूल शुभकर्म, और भोगोंमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले अशुभकर्मके फलकी कल्पनाके आधारपर ही, भोगानुकूल कर्मको 'धर्म' तथा भोगप्रतिकूल कर्मको 'अधर्म' माना गया है। यह धर्माधर्मकी कल्पना भी इन्द्रियसुख नामके अज्ञानपर अवलम्बित है।

पूर्वजन्मके कर्मोंपर अपनी इन्द्रियासक्तिका उत्तरदायित्त्व डालना इन्द्रियासक्त बने रहनेकी स्वच्छन्दता चाहना है।

यदि कर्मफलका सिद्धान्त मान लें तो मनुष्य कल्पित पूर्वजन्मोंमें कमाये हुए (इन्द्रियासक्तिरूपी) कर्मफलसे कदापि मुक्त नहीं हो सकता। इन्द्रियां मनुष्य देहके नित्यसाथी हैं। मनुष्यको इन्द्रियोंके ही साथ रहना पडता है। परन्तु केवल इन्द्रियोंके साथ रहनेसे ही उसे इन्द्रियासक्त हो जाना पडेगा, ऐसी कोई विवशता उसके पास नहीं है। इन्द्रियोंके साथ होनेसे ही वह इन्द्रियासक्तिको अस्वीकार भी तो कर सकता है। यदि इन्द्रियोंके साथ रहनेवाला कोई मनुष्य, अपनेको इन्दियासक्तिके लिये विवश मान बैठे, और इस विवशताका उत्तरदायित्व पूर्वजन्मोंके कर्मोंपर डाले, तो उसका यह मनुष्यजन्म उसे बांध रखनेवाले कारागारसे भिन्न कुछ न रहे। तब मनुष्यका इस बन्धनसे मुक्त होना असंभव हो जाय। शरीरको बन्धन मानने, और मुक्तिको भविष्यके लिये स्थगित रखनेके मूलमें इन्द्रियासक्तिरूपी भोगेच्छा काम कर रही है।

ज्ञानी अपने ज्ञानाधिकारको किसी कर्मका फल नहीं मानता।

यह कर्मफलकी कल्पना, मनुष्यको अपनेआपको, ज्ञानका अधिकारी नहीं समझने देती। इस कल्पनाने, मनुष्यके, ज्ञानमें स्थित होनेके स्वाभाविक अधिकारको, इस जन्ममें अप्राप्तव्य बना डाला है, और उसे अनिश्चित भविष्यके लिये टाला है।

कर्मफलकी कल्पनाने मनुष्यको ज्ञानका अधिकारी नहीं रहने दिया।

गीताने मनुष्यको अपने अन्तःस्थ ज्ञानके अमृतमय स्वाभाविक अधिकारका पता बताया है। अपने इस स्वाभाविक अधिकारको अस्वीकार करनेवाले मनुष्य, अपनेको कर्मफलके बन्धनसे सुखीदुःखी होनेवाला मान लेते

हैं। जो मनुष्य इस भ्रान्तिमें पड़ते हैं, और अपनेको सुखदुःखके बन्धनमें रहनेके लिये विवश मानते हैं, उनके लिये ज्ञानकी अवस्थाका पाना असंभव कल्पना हो जाती है। ऐसे लोग अनित्य सुखदुःखोंके बन्धनासे अतीत रहनेवाली, नित्यसुख रूप ब्राह्मी स्थितिकी कल्पना भी नहीं कर सकते। ज्ञानी जानता है, कि ज्ञानकी स्थिति मनुष्यके ही अधिकारमें है। इस लिये वह उसे किसी कर्मका फल नहीं मान सकता।

शुभ कर्मोंके भौतिक शुभफल मिलना अनिवार्य नहीं है।

जिन कर्मोंको मनुष्य शुभाशुभ कर्म कहता है, वे कर्म शुभ अशुभ भावना से उत्पन्न होते हैं। शुभ अशुभ भावना उनसे कदापि उत्पन्न नहीं होती। यह सर्वथा अस्वाभाविक कल्पना है कि मनुष्य पहले शुभाशुभ समझा हुआ। कर्म करले और फिर उसके मनमें कोई भावना उत्पन्न हो। शुभ भावनासे किये गये कर्मोंका भौतिक शुभफल और अशुभ भावनासे किये गये कर्मोंका भौतिक अशुभफल होता है, यह सिद्धान्त सृष्टिव्यवस्थाको मान्य नहीं है संसारका अनुभव इस बातका साक्षी है। संसारमें शुभकर्मोंके अनन्तर भौतिक अशुभफल और, अशुभकर्मोंके अनन्तर भौतिक शुभफल बहुधा पाया जाता है। इस लिये कर्मानुसार फल मिलनेकी कल्पना निराधार है।

दसवां प्रकरण

मुक्तिका स्वरूप

कर्महीनता मुक्ति नहीं है, किन्तु कर्मोंको बंधनसे अतीत बने रहनेकी कुशलताके साथ करना ही 'मुक्ति' है।

इस सृष्टिमें 'कर्मत्याग' नामवाली कोई स्थिति नहीं है। इस लिये जो मनुष्य 'कर्महीन' होकर 'मुक्त' होनेकी भावना रखता है, वह अज्ञानी है। मनुष्यको कर्महीनता प्राप्त करानेवाली मुक्ति असंभव है। गीता स्पष्ट शब्दोंमें कर्मबन्धनसे हीन होनेको ही 'मुक्ति' कह रही है। क्योंकि कर्मबन्धनसे मुक्त रहना ही 'मुक्ति' है, और क्योंकि कर्मके विना कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता, इस लिये मनुष्यको चाहिये कि वह 'कर्मत्याग' के भ्रममें न पड़कर, कर्ममें सुधार करे, अर्थात् कर्मको इस कुशलतासे किया करे, कि वह बन्धनका कारण न रहे।

इस कुशलताको ही मुक्ति, अनासक्ति, या ज्ञान कहा जाता है। जो मनुष्य मुक्तिकी इस स्थितिको अपनाचुकता है, वही कर्म करते हुए बन्धनमुक्त रह सकता है। कर्म करते हुए बन्धनमुक्त रहनेको ही 'शुभकर्म' कहा जाता है।

मुक्ति साधनोंसे प्राप्त होनेवाली स्थिति नहीं है।

क्योंकि मुक्त होकर ही शुभकर्म किया जाना संभव है, इस लिये मुक्ति, अनासक्ति, या ज्ञानसे वंचित रहकर, कुछ शुभ समझे हुए कर्म करके, उनसे मुक्ति पानेकी कल्पना निराधार है। वस्तुतः फलाशा त्यागकर कर्म करना ही 'मुक्त होकर शुभकर्म करना' है। मुक्त हो चुकनेसे प्रथम शुभकर्म हो सकना संभव नहीं है। संसारमें ऐसा कोई साधन नहीं है, जो किसी अमुक्त पुरुषको मुक्ति दे सकता हो। मुक्तिको किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं है। साधनोंकी आवश्यकता होना बन्धनकी दशा है। बन्धन ही साघन चाहते हैं। मुक्ति साधन नहीं चाहती।

मनुष्य मुक्त होनेमें स्वतंत्र है।

'मुक्ति' फिर आनेवाली स्थिति नहीं है। यह वर्तमानमें रहनेवाली स्थिति है। मुक्ति ही एक ऐसी स्थिति है, जो मनुष्यके पूर्ण अधिकारमें है। वस्तुत मनुष्य दूसरे सब संयोगवियोगोंमें सृष्टिव्यवस्थाके अधीन है। वह 'बद्ध' या 'मुक्त' रहनेमें ही स्वाधीन है।

फलाशाका त्याग ही 'मुक्ति' है।

फलाशाको त्यागदेना ही 'मुक्ति' है। मनुष्य जिस क्षण फलाशाको त्याग देता है, उसी क्षण 'मुक्त' हो जाता है। फलाशा न रहनेकी मानासिक स्थितिको ही अनासक्ति, ब्राह्मीस्थिति, सांख्यस्थिति, कर्मयोग, भक्ति, त्रिगुणातीत शुद्ध सत्त्व आदि भिन्नभिन्न नामोंसे कहा जाता है। अनासक्त स्थितिमें रहनेवाले मनुष्यके मनमें, सदा सत्यस्वरूप आत्मतत्त्वको अपनाये रहनेका जो स्वभाव होता है, उसीको उसका सत्यसंकल्प, सत्यकाम या 'मुक्त होना' कहा जाता है।

शरीर छोडनेके पश्चात् आनेवाली मुक्ति 'भ्रान्त कल्पना' है।

यदि मनुष्य अनासक्त हो चुका है तो उसे 'मुक्ति' नामकी कोई भी स्थिति अप्राप्त नहीं है। अनासक्त होना ही 'मुक्त' होना है। अनासक्त हो जानेपर भी मुक्ति नामकी कोई स्थिति मनुष्यको अप्राप्त बनी रहती है, और

वह स्थिति उसे शरीर छोड़देनेके पश्चात् मिलती है, यह सारहीन कल्पना है। जिस मनुष्यमें फलाकांक्षाहीनतारूपी अनासक्ति आचुकी है बताओ, कि उसे कौनसी अप्राप्त स्थितिको पानेकी आशा बनी रह सकती है? इस विचारके अनुसार मरनेके पश्चात् आनेवाली मुक्ति, मिथ्या कल्पना बन जाती है। अप्राप्तको पानेकी आकांक्षा ही ' फलाकांक्षा ' कहाती है।

फलकांक्षारहित कर्मसे चित्तको शुद्ध करके, मुमुक्षु बनकर, फिर किसी अवस्था या वस्तुको प्राप्त करनेकी कल्पना करना भी ' फलाकांक्षा ' है। गीता शरीरके रहते ही रहते कर्मबन्धनसे मुक्त होनेको ' मुक्ति ' कहती है। वह अनासक्त होजानेको ही, इसका उपाय बताती है। गीताकी दृष्टिमें अनासक्त होना ही मानव जीवनमें प्राप्तव्य स्थिति है। अनासक्त हो चुकनेपर ही कर्मबन्धनसे मुक्त होना संभव है। मनुष्य जिस कर्ममें फलाकांक्षासे नहीं बंधा है, उसी कर्मको ' शुभकर्म ' कहा जा सकता है। ज्ञान होनेसे प्रथम ज्ञानोत्पत्तिके लिये शुभकर्म कर सकना संभव नहीं है। कहनेका अभिप्राय यही है कि मनुष्य मुक्त हो चुकनेपर ही ' शुभकर्म ' कर सकता है किन्हीं विशेष क्रियाओंको शुभकर्म मानकर, उन्हें आचरणमें लानेके पश्चात्, जब मृत्यु हो चुकेगी, तब ' मुक्ति ' नामकी कोई अलौकिक स्थिति प्राप्त होगी, इस प्रकारकी कल्पना, अनासक्त मनुष्यके हृदयमें स्थान नहीं पा सकती।

मुमुक्षुत्व तथा मुक्तिमें भेद नहीं है। अमुक्त मनुष्यमें शमदमादि नहीं हो सकते।

जिसे अनासक्ति नामकी ' मुक्ति ' मिल चुकेगी, उसके संपूर्ण कर्म, स्वभावसे शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान आदिका रूप धारण कर लेंगे। अनासक्ति रूपी मुक्ति पानेको ही नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामूत्र-फलभोगविराग, या मुमुक्षुत्व आदि चाहे जिस नामसे कहा जा सकता है। वस्तुतः ये सब शमदमादि ' मुक्ति ' के साधन नहीं हैं। प्रत्युत ये सब साक्षात् ' मुक्ति ' हैं। जो इन्हें ' मुक्ति ' न मानकर मुक्तिके साधन बताता है, वह ' मुक्ति ' के स्वरूपको नहीं समझता। जब तक मनुष्य मुक्त नहीं हो चुकेगा, तब तक वह अपने जीवनमें इन शमदम आदिमेंसे किसीको भी नहीं अपनासकेगा। अमुक्त पुरुषमें शमदमादिका होना असंभव कल्पना है। इस दृष्टिसे ' मुक्ति ' की योग्यता या मुमुक्षुत्व नामकी कोई भी ऐसी स्थिति नहीं है, जिसे मुक्तिसे पृथक् स्थिति माना जा सकता हो।

मरणोत्तरमुक्तिकी कल्पनापर विश्वास करनेवाला सर्वदा भोगोंमें आसक्त रहता है।

जो मनुष्य, मृत्युके अनन्तर शरीर न मिलनेवाली काल्पनिक स्थितिको 'मुक्ति' कहता है, और जीवनकालमें शरीरको 'बन्धन' मानता है, वह अपनेको कदापि शमदमादि गुणोंसे युक्त नहीं देख सकेगा। क्योंकि ये शमदमादि अनासक्तिरूपी ज्ञानमयी 'मुक्त' अवस्थाके ही भिन्नभिन्न नाम हैं।

शरीरको दुःखरूप माननेकी कल्पना भ्रान्त है।

शरीरको बन्धन माननेवाले लोग, शरीरकी विद्यमानताके कारण, जिस सुखदुःखकी कल्पना करते हैं, वह उनका विषयासक्तिरूपी अज्ञान है। शरीरको बन्धन मानना, शरीरकी आसक्ति है। शरीरको बन्धन माननेवाला मनुष्य, विषयासक्त होनेके कारण, शरीरके होते हुए अपने आपको अनासक्त या मुक्त रखनेमें असमर्थ पारहा है। शरीरको बन्धन माननेवाले अज्ञानी, अपने अविचारके कारण, आसक्ति रूपी सच्चे दुःखको दुःख नहीं समझते, और इस शरीरको दुःख कहने लगते हैं। इन लोगोंकी दुःखकी कल्पना, गर्भवाससे प्रारंभ होती है। यद्यपि गर्भस्थ बालकके लिये गर्भाशय स्वाभाविक निवासस्थान है, यद्यपि उसे वहां कोई कष्ट नहीं होता; परन्तु ये विचारहीन लोग वहां अपनी ओरसे भ्रूणके दुःखी होनेकी कल्पना कर लेते हैं। यद्यपि गर्भसे बाहर निकल आनेवाले मनुष्यके लिये गर्भवास कारावास-तुल्य काल्पनिक दुःख हो सकता है, परन्तु गर्भ ही जिस भ्रूणका स्वाभाविक निवासस्थान है, उसे वहां अपनी कल्पनासे दुःखी मान लेना, मछलीके पानीमें डूबे रहनेको दुखदायी मानने जैसी मूढ कल्पना है। इस प्रकारकी अनुचित कल्पनाओंसे शरीरको दुःख रूप देखना, और फिर अशरीरिणी मुक्तिकी कल्पना करना, कोरी कल्पना ही कल्पना है। शरीरको बन्धन मानना, और विदेह स्थितिको न पाकर अशान्त बने रहना, एक ही बात है।

अशान्तका मुमुक्षु होना तथा मुक्तिका जीवनकालके बाहर होना दोनों असंभव बात हैं।

किसी मनुष्यमें मानसिक अशान्ति भी हो, और उसीमें मुमुक्षुत्व नामकी उदार स्थिति भी रहती हो, यह कल्पना अस्वाभाविक और असंभव

है। मानव जीवनका चरम उत्कर्ष ही 'मुक्ति' की अवस्था कहाता है। मानव जीवनका यह चरम उत्कर्ष जीवन कालमें ही भोगने योग्य स्थिति है। इसे भविष्यत् या पारलौकिक अवस्थाके रूपमें प्राप्तव्य मानकर स्थगित किये रखना, जीवित कालका सदुपयोग न करके असंभव आशाके बंधनमें फंस जाना है। ऐसी मुक्ति निश्चय ही अज्ञानी लोगोंकी कल्पना है।

गीताने इस काल्पनिक 'मुक्ति' के स्वप्नको तोड डाला है। अनासक्त मानसिक स्थिति ही गीताकी 'मुक्ति' है। वह ऐसी मुक्ति है कि वर्तमान जीवनके सब कार्योंको यथायोग्य करते रहो, और उन्हींमें 'मुक्ति' का स्वाद लेते रहो।

शरीररहित मुक्तिकी कल्पना मनुष्यजीवनको अशान्त बनाए रखती है।

मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा है, कि वह सर्वोत्तम वस्तु चाहता है। यह स्वभाव, बालक, युवा और वृद्ध सबमें पाया जाता है। कोई भी मनुष्य किसी ऐसी वस्तुसे सच्चा प्रेम नहीं कर सकता, जो उसकी वांछित वस्तुसे निकृष्ट श्रेणीकी हो। यदि कोई किसीको कोई वस्तु या वासस्थान देकर उसके साथ ही यह भी कहदे, कि अभी कुछ दिनतक तुम इसे उपयोगमें लाते रहो, उसके पश्चात् तुम्हें इससे उत्तम वस्तु या वासस्थान दिया जायगा; तब उसका मन स्वभावसे उसी अप्राप्त वस्तुकी प्रतीक्षा करने लगेगा, और अपने हाथकी वस्तुसे अशान्त तथा असन्तुष्ट रहने लगेगा। जिस प्रकार छतपर चढनेवाला मनुष्य सीढीपर बैठे रहने से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, इसी प्रकार इस मनुष्य देह तथा उसके जीवन कालको, भविष्यत्में मिलनेवाली अशरीरिणी मुक्तिकी सीढी माननेवाला कोई भी पारलौकिक मुक्तिवादी मनुष्य, अपने वर्तमान देहसे तथा जीवनसे अशान्त और असन्तुष्ट हुए विना नहीं रह सकता। ऐसा मनुष्य अपने आपको स्वभावसे मिली हुई जीवन्मुक्ति रूपी सच्ची मुक्तिसे वंचित बनाये रहेगा। यदि अशरीरिणी मुक्तिका उपासक या श्रद्धालु मनुष्य, जीवनमें किसी जीवन्मुक्ति नामकी अवस्थाको मान भी ले, तब भी उसकी वह जीवन्मुक्ति, क्योंकि उसकी अभिप्रेत 'अशरीरिणी मुक्ति' से निकृष्ट श्रेणीकी होगी, इस कारण वह उसमें शान्त तथा संतुष्ट नहीं रह सकेगा और वह जीवन्मुक्ति भी उसके लिये बन्धन ही होगी।

मुक्ति भविष्यत्का पारितोषिक नहीं है।

पारलौकिक मुक्तिनामके भविष्यत् पारितोषिककी आशासे बंधकर, साधन आदि करनेकी मनोवृत्ति, किसी दण्डसे डरकर दण्डनीय अपराधसे बचनेकी सी मनोवृत्ति है। जिसे भविष्यत् मुक्तिकी आशा है, वह निश्चय ही अपनेको वर्तमानमें 'अपराधी' और 'बद्ध' मान रहा है। इस प्रकार अपनेको अपराधी मानकर 'मुक्तिकी योग्यता' प्राप्त करनेका मिथ्या प्रयत्न करते रहना, मानव जीवनका दुरुपयोग और अपमान करना है। दण्ड तथा पारितोषिक दोनोंसे अतीत रहनेवाली मनोवृत्ति ही स्वभावसे सदाचारी रहनेकी ज्ञानमयी स्थिति है। जीवनकालमें इस ज्ञानमयी स्थितिसे वंचित रहना, और वंचित रहकर पारलौकिक मुक्तिका स्वप्न देखते रहना, मनुष्यजीवनको व्यर्थ बनादेना है। जो मनुष्य इस व्यर्थताको त्याग देगा और अपने जीवनकालको दण्ड या पारितोषिकके बन्धनरूपी फलासक्तिसे अतीत करलेगा, वह देखेगा कि उसे पारलौकिक मुक्तिकी आवश्यकता नहीं है; वह मुक्त है; उसका जीवनकाल सफल है। सफल जीवन ही सच्ची 'मुक्ति' है।

ग्यारहवां प्रकरण

मृत्युकालका अनुचित महत्त्व

गीता मृत्युकालके महत्त्वका प्रचार नहीं करती।

गीताके कुछ श्लोकोंमें अन्तकाल, प्रयाणकाल, शुक्लकृष्ण गति आदि अनेक ऐसे शब्द आते हैं, जिन्हें आपात दृष्टिसे देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है, कि यदि मनुष्यकी मृत्यु, किसी विशेष कालमें और किसी विशेष पद्धतिसे हो, तो उसे मृत्युके पश्चात् सद्गति या दुर्गतिनामकी स्थिति प्राप्त होती है। इसके साथ ही गीता सर्वकालमें अनासक्त रहनेका उपदेश भी दरेही है और अनासक्तिको ही मनुष्यजीवनमें प्राप्त करने योग्य 'सद्गति' बता रही है। गीतामें इस उपदेशकी विद्यमानतामें, मृत्युके किसी विशेषकाल तथा मृत्युकी किसी विशेष पद्धतिको, मृत्युके पश्चात् आनेवाली सद्गति अथवा दुर्गतिका कारण नहीं माना जा सकता। इस संबन्धमें गीताका यही अभिप्राय है कि मनुष्यको अपने जीवनकालको मृत्युकालकी प्रतीक्षामें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये, किन्तु उसे जीवनके प्रत्येक क्षण अनासक्त योगी बने रहना चाहिये। इस दृष्टिसे गीताको मृत्युकालके महत्त्वका प्रचारक नहीं माना जा सकता।

मुक्ति जीवनकालमें होती है, मृत्युकालमें नहीं।

गीताने अनासक्तिको मानव-जीवनका लक्ष्य बताया है, और मनुष्यको अपनी ही स्वतंत्र बुद्धिसे विषयासक्ति त्यागने, तथा अनासक्तिको अपनानेका अधिकार दिया है। इस लिये मनुष्यको अपने आप ही अपने जीवनका लक्ष्य निश्चित करके, निश्चित सफलताका मार्ग ढूंढलेना चाहिये। कर्म करते समय अनासक्त रहनेको ही मनुष्यके जीवनकी सफलता, या कर्मबन्धनसे मुक्तिकी अवस्था, माना जाता है। यदि किसीने अपने जीवनमें प्रत्येक क्षण अनासक्त रहनेका निश्चय न कर लिया हो, और कर्मबन्धनमें फंसे रहकर जीवनको व्यर्थ किया जारहा हो, तो मृत्युके समय जब कि उसका शरीर वशसे बाहर हो जायगा, तब उसे कर्मबन्धनसे मुक्त रहनेका अवसर कहां मिलेगा? मनकी, इन्द्रियोंके बन्धनमें न आनेकी स्थिति ही 'मुक्ति' कहाती है। रागद्वेषोंसे बद्ध न होना ही 'मुक्ति' है। जबतक इन्द्रियां स्वाभाविक जीवित अवस्थामें हों और जबतक वे विषयोंमें रागद्वेष उत्पन्न कर रही हों, तबतक ही मुक्तिकी स्थितिका होना संभव है। परन्तु जब मृत्युकाल आनेपर इन्द्रियां स्वयं ही कालसे ग्रसी जारही हों, और रागद्वेष उत्पन्न करना बन्द कर चुकी हों, तब रागद्वेषोंसे मुक्त होनेका अवसर भी समाप्त हो चुकता है। इस लिये मनुष्यको यह समझना चाहिये कि स्वस्थ जीवन काल ही 'मुक्ति' का अवसर है। जो जीवनकालमें तो मुक्तिको हाथसे बाहर रहने दे रहा हो, और मृत्यु नामके अवसर आनेपर मुक्तिकी कल्पना करके मृत्युके समयको महत्त्व देता हो, उसके विचारशून्य होनेमें संदेह नहीं है।

मृत्युका समय जीवनके समयसे अधिक महत्त्व नहीं रख सकता।

जिस मनुष्यकेपास जीवनके प्रत्येक क्षण अनासक्त रहनेका दृढ स्वभाव नहीं है, वह मृत्युमुहूर्तके आनेपर भी, इन्द्रियातीत अनासक्त स्थितिरूपी मुक्तिका दर्शन नहीं कर सकेगा। परन्तु जो मनुष्य अपनेको अपने जीवनके प्रत्येक क्षण, कर्म करते समय अनासक्त रखेगा, वह मृत्यु काल आनेपर भी, अपनी उसी स्थितिको स्वभावसे अक्षुण्ण बनाये रह सकेगा। ऐसे मनुष्यके जीवनके प्रत्येक क्षणको जो महत्त्व प्राप्त हो चुका होगा, मृत्युके मुहूर्तको उससे अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकेगा।

जीवनकी कुशलता 'मुक्ति' कहाती है; मुक्ति मृत्युकौशल नहीं है।

'मुक्ति' जीवित शरीरमें ही संभोग करने योग्य संपत्ति है। यह मुमुर्षु शरीरोंमें पाने योग्य संपत्ति नहीं है। यह अनासक्तिरूपी ज्ञानमयी कला जीवित रहनेका कौशल है। यह मृत्युकौशल नहीं है। इस लिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपने संपूर्ण जीवनको, मृत्युको महत्त्वपूर्ण बनानेका साधन बनानेकी दुश्चिन्तामें न फंसे, किन्तु उसे मुक्त रहनेका सुविस्तीर्ण अवसर बना ले।

विशेष कालमें मृत्यु पाकर मुक्त होनेकी आशा करना, जीवन कालमें भोगरत बने रहना है।

जीवनका कोई भी क्षण मृत्यु क्षणसे अल्प महत्त्व रखनेवाला नहीं है, और जब कि जीवन तथा मृत्यु नामकी दोनों अनिवार्य अवस्थाओंमें, एक समान अनासक्त बने रहना मनुष्यका कर्तव्य है, तब जो मनुष्य मृत्युकालको अनुचित महत्त्व देकर, किसी विशेष रीतिसे या किसी विशेष समयपर मरनेके पश्चात् मुक्त हो सकनेकी कल्पना करते हैं, वे निश्चय ही जीवनकालमें मुक्तिसे घबराते हैं, और भोगोंसे प्यार करते हैं। इस लिये मनुष्यको चाहिये कि वह मृत्युकालको अनुचित महत्त्व न दे। अर्थात् किसी विशेष पद्धतिसे या किसी विशेष समयमें मरकर मुक्त हो सकनेकी आशा न बांधे, जीवनमें 'मुक्ति' से द्वेष न करे, और पारलौकिक मुक्तिका नाम लेकर भोगोंके बन्धनमें न फंसा रहे।

बारहवां प्रकरण

देहधारणमें दुःखकी कल्पना

देहको दुःखस्वरूप मानना जीवनकालमें मुक्तिको असंभव मानना है।

मर जानेके पश्चात् शरीर न रहने रूपी मुक्तिकी कल्पना, उन लोगोंकी की हुई है, जो अपने जीवन कालमें अपनेको ब्राह्मी स्थिति पानेमें असमर्थ पाते हैं, और मुक्तिको मनुष्य जीवनकेलिये असंभव स्थिति मानलेते हैं। ये लोग अपनी कल्पित मुक्तिकी असंभव आशाका समर्थन करनेके लिये, मनुष्यदेहको अभिशापके रूपमें मानने लगते हैं।

शरीरमें होनेवाले स्वाभाविक परिवर्तनोंको दुःख मानना भ्रांति है।

इन लोगोंका कहना है, कि गर्भवास महादुःख है, रोग, शोक, दाह, आघात

आदि अवस्थाओंका आखेट बना रहनेवाला यह शरीर भी एक महान् दुःख है। ये लोग इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर आकृष्ट होता हुआ देखते ही घबरा उठते हैं। ये मृत्युको भी शारीरिक दुःख देनेवाली अनिवार्य दुःखकी अवस्था मान लेते हैं। इस प्रकारका मन्तव्य रखनेवाले मनुष्य शरीरकी जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, शोक, दाह, आघात आदि घटनाओंको सृष्टिव्यवस्थाकी अनिवार्य घटनाके रूपमें न देखकर, दुःखके रूपमें देखते हैं और घबराकर इनसे बचनेके उपायकी ढूंढ करने लगते हैं। इस उपायकी ढूंढने ही 'पारलौकिक मुक्ति' की कल्पना करायी है। ये सब लोग देहधारणको भयंकर बिभीषिका, तथा महान् अपराधके रूपमें देखकर, अपने मनको पारलौकिक मुक्तिकी प्रतीक्षामें लगाकर, मिथ्या संतोष भोगना चाहते हैं।

निरपराध देहको गाली देना अनासक्तिसे शत्रुता करना है।

देहको गाली देनेवाले ये सब लोग, अनासक्ति नामवाली सीधी, सच्ची तथा सहज 'मुक्ति' से द्वेष करते हैं, और चाहते हैं कि जीवनभर 'मुक्ति' से बचे रहें। ये लोग जब अपने शरीरको स्वच्छन्द विषयसुख भोगनेकी अभिलाषाको पूरा करनेके अयोग्य पाते हैं, तब इस शरीरको अर्थात् इस मुक्ति-यन्त्रको कारागारके रूपमें देखने लगते हैं; ये इस निरपराध देहको गाली देते हैं।

कोई भी शारीरिक अवस्था मुक्तिका विघ्न नहीं है।

क्योंकि 'मुक्ति' इन्द्रियोंसे भोगा जानेवाला शारीरिक सुख नहीं है, इस लिये कैसी भी शारीरिक अवस्था 'मुक्ति' का विघ्न नहीं बन सकती। गर्भवास, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि शारीरिक अवस्थाओंको मुक्तिका विघ्न मानना, माननेवालेकी भ्रान्ति है। यदि इन सब प्राकृतिक घटनाओंको 'मुक्ति' का विघ्न मान लिया जायगा, तो मुक्ति शारीरिक सुखसे भिन्न कुछ न रहेगी। कोई भी भौतिक विघ्न अनासक्ति रूपी सच्ची 'मुक्ति' का विघ्न बन सकता है, यह कदापि नहीं माना जा सकता।

शरीरको बंधन मानकर उससे मुक्त होनेकी इच्छा, इन्द्रियासक्ति, भौतिक सुखेच्छा, तथा दुःखोंसे घबराहट है।

इस शरीरको बन्धन मानना, और इससे मुक्त होनेकी इच्छा करना; बोझसे दबे हुए व्यक्तिके बोझ फेंक कर आराम पानेकी इच्छाके समान,

इन्द्रियासक्ति है। जो इस मानवदेहको दुःखरूप मानकर, इस देहसे छूटनेको 'मुक्ति' मान रहा है, उस की 'मुक्ति' की कल्पना भौतिक सुख है। ऐसा मनुष्य भौतिक दुःखोंसे घबराया हुआ है। दुःखोंके भय तथा सुखोंके प्रेमके कारण ही उसके कल्पनाप्रिय मस्तिष्कने भौतिक दुःखोंसे रहित 'अशरीर-मुक्ति'की कल्पना की है। ऐसे लोग जब शरीरको नाशवान् अर्थात् रोग, शोक, जरा तथा मृत्यु आदिके अधीन देखते हैं, और जब इसको अपनी अनन्त शाखाओंवाली अनन्त भोगवासनाके प्रतिकूल, अर्थात् अखण्ड भोग सुख देनेमें असमर्थ पाते हैं, तब शरीरको गाली देते हैं, और शरीरपर क्रोध करके शरीररहित हो जानेको अपना लक्ष्य मान लेते हैं। वस्तुतः ये लोग नाशवान् शरीरके बदलेमें एक अविनाशी इन्द्रियसुख देनेवाले शरीरकी कल्पना करके, जीवनभर उसकी बाट जोहते रहते हैं।

शरीरको दुःख मानना अज्ञानकी स्थिति है।

शरीरको दुःख मानना, ज्ञानकी स्थिति नहीं है। जो शरीरका सदुपयोग करनेकी कला नहीं जानता, वही शरीरको दुःख-रूप कह सकता है। शरीरको दुःख मानना देहासक्ति रूपी अज्ञानकी सूचना है। गीतामें इस अज्ञानका खण्डन किया गया है और बताया गया है कि धीर पुरुष शरीरके जरा, मृत्यु आदिसे सदा अविचलित रहता है। शरीरका कोई भी परिवर्तन धीर पुरुषको व्यथित करनेमें समर्थ नहीं होता। यही धीर पुरुषकी 'विदेह स्थिति' कहाती है। विदेहावस्थाको भोगनेवाला कोई भी पुरुष, देहपर दोषारोपण या गालिवर्षण नहीं कर सकता।

तेरहवां प्रकरण

ज्ञान तथा कर्म

कर्मफलको त्याग कर कर्म करते रहना 'ज्ञान' है।

मनुष्यजीवनमें प्राप्त करने योग्य वस्तुके स्वरूपको जान लेना ही "ज्ञान' है। जो प्राप्तव्य वस्तुको जान लेता है, वह फिर उससे पृथक् नहीं रह सकता। 'शान्ति' ही मानव जीवनमें पाने योग्य स्थिति है। 'शान्ति'

मनुष्यजीवनका चरम उत्कर्ष, अर्थात् सर्वोच्च स्थिति है । ' शान्ति ' ही ' मुक्ति ' है । ' शान्ति ' को पहचान लेना ही ' ज्ञान ' है । गीतामें कर्मफलत्यागको ' शान्ति ' की स्थिति कहा गया है । जो मनुष्य कर्मफलको त्यागनेकी मानसिक स्थितिको अपनाये हुए है, उसे शान्तिका ज्ञान है । कर्मफलको त्यागे रहकर कर्म करते रहना ' ज्ञानकी स्थिति ' है ।

कर्म करनेसे बचे रहनेकी इच्छा 'अज्ञान' है ।

' ज्ञान ' के साथ ' कर्म ' का नित्यसंबन्ध है । ' ज्ञान ' हो और 'कर्म' न हो यह असंभव अवस्था है । कर्म करते समय फलाशाको त्याग कर शान्त बने रहनेकी कुशलता 'ज्ञान' कहाती है। कर्मसे बचे रहकर ज्ञानी बने रहनेकी कल्पना अस्वाभाविक कल्पना है । कारण यह है कि इस सृष्टिमें कर्म अनिवार्य रूपसे हो रहा है । मनुष्य कर्म करनेकेलिये सदा विवश रहता है । जब मनुष्य कर्म त्यागनेकी भ्रान्त इच्छा करता है, तब भी वह कर्म करता ही रहता है । वह उस समय भी किसी फलासक्तिसे प्रेरित होकर कर्मत्यागरूपी भ्रान्त कर्म करता रहता है । कर्म त्यागना भी दूसरे कर्मको ग्रहण करना रूपी कर्म बन जाता है। **'मनुष्य एक क्षण भी कर्म छोडकर नहीं रह सकता'** यह कहकर गीता बताना चाहती है कि जो स्वाभाविक कर्म मनुष्यको अनिवार्य रूपसे करने पड रहे हैं, उन्हें करते समय ज्ञानी बने रहना ही, मनुष्यजीवनमें प्राप्त करने योग्य स्थिति है । कर्म करते हुए ज्ञानी बने रहनेके अतिरिक्त, दूसरी कोई ' ज्ञान ' नामसे कही जाने योग्य स्थिति नहीं है । कर्म करते हुए ज्ञानी बने रहना ही ' शान्तिकी स्थिति ' है । मनुष्य शान्त रहनेके लिये यही करसकता है कि कर्म करता हुआ फलाशाको त्याग दे । इस लिये ज्ञानी पुरुष कर्मसे पृथक् रहनेका प्रयत्न कभी नहीं कर सकता । वह सदा फलाशासे पृथक् रहता है ।

ज्ञान तथा कर्मका नित्यसंबंध है ।

जिसे ज्ञान होगा, वह फलाशारहित होकर अनिवार्यरूपसे कर्म कर रहा होगा । जिसे ज्ञान नहीं होगा, वह निश्चितरूपसे कर्मसे फलाशा बांध रहा होगा । ज्ञानीके कर्मकेसाथ अनासक्तिरूपी ज्ञान लगा हुआ न हो, यह असंभव घटना है । ज्ञानी जो कुछ करेगा उसकेसाथ अनासक्तिरूपी ' ज्ञान ' अवश्य लगा हुआ होगा । यही ' ज्ञान तथा कर्मका नित्यसंबन्ध ' कहाता है ।

———

चौदहवां प्रकरण

योग

योग तथा ज्ञानकी अभिन्नता। गीतामें वर्णित योगकी परिभाषाओंका समन्वय।

गीतामें (१) कर्म करनेकी कुशलता (२) सिद्धि-असिद्धिमें समता तथा (३) सुखदुःखरहित स्थितिको ' योग ' कहा है। फलाशात्यागदेनेकी मानसिक स्थिति ' कर्म करनेकी कुशलता ' कहाती है। ज्ञानीके जीवनमें अनिवार्यरूपसे होनेवाले ज्ञानयुक्त कर्मको ' योग ' कहा जाता है। ' योगी ' का, कर्म करते हुए ' ज्ञानी ' बने रहना अनिवार्य है, इसी प्रकार ज्ञानीका, ज्ञानकी स्थितिमें रहते हुए कर्म करनेवाला होना अनिवार्य है। अर्थात् ' योगी ' होना और ' ज्ञानी ' होना एक ही बात है। फलाकांक्षा न रहनेकी स्थिति ही ज्ञानीका ' ज्ञान ' और योगीका ' योग ' है। मनुष्य अपने स्वभावसे विवश होकर प्रत्येक समय कर्म करता रहता है, और उसे (कर्मानुसार नहीं किन्तु) सृष्टिव्यवस्थाके अनुसार भौतिक शुभाशुभ अवस्था भी प्राप्त होती हैं। ये शुभाशुभ अवस्था मनुष्यको अपने प्रबन्धसे नहीं मिलतीं। इन शुभाशुभ समझी हुई घटनाओंको अपने कर्मोंका फल मानना मनुष्यकी भ्रान्ति है। मनुष्य भौतिक दृष्टिसे अपने कर्मोंकी सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि बना रहे, इसीको योगीका ' योग ' कहा जाता है। ' योगी ' वह पुरुष है, जो कर्तव्य करते समय फलमें अनासक्त रहता है, और सृष्टिव्यवस्थानुसार प्राप्त होनेवाली भौतिक सुखदुःखमयी दोनों स्थितियोंमें अप्रभावित बना रहता है। यही गीताका ' सिद्धि-असिद्धिमें सम होना ' है, यही गीताका ' योग ' है, यही गीताका ' ज्ञान ' है, इसीको गीतामें फलाकांक्षासे रहित होना, अनासक्त स्थिति और ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। ये सब एक ही स्थितिके भिन्नभिन्न नाम हैं। इनको पृथक् पृथक् स्थिति मानकर, भिन्नभिन्न मनुष्योंमें विद्यमान होनेकी कल्पना करना भ्रान्ति है। यह नहीं होसकता, कि एक मनुष्य ' योगी ' तो हो, परन्तु ' ज्ञानी ' न हो, अथवा ' ज्ञानी ' तो हो परन्तु ' योगी ' न हो।

अनासक्ति ही 'योग' है।

इस स्थितिमें स्थित होजानेवाले मनुष्यके मनमें दुःख नामकी स्थिति नहीं

रह सकती। अपने कर्मसे इन्द्रियसुखदायक भौतिक फल पानेकी इच्छासे दुःखकी उत्पत्ति होती है। जो अनासक्त होकर कर्म करता है, उसमें सुखासक्ति कदापि नहीं रह सकती। उसके जीवनमेंसे दुःखोंका लोप हो जाता है। इस लिये अनासक्तिको ही 'योग' कहना चाहिये।

पन्द्रहवां प्रकरण

ज्ञान तथा भक्ति

गीता ज्ञान तथा भक्तिमें भेद नहीं मानती।

भौतिक शक्तिकी उपेक्षा करना, रूप, रस, स्पर्श आदि विषयोंमें उदासीन रहना, विकाररहित जीवन बिताना, कर्मकुशल होना, प्रकृतिके जन्म-मृत्यु-जरा आदि परिवर्तनोंसे व्यथित न होना, कर्मफलकी आकांक्षा न करना आदि को गीतामें 'भक्ति' का स्वरूप बताया गया है। गीतामें जहां भक्तिका प्रकरण है, वहां इसी स्वरूपको 'भक्ति' कहा गया है, और जहां ज्ञानका प्रकरण है, वहां इसी स्वरूपको 'ज्ञान' बताया गया है। अर्थात् गीताकी दृष्टिमें 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' एक हैं।

'ज्ञान' तथा 'भक्ति' को पृथक् समझना भूल है। इन्हें पृथक् माननेवालोंमें दो प्रकारके विचार प्रचलित हैं। कुछ लोग 'ज्ञान' को श्रेष्ठ कहते हैं, दूसरे 'भक्ति' को श्रेष्ठ बताते हैं। 'भक्ति'से 'ज्ञान'को श्रेष्ठ माननेवाले कहते हैं कि 'भक्ति' 'ज्ञान'का साधन है। 'ज्ञान' ही ईश्वर-प्राप्तिकी स्थिति है, भक्ति नहीं। 'भक्ति' ज्ञानका साधन होनेके कारण, उससे निकृष्ट है। इन लोगोंके मन्तव्यानुसार 'भक्ति' अज्ञानकी अवस्था है। दूसरे लोग 'ज्ञान' से 'भक्ति'को श्रेष्ठ मानते हैं। वे 'ज्ञान' को 'भक्ति' का साधन मानकर, उसे 'भक्ति' से निकृष्ट बताते हैं। इनके मन्तव्यानुसार 'ज्ञान' ईश्वरप्राप्तिरहित अज्ञानकी स्थिति है। परन्तु गीताको उक्त दोनों मत मान्य नहीं हैं। वह 'ज्ञान' और 'भक्ति' दोनोंको अनासक्तिरूपी ईश्वरदर्शनकी स्थिति कहती है। वह इन दोनोंको एक मानती है। यदि गीतापाठक किसी टीकाकारके भ्रान्त मन्तव्यसे प्रभावित नहीं होगया होगा, तो वह गीताके ज्ञानप्रसंगमें भी अनासक्तिको पाकर, और भक्तिप्रसंगमें भी अनासक्तिको ही देखकर, 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' को एक माने विना नहीं रहेगा।

अनासक्ति ही 'ज्ञान' है, और यही 'भक्ति' है। इन दोनोंमें ऊंचाई नीचाई नहीं है।

'भक्ति' या 'ज्ञान' को एक दूसरेसे, ऊंचा, नीचा, सरल, कठिन आदि मानना भ्रान्ति है। इन्द्रियासक्तिरूपी संसारबन्धनसे अतीत तथा आत्मस्वरूप ईश्वरको अपनाये रहनेवाली मानसिक अवस्थाको, 'ज्ञान' या 'भक्ति' चाहे जिस नामसे कहा जा सकता है। अनासक्ति ही 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' दोनोंका संपूर्ण व्याख्यान है।

ईश्वरप्राप्तिके सरल तथा कठिन दो मार्ग होने असंभव हैं।

ईश्वरप्राप्तिके संबन्धमें 'सरल' तथा 'कठिन' दो मार्गोंका आविष्कार करके सरलको 'भक्ति' और कठिनको 'ज्ञान' कहना भ्रान्ति है। 'सरल' तथा 'कठिन' शब्द इन्द्रियोंसे ग्राह्य पदार्थोंको प्राप्त करनेमें प्रयुक्त होते हैं। परन्तु ईश्वरप्राप्ति इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाली स्थिति नहीं है। वह इन्द्रियातीत मानसिक अवस्था है। किसी मानसिक अवस्थाको अपनानेमें इन दोनों शब्दोंका व्यवहार करना उचित नहीं है। उसमें केवल अपनाने या न अपनाने जैसे शब्दोंका व्यवहार किया जा सकता है। यदि कोई मानसिक स्थितिके संबन्धमें इन दोनों शब्दोंका व्यवहार करेगा, तो 'सरलता' शब्द अपनानेका वाचक होगा और 'कठिनता' शब्द न अपनानेको कहनेवाला होगा।

भक्तिको 'व्यक्तोपासना' का नाम देकर उसे 'सुकर' कहना और ज्ञानको 'अव्यक्तोपासना' कहकर उसे 'कठिन' कहना भी अज्ञानकी बात है। ईश्वरप्राप्तिकी स्थितिमें 'व्यक्त' तथा 'अव्यक्त' दो भिन्न प्रकारकी उपासनाओंकी कल्पना भ्रान्तिमूलक है। ईश्वरप्राप्तिकी स्थितिको कदापि दो रूपोंमें विभक्त नहीं किया जा सकता। वह किसी भी प्रकार अपने अनासक्ति नामक स्वरूपको नहीं छोड़ सकती। जिस 'व्यक्तोपासना' को सरल बताया जाता है, उसकी सरलताका स्वरूप यही हो सकता है, कि इन्द्रियासक्त रहकर इन्द्रियग्राह्य पदार्थोंमें उलझे रहो।

क्योंकि अनासक्ति इन्द्रियातीत स्थिति है, इस लिये उसे ही 'अव्यक्तोपासना' कहा जा सकता है। अव्यक्तोपासनाको कठिन कहना, अनासक्तिको कठिन कहना है। अनासक्तिको कठिन कहना, मनुष्यको अनासक्तिका अनधिकारी तथा विषयासक्ति का अधिकारी बताना है। ईश्वरप्राप्तिकी अवस्थामें

'अव्यक्तोपासना' ही सुकर और स्वाभाविक लगती है, तथा 'व्यक्तो-पासना' अर्थात् इन्द्रियासक्ति नामक भौतिक आकृतियोंके बन्धनमें उलझे रहना कठिन और अस्वाभाविक प्रतीत होता है। ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति, मनुष्यको स्वभावसे ही इन्द्रियासक्तिके बन्धनमें पडनेसे रोकती रहती है। इन्द्रिया-सक्तिसे रहित हो जाना ही ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इन्द्रियासक्ति ही ईश्वरप्राप्ति का विघ्न है। इस (इन्द्रियासक्तिरूपी) विघ्नको दूर करनेके लिये, दो भिन्न उपायोंकी कल्पना करके, उनमेंसे एकको कठिन तथा दूसरेको सरल बताना, अर्थहीन बात है। जो इस (इन्द्रि-यासक्ति नामवाले) विघ्नको दूर करनेमें कठिनता देख रहा है, उसके लिये इन्द्रियासक्त रहना सरल है। इस सरल मार्गसे (अनासक्तिरूपी) ईश्वरका प्राप्त होना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। तात्पर्य यही है कि ईश्वरप्राप्ति रूपी अनासक्त स्थितिको अपनानेमें, सरल कठिन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

'ज्ञान' और 'भक्ति' दो पृथक् स्थिति हों और इनमें एक 'कठिन' हो तथा दूसरी 'सरल' हो, यह बात तब ही हो सकती है, जब कि इनमेंसे एक 'अनासक्त स्थिति' हो और दूसरी 'इन्द्रियासक्त स्थिति' हो। अर्थात् ये दोनों एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत हों। परन्तु विपरीत होनेपर इन दोनोंका परस्पर साध्यसाधनभाव होना संभव नहीं रहता। इस सिद्धान्तके अनुसार ज्ञानको भक्तिका विरोधी और भक्तिको ज्ञानका विरोधी मानना पडता है। अर्थात् इनमेंसे एकको ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति और दूसरीको अनीश्वर स्थिति कहना पडता है। इन दोनोंमेंसे एकको 'सरल' तथा दूसरीको 'कठिन' कहना कठिनको अप्राप्तव्य बताना है।

किसी चिन्ताको निम्न लिखित अभिप्रायसे सरल या कठिन कहा जा सकता है। जब मन इन्द्रियोंकी अधीनता स्वीकार कर लेता है, तब उसे स्वभावसे इन्द्रियभोग्य विषयोंको भोगनेकी इच्छा होती है। उस समय विषयाचिन्तन 'सुकर' और आत्मचिन्तन 'दुष्कर' लगता है। इसके विपरीत जब मन इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है, तब उसे इन्द्रियातीत स्थितिमें स्थिर रहकर विषयासक्तिका दलन करते रहना स्वाभाविक होनेसे 'सुकर' प्रतीत होता है, और विषयाचिन्तन 'दुष्कर' समझ पडता है। अर्थात् विषयासक्त मनको विषय, चिन्तन 'सुकर' और अनासक्त मनको आत्मचिन्तन 'सुकर' प्रतीत होता है।

यदि चिन्तनकी सुगमता भक्तिकी कसौटी होगी तो ज्ञान और भक्तिका स्वरूपनिर्णय नहीं होसकेगा।

यदि चिन्तनकी सुगमताको 'भक्ति' का चिन्ह माना जाय और यदि चिन्तनकी कठिनताको 'ज्ञान' का चिन्ह समझा जाय, तो विषयासक्त मनकी दृष्टिमें 'सरल' होनेसे विषयाचिन्तनको 'भक्ति' और उसे कठिन प्रतीत होनेके कारण, निर्विषय आत्मचिन्तनको 'ज्ञान' कहना पडेगा। इसी प्रकार अनासक्त मनकेलिये स्वभावसिद्ध होनेके कारण निर्विषय आत्मचिन्तनको 'भक्ति' तथा उसके स्वभावविरोधी विषयाचिन्तनको 'ज्ञान' कहना पडेगा। यदि इन दोनोंको सरलताकी कसौटीपर कसा जायगा, तो जिसके लिये जो सरल होगा, उसके लिये वही 'भक्ति' होगा, और जिसके लिये जो कठिन होगा, उसकेलिये वही 'ज्ञान' हो जायगा। इस कल्पनामें 'ज्ञान' को कोई भी स्वीकार न करेगा। जो 'ज्ञान' तथा 'भक्ति' को दो विरोधी अवस्था मानेगा, वह इनमेंसे 'सरल' को स्वीकार करेगा, और 'कठिन' को अस्वीकार कर देगा। अर्थात् विषयासक्त मनुष्य ईश्वरप्राप्ति को 'ज्ञान' का नाम देकर उसे 'कठिन' मानकर छोड देगा, और अनासक्त मनुष्य स्वभावविरुद्ध होनेसे जिस विषयासक्तिको छोडेगा, उसे भी 'ज्ञान' कह देना पडेगा। परन्तु वास्तवमें न तो 'ज्ञान' 'कठिन' है और न विषयासक्तिको 'ज्ञान' ही कहा सकता है। 'ज्ञान' मनुष्यमात्रका स्वाभाविक अधिकार है। 'ज्ञान' ही ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति है। 'ज्ञान' तथा 'भक्ति'के विरोधी होनेकी कल्पना करना, मनुष्यसमाजमेंसे ज्ञान और ईश्वरप्राप्ति दोनोंको बहिष्कृत रखना चाहना है।

ज्ञान और भक्तिमें अन्तर नहीं है।

ज्ञान ईश्वरप्राप्तिकी अवस्था है। निर्विषय आत्मचिन्तन ज्ञानका स्वरूप है। ज्ञान ही अनासक्त मनकेलिये 'सरल' अर्थात् स्वभावसिद्ध है। यही बात भक्तिके विषयमें भी है। इस लिये 'ज्ञान' और 'भक्ति' में कोई अन्तर नहीं है।

———

सोलहवां प्रकरण

प्रचलित भक्तिका भ्रान्त रूप

विषयासक्त रहते हुए ईश्वरसे संबंध नहीं रह सकता।

संसारबन्धनमें फंसे रहकर भी भजन पूजन आदिके द्वारा ईश्वरसे संबन्ध बनाये रखनेकी निरर्थक चेष्टा, प्रचलित भक्तिका भ्रान्त रूप है। इस भक्तिको करनेवाला समझता है कि कोई प्रार्थना सुननेवाला ईश्वर नामका व्यक्ति, दया, क्षमा, और प्यार करनेको उद्यत बैठा है, और मनुष्य उससे दया, क्षमा तथा प्यार पानेका अधिकारी है। ऐसे ईश्वरसे अपना मनमाना संबन्ध बनाये रखकर, विषयभोग करते रहो, यही इस भ्रान्त भक्तिका गूढ अभिप्राय है। अर्थात् विषयभोग भी मत छाडो, और भजन, पूजन, कीर्तन, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, आदि साधनोंसे ईश्वरसे भी संबन्ध जोडे रहो। ऐसी मनोवृत्ति रखनेवाले भक्त लोग भक्त बननेमें विषयासक्तिको त्यागना अनिवार्य नहीं मानते। ये भक्त होनेकेलिये केवल इतना आवश्यक मानते हैं कि अपने कल्पित ईश्वरसे निःसंकोच होकर यह बात स्पष्ट रूपसे कह दो कि हे ईश्वर! तुम हमारे विषयभोगोंको निष्कटंक रखो। तुम उनमेंसे किसीपर भी विनाश या वियोगका नियम मत लगाओ। हम लोग विषयोंकी मधुरतासे विवश होनेके कारण, अपनी ओरसे विषयोंको नहीं त्याग सकते। हां, यदि तुम अपनी ओरसे इस विषयबन्धनको काटना उचित समझते हो, तो तुम विषयोंसे भी मधुर विषय बनकर हमें दर्शन दो, और हमें सदाके लिये अपना भक्त बनाये रहो। ऐसे लोग विषयभोग रूपी अभक्ति करते हुए भी भक्त होनेका वृथा अहंकार रखना चाहते हैं। इन्हें ईश्वरसे कोई प्रयोजन नहीं है, ये केवल इस अहंकारसे प्रेम रखते हैं।

प्रचलित भक्तिके मिथ्या विश्वास।

ऐसी कल्पना करनेवालोंका विश्वास है कि इनका ईश्वर अपने भक्तोंकी वचनावलि और आत्मनिवेदन सुनकर (१) दयासे द्रवित हो जाता है, (२) भक्तोंकी मांग (विषयवासना) पूरी करता है, (३) अपने भक्तोंकी विषयासक्तिके सब अपराध क्षमा करता है, (४) और उन्हें पिता, सन्तान, सखा आदि नानारूपोंमें दर्शन भी देता रहता है। ये लोग इसी मिथ्या-सन्तोषको मनमें रखकर अपने कल्पित ईश्वरसे अपना मनमाना संबन्ध

जोड़कर, जीवनभर सच्ची भक्तिसे वंचित रहते हैं। गीतामें ऐसी भक्तिका समर्थन नहीं पाया जाता।

अनासक्ति ही 'गीताकी भक्ति' है।

गीताकी भक्ति निर्विषय अनासक्तिके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि मनुष्य गीतोक्त अनासक्तिके स्वरूपको अपनाले तो वह इस प्रकारकी मिथ्या भक्तिको कदापि स्वीकार न करे। गीताने मनुष्यको उस भक्तिको अपनानेका उपदेश दिया है, जिसे अपनालेनेपर इन्द्रियोंके रागद्वेषके वशीभूत होकर विषयभोग करना असंभव बन जाता है।

इन्द्रियासक्ति तथा भक्तिका वध्यघातक संबन्ध बतानेवाली गीताने संसार-प्रचलित मिथ्या भक्तिको खण्डित कर डाला है।

सतरहवां प्रकरण

यज्ञ

अनासक्ति ही 'यज्ञ' है। अनासक्तिहीन संपूर्ण क्रियायें अयज्ञ हैं।

गीताके कथनानुसार मनुष्य 'यज्ञ' के विना 'कर्मबन्धन' में फंस जाता है। 'फलासक्ति' ही 'कर्मबन्धन' का स्वरूप है। इस बन्धनको काटनेका उपाय 'यज्ञ' को बताया गया है। अनासक्ति ही एक ऐसी स्थिति है, जिसमें रहकर कर्म करनेवाले मनुष्यका कर्मबन्धन कट जाता है। इस लिये 'यज्ञ' और 'अनासक्ति' दोनों पर्यायवाची शब्द सिद्ध होते हैं। इस अनासक्ति रूपी मानसिक स्थितिको 'यज्ञ' न मानकर, यदि किन्हीं क्रियाओंके आचरणोंको 'यज्ञ' समझा जायगा, तो यह गीताके अभिप्रायके विरुद्ध होगा। यदि द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, तथा ज्ञानयज्ञ आदि नामोंसे कहेजानेवाले यज्ञोंका, अनासक्ति नामक मानसिक स्थितिसे कोई संबन्ध न हो और ये कोई बाह्य क्रिया मात्र हों, तो इन सबको गीताकी 'यज्ञ'की परिभाषामेंसे निकाल देना पड़ेगा। तब इन सबको 'अयज्ञ' अर्थात् यज्ञसे विपरीत अज्ञान या फलासक्ति समझना होगा।

संपूर्ण जीवन यज्ञ होसकता है; उसका कुछ भाग नहीं।

जो किसी क्रियाविशेषको 'यज्ञ' कहकर, उसे अपने जीवनकी दूसरी क्रियाओंसे अधिक महत्त्व देगा, वह अपने जीवनमें, इस 'यज्ञ' से भिन्न

जो कुछ करेगा, सबको ' अयज्ञ ' मान लेना पड़ेगा। परन्तु यज्ञ करनेवाला मनुष्य अयज्ञ नहीं कर सकता। मनुष्य अपने संपूर्ण जीवनमें ' यज्ञ ' तथा ' अयज्ञ ' इन दोनोंमेंसे एकका ही अनुष्ठान कर सकता है। ये दोनों एकसाथ किसीके जीवनमें नहीं रहते। इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य तब ही सच्चा ' याज्ञिक ' बन सकता है, जब कि उसका संपूर्ण व्यावहारिक जीवन ' यज्ञ ' हो चुका हो। अपने जीवनके दूसरे कर्मोंसे पृथक् करके, किसी विशेष कर्मको ' यज्ञ ' होनेका महत्त्व देना अज्ञानता है।

' यज्ञ ' नामधारी क्रिया मनुष्यका कर्तव्य नहीं है।

दैनिक जीवनमें या वार्षिक पर्व आदिके उपलक्ष्यमें अपने जीवनके दूसरे कर्मोंसे अधिक महत्त्व देकर की हुई क्रियाओंको 'यज्ञ' नहीं कहा जा सकता मनुष्यका यही कर्तव्य है कि वह अपने व्यावहारिक जीवनमें मनुष्योचित अवस्थाको सुरक्षित रखे। मनुष्यको अपने व्यावहारिक जीवनमें, अपने सुख, शान्ति तथा पवित्रताकी रक्षाके साथसाथ, अपनी शक्तिके अनुसार, मानव-समाजकी शान्तिरक्षाका उत्तरदायित्व भी निभाना पडता है। मनुष्यके पास केवल इन्हीं दो उत्तरदायित्वोंको निभानेकी शक्ति है। इनके अतिरिक्त मनुष्यका और कोई उत्तरदायित्व नहीं है। क्योंकि मनुष्यका अपनी शक्तिसे बाहर कोई कर्तव्य नहीं हो सकता और कर्तव्यसे बाहर कोई उत्तरदायित्व नहीं होता। इस लिये इन दो उत्तरदायित्वोंके अतिरिक्त ' यज्ञ ' नामसे प्रचलित किन्हीं कर्मोंको मनुष्यका कर्तव्य नहीं माना जा सकता।

जीवनके संपूर्ण कर्म यज्ञ हो सकते हैं; कुछ विशेष कर्म नहीं।

मनुष्यको अपने व्यावहारिक जीवनमें, मनुष्योचित अवस्थाको सुरक्षित रखनेके लिये, प्रतिक्षण अनिवार्य रूपसे कर्म करना पड़ता है। यदि मनुष्य इस अनिवार्य कर्मको, अनासक्त भावसे करे, तो उसका संपूर्ण जीवन ' यज्ञ ' बन जाय, और यदि वह इसी अनिवार्य कर्मको विषयासक्त रहकर करे, तो उसका संपूर्ण जीवन ' अयज्ञ ' हो जाय। कोई भी मनुष्य, अपने जीवनके कुछ भागको ' यज्ञ ' नहीं बना सकता। अनासक्ति नामवाली जो मानसिक अवस्था मनुष्यके जीवनमें अखण्डित रूपमें रहनी चाहिये, वही ' यज्ञ ' कहाती है। किसी क्रियाको ' यज्ञ ' कहना सर्वथा अनुचित है। अपने संपूर्ण जीवनको ' अयज्ञ ' माननेवाले ही, किन्हीं विशेष क्रियाओं-को महत्त्वयुक्त मानकर, उन्हें ' यज्ञ ' कहते हैं। जीवनभर ' अयज्ञ ' करने-

वाले अज्ञानी जिन क्रियाओंको ‘ यज्ञ ’ कहते हैं, वे सब अज्ञानसे किये हुए होनेके कारण ‘ अयज्ञ ’ ही होते हैं। जब ज्ञानकी स्थिति आती है, तब मनुष्यका संपूर्ण जीवन ‘ यज्ञ ’ बन जाता है।

इन सब दृष्टियोंसे संपूर्ण जीवनको ‘ यज्ञ ’ न रहने देना, किन्तु कुछ विशेष क्रियाओंको ‘ यज्ञ ’ कहना, अज्ञानकी स्थिति है। गीताने स्पष्ट भाषामें कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे रहित मानसिक स्थिति अर्थात् अनासक्तिमें रहनेको ही ‘ यज्ञ ’ कहा है।

अठारहवां प्रकरण

ईश्वरप्राप्तिके साधन

मानवजीवनके लक्ष्यको तत्क्षण न अपनाना और साधन करनेके भ्रममें रहना मनुष्योचित अवस्था नहीं है।

प्रत्येक क्षण शरीरके नाशकी संभावना बनी रहती है, इस लिये मनुष्यको चाहिये, कि वह प्रत्येक क्षणको अपना संपूर्ण जीवन माने और उसे सफल बनाये। यदि तुम वर्तमान क्षणकी उपेक्षा और भविष्यत्की प्रतीक्षा करोगे तो अपने जीवनको असफल बना दोगे। अगले क्षण यह शरीर जीवित रहसकेगा या नहीं? यह निश्चित रूपसे कोई नहीं कह सकता। इस लिये मनुष्यको किसी भी वर्तमान क्षणमें जीवनका लक्ष्य अप्राप्त नहीं रहना चाहिये। यदि मनुष्यजीवनके लक्ष्यको वर्तमानमें प्राप्त न होनेवाला और किसी प्रयत्नसे भविष्यमें मिलनेवाला मान लिया जायगा, तो उसका संपूर्ण जीवन अर्थात् यह वर्तमान क्षण, जिसमें उसे अपने जीवनका लक्ष्य प्राप्त हो जाना चाहिये था, प्रयत्न करनेमें बीत जायगा, और जीवन लक्ष्यसे हीन रह जायगा। अगले क्षण जिस जीवनके रहनेकी कोई निश्चित संभावना नहीं है, उसके वर्तमान क्षणको साधन करनेमें न खोकर लक्ष्यमें स्थिर करदेनेसे ही जीवनकी सफलता प्राप्त हो सकती है। क्योंकि साधन किसीका भी लक्ष्य नहीं है, इस लिये लक्ष्यको तत्काल न पकड़कर, साधनके झगडेमें पड़ जाना, लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाना, और जीवनको व्यर्थ कर देना है। साधन करना और जीवनको व्यर्थ कर देना दोनों एक बात हैं। क्षणिक जीवनके लक्ष्यको, क्षणमात्रमें अर्थात् तत्क्षण प्राप्त करना चाहिये। जिसे लक्ष्यका तत्क्षण प्राप्त होना असं-

भव दीखता है, वही साधनोंके चक्करमें पडता है। साधनावलम्बी होना बुद्धि मत्ताकी स्थिति नहीं है। ऐसा करनेसे मनुष्यका जीवन लक्ष्यसे वंचित रह जाता है। यह मनुष्योचित अवस्था नहीं है।

मनोदशाके चुनावमें साधनका कोई उपयोग नहीं है।

भौतिक शक्तिकी सहायता लेना ही साधन करनेका अर्थ है। किसी मनोदशाको अपनानेमें साधनोंका कोई उपयोग नहीं है। भौतिक साधन भौतिक वस्तु प्राप्त करा सकते हैं। परन्तु मनमें स्वभावसे बनी हुई स्थितिको अपनानेमें भौतिक साधनोंका या भौतिक देहको प्रयोगमें लानेका अवसर कहां है! अपने लिये पवित्र मनोदशाका चुनाव ही 'ईश्वरप्राप्ति' है।

गीताकी दृष्टिमें ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखती।

फलाकांक्षासे रहित हो जाना ही ईश्वरप्राप्रि है। यही आत्मदर्शनकी अवस्था है। गीता इसीको अनासक्ति, ब्राह्मी स्थिति, योग, यज्ञ, सांख्य, भक्ति, तथा त्रिगुणातीत नित्यसत्त्व आदि नामोंसे कहती है। परन्तु वह यह कहीं नहीं कहती कि ईश्वरप्राप्ति किन्हीं साधनोंसे होती है। उसकी दृष्टिमें वह किन्हीं साधनोंसे प्राप्त होनेवाली स्थिति नहीं है, किन्तु स्वयंसिद्ध अर्थात् स्वाधीन अवस्था है। मनुष्यका मन स्वयं ही अपना मित्र बनकर अनासक्त हो जाता है, और स्वयं ही अपना शत्रु बनकर विषयासक्त हो जाता है। अनासक्त होना 'ईश्वरप्राप्ति' और विषयासक्त होना 'ईश्वरविमुखतारूपी नास्तिकता' है। यही गीताका मन्तव्य है।

आसक्ति तथा अनासक्ति दोनों साधनोंसे उत्पन्न नहीं होतीं।

विषयासक्ति तथा अनासक्ति दोनों मानसिक स्थिति हैं। मनुष्यका मन विषयासक्ति या अनासक्ति दोनोंमेंसे किसी एक स्थितिको अपनानेमें स्वतंत्र है। परन्तु उसे ये दोनों स्थिति किन्हीं साधनोंसे प्राप्त नहीं होतीं। विषयासक्त बना हुआ मनुष्य, अपनी विषयासक्तिको तृप्त करनेके लिये भोगसाधनों अर्थात् भोग्यपदार्थोंका संग्रह करता है। मनुष्य किन्हीं साधनोंसे विषयासक्त नहीं बनता, प्रत्युत विषयासक्तिसे भोगके साधनोंके उपार्जनमें लगता है। मनुष्यकी मानसिक स्थिति, किन्हीं साधनोंका सहारा लेकर उत्पन्न नहीं होती, किन्तु जो मानसिक स्थिति मनुष्यकी पहलेसे अपनायी हुई होती है, वह यदि विषयासक्ति हो, तो विषयोंका

संग्रह कराती है; और यदि अनासक्ति हो, तो विषयोंको भोगत्यागके साधन बनालेती है। तात्पर्य यही है कि मानसिक स्थिति साधनोंकी अनुचारिणी कभी नहीं होती, प्रत्युत साधन ही स्थितिके अनुचारी होते हैं।

यदि कोई विषयासक्त मनुष्य अनासक्तिके साधन पूछे, तो उसका यही उचित उत्तर है कि तुम पहले जिस रीतिसे विषयासक्त बने थे, उसी रीतिसे अब अनासक्त बन जाओ। अर्थात् तुम्हारे मनमें विषयासक्ति तथा अनासक्ति ये दोनों स्थिति स्वभावसे विद्यमान हैं। तुम इन दोनोंमेंसे किसी एकको ही अपनासकते हो, दोनोंको नहीं। पहले तुम इन दोनोंमेंसे विषयासक्तिको चुनकर विषयासक्त बन गये थे। आज यदि तुम अनासक्तिका महत्त्व समझ गये हो तो अनासक्तिको अपनालो और अनासक्त बन जाओ।

विषयासक्त अनासक्तिके लिए साधन करे, यह असंभव कल्पना है।

यह संपूर्ण संसार साधन रूपमें मनुष्यके सामने उपस्थित है। अनासक्तिसे इसका सदुपयोग होता है, और विषयासक्तिसे इसका दुरुपयोग होता है। अनासक्त बननेका यह मार्ग नहीं है कि इस संसारमेंसे कुछ पदार्थोंको छांटकर, उनको साधनके रूपमें काममें लाया जाय। विषयासक्त मनुष्यका अनासक्तिके साधन करना बेकार है। क्योंकि वह जिस पदार्थको अनासक्तिका साधन बनायेगा, वही भोगबन्धन बनकर अनासक्तिका नाशक बन जायगा।

ईश्वरप्राप्तिके साधन ढूंढना 'विषयासक्त बने रहना' है।

ईश्वरप्राप्तिके साधन ढूंढनेवाले सब लोग विषयासक्त हैं। वे विषयासक्त भी बने रहना चाहते हैं, और ईश्वरको भी पाना चाहते हैं। परन्तु ये दोनों लाभ एक मनुष्यको प्राप्त होने संभव नहीं। ऐसे लोग साधन ढूंढनेका नाम लेकर विषय ढूंढते रहते हैं। विषयासक्त मनुष्योंकी ईश्वरप्राप्तिके साधन ढूंढनेवाली आंख ही उन्हें भोगबन्धनमें फंसा डालती है। विषयासक्त मनुष्योंके ईश्वरप्राप्तिके साधन भी भोग्य पदार्थ ही होते हैं।

गीताकी घोषणा है कि साधनोंसे ईश्वर नहीं मिल सकता।

अनासक्ति वह स्थिति है, जो मनुष्यको प्रत्येक क्षण, ईश्वरदर्शन या आत्मदर्शन कराती रहती है। गीता अनासक्तिकी साधनपरतंत्रताको हटानेकेलिये प्रबल शब्दोंमें कह रही है कि—**ईश्वरको वेद, तप, दान तथा यज्ञोंसे**

नहीं पाया जा सकता। गीता यह प्रचार करना चाहती है कि साधनों-पर निर्भर होकर ईश्वर प्राप्त नहीं हो सकता। गीताके अनुसार साधनोंका आश्रय न लेकर 'सिद्ध' हो जाना ही ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति है। कर्म करते हुए फलाशासे रहित होकर ज्ञानी बने रहना ही गीताकी भाषामें अनासक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, या ब्राह्मी स्थिति है।

साधनोंसे अप्राप्त ईश्वरका मिलना भ्रम है।

जो मनुष्य इस अनासक्ति रूपी सत्यको नहीं पहचानता, और किन्हीं साधनोंके चक्करमें फंस जाता है, वह अपने अनासक्ति रूपी स्वाभाविक अधिकारसे बाहर चला जाता है, और किसी कल्पित ईश्वरको पानेका भ्रम-पूर्ण उद्यम करता रहता है।

साधन विषयासक्त मनको विषयोंसे हटानेमें असमर्थ रहते हैं।

ईश्वरप्राप्ति सामर्थ्यशालिनी स्थिति है। स्वतंत्र रहना ही सामर्थ्यका स्वरूप है। स्वतंत्र रहना ही 'ईश्वरको पाना' है। मनुष्य या तो आत्मतत्पर हो सकता है, या इन्द्रियसेवक हो सकता है। मनुष्यमें इन दोनों विरोधी अवस्थाओंमेंसे कोई एकही अवस्था रह सकती है, दोनों नहीं। इन्द्रियसेवा परतंत्रताकी अवस्था है। आत्मतत्पर होना स्वतंत्रताकी अवस्था है। साधनोंका अवलम्ब लेना परतंत्रताकी अवस्था है। मनुष्य किसी प्रकारके साधनोंपर निर्भर न हो यही स्वतंत्रताकी अवस्था है। निर्विषय या स्वरूपसुख साधनोंपर निर्भर नहीं होता। इन्द्रिया-सक्तिको तृप्त करनेमें माना हुआ सुख ही, साधनोंपर निर्भर होता है। इन्द्रिय-भोग्य पदार्थ ही इन्द्रियासक्तिके साधन होते हैं। इन साधनोंके प्राप्त न होने-तक इन्द्रियासक्ति तृप्त नहीं होती। इन्द्रियभोग्य पदार्थोंके अधीन होजाना 'इन्द्रियासक्ति' है। इन्द्रियासक्त मनुष्य अपने काल्पित ईश्वरको पानेके साधनोंकी ढूंढमें भी इसीलिये लगता है कि वह अपने इन्द्रियासक्त या विषयलोलुप मनको निरालम्ब और निर्विषय देखना सहन नहीं कर सकता। वह अवलम्ब-हीन होनेकी कल्पनासे भी डरता है। वह अपने विषयनिर्भर स्वभावसे विवश होकर, ईश्वरप्राप्तिका नाम लेकर भी कुछ ऐसे आश्रय ढूंढ लेता है, जो विषयोंका प्रतिनिधित्व कर सकते हों। परन्तु संसारमें विषयके समान दूसरी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कि विषयासक्त लोगोंके मनको विषयसे हटाकर अपनेमें लगासकती हो। इन्द्रियभोग्य पदार्थ ही विषयासक्त मनकी प्यास बुझा सकते हैं। जो इन्द्रियासक्त मनुष्य ईश्वरप्राप्तिके साधन ढूंढेगा, वह किसी भी

साधनसे अपने कल्पित ईश्वरको नहीं पासकेगा। जिस प्रकार प्रतिमा किसी वस्तुका स्थान नहीं लेसकती, इसी प्रकार विषयलोलुप मनके अपनाये हुए ईश्वरप्राप्तिके साधन विषयोंका स्थान कदापि नहीं ले सकते, इन साधनोंको अन्तमें विषयलोलुपतासे हार मानकर व्यर्थ बन जाना पड़ता है। तब वे उसे भोगमय जीवनमें लौटा देते हैं।

विषयासक्ति ही साधन चाहती है; ईश्वरप्राप्ति नहीं।

साधनावलम्बी बनना 'विषयासक्ति' है तथा स्वावलम्बी होना 'ईश्वरप्राप्ति' है। 'ईश्वरप्राप्ति' इन्द्रियातीत अवस्था है। इन्द्रियातीत अवस्था कदापि साधनों (अर्थात् इन्द्रियभोग्य पदार्थों) पर निर्भर नहीं होती। इन्द्रियासक्त मनके अवलम्बनोंको 'साधन' कहा जाता है। इन्द्रियासक्त मन, साधनोंकी अधीनतासे मुक्त रहनेवाली, स्वावलम्बिनी अनासक्ति रूपी स्थितिके संसारमें होनेकी कल्पना भी नहीं करसकता। वह अनासक्तिको आश्रयहीन अवस्था मानकर उससे डरता रहता है और अपने साधनाधीन पराश्रित स्वभावसे विवश होकर, 'साधक' बनकर विषयबन्धनमें फंसा रहता है।

उन्नीसवां प्रकरण

आध्यात्मिक विकासवाद

अनेक जन्मोंमें ईश्वरप्राप्ति होना निराशापूर्ण समाचार है।

ईश्वरप्राप्ति एक जन्मका काम नहीं है, यह सूत्र बहुधा सुननेमें आता है। यह सूत्र मनुष्यको प्रकारान्तरसे यह बताना चाहता है कि मनुष्य अपने वर्तमान जीवनको ईश्वरप्राप्तिके लिये अपर्याप्त माने, और यदि वह ईश्वरको प्राप्त करना आवश्यक मानता हो तो इसे अनेक जन्मोंका काम समझकर तदनुसार अपना कर्तव्यमार्ग निश्चित करे। इस मन्तव्यको माननेवाले लोग आध्यात्मिक समझे जानेवाले पुरुषोंकी आध्यात्मिक स्थितिको अनेक जन्मोंके साधनोंके परिणामके रूपमें पायी हुई बताते हैं। वे यह भी कहते हैं कि इनको उन्नतिकी चरमावस्थामें पहुंचनेके लिये अभी और अनेक जन्म लगेंगे, तब कहीं इन्हें अनिश्चित भविष्यमें एक अज्ञात, अज्ञेय, अवर्णनीय, ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति प्राप्त होगी। अध्यात्महीन लोगोंको यदि ईश्वरप्राप्तिकी इच्छा हो तो उनकी इच्छापूर्तिको भी अनेक जन्मका काम बताया जाता है। अर्थात् इन लोगोंको मुक्तिका कोई निश्चित समय ज्ञात नहीं है। इन कल्पनाओंने

ईश्वरप्राप्तिको कठिन तथा उत्साहहीन काम बना डाला है। इनके कथनानुसार आध्यात्मिक और अध्यात्महीन दोनों प्रकारके मनुष्योंकी ईश्वरप्राप्ति अनिश्चित अनेक जन्मोंका काम है। ऐसी ईश्वरप्राप्ति साक्षात् निराशाकी मूर्ति है। नैराश्य शब्दका अस्तित्व इनकी ईश्वरप्राप्तिके संबन्धमें ही पूर्ण रूपसे सफल हुआ है। इन लोगोंके कथनानुसार मनुष्यके वर्तमान जीवनमें ईश्वरप्राप्तिके संबन्धमें निराशा ही निराशा है।

ईश्वरप्राप्तिको दूसरे जन्मोंके लिए स्थगित रखनेकी कल्पनाने समाजमें विषयासक्तिका प्रचार किया है।

मनुष्यके मनमें जितनी सांसारिक आशा उठती हैं, उन्हें पूरा करनेका क्षेत्र वर्तमान जीवन तथा इस संसारको ही माना जाता है। मनुष्य, अपनी आशा पूर्ण करनेवाले इस संसाररूपी उर्वर क्षेत्रमें आकर, अपने परिमित जीवनके प्रभात कालसे आरंभ करके इसका सायंकाल आनेतक बड़े उत्साहसे अपनी भौतिक आशा पूरी करनेमें लगा रहता है। वह इस कामको अगले किसी जन्मके लिये स्थगित करना नहीं चाहता। उसने केवल ईश्वरप्राप्तिके संबन्धमें ही अनेक जन्मोंकी आवश्यकता बतानेवाली निराशापूर्ण कल्पना करली है। इस कल्पनाने संसार क्षेत्रको ईश्वरप्राप्तिकेलिये अनुर्वर क्षेत्र कहकर, मनुष्यको निराशामें धकेल दिया है। यह कल्पना मनुष्यसे कहती है, कि क्योंकि ईश्वर एक जन्ममें प्राप्त नहीं होता, इस लिये इस एक जन्ममें इस व्यर्थ आशाको पूरा करनेका उद्यम छोड़ दो, और अपने अपने अनीश्वर धन्धोंमें लग जाओ। इस धारणाने मनुष्यको अनीश्वर धन्धोंको न छोड़नेके लिये उत्साहित किया है। इस कल्पनाने ईश्वरप्राप्तिको, जीवनमें पाने तथा भोगने योग्य इन्द्रिय-सुखकी रुकावट मान लिया है, और उसे 'दुर्लभ' नामसे सम्मानित करके उसका बहिष्कार करना बुद्धिमत्ता समझा है। यद्यपि संतोंमें अनासक्तिरूपी ईश्वरप्राप्तिकी स्थिति स्पष्ट रूपसे पायी जाती है, फिर भी भोगासक्त मनुष्य-समाजने इस स्थितिको असांसारिक वस्तु मान लिया है और इसे किसी दूसरे काल्पनिक संसारमें निर्वासित करके, निश्चिन्त होकर विषयभोग करनेकी बात ठान ली है।

आध्यात्मिक विकासवादने अध्यात्मको एक डरावनी अनिश्चित स्थिति बना दिया है।

यद्यपि आध्यात्मिक विकास माननेवालोंने, मुक्तिको मानवजीवनके विकासकी

अन्तिम अवस्था माना है, परन्तु इन्होंने इसे इस संसारसे बाहर धकेल दिया है। वे इसे इस संसारसे बाहरके किसी अज्ञात और अदृष्ट जगत्की एक अज्ञेय स्थिति मानते हैं। इनसे पूछना चाहिये कि मनुष्यका आध्यात्मिक जीवन कहांसे प्रारंभ होता है? और किन किन अवस्थाओंमें यात्रा करता हुआ, कितने समय पश्चात् अपनी अन्तिम गति पाता है? मनुष्य अज्ञानी रहकर क्रमशः अज्ञानको हटाहटाकर ज्ञानकी ओर बढता रहता है; इस सिद्धान्तके माननेवालोंको बताना चाहिये, किं मनुष्यके अज्ञानकी प्राथमिक अवस्था क्या है? आध्यात्मिक विकासका यही स्वरूप हो सकता है, कि मनुष्य किसी समय मनुष्यके आकारका पशु रहा होगा। ऐसा माननेपर यह भी मानना पडेगा कि कभी मनुष्य पशु जगत्के मुख्य सदस्य वानरकी अज्ञानकी स्थितिमें भी रहा होगा, और वहांसे विकसित होते होते नराकृति पशु बना होगा, तथा ज्ञानका विकास होते होते, उसे आध्यात्मिक स्थिति मिलगयी होगी। इतना ही नहीं आध्यात्मिक विकासवादीको बन्दरसे भी नीचेकी ओर जाना पडेगा, और मनुष्यकी सर्वप्रथम अज्ञानावस्था ढूंढनी पडेगी। तब उसे पशुताकी भी प्राथमिक अवस्था टटोलनी पडेगी और वृक्ष-वनस्पति तथा पाषाण, लोष्ठ आदि पदार्थोंको भी मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनमें सम्मिलित करना होगा। इसका अभिप्राय यह होगा, कि मनुष्यका आध्यात्मिक जीवन किसी अनिश्चित भूतकालमें एक जड पदार्थके रूपमें प्रारंभ हुआ है और आगे अनिश्चित भविष्यमें अनेक मानवीय जन्मोंके पश्चात्, जब कभी उसे मुमुक्षुकी स्थिति प्राप्त होगी, तब देहको त्यागकर, किसी शरीरपरिग्रहहीन अज्ञात अवस्थामें जाकर ठहर जायगा। आध्यात्मिक पूर्णताकी यह एक निराशामयी कल्पना है। इसे वास्तविक रूपमें परिणत हुआ देखनेके लिये, मनुष्यको कितने समयतक प्रतीक्षा करनी पडेगी, यह यदि कोई पूछना चाहेगा, तो इसका उत्तर भी अनिश्चित भविष्यत् ही होगा। यदि इस बीचमें शुभाशुभ कर्मोंके परिणामके रूपमें कीट, पतंग आदि योनियोंका क्रम चलपडा, तो आध्यात्मक जीवन बीचमें रुका पडा रहजायगा। तब फिर नवीन रूपसे आध्यात्मिक जीवनसंग्राम प्रारंभ करना पडेगा। उस समय यह अनिश्चितपना और भी लम्बा हो जायगा। जब ये सब बातें ध्यानमें आती हैं, तब आध्यात्मिक विकासवादियोंकी पूर्ण विकसित आध्यात्मिक स्थिति मनुष्यकी शक्तिसे बाहर प्रतीत होने लगती है। क्योंकि आध्यात्मिक विकासवादीके पास आध्यात्मिक विकासकेलिये कोई भी निश्चित कार्यक्रम नहीं है।

अर्थात् उसका आध्यात्मिक विकास अनिश्चित, असाध्य, और असंभव है। यही कारण है कि मनुष्य-समाज इस मार्गसे निरुत्साहित हो गया है, और वह इसे त्यागकर भोगी जीवनको अपनाये रहनेमें ही अपना कल्याण समझने लगा है। सचमुच इन आध्यात्मिक विकासवादियोंने मनुष्यको अध्यात्मके विषयमें इतना डराया है कि मनुष्य इस मार्गपर आनेका साहस भी छोड़ बैठा है। यदि मनुष्य इनका कहना मान ले, और इधरसे निरुत्साहित होजाय तो उसे अपनेको इस जीवनमें भोगासक्त बने रहनेमें ही विवश मान लेनेके अतिरिक्त किसी भी प्रकारकी आशा रखना असंभव बनजाय। यदि इनके कथनानुसार इस जीवनकालको आध्यात्मिक पूर्णताके लिये अयोग्य तथा अपर्याप्त मान लिया जाता है, तो जीवनपर व्यर्थताका बडा भारी कलंक लग जाता है।

आध्यात्मिक क्रमोन्नतिकी कल्पनामें भोगकी मिठास छिपी हुई है।

इस आध्यात्मिक उन्नतिकी असंभव कल्पनाके मूलमें जो बात छिपी हुई है, वह विकासवादीके मनमें बैठी हुई भोगाकांक्षा है। वह इस भोगाकांक्षाके कारण तत्काल आध्यात्मिक जीवनको अपनाना संकटपूर्ण मानकर इसे सुदूर भविष्यके लिये धकेलना चाहता है। यह मनोवृत्ति आध्यात्मिक जीवनको जितना टाला जा सके उतना टालना चाहती है।

भोगासक्त समाज ईश्वरप्राप्तिका समाचार तक नहीं सुनना चाहता।

भोगासक्त मनुष्य अपनी आंखोंके सामने अनासक्तिकी स्थितिको भोगत्याग रूपी कठोर क्रीडा करती हुई देखना सहन नहीं करता। भोगासक्त संसार अपनी आंखोंसे इस प्रकारके दुःसाहसको देखना नहीं चाहता, कि इस संसारका कोई भी मनुष्य अनासक्त होकर, ब्रह्मत्वलाभ करके, अपने जीवनमें **अहंब्रह्मास्मि** इस वाणीको प्रकट कर दे। वह तो, ब्रह्मत्वके पूर्ण विकासवाले मानव शरीरोंको मृत्युके घाट उतारता तक पाया जाता है। इसे ब्रह्मीभूत पुरुषोंको शूली तथा विषप्रयोग आदि उपायोंसे मारकर संतोष मानता तक देखा जाता है।

शरीरपरिग्रहहीन मुक्तिकी कल्पना सारहीन है।

शरीरपरिग्रहहीन मुक्तिकी कल्पना करनेवाले जिन आचार्योंने अपने मुक्तिविषयक विचारोंको जिस वाग्जालमें संकलित किया है, यदि उसमेंसे उनकी मुक्तिके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न किया जाय तो यही प्रतीत हो, कि इन

लोगोंकी कल्पित मुक्ति, कुछ शब्दावडम्बर मात्र है। इनकी मुक्तिके स्वरूपका विचार करनेवालेको यही प्रतीत होगा कि उसके स्वरूपको ये आचार्य स्वयं भी नहीं जानते थे। इनकी मुक्तिका स्वरूप किसी भी विवेकीकी समझमें नहीं आसकता। इन सब आचार्योंसे पूछा जाना चाहिये कि यह मानव आत्मा अनेक जन्मोंके प्रयत्नोंके परिणामके रूपमें इस संसारमें मुमुक्षुत्वको पाकर, शरीर त्यागकर चले जानेके पश्चात् अशरीर रूपमें कहां रहता है? और क्या करता है? इन लोगोंके पास इन प्रश्नोंका संतोषजनक उत्तर नहीं है। इस प्रकारकी अनिश्चित स्थितिका उपदेश देनेवालोंके दुःसाहसको देखकर आश्चर्य होता है। जो लोग इस प्रकारकी अनिश्चित स्थितिका विश्वास करके अंधोंके समान इनके पीछे चल पडते हैं, उन्हें देखकर भी आश्चर्यमें डूब जाना पडता है। अपनी मनुष्यताका स्वाभिमान रखनेवाला कोई भी मनुष्य ऐसी अनिश्चित स्थितिका उपदेश देनेवालोंकी बातोंपर विश्वास नहीं कर सकता। वह इन लोगोंके बहकावेमें आकर अपने वर्तमान जीवनको मुक्तिका अनधिकारी माननेको कदापि उद्यत नहीं हो सकता।

मनुष्यता पशुताका उन्नत रूप नहीं है।

कोई भी स्वाभिमानी मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवनको, पशु आदि शरीरोंमेंसे प्रारंभ होनेवाला, और एक अनिश्चित भविष्यमें जाकर अन्तिम अवस्थाको पानेवाला नहीं मान सकता। विचारशील मनुष्यकी दृष्टिमें मुक्तिका आनंद, प्रत्येक वर्तमान क्षणमें भोगने योग्य आनंद है। जीवनमें पाने योग्य मनुष्योचित आत्मस्थिति ही इस आनंदका स्वरूप है। अपनी मनुष्यताका अभिमान रखनेवाला कोई भी मनुष्य, अपनी मनुष्यताको पशुताका उन्नत रूप नहीं मान सकता। आध्यात्मिक विकासवादका यह अभिप्राय है कि वही आत्मा कभी पशु, पक्षी आदि बनता है और वही फिर कभी मनुष्य बनकर, आध्यात्मिक उन्नति करता करता 'मुक्ति' नामकी शरीरपरिग्रहहीन स्थितिको पालेता है। इस सिद्धान्तमें प्रतिपादित मनुष्यता, पशुताका ही संस्कृत रूप है और पशुता मनुष्यताका विकृत रूप है।

ज्ञान तथा अज्ञान परस्परविरोधी हैं; ये एक दूसरेके रूपमें परिणत नहीं होसकते।

आदर्श मनुष्यकी दृष्टिमें मनुष्य कभी पशु नहीं होसकता, और पशु कभी मनुष्य नहीं बनसकता। अर्थात् ज्ञान और अज्ञानकी कोई भी प्राथमिक या

अन्तिम स्थिति नहीं है। अज्ञान धीरे धीरे घटकर ज्ञानका रूप धारण करले और ज्ञान अज्ञानमेंसे अंकुरित होकर धीरे धीरे वृद्धि पाता रहे, और अन्तमें जाकर अज्ञान पूर्ण रूपसे लुप्त होजाय, तथा उसका ज्ञान बनजाय, इस प्रकारका 'ज्ञान तथा अज्ञानका कार्यकारण संबंध' होना संभव नहीं है। क्योंकि ज्ञान अज्ञानसे सर्वथा विपरीत और विरोधी अवस्था है। ज्ञान भी क्रमशः प्रकट होने योग्य स्थिति नहीं है, और अज्ञान भी क्रमशः नष्ट होने योग्य स्थिति नहीं है। ज्ञान और अज्ञान दोनों मनुष्यमात्रके मनमें अपनी पूर्णताको लेकर विराज रहे हैं। मनुष्य इस पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण अज्ञानकी स्थितिको अपनानेमें पूर्ण स्वतंत्र हैं। इन्हें अपनानेकी स्वतंत्रता ही 'मनुष्यकी मनुष्यता' है। जब मनुष्यका मन इन्द्रियासक्ति नामके पूर्ण अज्ञानको अपनालेता है, तब 'अज्ञानी' बन जाता है, और जब अनासक्ति रूपी पूर्ण ज्ञानको अपनालेता है तब 'ज्ञानी' बन जाता है। ज्ञानीके ज्ञानकी इस पूर्ण अवस्थाको ही 'मुक्ति' कहा जाता है।

भविष्यमें मुक्ति मिलनेकी आशा अज्ञान है।

क्योंकि मनुष्य अपने जीवनकालमें ही विषयासक्तिरूपी अज्ञानके वशमें न आने और अनासक्तिरूपी ज्ञानकी अवस्थाको अपनानेमें समर्थ होसकता है, इसलिये 'मुक्ति' जीवनकालमें ही रहसकती है। यह मरणके पश्चात् मिलनेवाली स्थिति नहीं है। मुक्ति मनुष्यकेपास स्वभावसे विद्यमान है। स्वभावसे पास रहनेवाली मुक्तिकी ओरसे आंख फेरकर, भविष्यकी प्रतीक्षा करना 'अज्ञान' है।

अनासक्ति ही गीताकी मुक्ति है।

मनुष्यको उसके जीवनमें ही 'मुक्ति' मिलसकती है, यह उत्साहवर्धक समाचार मनुष्यको सुनानेकेलिये गीताने अत्यन्त स्पष्ट भाषामें अनासक्तिको ही 'मुक्ति' कहा है। गीता मनुष्यको अनासक्तिसे भिन्न किसी भी प्रकारकी पारलौकिक मुक्तिका समाचार सुनानेको उद्यत नहीं है।

क्रमविकासका सिद्धान्त सत्यानुमोदित नहीं है।

अपने वर्तमान जीवनको 'मुक्ति' के अयोग्य मानकर, व्यर्थताके साथ जीवन बिता डालनेकी कल्पना कदापि मनुष्योचित नहीं है। आध्यात्मिक विकासवादियोंके कथनानुसार अपने जीवनकालको अज्ञानावस्थाके क्रम-

विकासकी बीचकी (अर्थात् ज्ञान अज्ञान या अनासक्ति और आसक्तिकी सम्मिलित) अवस्था मानकर, पूर्ण ज्ञानकी अवस्थाको जीवनकालसे बाहर धकेलदेना अस्वाभाविक तथा अमान्य कल्पना है।

बीसवां प्रकरण

सत्त्व, रज, तम तथा त्रिगुणातीत स्थिति

मनुष्यने मिथ्या संतोष भोगनेके लिए अज्ञानमें भी ऊंच नीचकी कल्पना करली है।

गीतामें अर्जुनको नित्यसत्त्वस्थ रहने, और त्रिगुणातीत स्थितिको अपनानेका उपदेश दिया गया है। त्रिगुणातीत स्थिति ज्ञानकी स्थिति है। इसीको ब्राह्मी स्थिति, योगारूढ स्थिति, तथा भक्ति आदि अनेक उदार नामोंसे कहकर, इसका वर्णन सर्वत्र अनासक्तिके रूपमें किया गया है। गीता त्रिगुणातीत स्थितिको ही ज्ञानकी स्थिति मानती है, इस लिये उसके मतमें सत्त्व, रज, तम रूपी त्रिगुणके बन्धनमें रहना अज्ञानकी स्थिति है। यद्यपि अज्ञानकी स्थितिमें न्यूनाधिक भाव नहीं है, तथापि मनुष्य पतित होकर भी अपनेको औरोंसे कुछ ऊंचा तथा दूसरोंको अपनेसे कुछ नीचा देखकर, मिथ्यासंतोष भोगना चाहता है। इसीसे उसने अज्ञानमें भी श्रेणी बनाली हैं। उसने अज्ञानकी स्थितिको सत्त्व, रज, तम इन तीन उत्तम, मध्यम तथा अधम रूपोंमें मान लिया है। इस मन्तव्यका यही अभिप्राय है कि मनुष्य अज्ञानी रहता हुआ भी क्रमशः ज्ञानकी ओर बढ़ता रहता है।

ज्ञानी अज्ञानको पूर्ण अज्ञान मानता है। उसकी दृष्टिमें अज्ञानमें ज्ञानका मिश्रण नहीं है। उसके सामने संपूर्ण अज्ञान त्याज्य रूपमें रहता है। वह अज्ञानमें श्रेणीविभाग, मिश्रण या तरतम भाव नहीं मानता। वह अज्ञानमें उत्तम, मध्यम तथा अधमका भेद नहीं जानता। अज्ञानमें उत्तमता मानना उसमें ज्ञानका मिश्रण मानना है। परन्तु विरोधी होनेके कारण ज्ञानके साथ अज्ञानका सहवास संभव नहीं है। इस लिये सत्त्व, रज, तम नामोंसे कही जानेवाली अवस्था अज्ञानी मनोदशाके तीन भिन्न भिन्न रूप हैं।

गीताके सत्त्व, रज, तम शब्द अज्ञानी मनोदशाके वाचक हैं।

गीतामें सुखासक्ति और ज्ञानासक्तिकी मिश्रित मनोदशाको 'सत्त्वगुण' कहा

गया है। सुखासक्तिके मिश्रणके कारण सत्त्वका ज्ञान ज्ञान नहीं है। वह भोगसंग्रहकी चतुराई मात्र है। उसका ज्ञान ज्ञानका दिखावा है। वह भोगका सहायक गुण है। वह भोगको सुरक्षित रखनेवाले संयमके रूपमें प्रकट होता है तथा भोगमें संयम न करनेवाले उद्धत रज, तमको अपनेसे निकृष्ट कहता है। रजोगुण भी सत्त्वके स्वभावको थोडासा अपनाकर अपनेको तमसे श्रेष्ठ बताता है। गीतामें अज्ञानी मनोवृत्तिमें पाये जानेवाले सत्त्व, रज, तमके भिन्न भिन्न रूपोंका वर्णन किया गया है। वस्तुतः गीतामें ये तीनों शब्द अज्ञानी मनोदशाको बतानेके लिये ही प्रयुक्त हुए हैं।

गीतोक्त सत्त्व, रज, तम सृष्टिके कारण नहीं हैं। ये तीनों भोगाकांक्षाके तीन रूप हैं।

गीतामें अर्जुनको ज्ञानकी स्थितिसे अज्ञानका भेद दिखाते हुए सत्त्व, रज, तमका वर्णन किया गया है। इन तीनों शब्दोंके साथ सृष्टिस्थिति प्रलयके कारणोंका संबन्ध जोडना प्रकरणविरुद्ध है। गीतामें सर्वत्र इन शब्दोंसे मनुष्यके मनकी अज्ञानमयी स्थितिका वर्णन किया गया है। गीताके सत्त्व, रज, तमसे केवल मनुष्यके मनको समझनेका प्रयत्न होना चाहिये। प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियासक्ति, अनासक्त मनुष्यके मनको विचलित करनेमें असमर्थ हो जाती है। इसीको ज्ञानीकी त्रिगुणबन्धनातीत स्थिति या ' शुद्धसत्त्व ' कहा जाता है। अनासक्त आत्मस्थितिको छोड़ देनेवालेका मन इन्द्रियोंके बंधनमें फंस जाता है। उस समय उसमें भोगाकांक्षाका जन्म होता है। गीतामें इसी भोगाकांक्षाको सत्त्व, रज, तम इन तीन रूपोंमें दिखाया गया है। भोगाकांक्षा गीताका 'तमोगुण' है। भोगसंग्रह गीताका 'रजोगुण' है। भोगको चिरजीवी बनानेकी प्रवृत्ति गीताका ' सत्त्वगुण ' है। सत्त्वगुणी पुरुषमें भोगको स्थायी बनानेकी भावना काम करती रहती है। वह इसके लिये दूरदर्शितासे काम लेता है और आवश्यक संयम करनेको सहर्ष उद्यत होकर, अपने जीवनमें संयमको मुख्य स्थान देकर संयमी बना रहता है। परन्तु सत्त्व गुणीका संयम सच्चा संयम नहीं है। क्योंकि वह फिरकेलिये भोगाधिकारको सुरक्षित रखनेके भावसे होता है। रजोगुणी पुरुष भोगको मुख्य स्थान देता है, परन्तु कुछ अत्यावश्यक संयम भी करता है। तमोगुणी पुरुष अपने जीवनमें भोगाकांक्षाको मूर्तिमती बनाये रहकर, निःसंकोच होकर भोगलिप्त रहता है।

इक्कीसवां प्रकरण

मनका स्वरूप

मनकी बलवत्ताका स्वरूप।

गीतामें कहा गया है कि मन इन्द्रियोंसे बलवान् है, बुद्धि मनसे बलवती है और आत्मा उससे भी बलवान् है। मनको इन्द्रियोंसे बलवान् कहनेका अभिप्राय यह है, कि इन्द्रियोंमें मनको वशमें कर सकनेकी शक्ति नहीं है, प्रत्युत मनमें ही इन्द्रियोंको वशमें रखनेका सामर्थ्य है। इन्द्रियोंमें विषयोंके लिये जो रागद्वेष हैं, उन्हें अपनाकर रागी द्वेषी विषयासक्त बन जाना, या उन्हें न अपनाकर उनसे अप्रभावित अनासक्त बने रहना मनके सामर्थ्य में है। यद्यपि इन्द्रियोंमें रागद्वेष हैं, परन्तु ये स्वयं अनुकूल विषयोंका ग्रहण या प्रतिकूल विषयोंका त्याग नहीं कर सकतीं। त्याग या ग्रहण करनेवाला सदा मन होता है। मन कर्ता बनकर इन्द्रियोंके अनुकूल विषयोंका ग्रहण और प्रतिकूल विषयोंका त्याग करता है। इन्द्रियां मनकी अनुचारिणी होती हैं। मन इन्द्रियोंका अनुचर कभी नहीं बनता। जहां मन इन्द्रियोंका अनुगामी होता हुआ दीखता है, वहां भी इन्द्रियां ही उसकी अनुगामिनी होती हैं और मन उनका संचालन करता रहता है। मन भोग करते समय, इन्द्रियोंके रागद्वेषको अपनालेता है, और भोक्ता बनकर, इन्द्रियोंको भोगके काममें लगाता है। परन्तु अनासक्त रहनेवाला मन, इन्द्रियोंके रागद्वेषको अस्वीकार कर देता है, और उन्हें भोगत्यागके साधन बना लेता है। मन, भोग या त्याग इन दोनोंमेंसे किसी भी अवस्थामें इन्द्रियोंका साधन नहीं बनता। किन्तु इन्द्रियां ही सदा उसके साधन बनी रहती हैं।

आसक्ति या अनासक्तिको अपनानेकी स्वतंत्रता ही 'मनका स्वरूप' है।

जब मन अपनी स्वतंत्रतासे इन्द्रियोंके रागद्वेषोंको स्वीकार कर लेता है, तब इन्द्रियासक्त हो जाता है। उस स्थितिमें इन्द्रियोंके (रागद्वेषरूपी) स्वभावके वशीभूत हो जानेके कारण वह अपनी सत्यासत्य विचार बुद्धिको खो बैठता है। परन्तु जो मन स्वरूपमें आरूढ होकर, इन्द्रियासक्त होना अस्वीकार कर देता है, उसकी वह अस्वीकृति ही, उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि (रूपी स्वभाव) हो जाती है। निश्चयात्मिका बुद्धिवाला मन, इन्द्रियोंके रचे हुए संसारबंधनसे न बंधनेमें, अनन्त शक्तिमान् हो जाता है।

जब मनुष्य इन्द्रियपरतंत्र होता है, तब अपनी स्वतंत्र स्थितिको खोकर इन्द्रियोंके रागद्वेषको अपनाकर, भोगी बन जाता है। वही मन जब अपने स्वतंत्र रूपमें अवस्थित रहता है, तब एकरूपमें अनन्त शक्तिमान् 'आत्मा', दूसरे रूपमें निश्चयात्मिका 'बुद्धि' और तीसरे रूपमें आत्मस्थितिमें रमनेवाला 'मन' कहाता है। निष्कर्ष यही है कि आसक्ति और अनासक्ति दोनोंमेंसे किसी एकको अपनानेकी जो स्वतंत्रता मनुष्यके पास है, वही मनुष्यका 'मन' है।

रागद्वेष इन्द्रियोंके धर्म हैं; मनके नहीं।

मनके इस वास्तविक स्वरूपको न जानकर मनुष्य भूलसे यह मान लेता है, कि वह स्वभावसे इन्द्रियाधीन रहनेकेलिये विवश है। वह इस विवशताको ही अपना मन मान लेता है और उसे दुर्निग्रह तथा चंचल कहने लगता है। जबतक मनुष्य अपने आपको अपनी इच्छाके विरुद्ध खींचनेवाली, अपनेसे भिन्न, मन नामकी शक्तिके अधीन मानता रहेगा, तबतक वह मनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझ सकेगा। यह स्थिति मनुष्यकी बुद्धिभ्रंशताकी स्थिति होगी। इस पराधीन स्थितिको अपनानेवाले मनुष्य यह कहते पाये जाते हैं, कि हमारा मन हमारे न चाहनेपर भी पाप कर लेता है। जो मनको अपनेसे पृथक् मानते हैं, वे इन्द्रियोंके रागद्वेषोंको ही 'मन' समझते हैं। उनका ऐसा समझना स्पष्ट भ्रान्ति है। इन्द्रियोंके स्वभावरूपी रागद्वेषोंको 'अपना मन' मानकर, उसे अपनेसे बलवान् या दुर्निग्रह बतानेवाले, अपने आपको शक्तिहीन नपुंसक सत्ता मान लेते हैं। उनके लिये चित्तकी स्थिरता, अर्थात् आत्मस्थिति, असंभव बन जाती है।

यदि रागी द्वेषी होना मनका स्वभाव मान लिया जायगा और उसे अपनेसे पृथक् तथा अपनेसे अधिक शक्ति रखनेवाला समझा जायगा, तो यह भी स्वीकार कर लेना पडेगा, कि जीवनमें ऐसे मनसे संबन्ध रहने तक मनुष्यका चित्त स्थिर नहीं हो सकेगा। रागद्वेषको मनका स्वभाव मान लेनेपर, मनका रागद्वेषरहित होना असंभव मान लेना पडेगा। जबतक मनको, रागद्वेषोंको अपनाने या त्याग देनेवाली स्वतंत्र शक्तिके रूपमें स्वीकार नहीं किया जायगा, तबतक उसमेंसे अस्थिरताका हटना तथा स्थिरताका आना असंभव बना रहेगा। मनको रागद्वेषोंको अपनाने या त्यागनेवाली स्वतंत्रताके रूपमें स्वीकार करनेपर ही, उसकी अस्थिरता हट सकती है और उसमें स्थिरता आस-

कती है। यदि इन्द्रियोंके रागद्वेषको ही मन मान लिया जायगा, तो वह राग-द्वेष स्वभाववाला मन, अपने स्वभावको कदापि न छोडेगा, और सदा अस्थिर बना रहेगा। इन्द्रियोंके रागद्वेष इन्द्रियोंके ही स्वभाव हैं, मनके नहीं। मन तो इन्हें अपनाने या न अपनानेवाली स्वतंत्र शक्ति है। मन तब ही स्थिर हो सकता है, जब कि मनुष्य, मनकी इस स्वतंत्रताके स्वरूपको समझ जाय। अस्थिर मन तबतक अस्थिरता नहीं छोडेगा, जबतक कि वह इन्द्रियोंके राग-द्वेषरूपी अस्थिरताको अपनाता रहेगा। ज्यों ही वह इन्द्रियोंके रागद्वेषोंको अपनाना अस्वीकार कर देगा, त्यों ही स्वरूपमें स्थित होकर स्थिर हो सकेगा। इन्द्रियोंके रागद्वेष ही (मनकी) अस्थिरताका स्वरूप हैं। मनमें स्वभावसे अस्थिरता नामका कोई धर्म नहीं है। वह इसमें इन्द्रियोंका उधारा धर्म है। इस लिये जो इन्द्रियोंके रागद्वेषोंको मन मानकर उन्हें वशमें करनेका प्रयत्न करेगा वह दुराशामें फंसा रहेगा। क्योंकि ऐसा होना संभव नहीं है। कोई भी ज्ञानी इन्द्रियोंके रागद्वेषोंको नहीं हटा सकता। इन्द्रियोंमें रागद्वेष रहना तो मनुष्यकी जीवितावस्था है। रागद्वेषरहित इन्द्रियां केवल मृतदेहमें रह सकती हैं। जब मन इन्द्रियोंके रागद्वेषको लेकर रागद्वेषयुक्त हो जाता है, तब वह उसकी स्वरूपसे पतित हो जानेकी स्थिति होती है।

मनुष्य स्वयं ही अपना मन है।

जिस समय मनुष्यको अपने मनके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हो जायगा, तब वह न तो इन्द्रियोंके रागद्वेषको ' मन ' कहेगा, और न मनको अपने अधिकारसे बाहर रहनेवाले विद्रोहीके रूपमें देखेगा। तब वह देखेगा, कि मैं स्वयं ही अपना मन हूं, और जब मैं स्वेच्छासे इन्द्रियोंके रागद्वेषरूपी बन्धनको अपनालेता हूं, तब ' बद्ध मन ' बन जाता हूं, और जब मैं अपनी इच्छासे उन रागद्वेषोंको अस्वीकार कर देता हूं, तब ' नित्यमुक्त स्वभाववाला आत्मा ' बना रहता हूं।

बाईसवां प्रकरण

इन्द्रियनिग्रह

इन्द्रियनिग्रहका वास्तविक अभिप्राय।

देहके जीवित रहनेका स्वभाव ' इन्द्रिय ' कहाता है। यह स्वभाव, देखने, सुनने, स्पर्श करने, सूंघने, खाने, चलने, सोने, श्वास लेने, बोलने,

त्यागने, ग्रहण करने, आंख खोलने तथा आंख मीचने आदि भिन्न भिन्न रूपोंमें प्रकट होता रहता है। 'इन्द्रियनिग्रह' करनेका यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य अपने इस स्वभावसे संग्राम छेड़दे या इसे नष्ट करडाले। क्योंकि यह स्वभाव शरीरके नष्ट हो जानेपर ही नष्ट होता है, पहले नहीं। 'इन्द्रियनिग्रह' शब्द केवल इस अर्थमें व्यवहृत हो सकता है कि मनुष्य जीवित रहनेके स्वभावको केवल जीवित रहनेके काममें लाये। उसे भोगासक्तिं या इन्द्रियलोलुपताका साधन न बनने दे। किन्तु इसे अनासक्त रहनेका साधन बनाले।

गीतामें इन्द्रियनिग्रहके पर्यायवाची शब्द।

गीतामें इन्द्रियनिग्रहकी स्थितिको ही अनासक्ति, ब्राह्मी स्थिति या ईश्वर-प्राप्तिकी स्थिति कहा गया है। अर्थात् इन्द्रियनिग्रह, अनासक्ति, ब्राह्मी स्थिति, ईश्वरप्राप्ति, आदि सब शब्द एक ही अर्थको कह रहे हैं।

इन्द्रियनिग्रह शब्दके दो प्रकारके अर्थोंकी संभावना।

इन्द्रियनिग्रहपर विचार करते ही मनमें प्रश्न होता है, कि क्या इन्द्रिय-निग्रह करनेसे अनासक्ति मिलती है? या अनासक्तिसे इन्द्रियनिग्रह होता है? गीतामें कहा गया है कि, जिसकी इन्द्रियां निगृहीत हैं, वही स्थितप्रज्ञ है। इन शब्दोंका एक यह भी अर्थ हो सकता है, कि मनुष्य इन्द्रियनिग्रह करके स्थितप्रज्ञ बनता है, और इन्हींका दूसरा यह अर्थ भी हो सकता है कि स्थितप्रज्ञ होजाने पर मनुष्यकी इन्द्रियां निगृहीत होती हैं। गीताके इन्द्रियनिग्रहसंबन्धी सब श्लोकोंसे ये दोनों विरोधी अर्थ प्रकट हो सकते हैं। इन दोनोंमेंसे युक्तिसंगत अर्थका निर्णय करनेकेलिये 'इन्द्रियनिग्रह' के वास्तविक स्वरूपकी विवेचना होनी चाहिये।

इन्द्रियनिग्रहसंबंधी प्रचलित मत।

इन्द्रियनिग्रहके संबन्धमें संसारमें भिन्न भिन्न प्रकारके मत प्रचलित हैं। (१) कुछ लोग 'इन्द्रियनिग्रह' करना सर्वथा असंभव मानते हैं। ये लोग इन्द्रियोंको विषयभोग करनेकी पूर्ण स्वतंत्रता दे देना चाहते हैं। इनका कहना है कि शरीरकी भोगावस्था तथा भोगोंका अन्त हो जानेपर जब इन्द्रियां स्वयमेव शिथिल और तृप्त होकर भोगेच्छा त्याग देंगी, तब स्वाभाविक

रूपमें ‘ इन्द्रियनिग्रह ’ होगा। तब इन्द्रियोंका स्वेच्छासे भोगेच्छाको त्याग देना, इन्द्रियनिग्रहका रूप धारण करलेगा । उस समय प्राकृतिक व्यवस्थासे भजन चिन्तन आदिका सुअवसर आयेगा । इस प्रकारकी बातोंका समर्थन करनेके लिये गीताका **निग्रहः किं करिष्यति** यह वाक्य उद्धृत किया जाता है ।

इन्द्रियनिग्रहके संबन्धमें दूसरे प्रकारका मत यह है कि (२) क्योंकि इन्द्रियासक्तिका परिणाम दुःखदायी होता है, और क्योंकि इन्द्रियां मनको सदा विषयोंकी ओर खींचती रहती हैं, इस लिये उन्हें हठसे निगृहीत करना चाहिये । अर्थात् ऐसे उपाय काममें लाने चाहियें, कि इन्द्रियों और विषयोंका सम्मिलन न होने पाय । इस मतके समर्थक लोग गीताके **समं कायशिरोग्रीवम्** आदि शारीरिक क्रियाओंसे संबन्ध रखनेवाले तथा **रहसि स्थितः** आदि एकान्तवासका समर्थन करनेवाले श्लोकोंका उपयोग करते हैं । इन लोगोंका कहना है, कि इन्द्रियोंको उनकी आसक्तिके विषयोंसे मत मिलने दो, और इस कामकेलिये अपने शरीरको भी विषयोंके वातावरणसे हटाकर रखो । अर्थात् इन्द्रियनिग्रहके अनुकूल समझी हुई भौतिक परिस्थितिमें रहो और वहां इन्द्रियोंको निगृहीत किया करो। इन इन्द्रियनिग्रहवादियोंमें कुछ इस विचारके लोग भी हैं जो इन्द्रियोंको तपःकृश बनाकर या उन्हें सर्वथा तोड-फोडकर संयमी बनाना चाहते हैं ।

इन्द्रियनिग्रहको असंभव मानकर अबाध भोग करचुकनेके पश्चात् इन्द्रियोंको अपने वशमें देखना चाहनेवाले, तथा अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे न मिलने देकर, या उन्हें तपःकृश बनाकर, अथवा सर्वथा नष्ट करके इन्द्रियसंयमी बनना चाहनेवाले लोगोंके बाह्य व्यापार, चाहे एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न भिन्न दीखते हों, तो भी इन लोगोंकी मनोवृत्तिमें कोई अन्तर नहीं है । ये सबके सब इन्द्रियोंको अपनेसे बलवान् मानचुके हैं । ये इन्द्रियोंको अपनेसे बलवान् मानकर ही ऐसा व्यर्थ उद्यम करते हैं । इन्द्रियोंको अपनेसे बलवान् मान लेना ही उनसे हार मान लेना होता है । इसीको दूसरे शब्दोंमें ‘ इन्द्रियासक्ति ’ कहा जाता है ।

प्रचलित मतोंकी अयथार्थता ।

इन्द्रियनिग्रहके संबन्धकी यह मनोवृत्ति गीताको मान्य नहीं है । यह गीताकी अनासक्तिसे सर्वथा विपरीत है । गीताकी अनासक्ति किसीसे हार मानकर उत्पन्न होनेवाली मुरदा शान्ति नहीं है । वह तो इन्द्रियोंके विषयाकर्षणके सामर्थ्यके सामने, उससे अप्रभावित रहनेवाली अदम्य स्थिति है।

वह इन्द्रियोंमें विषयाकर्षणके रहते हुए अपनी शक्तिसे शक्तिमान् रहनेकी स्थिति है। इन इन्द्रियनिग्रहवादियोंने तो यह मान रखा है कि जबतक इन्द्रियोंमें विषयाकर्षणरूपी सामर्थ्य बना रहेगा, और जबतक इन्द्रियोंका विषयोंसे संबंध होता रहेगा, तबतक कोई मनुष्य अनासक्त नहीं हो सकेगा और तबतक वह इन्द्रियनिग्रह भी नहीं कर सकेगा।

जो अपनेको इन्द्रियनिग्रह करनेमें असमर्थ मानकर, पौरुष त्यागकर, इस प्रतीक्षामें बैठा हो कि जब इंद्रियोंकी भोगप्रवृत्ति स्वयं शान्त हो जायगी, तब अपनेआप इन्द्रियनिग्रहका स्वाभाविक अवसर उपस्थित होगा; मान लेना पड़ता है कि उसने अपनेआपको इंन्द्रियोंकी कृपापर निर्भर कर रखा है। यह ऐसी प्रतीक्षा है, जैसे कोई मनुष्य किसी नदीके किनारे बैठकर, उसके बहनेवाले जलके समाप्त हो जानेकी प्रतीक्षामें उसे पार करनेका उद्यम त्याग बैठा हो, और बहते जलके समाप्त हो जानेपर, जलको छुए विना पार हो जाना चाहता हो। किसीकी भी इन्द्रियां अपने अनुकूल विषयोंसे राग, तथा प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष मानना कदापि नहीं त्याग सकतीं। इस अवस्थामें जो मनुष्य कभी इन्द्रियोंको अपने आप निगृहीत तथा विषयविमुख देखनेकी आशा लगाये बैठा हो, वह भूलकर रहा है।

दूसरे प्रकारके जो लोग इन्द्रियोंसे विषयोंको न मिलने देनेकेलिये, कुछ भौतिक उपाय करते हैं, उन्होंने यह समझ रखा है, कि यदि इन्द्रियोंको विषयसंयोगका अवसर मिलता रहा, तो हमसे इन्द्रियसंयम नहीं हो सकेगा। ये भी पहले प्रकारके लोगोंके समान ही अपने मनमें इन्द्रियोंकी अधीनता स्वीकार कर चुके हैं।

इन्द्रियासक्तिको न छोडकर, भोगोंसे हटकर इन्द्रियनिग्रह चाहना, दिखावा है।

इनमेंसे एक तो भोगको इन्द्रियोंका स्वभाव माननेके कारण अपनेको भोगकेलिये विवश मानते हैं। वे कहते हैं कि जबतक इन्द्रियोंमें भोगशक्ति रहेगी, तब तक उन्हें भोगसे निवृत्त रखना असंभव और अनर्थोत्पादक होगा। इनके मतमें इन्द्रियोंमें भोगसामर्थ्यके रहते हुए भोगसे विपरीत त्यागकी अवस्था नहीं आ सकती। दूसरे लोग अपनी इन्द्रियोंको विषय-संयोगसे पृथक् रखनेका प्रयत्न इस लिये करते हैं कि यदि इन्द्रियोंसे विषयसंयोग होता रहा तो हम अपनेको विषयासक्त होनेसे नहीं रोक सकेंगे। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंने अपने शरीरमें इन्द्रिय होने, और संसारमें

विषय रहनेको ही अनासक्तिके मार्गका विघ्न मान लिया है। ये दोनों इस महासत्यको नहीं पहचानते, कि जब तक इन्द्रियोंमें भोगशक्ति है, और जब तक संसारमें भोग्य पदार्थ हैं, मनुष्य तब तक ही अनासक्ति नामक मानसिक स्थितिको अपने अधिकारमें रख सकता है, फिर नहीं।

इन्द्रियोंसे हार मान लेनेवाले ऐसे मनुष्योंने अपनी इन्द्रियासक्तिको तृप्त करनेमें ही सुख मान लिया है। ये जिस इन्द्रियासक्तिसे सुख मानते हैं, उसे कैसे त्याग सकते हैं? ये तो उसे त्यागनेका नाम लेकर जो कुछ प्रयत्न करेंगे, वे सब सुखासक्तिसे किये गए होंगे, और वे सब इन्द्रियासक्तिके सहायक बन जांयगे। इनकी दृष्टिमें इन्द्रियासक्ति दुःखदायी नहीं है। इन्द्रियां स्वभावसे पदार्थोंमें रागद्वेष मानती हैं। पदार्थोंकी प्राप्ति अप्राप्तिसे सुखी दुःखी होना, शरीरकी स्वाभाविक अवस्था है। परन्तु सुखदुःखकी इस अनुभूतिका दास बन जाना, अर्थात् अपनेको इसे तृप्त करनेकेलिये विवश मान लेना 'इन्द्रियासक्ति' है। इन्द्रियासक्ति स्वरूपसे दुःखदायी नहीं है। वह केवल पवित्र मनकी दृष्टिसे ही दुःखदायी है। क्योंकि उससे उसकी पवित्रता नष्ट होती है। जो कि उसकी दृष्टिमें असह्य दुःख है। परन्तु इन्द्रियासक्ति शरीरकेलिये दुःखदायी नहीं है। यदि इन्द्रियासक्ति शरीरको दुःख देती होती, तो कोई भी उसे न अपनाता। जो मनुष्य भोगासक्तिको अपनाये रहकर, भोगत्यागका नाटक खेलते हैं, उनकी भोगको सुख समझनेवाली बुद्धि उन्हें भोगासक्तिको नहीं छोडने देती। भोगको सुखदायी माननेवाला भोगसे द्वेष कैसे कर सकता है? जो भोगोंमें सुख समझते हैं, वे भोगत्यागका प्रयत्न कभी नहीं कर सकते। जो मनुष्य केवल वाणीसे भोगोंको दुःखदायी कहता हो, या उन्हें त्यागनेका प्रयत्न करता दीखता हो, मान लो कि वह भोगसे द्वेष नहीं करता; किन्तु वह सुखके विपरीत परिणामोंसे द्वेष कररहा है। यदि किसी प्रकार भोगसे प्राप्त होनेवाले सुखको परिणाममें भी वैसा ही रखा जासके तो वह मनुष्य उसे कदापि दुःखदायी नहीं मानेगा। उसके भोगको दुःखदायी कहनेका अभिप्राय भोगके परिणामको दुःखदायी बताना और उससे द्वेष करना है। क्योंकि वह देख रहा है कि भोगमें जो सुख मिलता है वह परिणाममें नहीं रहता।

परिणाममें दुःखदायी होनेका डरावा, मनुष्यको अनासक्त नहीं बनासकता।

कोई मनुष्य परिणामसे बचनेके लिये मधुर भोगोंको त्याग दे, यह बात

मनोविज्ञानके सर्वथा विरुद्ध है। भोगासक्त मनुष्यको भोगका दुःखदायी परिणाम दिखाकर, उसके मनमें उसके लिये घृणा उत्पन्न करके, भोगासक्ति छुडानेका प्रयत्न सदा असफल होगा। क्योंकि जबतक मनुष्य अनासक्त नहीं हो सकेगा, तबतक भोगासक्तिके घृण्य तथा निन्दनीय रूपको नहीं समझ सकेगा। भोगासक्तिके निन्दनीय रूपको न देखकर, या न दिखाकर भोग्य-पदार्थको निन्दनीय रूपमें देखने या दिखानेका प्रयत्न करना अस्वाभाविक उद्यम है। ऐसा निराधार उद्यम करनेवाले लोगोंको ही भोगोंपर यह दोष लगाते पाया जाता है कि भोग नाशवान् हैं, वे विकारी हैं और क्षणभंगुर हैं। परन्तु भोगोंको दी हुई इन गालियोंसे किसी भी अज्ञानी मनुष्यका भोगासक्त मन अपने सुखदायी भोगोंको त्यागनेकेलिये उद्यत नहीं हो सकता। वह ऐसी गालियां सुनकर भोग्यपदार्थोंका आकर्षण नहीं छोड सकता। कारण यही है कि वह किसी उपदेशसे किसी पदार्थको अभोग्य माननेको उद्यत नहीं है। वह तो विनष्ट हो जानेके पश्चात् ही किसी पदार्थको अभोग्य मान सकता है, पहले नहीं। जबतक उसे पदार्थ भोग्य रूपमें दीखते रहते हैं, तबतक वह उन्हें त्याज्य नहीं मान सकता। यही कारण है कि जो लोग भोग्य पदार्थोंपर परिणाममें दुःखदायी होनेका अपराध लगाकर, अनासक्त महात्मा बननेका प्रयत्न करते हैं, उनके सब प्रयत्न अवश्य निष्फल होते हैं। भोगासक्त मनमें सदा ही यह भाव रहता है, कि मुझे भोग करते हुए; उसके दुःखदायी परिणामसे बचे रहनेकेलिये, अर्थात् भोगके सुखको स्थायी बनाये रखनेकेलिये, प्रयत्न करते रहना चाहिये। परन्तु यह प्रयत्न जबतक सफल न हो, तबतक मैं अपने आपको वर्तमान भोगसे मिलनेवाले सुखसे वंचित क्यों करूं ? वस्तु-स्थिति यह है कि भोग उसी मनुष्यको दुःखदायी दीख पडता है, जो भोगा-तीत स्थितिके आनन्दसागरमें डूबा रहता है, और उससे बाहर निकलना दुःखदायी मानता है। प्रकरणका तात्पर्य यही है कि अनासक्त स्थितिमें आरूढ हो जानेके पश्चात् ही ' इन्द्रिय निग्रह ' नामक सुखदायी स्वभाव हो सकता है, उससे पहले नहीं।

उपर्युक्त इन्द्रियनिग्रहसंबंधी मत अनासक्तिके संबंधमें अनभिज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

इन्द्रियोंको भोगलिप्त रखनेवाले, तथा उन्हें हठसे निगृहीत रखनेका प्रयत्न करनेवाले, दोनों प्रकारके मनुष्य अनासक्त स्थितिसे अपरिचित होते हैं, और

इन्द्रियाधीन बने रहते हैं। कोई भी भोगासक्त मनुष्य, भोगके परिणामके रूपमें अनासक्त स्थितिको कदापि नहीं पासकता। क्योंकि वह अपनी भोग-कामना रूपी प्रदीप्त अग्निमें घृताहुतिके समान विषयरूपी ईंधन डालता रहता है, और जीवन भर भोगी बना रहता है। अपनेको साधक समझनेवाले इन्द्रियनिग्रहार्थियोंकी यही दशा है। वे इन्द्रियोंसे हार मानी हुई मनोदशा रखकर, इन्द्रियोंसे विषयोंको यथासंभव बचानेका प्रयत्न करते हैं। इन्होंने यह सिद्धान्त बना लिया है, कि यदि जीवित देहको कोई विषय प्राप्त होगा, तो कोई भी अपनेको उसको भोगनेसे नहीं रोक सकेगा। इनके मतमें जीवित देहसे विषयसंयोग होनेपर किसी मनुष्यका भोगसे बचे रहना अस्वाभाविक, असंभव और काल्पनिक अवस्था है। इनका साधकजीवन, तबतक ही निभ सकता है, जबतक इनकी इन्द्रियोंको विषयोंसे आकृष्ट होनेका अवसर प्राप्त न हो। जीवनमें पतनकी संभावना रखना ही 'साधक' की स्थिति है। सिद्धावस्थासे विपरीत पतितावस्था ही 'साधकपना' है। 'साधक' होनेका स्पष्ट अभि-प्राय यही है कि क्योंकि हम 'सिद्ध नहीं हैं,' इस लिये विषयभोगका अवसर आनेपर हमारा विषयभोग करना अनिवार्य है, और तब हम 'सिद्ध' न होनेके कारण अपराधी भी नही हैं। कभी विषयभोगसे वंचित रहना, और कभी विषयभोग करनेके लिये विवश हो जाना, यही 'साधक' की मनोदशा है। यदि 'साधक' जीवनमें विषयभोगकी संभावना न हो, तो उसे 'साधक' न कहकर 'सिद्ध' कहना पड़ेगा। अपने जीवनमें पतनके अवसरकी संभा-वना रखनेवाला मनुष्य अपनेको 'सिद्ध' न कहकर 'साधक' कहता है। अपनेको 'साधक' कहना निर्बलताकी घोषणा करना है। भोगवा-सनाको यथासंभव रोकना, और वह न रुके तो अपने पास उसे तृप्त करनेका अधिकार रखना, यही साधककी मनोवृत्ति है। वस्तुतः 'इन्द्रिय निग्रह' को असंभव कहनेवाले भोगीमें और यथासंभव (यथाशक्ति) इन्द्रिय निग्रहका प्रयत्न करनेवाले 'साधक'में कोई अन्तर नहीं है। जो अबाध भोग करते हैं, तथा जो अपने जीवनमें भोगका अवसर रखकर 'साधक' बनते हैं, ये दोनों विषयभोगको सुखदायी मानते हैं। विषयभोगोंमें सुख है, यह समझना ही 'विषयासक्ति' है। जबतक यह विषयासक्ति बनी रहेगी, तबतक स्थित-प्रज्ञका इन्द्रियनिग्रह या 'अनासक्ति'रूपी स्थिति नहीं ठहर सकेगी। अनासक्त हो जानेपर ही 'इन्द्रियनिग्रह' हो सकता है। वस्तुतः 'भोगी' और 'साधक' दोनों 'इन्द्रियनिग्रह'का मर्म नहीं जानते।

साधनसे इन्द्रियोंकी आसक्ति नहीं छूट सकती।

'साधक' लोग जिन साधनोंको लेकर 'इन्द्रियनिग्रह' का प्रयत्न करते हैं, वे उन्हें अपने सामने भोग्य पदार्थोंके प्रतिनिधिके रूपमें रखते हैं। वे यह आशा करते हैं, कि यदि वे अपने मनको साधनोंमें लगाये रखेंगे, तो उसे विषयोंकी ओर आकृष्ट होनेका अवसर नहीं मिलेगा। साधन करनेके भीतर यह अभिप्राय छिपा हुआ है कि अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे पृथक् रखकर उन्हें विषयोंका कोई ऐसा विनिमय दे दिया जाय, जिसमें वे लग जांय और विषयोंसे बची रहें। साधक लोग अपनेमें ऐसी कोई शक्ति नहीं पाते, जिससे वे स्वयं अपनी आसक्तिके विषयोंको भोगनेसे बचे रह सकें। जिस प्रकार सौन्दर्योपासक मनुष्य सुन्दर वस्तुके स्थानमें उसके चित्रसे सन्तुष्ट नहीं रह सकता, इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य भोग्य पदार्थके बदलेमें किसी भी साधनसे अन्ततक सन्तुष्ट नहीं रह सकता।

मनःसंयम होचुकनेपर ही इन्द्रियसंयम होसकता है।

गीताकी अनासक्त स्थितिके वर्णनसे इन्द्रियनिग्रह संबन्धी सब भ्रान्त धारणाओंका खण्डन हो जाता है। स्थितप्रज्ञकी इन्द्रियां संयत होती हैं, यह बतानेवाली गीता स्पष्ट कह रही है कि पहले मनको संयत करो, फिर इन्द्रिय-संयम होगा। पहले मनको संयत न करके अर्थात् उसे विषयासक्त रहने देकर इन्द्रियोंको संयत करनेका उद्यम 'मिथ्याचार' है। इन्द्रियोंसे हार माने हुए इन्द्रियासक्तोंका 'इन्द्रियनिग्रह' भी इन्द्रियासक्ति ही होता है। गीता जिस 'इन्द्रियनिग्रह' का प्रतिपादन और समर्थन करती है, वह तो मनकी अनासक्त अवस्थाका स्वाभाविक परिणाम है।

अनासक्तका इन्द्रियनिग्रह स्वाभाविक स्थिति है। उसमें कष्ट अथवा संग्राम नहीं है।

जिस मनको वायुके समान 'दुर्निग्रह' कहा जाता है, वही मन आत्म-दर्शन होते ही स्वभावसे विषयविमुख हो जाता है। अनासक्तिमें रहनेवाले मन-के लिये अनासक्तिको त्यागनेकी कल्पना भी दुःखदायी हो जाती है। उसकी दृष्टिमें अनासक्त स्थितिके आनन्दको त्यागकर, विषयभोगके क्षेत्रमें अवतीर्ण होना दुःखदायी हो जाता है। यही अवस्था 'विषयोंका दोषदर्शन' कहाती है। विषयोंमें दोषदर्शन रूपी 'वैराग्य' और उनमें अनासक्त रहनेकी दृढता-

रूपी ‘ अभ्यास ’ अनासक्त मनुष्यका स्वभाव हो जाता है। गीताकी भाषामें अनासक्त स्थितिको अपनालेनेपर ही ‘ इन्द्रियनिग्रहकी दृढता ’ हो सकती है, उससे पहले नहीं। पहले इन्द्रियनिग्रह करके फिर अनासक्त बनना, मनोविज्ञानके विपरीत, अस्वाभाविक कल्पना है। अनासक्त मनके लिये यह बात असंभव है, कि वह कभी अपनी इन्द्रियोंको विषयभोगकी स्वतंत्रता दे दे। अनासक्त मनुष्योंमें इन्द्रियोंको विषयोंमें लिप्त न होने देनेका स्वभाव पाया जाता है। वे इस स्वभावको अत्यन्त सुखदायी मानकर, इसे अत्यन्त सरलतासे पालते रहते हैं। वे ‘साधक’ बनकर, इन्द्रियनिग्रह नामक कष्ट उठानेवाले, और सिद्धिसे वंचित रहनेवाले दुःखी मनुष्य नहीं होते।

अनासक्त मनुष्योंकी इन्द्रियां, स्वभावसे निगृहीत रहती हैं। इन्द्रियोंको निग्रह करनेका संग्राम छेडे रखना ‘इन्द्रियनिग्रह’ नहीं है। प्रत्युत इन्द्रियोंका स्वाभाविक सुखद निग्रह ही ‘ इन्द्रियनिग्रह ’ कहाता है।

तेईसवां प्रकरण

अनासक्तिका स्वरूप

अनासक्ति तथा आसक्ति शुभ अशुभ कर्मोंसे उत्पन्न नहीं होतीं।

अर्जुनको अनासक्त होकर युद्ध करनेका उपदेश दिया गया है। युद्ध-स्थलमें पहुंचे हुए प्रत्येक योद्धाके लिये युद्ध अनिवार्य था। उनमेंसे ज्ञानियोंको अनासक्त होकर और अज्ञानियोंको आसक्त दशामें रहकर युद्ध करना था। आसक्ति तथा अनासक्ति दोनों मनुष्यके मनमें स्वभावसे रहती हैं। मनुष्य कर्म करनेसे प्रथम ही आसक्ति या अनासक्तिको अपना-चुका होता है। आसक्ति या अनासक्ति किसी कर्मका परिणाम नहीं है। प्रत्युत शुभ अशुभ कर्म ही अनासक्ति या आसक्तिके परिणाम हैं। जब मनुष्य आसक्तिसे कर्म करता है, तब उसका कर्म फलाशारूपी कर्मबन्धनमें फंसाने-वाला ‘अशुभकर्म’ बन जाता है। जब मनुष्य अनासक्तिसे कर्म करता है तब उसका वह कर्म उसे कर्मबन्धनसे मुक्त रखनेवाला ‘ शुभकर्म ’ बन जाता है। इसी लिये कुरुक्षेत्रका युद्धरूपी एक ही कर्म अर्जुनके लिये शुभ और दुर्योधनके लिये अशुभकर्म हो गया था। कृष्णभगवान्‌के अर्जुनको युद्धकरनेका उपदेश देनेका यह अभिप्राय नहीं था कि कुरुक्षेत्र रणांगणमें लडाका बनकर

लडाई लडलेनेमें कोई महत्त्व है। किन्तु उनका अभिप्राय उसे लडाई लडते हुए अनासक्त स्थितिमें रहनेका महत्त्व बताना था। अनासक्त होजानेके पश्चात् मनुष्यजीवनके संपूर्ण आचरण 'शुभकर्म' बन जाते हैं। किसीके जीवनमें कुछ शुभकर्मों तथा कुछ अशुभकर्मोंका मिश्रित रूपमें रहना अस्वाभाविक और असंभव अवस्था है। आसक्तिसे किया हुआ संपूर्ण जीवनव्यवहार 'अशुभ-कर्म' कहाता है। अनासक्तिसे किया हुआ संपूर्ण जीवनव्यवहार 'शुभकर्म' बन जाता है।

गीताने किसी कर्मको साधनरूपमें करके अनासक्त बननेका उपदेश नहीं दिया।

अर्जुनके लिये गीताका अनासक्तिका उपदेश केवल युद्धप्रेरणा मात्र नहीं था। किन्तु उसके संपूर्ण जीवनको अनासक्तिरूपी ज्ञानमयी स्थितिमें आरूढ करानेके लिये था। गीतामें अर्जुनको अनासक्त होकर कर्म करनेका उपदेश दिया गया है। उसमें किसी कर्मको साधनरूपमें करके अनासक्त बननेका उपदेश कहीं नहीं है।

स्वरूपज्ञान ही अनासक्तिकी स्थिति है।

जिस प्रकार ज्ञानीसे सदाचार होता है, सदाचारसे कोई ज्ञानी नहीं बनता, इसी प्रकार अनासक्तिसे ही शुभकर्म होना संभव है। शुभकर्म नामके किन्हीं कर्मोंकी सूचीकी आवृत्ति करते रहनेसे कोई मनुष्य अनासक्त नहीं बन सकता। गीताका स्थितप्रज्ञका वर्णन इसी बातको स्पष्ट कर रहा है। अर्जुन तो स्थितप्रज्ञके आचरणोंकी सूची सुनना चाहता था, कि वह कैसे बोलता है? कैसे बैठता है और कैसे रहता है? परन्तु इसके उत्तरमें कृष्ण भगवान्ने अनासक्तिरूपी मानसिक स्थितिका वर्णन करके अर्जुनके प्रश्नके निरर्थक भागकी पूर्ण उपेक्षा की है। उनके अनासक्त कर्मनामसे किन्हीं आचरणोंकी सूची न गिनानेका यही अभिप्राय है कि अनासक्ति, शरीरसे किया जानेवाला कर्म नहीं है, और वह किसी कर्मका परिणाम भी नहीं है। इन्द्रियोंसे कुछ बात जानी जा सकती हैं, और कुछ आचरण किये जा सकते हैं; परन्तु वे सब बात या आचरण 'अनासक्ति' नहीं कहे जा सकते। अनासक्ति इन्द्रियातीत आत्मस्थिति है। इन्द्रियोंके रागद्वेषसे अप्रभावित रहनेवाले, तथा विषयभोगके बन्धनमें कभी न आने-वाले आत्मस्वरूपको पहचान लेना ही 'अनासक्ति' है। जबतक मनुष्य अपने

स्वरूपको नहीं पहचानेगा, तबतक उसका अनासक्त स्थितिसे परिचित होना असंभव बना रहेगा। गीतामें जहां अनासक्तिका वर्णन है, वहां यह स्पष्ट है, कि अनासक्ति इन्द्रियोंसे समझने तथा साधनोंसे प्राप्त करने योग्य अवस्था नहीं है। जब मनुष्य इन्द्रियोंसे स्वतंत्र होकर अपने स्वरूपको ढूंढेगा, तब वह देखेगा, कि वह स्वतंत्र हो चुका है। इन्द्रियोंके रागद्वेषसे स्वतंत्र हो जाना ही 'अनासक्त होना' है। मनुष्य अनासक्तिरूपी आत्मस्थितिमें आरूढ हो जानेके पश्चात् ही आसक्तिको, अपने स्वरूपसे भिन्न बन्धनकी स्थितिके रूपमें पहचान सकेगा।

आसक्त मनुष्य अनासक्तिको नहीं पहचानता। उसे दोनों स्थितियोंकी तुलनाका अवसर नहीं मिल सकता।

जिस मनुष्यके जीवनमें अनासक्तिसे आसक्तिकी तुलना करनेका अवसर आ जाता है, वही आसक्तिको पहचानता और उसे त्यागता है। अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य ही दोनों स्थितियोंको देखने और उनकी तुलना करनेमें समर्थ होता है। आसक्तिमें फंसा हुआ मनुष्य आसक्तिको नहीं पहचान सकता। क्योंकि वह अनासक्तिसे अपरिचित है।

अनासक्ति ही मनुष्यमनकी स्वाभाविक स्थिति है।

आसक्त मनुष्य अनासक्तिका दर्शन करनेमें असमर्थ होनेके कारण अंधा बनकर भोगासक्त जीवनमें सुख ढूंढता रहता है। परन्तु अनासक्त मनुष्य अनासक्तिके आनन्दमें आरूढ रहता है और आसक्तिको दुःखके रूपमें देखता रहकर, उसे स्वभावसे त्यागता रहता है। अनासक्त ज्ञानीपुरुष अपनेमें आसक्तिरूपी 'बन्धन' तथा अनासक्तिरूपी 'मुक्ति' दोनोंको एक साथ रहते हुए पाता है। जबतक 'बन्धन' और 'मुक्ति' दोनों किसीके सामने न हों, तबतक किसीको बन्धनको काटने और मुक्तिका स्वाद लेनेका अवसर मिलना संभव नहीं है। मनुष्यके मनमें 'आत्मा' तथा आत्मविस्मृतिरूपी 'माया' ये दोनों सदा विराजते रहते हैं। यह मन इन दोनोंमेंसे किसी एकको अपनाये रहनेमें स्वतंत्र है। इन दोनोंमेंसे किसी एकको अपनानेकी स्वतंत्रता ही 'मनुष्यके मनका स्वरूप' है। जब मनुष्य स्वरूपको भूल जाता है, तब स्वेच्छासे भोगबन्धनमें फंसकर, स्वरूपदर्शनसे वंचित रहता है। जब मन आत्मस्वरूपको त्यागना अस्वीकार कर देता है, तब उसके ज्ञाननेत्रके सामने, भोगासक्तिरूपी माया, स्वभावसे त्याज्य बन जाती है। आसक्तिका त्याज्य बन

जाना ही 'आसक्तिको पहचाननेका अभिप्राय' है। मनकी स्वभावसे बन्धनको त्यागते रहनेवाली स्वतंत्रता ही 'अनासक्तिका स्वरूप' है। अनासक्ति ही मनुष्यके मनका स्वभाव है। आसक्ति तो मनके स्वभावका विरोध करनेकी अवस्था है।

जब कोई विचारशील मनुष्य अपने आपको मायातीत तथा अनासक्त स्थितिका अधिकारी जान लेता है, अथवा अपनेको ही अनासक्त स्थितिके रूपमें समझ जाता है, तब विषयोंमें आसक्त न होना उसका स्वभाव हो जाता है। यह स्वभाव ही ' अनासक्तिका स्वरूप ' है।

चौबीसवां प्रकरण

संन्यास

बाह्य वेश आदिका परिवर्तन संन्यास नहीं है !

ज्ञानीकी अनासक्त मानसिक स्थिति ही ' संन्यास ' कहाती है। इस मानसिक स्थितिको न अपनानेवाले अज्ञानी लोग या तो कर्मत्याग करनेके भ्रान्त उद्यमको ' संन्यास ' समझते हैं, या अपने नाम, शरीर, वेश, संबन्ध, वासस्थान तथा जीवनव्यवहार आदिमें परिवर्तन करनेको ' संन्यास ' मानते हैं। ऐसे लोग ' संन्यास 'को भी ग्रहण करनेकी वस्तु समझते हैं। संन्यास ग्रहण करनेवालोंकी मानासिक दशाका निरीक्षण करनेसे इनकी भ्रान्ति स्पष्ट हो जाती है। निश्चय ही ये लोग अपनी वर्तमान परिस्थितिमें अशान्त होते हैं और उसे बदलकर शान्त हो जानेकी दुराशा करते हैं। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं कि ये लोग अशान्त होकर ही 'संन्यास' नामका बाह्य परिवर्तन करते हैं और 'संन्यास' लेकर भी अशान्त बने रहते हैं। इसका कारण यह है कि 'संन्यास' नामके किसी 'बाह्यवेश'में शान्ति नहीं छिपी रहती। किसीके वर्तमान 'नाम'में अशान्ति नहीं रहती और बदले हुए नवीन नाममें भी शान्तिका वास नहीं होता। शरीरकी वर्तमान आकृति अशान्तिका कारण नहीं होती और उसे बदल देनेसे भी किसीको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अपने पहननेके वस्त्रोंका स्वाभाविक स्वच्छ रंग अशान्तिसे भरा हुआ नहीं है और वस्त्रोंपर किसी नवीन रंगके चढ जानेसे शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती। अपनेसे संबन्ध रखनेवाले कुछ मनुष्य अशान्ति नहीं हैं और उनसे संबन्ध तोडकर अपने नवीन संबन्धी दूसरे मनुष्योंमें भी शान्ति नहीं है। वर्तमान वासस्थान अशान्तिका

पुंज नहीं है और न ही इस सृष्टिमेंसे किसी शान्त नामसे कहे जानेवाले स्थानको ढूंढ निकालना संभव है। जीवनव्यवहार या कुछ कर्तव्यकर्मोंको अशान्ति मानकर उन्हें त्यागकर किन्हीं दूसरे प्रकारके कर्मोंमेंसे शान्तिको ढूंढना भी व्यर्थ उद्यम है। वस्तुतः शान्ति या अशान्ति मनकी अवस्था हैं। परन्तु जब संन्यास ग्रहण करनेवाले अज्ञानी मनुष्य अपने अशान्त मनको अशान्त रहने देकर, अपने बाह्य नाम, रूप, व्यवहार आदिमें परिवर्तन करते हैं, तब इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये 'संन्यास' लेनेसे प्रथम भी अशान्त थे और 'संन्यास' लेकर भी अशान्त बने रहेंगे। जो मनुष्य संन्यास को ग्रहण करनेकी वस्तु समझते हैं, उनके 'संन्यास' लेनेसे उनके अज्ञानका परिचय मिलता है। जिसके पास 'संन्यास' नामकी मानसिक स्थिति वर्तमान होती है, उसे अपने जीवनमें 'संन्यास' नामक बाह्यविप्लव उपस्थित करनेवाली किसी घटनाके आवाहन करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ सकती।

संन्यास लेकर अपने कर्मक्षेत्रको घटाने, बढाने अथवा त्यागनेकी कल्पना अज्ञान है।

संन्यासग्रहण करनेवाले अज्ञानियोंको दो विचारोंमें विभक्त पाया जाता है। इनमेंसे कुछ तो संन्यास लेकर अपनेको कर्मत्याग करनेवाला मानते हैं, और कुछ अपने कर्मक्षेत्रको विस्तृत बनानेवाला तथा पहलेसे अधिक कर्मकरनेवाला कहते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि न तो कोई संन्यासको ओढकर कर्म-रहित अवस्थामें पहुंच सकता है और न कर्मको बढा सकता है। हम संन्यास लेकर अधिक कर्म कर सकेंगे, ऐसा कहनेवाले लोग संन्यास लेनेसे प्रथम जितना कर्म करते थे, संन्यास लेनेके पश्चात् भी उतना ही कर्म करपाते हैं। जिस प्रकार सेर भर जलके पात्रमें सेर भरसे अधिक जल नहीं समासकता, इसी प्रकार मनुष्यसामर्थ्यसे अधिक कर्म कभी नहीं कर सकता। मनुष्य प्रत्येक क्षण अनिवार्य रूपसे कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। वह जब जो कुछ करता है, वही उसके शरीरसे होनेवाला 'पूर्ण कर्म' होता है। कर्मको घटाने बढ़ाने या त्यागनेकी कल्पना करना भ्रान्ति है। मनुष्यका केवल इतना ही अधिकार है कि वह कर्म करते समय ज्ञानी या अज्ञानी इन दो मानसिक स्थितियोंमेंसे किसी एकको अपनाये रहे। ज्ञानी या अज्ञानी मनुष्य अपनी अपनी मानसिक स्थितिके अनुसार अपने शरीरोंसे जब जो काम करते हैं, वही उनके शरीरोंसे किया जानेवाला 'पूरा

काम' होता है। सारांश यही है कि जो कर्म अपने शरीरसे अनिवार्य रूपसे हो रहा है, उसे करते हुए ज्ञानी या अज्ञानी बने रहनेका ही मनुष्यका अधिकार है। ज्ञान या अज्ञान मनुष्यके मनमें ही रहता है। मनुष्य केवल यही करसकता है कि अपने मनको ज्ञानी या अज्ञानी बनाये रहे। इस दृष्टिसे मनुष्यका मन ही उसका वास्तविक कर्मक्षेत्र है। इस कर्मक्षेत्रको न तो कोई त्याग सकता है, न घटा सकता है, और न बढ़ा सकता है।

संन्यास ग्रहण करना अज्ञानी मनोदशाका परिचायक है। संन्यास ग्रहण करनेवाले अज्ञानी, अपने अपने भोग्य विषयोंके बन्धनोंमें बंधे होते हैं, और भोगानुकूल कर्म करते पाये जाते हैं। परन्तु वे अज्ञानके कारण कभी तो अपनेको ' कर्म छोडनेवाला संन्यासी ' और कभी ' अधिक कर्म करनेवाला संन्यासी ' मानलेते हैं।

संन्यासका वेश, संप्रदाय वासस्थानके परिवर्तन अथवा चौथेपनसे कोई संबंध नहीं है।

अज्ञानी लोगोंने साधारण मनुष्यके लिये चौथेपनमें, तथा विशेष मनुष्योंके लिये उनकी इच्छानुसार इससे प्रथम भी, उन्हें दूसरे मनुष्योंसे पृथक् करनेवाले संन्यासनामक बाह्यवेश धारण करनेकी व्यवस्था बनाली है। इस व्यवस्थाने ही संन्यासको सांप्रदायिक रूप दिया है। परन्तु संन्यासका, वेश, संप्रदाय वासस्थानके बदलने या चौथेपन आदिके साथ लेशमात्र भी संबन्ध नहीं है। कर्तव्यपालन करते हुए फलासक्ति न रखना ही ' संन्यास ' का अभ्रान्त रूप है। ' संन्यास ' वह मानसिक स्थिति है जिसे मनुष्यमात्रको अपनानेका अधिकार है और सबको सबसमय जिसकी आवश्यकता है।

भोगसे बचे रहना ही 'संन्यासकी स्थिति' है।

मनुष्यके मनमें आसक्ति तथा अनासक्ति दोनों स्थिति स्वभावसे रहती हैं। इन दोनोंमेंसे किसी एकको अपनाये रहनेकी स्वतंत्रता भी मनुष्यके अधिकारमें है। इस स्वतंत्रतासे कुछ मनुष्य तो भोगासक्त हो जाते हैं, और कुछ अनासक्त बनजाते हैं। भोगसे निवृत्त रहनेकी अनासक्त स्थिति ही ' संन्यासकी स्थिति ' है।

फलाशाका त्याग ही वास्तविक संन्यास है।

अनासक्त स्थितिका स्वाभाविक आनन्द मनुष्यको भोगबन्धनसे बचाता रहता है। भोगासक्त मनुष्य इन्द्रियभोग्य पदार्थोंमेंसे सुख ढूंढता है।

इन्द्रियोंको आकृष्ट करनेवाली वस्तुओंको, अपने भोगके साधनके रूपमें उपयोगमें लाकर, सुखी बने रहनेकी इच्छा करना ही भोग्यपदार्थोंमेंसे सुख ढूंढनेका अभिप्राय है। ऐसा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उससे इन्द्रियोंकी तृप्तिके अनुकूल परिणामको पाना चाहता है। अपने कर्मोंके फलके रूपमें इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी इच्छा करना ही 'अशान्तिका स्वरूप' है। यही 'फलाशा' है। यही 'कर्मबन्धन' कहाती है। भोगासक्त मनमें फलाशारूपी कर्मबन्धन अवश्य होता है। भोगबन्धनमें फंसा हुआ मनुष्य अपने कर्मके फलके रूपमें भोगानुकूलताको चाहता है। जो भोगबन्धन है, वही फलाशारूपी कर्मबन्धन है। इस बन्धनसे मुक्त रहना 'संन्यासकी स्थिति' है।

'संन्यासी' वही है जो कर्मत्याग करनेकी भ्रान्ति नहीं करता, किन्तु फलाशाको त्यागता है। संन्यासीके मनमें रहनेवाला अनासक्त स्थितिरूपी आनन्द, उसे कर्मत्यागकी भ्रान्ति नहीं करने देता। वह उससे जो कुछ कर्म कराता है, सब 'शुभकर्म' होता है। जो संन्यासी आनन्दकी स्थितिमें रहकर कर्म करता है, उसका कर्म आनन्दसे प्रेरित होता है और सदा आनन्दयुक्त रहता है। वह (संन्यासी) आनन्दकी स्थितिमें रहकर कर्म करनेवाला होनेके कारण, कर्मके परिणामके रूपमें सुखकी इच्छा नहीं करता। कर्मके परिणामके रूपमें सुखेच्छा करना 'दुःखकी स्थितिमें रहकर कर्म करना' है। कर्मका आनन्दसे युक्त होजाना ही 'कर्मकी सफलता' है।

भोगानुकूल कर्मका ग्रहण तथा भोगप्रतिकूल कर्मका त्याग ही वर्तमान सांप्रदायिक संन्यासका रूप है।

सच्चा 'संन्यासी' वही है जो अपने किसी शुभकर्मके परिणामके रूपमें किसी अनुकूल समझे हुए फलकी प्रतीक्षा नहीं करता। क्योंकि मनुष्यके जीवनका कर्महीन होना सर्वथा असंभव है, इस लिये संन्यासीके जीवनमें जीवनको सदा आनन्दयुक्त रहनेवाला कर्मस्रोत प्रवाहित होता रहता है। आनन्द ही संन्यासीका अनासक्तिरूपी 'ज्ञान' है। मनुष्यको दुःखातीत रखनेवाले इस ज्ञानका प्रत्येक मनुष्यको स्वाभाविक रूपसे अधिकार है। जो भोगासक्त अज्ञानी मनुष्य अपने इस स्वाभाविक अधिकारको अस्वीकार कर देता है, उसके मनमें आनन्द नहीं रहता; उसे तो सुखकी तृष्णाके रूपमें दुःख सताता रहता है। सदा सुखी न रहकर किसी अप्राप्त सुखको पानेके लिये कर्म करना 'फलाशाका स्वरूप' है। जो मनुष्य सुखाभावको हटानेके लिये कर्म करता है, उससे कर्म

करानेवाली इस भावनाको ही ' दुःख 'का नाम दिया जाना चाहिये। सुखदायी फलकी इच्छा करना ही 'दुःखका स्वरूप' है। यही 'फलासक्ति' कहाती है। इस भोगासक्ति रूपी दुःखसे प्रेरित होकर कर्म करनेवाले मनुष्यके मनमें, यही आशा बनी रहती है, कि यदि मेरे कर्मके फलके रूपमें भोगानुकूलता आगयी तो मैं सुखी हो जाऊंगा, और यदि प्रतिकूलता आगयी तो मुझे दुःखी होजाना पड़ेगा। जो भावना अनासक्त मनुष्यमें आनन्दकी पूर्णता बनकर उसे भविष्यके लिये अनपेक्ष, उदासीन, तथा निर्विकार बनाती है, जो मनुष्य उस भावनाको नहीं अपनाता, उसके मनमें सुखाशारूपी अपूर्णता दुःखका रूप धारण करके, उसे भविष्यत्का प्रतीक्षक, लोलुप तथा विकारग्रस्त बना देती है। भोगासक्त मनुष्यके मनमें फलाशारूपी लोलुपताके कारण स्वभावसे ऐसी भावना उदय होती रहती है, कि मुझे इस प्रकारके कर्म करने चाहियें, जिनके फलके रूपमें मुझे सुखकी अनुकूलता प्राप्त होसके, तथा वे कर्म त्याग देने चाहियें, जिनसे सुखकी प्रतिकूलता उत्पन्न होनेका भय हो। प्रतिकूल फलोंके भयसे कुछ कर्मोंको त्यागनेकी भावना ही भ्रान्त संन्यासीके कर्मत्यागका स्वरूप है। वह संन्यासी वास्तवमें कर्मत्याग नहीं करता, किन्तु भोगप्रतिकूल कर्मके स्थानपर दूसरे भोगानुकूल कर्म ग्रहण करलेता है। उसकी कर्मत्यागकी भ्रान्ति उससे भोगविरोधी कर्म छुडाती है और भोगानुकूल आलस्य रूपी कर्मको ' कर्मत्याग ' नाम देकर ग्रहण करादेती है। यह भोगासक्त मनुष्योंकी कर्मत्यागकी भ्रान्ति ही ' प्रचलित संन्यास ' के नामसे विख्यात है। इसने कुछ मनुष्योंको साधारण मनुष्यसमाजसे पृथक् करदिया है और 'संन्यासी सम्प्रदाय' की सृष्टि करडाली है।

संन्यास बाह्य आचरण नहीं है। सब मनुष्य सब समय, और सब अवस्थाओंमें संन्यासी होसकते हैं और होना चाहिये।

प्रचलित संन्यासकी कल्पना करनेवालोंने यह स्वीकार करलिया है कि विषयासक्ति मनुष्यकी स्वाभाविक अवस्था है, तथा संपूर्ण कर्म विषयासक्तिको चरितार्थ करनेके लिये ही किये जाते हैं। इन लोगोंके शब्दोंमें मनुष्यका कर्म करना उसकी विषयासक्तिकी अचूक सूचना है। इनके मन्तव्यानुसार जबतक साधारण मनुष्यका शरीर कर्म करने योग्य रहेगा, तबतक वह विषयासक्त रहने और कर्म करनेके लिये विवश रहेगा। परन्तु जब उस (साधारण मनुष्य)का शरीर अकर्मण्य हो जायगा, तब चौथेपनमें

जाकर उसका संन्यासी बनसकना संभव और सरल होगा। यदि कोई असाधारण मनुष्य इससे प्रथम, गृहस्थ, वानप्रस्थ, या ब्रह्मचर्यकी अवस्थामें कर्मत्याग कर सकेगा तो उसे उस समय भी 'संन्यासी' कहा जा सकेगा। इन लोगोंके मन्तव्यमें शरीरके शिथिल होनेकी स्थिति ही 'सर्वसाधारणके लिये संन्यासके अनुकूल स्थिति' है। इन लोगोंने कर्मत्यागकी भ्रान्त अवस्थाको संन्यास माननेके कारण ही संन्यासको इस प्रकारके बाह्य आचरणका रूप दिया है। परन्तु संन्यास बाह्य आचरण नहीं है, वह तो 'ज्ञानकी स्थिति' है। वह मनुष्यमात्रके लिये अत्यावश्यक है तथा सब अवस्थाओंमें और सब समय अपनाने योग्य है। बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सबको ही संन्यासी होना चाहिये। जीवनके प्रत्येक क्षण कर्म करते हुए अनासक्त बने रहना ही वास्तविक 'संन्यास' है। ये भ्रान्त लोग अपने मनमें इस अनासक्ति नामक उदार अवस्थाको देखनेमें असमर्थ हो गये हैं; इसीसे ये विषयासक्तिको मनुष्यका स्वभाव मान बैठे हैं। इसी कारणसे इन्होंने कर्मत्यागरूपी काल्पनिक संन्यासकी कपटमयी स्थितिकी कल्पना की है। गीताने 'मिथ्याचार' शब्दके द्वारा इस प्रकारकी सब कल्पनाओं तथा आचरणोंको निन्दित ठहराया है।

गीताने संन्यासको 'कर्मसंन्यास' नहीं कहा।

गीतामें वर्णित संन्यास 'कर्मसंन्यास' नहीं है। वह 'फलसंन्यास' नामकी ज्ञानमयी स्थिति है। कोई भी विवेकी उस ज्ञानमयी स्थितिको न तो चौथेपनके लिये स्थगित कर सकता है और न उसे पानेके लिये स्वाभाविक अनिवार्य तथा अत्याज्य कर्मोंको त्यागनेकी भ्रान्त चेष्टा कर सकता है।

संन्यास किसी अन्य उच्च अवस्थाका साधन नहीं है।

संन्यासको किसी काल्पनिक उन्नत अवस्थामें पहुंचानेवाला मार्ग समझना भी उचित नहीं है। संन्यास ज्ञानकी स्थिति होनेके कारण स्वयं ही उन्नत तथा आराध्य अवस्था है। अपनी स्वतंत्र विचार बुद्धिसे संन्यासकी स्थितिको अपनानेवाला ज्ञानी, ज्ञानी बने रहने रूपी कर्मको निरन्तर करता ही रहता है। इसलिये उसके सामने कर्मको त्यागने या अपनानेके दो विरोधी प्रश्न कभी नहीं आते। ज्ञानी और अज्ञानी सबको ही कर्म अनिवार्यरूपसे करना पड़ता है। ज्ञानी कर्म करतेसमय ज्ञानी बना रहता है, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म करता रहता है और अज्ञानी कर्म करतेसमय अज्ञानी बना रहता है, अर्थात् अज्ञानपूर्वक कर्म करता रहता है। इस लिये कर्मको त्यागने रूपी संन्यासके द्वारा किसी मुक्ति नामवाली

उच्चतर काल्पनिक अवस्थाको पानेकी कल्पना भ्रान्ति है। अनिवार्य कर्मोंको करते हुए ज्ञानी बने रहना ही 'मुक्ति' नामकी स्थिति है। इस स्थितिको 'संन्यास' या 'योग' चाहे जिस नामसे कहा जा सकता है। फलाशा-रहित होकर कर्म करते रहना ही 'संन्यास' है और यही 'कर्मयोग' है। नाम दो होनेपर भी ये दोनों स्वरूपमें एक हैं। इनको इनसे किसी उच्च स्थितिमें पहुचानेवाले दो स्वतंत्र मार्ग समझना स्पष्ट रूपसे भ्रान्ति है। वस्तुतः 'संन्यास' तथा 'कर्मयोग' ये दोनों एक ही अवस्थाके दो नाम हैं।

पच्चीसवां प्रकरण

निष्काम कर्म तथा चित्तशुद्धि

शुद्धि या अशुद्धि मनके धर्म हैं, कर्मके नहीं।

यह सिद्धान्त बहुधा सुननेमें आता है कि चित्तशुद्धिके लिये मनुष्यको निष्काम कर्म करना चाहिये। प्रायः मनुष्य जिन, यज्ञ, दान, जप, तप, परोपकार, रोगिपरिचर्या, दरिद्रसहायता, समाज या राष्ट्रकी सेवा आदि कर्मोंको अच्छा समझकर करते हैं, उनको वे 'निष्काम कर्म' कहते हैं और उनके परिणामके रूपमें अपने चित्तको शुद्ध हुआ देखनेकी आशा करते हैं।

इस मन्तव्य पर निम्नरीतिसे विचार किया जाना चाहिये कि जिस चित्त-शुद्धिके लिये निष्काम समझे हुए कुछ कर्म किये जाते हैं, वह 'शुद्धि' क्या है? तथा उसके विपरीत 'अशुद्धि' किसे कहा जाता है? गीतामें **प्रजहाति यदा कामान्** तथा **विहाय कामान् यः सर्वान्** आदि श्लोकोंमें कामनाओंको त्याज्य बताकर, उनको 'अशुद्धता' कहा है तथा मनकी निष्काम स्थितिको 'चित्तकी शुद्धि' स्वीकार किया है। क्योंकि चित्तका शुद्ध होना ही 'निष्कामता' का स्वरूप है, इससे मानना पड़ता है कि निष्कामता चित्तका धर्म है, कर्मका नहीं। इसलिये किसी भी कर्ममें अशुद्ध चित्तको शुद्ध बनानेका सामर्थ्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थात् 'निष्काम' यह विशेषण कर्मके साथ नहीं लगाया जा सकता। यह विशेषण केवल मनके ही साथ लगाया जा सकता है। कामना करना या उसे त्यागना केवल मनका काम है, कर्मका नहीं। क्या ऐसा होना कभी संभव है कि कर्ताका चित्त निष्काम न होनेपर भी परोपकार, रोगिचर्या, दरिद्रसाहाय्य,

समाज तथा राष्ट्रकी सेवा आदि कर्मोंको 'निष्कामकर्म' कहा जा सके ? क्या इस प्रकारके कर्म स्वयं निष्काम होनेका सामर्थ्य रखते हैं ? क्या इस संबन्धमें यह सचाई नहीं है कि यह निष्कामता कर्मका धर्म नहीं है प्रत्युत कर्ताके मनसे संबन्ध रखनेवाली वस्तु है ? यदि कर्ताके मनकी स्थिति निष्काम न हो तो कोई भी अच्छे समझे हुए कर्म 'निष्काम कर्म' नहीं हो सकते। कर्ताके मनकी स्थिति निष्काम हो तो उसका संपूर्ण जीवनव्यवहार 'निष्काम' हो जाता है, और यदि कर्ताके मनकी स्थिति सकाम हो तो उसका संपूर्ण जीवन व्यवहार 'सकाम' हो जाता है। किसी मनुष्यके जीवनमेंसे कुछ कर्मोंका 'निष्काम' होना तथा शेष कर्मोंका 'सकाम' होना संभव नहीं है।

पहले मन शुद्ध होगा तब ही शुभकर्म होसकेगा। शुभकर्म करके मन शुद्ध नहीं हो सकता।

मनुष्यके जीवनमें चोरी आदि कुछ ऐसे कर्म देखे जाते हैं जो मनकी सकाम स्थितिसे ही हो सकतेहैं, और कुछ ऐसे कर्म भी पाये जाते हैं, जिनको निष्काम तथा सकाम दोनों स्थितियोंवाले मनुष्य कर सकते हैं। ऐसे कर्मोंके बाह्य रूपमें कोई अन्तर नहीं होता। उदाहरणके रूपमें चोरीसे निवृत्त रहनेरूपी कर्मको चोर और सन्त दोनों अपने जीवनव्यवहारमें ला सकते हैं। केवल चोरी न करने रूपी कर्मको देखकर किसीको सन्त नहीं माना जासकता। सन्त निष्काम स्थितिमें रहकर स्वभावसे जीवनभर चोरीसे बचता है। क्योंकि चोरके मनमें सदा निष्काम स्थितिसे विपरीत सकाम स्थिति रहती है, इस लिये वह जब चोरी करनेमें अपनी कामनाको तृप्त होता हुआ देखता है, तब चोरी करता है, और जब चोरीसे निवृत्त रहनेमें अपनी कामनाको तृप्त होता देखता है, तब वह भी सन्तके समान ही चोरी करनेसे बचता हुआ पाया जाता है। चोरी जैसे कर्मोंको इस अभिप्रायसे 'सकाम कर्म' कहा जा सकता है कि ऐसे कर्मोंका सकाम स्थितिसे निश्चित संबन्ध प्रतीत होजाता है। परन्तु चोरीसे निवृत्त रहना-रूपी कर्म चोर और सन्त दोनोंके व्यावहारिक जीवनमें रह सकता है, इसलिये चोरी न करनेको 'निष्काम कर्म' नहीं कहा जा सकता। चोरी न करनेको निष्काम कर्म कहना स्पष्ट रूपसे भ्रान्ति है। कारण यही है कि निष्कामता कर्मका धर्म नहीं है, प्रत्युत मनका धर्म है। इसलिये सकाम स्थितिको अपनानेवाले किसी मनुष्यने चाहे अपने जीवनव्यवहारमें निष्काम कर्म

नामवाला कोई बाह्य आचरण करलिया हो तब भी उसके आचरणको 'निष्काम कर्म' नहीं कहा जा सकता। यद्यपि मनकी निष्काम स्थितिमें रहकर किये हुए कर्मको 'निष्काम कर्म' नाम दिया जा सकता है, परन्तु उससे भी निष्काम कर्मसे चित्तशुद्ध होनेके सिद्धान्तका समर्थन नहीं होता। प्रत्युत उसके विपरीत यह सिद्धान्त निश्चित करना पड़ता है कि पहलेसे चित्त शुद्ध होनेपर ही 'निष्काम कर्म' किया जाना संभव है, उससे पूर्व नहीं।

किसी कर्ममें अशुद्ध मनको शुद्ध करसकनेकी शक्ति नहीं है।

यदि अशुद्ध चित्तवाले मनुष्यके चित्तको शुद्ध करनेके लिये कुछ निष्काम कहे जानेवाले कर्म छांटे जायंगे तो उन कर्मोंमें चित्तकी अशुद्धिका विरोध करनेवाली शक्ति माननी पड़ेगी। परन्तु इस प्रकारका कोई कर्म होना संभव नहीं है। कारण यह है कि कामना ही चित्तकी अशुद्धि है, और वह मनका धर्म है। कामना जिस मनका धर्म है निष्कामता भी उसी मनका धर्म है। जिसका चित्त अशुद्ध है, वह कामनाविरोधी कर्मोंको अपनानेसे पहले ही यह सोचकर उन्हें त्याग देगा कि ये कर्म मुझे हानि पहुंचायेंगे। उसके मनमें बैठी हुई कामनारूपी अशुद्धता यज्ञ, दान, जप, तप, परोपकार, रोगिसेवा, दरिद्रसेवा, समाजसेवा तथा राष्ट्रसेवा आदि कर्मोंको स्वीकार करनेसे प्रथम ही उसे यह सुझायेगी कि तुम 'यज्ञ' नामका व्यर्थ कर्म करोगे तो हानि उठाओगे, 'दान' करोगे तो अपनेको भोगसाधनोंसे वंचित कर लोगे, 'तप' करोगे तो इस शरीररूपी भोगसाधनको कष्ट पहुंचाओगे, 'परोपकार' करोगे तो दूसरोंके लिये अपने स्वार्थका बलिदान करोगे, रोगी, दरिद्र, समाज तथा राष्ट्रकी सेवा करोगे तो स्वयं हानि उठाओगे। जिन अशुद्ध चित्तवालोंके पास ऐसा विद्रोही मन होगा क्या वे क्षणभरके लिये भी किसी निष्काम समझे हुए कर्मको अपना सकेंगे? नहीं कभी नहीं। ऐसे मनुष्य किसी कर्मको उसी समय स्वीकार करते हैं, जब वे उसके परिणामके रूपमें अपनी कामना तृप्तिकी अनुकूलता देखलेते हैं। उनके चित्तकी कामनारूपी अशुद्धता ही उन्हें कर्म करनेकी स्वीकृति देनेवाली शासिका बन जाती है। अशुद्ध चित्तवाले मनुष्योंसे निष्काम कर्म नामके किसी कर्मका अनुष्ठान नहीं होसकता। ऐसे पुरुषोंका चित्त निष्काम समझे हुए कर्म करते समय भी अशुद्ध रहता है। उनका चित्त सब समय उस कर्मसे मिलनेवाले भोगानुकूल फलोंकी ओर ताकता रहता है। ऐसी मनोदशामें निष्काम समझे हुए कर्म, उसके चित्तकी

अशुद्धताका विरोध करनेवाले न रहकर, उसीके समर्थक बनजाते हैं। तब उन्हें 'निष्काम कर्म' न कहकर 'सकाम कर्म' कहना पडता है। ऐसे सकाम आचरणोंसे इनसे विपरीत स्वभाव रखनेवाली निष्काम स्थितिके उत्पन्न होनेकी आशा नहीं की जा सकती। इन सब दृष्टियोंसे विचार करनेपर यह स्वीकार करना पडता है, कि अशुद्ध चित्तवाले पुरुषसे 'निष्काम कर्म' नामके किसी कर्मका हो सकना कदापि संभव नहीं है। अशुद्ध चित्तवालोंके हाथोंसे किये जानेवाले कर्म चाहे जितने महान् दीखते हों, वे वास्तवमें 'सकाम' अर्थात् अशुद्ध कर्म होते हैं।

शुद्ध मन हो जानेपर ही शुभ कर्म होता है।

शुद्धचित्तवाला पुरुष अनासक्तिसे जिस कर्मको अपनाता है, वह देखनेमें चाहे जितना छोटा हो, वही 'निष्काम कर्म' होता है। इसी सत्यसिद्धान्तको गीतामें **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** इस श्लोकमें स्पष्ट किया है। अनासक्त होकर किये जानेवाले प्रत्येक कर्मको अज्ञानरूपी महाभयसे त्राण करनेवाला 'निष्काम कर्म' कहा जा सकता है। परन्तु संसारमेंसे ऐसे किसी निष्काम कर्मको ढूंढ निकालना संभव नहीं है, जो किसी पुरुषके आसक्तिपूर्ण अशुद्ध चित्तको शुद्ध कर सकता हो।

छब्बीसवां प्रकरण

लोकसंग्रह

लोकसंग्रह शब्दके सच्चे तथा भ्रान्त अर्थ।

अर्जुनसे 'लोकसंग्रह'के संबन्धमें केवल इतना कहा गया है कि तुम्हें 'लोक-संग्रह'को देखकर भी कर्म करना चाहिये। इन शब्दोंका वास्तविक अर्थ तो यह है कि इस सृष्टिव्यवस्थामें कर्महीनता नामकी किसी स्थितिका होना संभव नहीं है, इस लिये तुम्हें कर्मत्यागकी भ्रान्ति न करनी चाहिये। परन्तु इस 'लोक-संग्रह' शब्दके जिस अर्थने मनुष्योंको भ्रान्तिमें डाला है, वह यह है, कि ज्ञानीको अज्ञानियोंके कल्याणका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेलेना चाहिये, तथा अपने लिये कर्म करना अनावश्यक होनेपर भी, अज्ञानियोंसे कर्म कर-वानेके लिये, स्वयं कर्म करके उनके सामने कर्म करनेका उदाहरण रखना चाहिये। इस कल्पनामें 'लोक' शब्दका अर्थ अज्ञानी और 'संग्रह' शब्दका अर्थ उनको अपना अनुगामी बनाना माना गया है।

यह कल्पना अनुचित है कि ज्ञानीको अपने कल्याणके लिए कर्म करना स्वाभाविक न होने पर भी, अज्ञानियोंके कल्याणके लिए कर्म करना चाहिए।

ज्ञानी अज्ञानीके कल्याणके लिये कर्म करे, इस उपदेशका यह अभिप्राय मानना पडता है कि अपने कल्याणके लिये कर्म न करना, ज्ञानीकी स्वाभाविक अवस्था है। ज्ञानीको केवल अज्ञानियोंके लाभके लिये अपने स्वभावको छोड देना चाहिये और कर्म करनेकी अस्वाभाविक स्थितिको अर्थात् अज्ञानताको अपनालेना चाहिये। जब किसी मनुष्यसे स्वभावविरोधी कर्म कराना चाहा जाता है, तब ही उस कर्मको करानेवाले उपदेशकी आवश्यकता पडती है। स्वभावानुकूल आचरणोंको तो मनुष्य उपदेशके बिना स्वयं ही करता है। उसके लिये किसी उपदेशकी आवश्यकता नहीं होती। अज्ञानियोंको अपने पीछे चलानेके लिये ज्ञानियोंको कर्म करना चाहिये इस कल्पनासे यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है, कि यह कल्पना करनेवाला कर्म करनेको ज्ञानीका स्वभाव नहीं मान रहा। उसकी दृष्टिमें कर्म करना ज्ञानीका स्वभाव नहीं है। इस अवस्थामें ज्ञानीको उसके स्वभावसे विरुद्ध कर्म करनेका उपदेश देना उसे अज्ञानी बननेको कहनेके बराबर है। इस कल्पनामें यह मानलिया गया है कि अज्ञानीका कल्याण कर्म करनेमें है, उसका कर्मत्याग मूर्खता है, निन्दनीय है, तथा अनर्थ और अव्यवस्था फैलानेवाला है। इसके विरुद्ध ज्ञानीका कल्याण कर्म न करनेमें है तथा उसका कर्मत्याग प्रशंसनीय स्थिति है। इस कल्पनामें यह भी मानलिया गया है कि ज्ञानीको अपना कल्याण छोडकर, अर्थात् अपना अकल्याण करके, अज्ञानियोंके कल्याणमें लगना चाहिये। जबकि अज्ञानीका कल्याण ज्ञानीके कल्याणसे पृथक् हो तब ही ज्ञानीको अज्ञानियोंके कल्याणके लिये, अपने स्वाभाविक जीवनव्यवहारसे पृथक् उद्योग करनेका उपदेश देनेकी आवश्यकता मानी जासकती है, अन्यथा नहीं। परन्तु मनुष्यमात्रका कल्याण एक ही बातमें होना संभव है; इसलिये ज्ञानी और अज्ञानीके कल्याणमें कोई भेद नहीं है। जिस बातमें ज्ञानीका कल्याण है, उसी बातमें अज्ञानीका भी कल्याण है। ज्ञानीके कल्याणमय जीवनके संपूर्ण स्वाभाविक जीवनव्यवहार मनुष्यमात्रके लिये स्वभावसे ही कल्याणकारी होते हैं। इसलिये ज्ञानीको ऐसा उपदेश करना विचारशीलता नहीं है कि तुम अपने स्वाभाविक कल्याणमय जीवनव्यव-

हारको तो छोड दो और अज्ञानियोंको कल्याणका मार्ग दिखानेके लिये भिन्न प्रकारके आचरणोंको अपनालो ।

ज्ञानी आत्मस्थितिकी रक्षाके लिए स्वभावसे कर्मरत रहता है।

ज्ञानी या अज्ञानी दोनों मनुष्य हैं। ज्ञानी बने रहनेमें ही मनुष्यमात्रका कल्याण है। ज्ञानी, ज्ञानी बना रहे, यही उसका मनुष्यमात्रका कल्याणकारी आचरण करना है । वह ज्ञानी बना रहकर ही मनुष्यमात्रका कल्याण करता रहता है। ज्ञानीको अपने इस स्वभावसे च्युत नहीं किया जा सकता। जो ज्ञानीको इस स्वभावसे च्युत करनेवाला उपदेश देता है, वह दूसरे शब्दोंमें उससे अज्ञानी बननेको कहता है। 'लोकसंग्रह' शब्दका इस प्रकारका अर्थ लगाना, विचारशीलताके अभावकी सूचना देता है। ज्ञानी, ज्ञानी बना रहकर, आत्मकल्याण या आत्मरक्षा करता रहता है। आत्मस्थितिरूपी ब्राह्मी स्थितिमें आरूढ हुआ ज्ञानी आवश्यकता पड़नेपर समग्र जगत्को त्यागनेके लिये उद्यत हो जाता है। ज्ञानी जो कुछ करता है सब आत्मरक्षाके लिये करता है । आत्मरक्षा ही ज्ञानीके आचरणोंकी अव्यर्थ कसौटी है। ज्ञानी अपने आचरणोंको इस कसौटीपर कस लेता है और उन्हें निर्विकार तथा निरपेक्ष भावसे करता है । ज्ञानी इस चिन्तामें कभी नहीं पडता कि दूसरे मनुष्य मेरे आचरणोंको अपनायेंगे या नहीं ? इस चिन्तामें न पड़नेवाला ज्ञानी जब किसी आचरणको करता है तब उसके अभ्रान्त आचरणसे अपने आप ही जगत्का कल्याण होता रहता है ।

ज्ञानी दूसरोंका मार्गदर्शक बननेका अभिमान नहीं करता।

ज्ञानी पुरुष जगत्की ओर देखकर उसके कल्याण अकल्याणका निर्णय नहीं करता, किन्तु अपनी ओर देखकर अपने कल्याण अकल्याणका निर्णय करता है। वह अपने कल्याण अकल्याणके दृष्टिकोणसे ही जगत्के कल्याण अकल्याणका निर्णय कर लेता है। वह अपने कल्याणको ही संपूर्ण कर्तव्योंकी कसौटी बना लेता है, और केवल अपनेमें पूर्ण बने रहनेको ही अपनी धन्यता मानता है। ज्ञानीका यह काम नहीं है कि वह अपने आपेसे बाहर निकलकर, जगत्के कल्याण अकल्याणकी चिन्तामें फंसकर, अशान्त बने । उसका कारण यह है कि जिस बातमें अज्ञानी संसार कल्याण समझता है, ज्ञानी उस बातमें कल्याण नहीं समझता। ज्ञानीके कल्याण और अज्ञानीके माने हुए कल्याणमें आकाशपातालका अन्तर रहता है। ज्ञानी अपनी

स्थितिसे भ्रष्ट होकर अज्ञानी जगत्के प्रवाहके साथ कदापि नहीं बहता। वह अपने आपको कदापि जगत्के मार्गदर्शकके रूपमें अथवा जगत्का कल्याण-कारी बननेवालेके रूपमें उपस्थित नहीं करता। उसे जगत्से अपने कल्याणकारी आचरणोंका प्रमाणपत्र लेनेकी आवश्यकता कदापि नहीं पड़ती।

कोई भी मनुष्य अज्ञानियोंका अनुयायी बने विना उनका मार्गदर्शक नहीं बन सकता।

अज्ञानी संसार उसीको अपना कल्याणकारी मानता है, जो उसे उसीकी मनोदशाके अनुकूल मार्ग दिखानेवाला होता है। अज्ञानी उसीको अपना मार्ग-दर्शक बनाते हैं जो उनके समझे हुए कल्याणको ही उनका कल्याण कहता है। जो उनके अज्ञानका विरोध करता है वे उसे कदापि अपना मार्गदर्शक नहीं मानते। तात्पर्य यही है कि अज्ञानी-जगत्का अनुयायी बने विना उसका मार्गदर्शक बनना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। इसके साथ ही ज्ञानीके लिये भी यह संभव नहीं है कि वह अज्ञानियोंका कल्याण करनेके लिये स्वयं अज्ञानी और उनका अनुयायी बने। यह सर्वथा निश्चित है कि ज्ञानी अज्ञानियोंके कल्याण अकल्याणके दृष्टिकोणको कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि अज्ञानीका कल्याण अकल्याण, भौतिक सुखदुःखके दृष्टि-कोणसे माना जाता है; और ज्ञानीका कल्याण अकल्याण, मानसिक उत्थान पतनके दृष्टिकोणसे निर्णीत होता है। अज्ञानी लोग भौतिक सुखदुःखके बन्धनमें फंसकर कभी तो कर्म करते हैं और कभी कर्मत्याग करनेका भ्रान्त उद्यम करते पाये जाते हैं।

ज्ञानीको दूसरोंके मार्गदर्शक बननेके लिए कर्म करना चाहिए, यह कहना ज्ञानीके स्वभावसे अपरिचय प्रकट करना है।

अज्ञानीको कर्ममें लगाये रखनेके लिये ज्ञानीको कर्म करना चाहिये, ऐसी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। यह कल्पना ज्ञानीके स्वभावके अपरिचयके कारण की गयी है। ज्ञानीका स्वभाव ही ऐसा है कि वह कर्मत्यागरूपी भ्रान्तिमें कभी नहीं फंसता। वह ज्ञानमयी स्थितिमें रहकर स्वभावसे कर्मरत रहता है। परन्तु वह यह सब किसी दूसरेके लिये नहीं करता; प्रत्युत अपने लिये अर्थात् अपने ही दृष्टिकोणसे करता है।

अज्ञानियोंको अपने पीछे लगानेमें ज्ञानिजीवनकी सार्थकता नहीं है।

'ज्ञानीको लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये' यदि इसका ऐसा अर्थ

किया जायगा कि अज्ञानी जगत्को अपना अनुयायी रखनेके लिये ज्ञानीको कर्म करना चाहिये, तो इसका यह अभिप्राय होगा कि जबतक ज्ञानी अज्ञानियोंको अपने साथ नहीं रखेगा तबतक उसका जीवन व्यर्थ बना रहेगा। ज्ञानियोंके जीवनकी सार्थकता अज्ञानियोंके साथी बने रहनेमें है, इस कल्पनामें सार नहीं है।

चातुर्वर्ण्यव्यवस्थाके नाशके डरसे ज्ञानीको कर्म करना चाहिये, इस कल्पनासे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह वर्णव्यवस्था अज्ञानियोंके लिए है। क्योंकि ज्ञानीके आचरणसे इसके नाश हो जानेका भय है।

इस युक्तिके आधारपर यह भी कहा जाता है कि ज्ञानी हो जानेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र समझे हुए मनुष्योंको अपने आचरणोंको इस लिये नहीं छोड़ना चाहिये कि उनके ऐसा करनेसे 'चातुर्वर्ण्य व्यवस्था' नष्ट हो जायगी और समाजमें अव्यवस्था फैल जायगी। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था क्या है? उसका नाश क्या है? तथा उसके साथ ज्ञानीका क्या संबन्ध है? इन सब बातोंपर विचार किया जाना चाहिये। मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार भिन्न भिन्न प्रकारके कर्म अपनालेते हैं। यदि इन अपनाये हुए कर्मोंकी भिन्नतासे ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि पृथक् पृथक् वर्णका बन जाता हो, तब तो चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाके नष्ट होनेका अवसर कदापि नहीं आसकता। क्योंकि सब मनुष्य प्रत्येक समय कर्म करते रहते हैं; इस लिये कर्मोंकी विभिन्नता और चातुर्वर्ण्यव्यवस्था कदापि नष्ट नहीं हो सकती। जो मनुष्य ज्ञानियोंको अज्ञानियों जैसे आचरणोंका उपदेश इस लिये देता हो, कि ऐसा करनेसे वर्णव्यवस्था नष्ट हो जायगी, वह यह मान रहा है कि यदि अज्ञानियोंने ज्ञानियोंके आचरणोंको अपनालिया तो यही वर्णव्यवस्थाके नष्ट हो जानेकी अवस्था होगी। ऐसे लोगोंकी समझके अनुसार मनुष्यसमाजमें ज्ञानकी स्थितिका आजाना ही वर्णव्यवस्थाके नाशकी स्थिति है। यह सिद्धान्त भी अज्ञानमूलक होनेसे सर्वथा उपेक्षणीय है।

अज्ञानी कभी ज्ञानीके नेतृत्वमें नहीं आ सकेंगे। वे सर्वदा अपना स्वार्थ ढूंढते हैं। वे स्वार्थबुद्धिके अनुकूल आचरणोंको अपनाते हैं।

दूसरोंको अपने पीछे चलाकर उनका कल्याण करनेकी भावना रखनेवाले मनुष्य मनमें यह समझते हैं, कि जिन्हें हम अपने पीछे चलाना चाहते हैं

उनमें अपना कल्याण समझनेकी बुद्धि नहीं है, यदि होती, तो ये हमारे पीछे क्यों चलते ? तब तो ये अपनी कल्याण दिखानेवाली बुद्धिके अनुगामी होते। जो मनुष्य इस बातको जानते हुए भी अपना कल्याण न समझनेवाले अज्ञानियोंसे अपने पीछे चलनेकी आशा करते हैं, वे निश्चित रूपसे भ्रान्तिमें हैं। उन्हें यह समझना चाहिये कि जो विपरीत बुद्धि अज्ञानियोंको अपना कल्याणकारी आचरण करनेमें असमर्थ बना रही है, उनकी वह विपरीत बुद्धि यदि हमारे पीछे चलना कल्याणकारी होगा तो उन्हें हमारे पीछे कैसे चललेने देगी ? जब हमारा आचरण अज्ञानियोंकी विपरीत बुद्धिके अनुकूल होगा अर्थात् उनकी दृष्टिमें कल्याणकारी होगा तब ही वे हमारे पीछे चल सकेंगे और तबही हम उन्हें अपने पीछे चला सकेंगे। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अज्ञानी लोग हमारे जिस आचरणको अपनायेंगे, उसे हमारा आचरण होनेसे नहीं अपनायेंगे, किन्तु अपनी विपरीत बुद्धिके अनुकूल होनेसे ही अपनायेंगे। दूसरोंके पीछे चलनेवाले अज्ञानी मनुष्य तब ही दूसरोंके पीछे चलते हैं, जब ऐसा करनेमें अपने स्वार्थकी अनुकूलता देखते हैं। वे ज्ञानियोंके बाह्य आचरणोंके अनुकरणको महत्त्वकी बात समझें और उन्हें अपनालें, यह अस्वाभाविक स्थिति है। अज्ञानी जो कुछ करेंगे उसमें अपने किसी भौतिक लाभकी संभावना देखकर करेंगे। यदि उनकी दृष्टिमें कर्म करना भौतिक दृष्टिसे लाभदायक होगा तो वे स्वेच्छासे कर्म करते रहेंगे। तब उन्हें कर्म करनेके लिये किसी लोकसंग्रहीके पीछे चलनेकी आवश्यकता नहीं होगी। यह संसार लोकसंग्रही लोगोंका अनुकरण करके या उनके कहनेसे कर्म नहीं कर रहा है; प्रत्युत अपने स्वभावसे प्रेरित होकर कर्म कर रहा है।

लोकसंग्रहका प्रचलित अर्थ श्रीकृष्णको अभिप्रेत नहीं हो सकता।

कृष्ण भगवान् निश्चितरूपसे यह बात जानते थे कि अर्जुनके गांडीव छोड़देनेपर भी सारा संसार उसकी देखादेखी अपने कर्मको कदापि नहीं छोड़ सकता; इस लिये गीताके 'लोकसंग्रह' शब्दसे कृष्ण भगवान्‌का यह अभिप्राय निकालना, सर्वथा सारहीन कल्पना है कि हे अर्जुन! कहीं लोग तुम्हारा अनुकरण करके कर्म न छोड़ बैठें इस लिये तुम्हें युद्ध नहीं त्यागना चाहिये।

दूसरोंको अपने पीछे चलानेवाला 'लोकसंग्रहार्थी' तथा उसके पीछे चलनेवाला 'लोक' दोनों स्वार्थी और अज्ञानी होते हैं।

दूसरोंको अपने पीछे चलानेकी भावना रखनेवाले वास्तवमें दूसरोंके

कल्याणकी भावना नहीं रखते; किन्तु अपने ही स्वार्थपर दृष्टि रखनेवाले होते हैं। वे जब दूसरोंको अपने पीछे चलानेकी इच्छा करते हैं, तब स्वयं ही दूसरोंके पीछे चलना स्वीकार कर चुकते हैं। स्वयं दूसरोंके अनुयायी बने-विना, उन्हें अपने अनुयायी बना सकना संभव नहीं है। इस दृष्टिसे दूसरोंको अपने पीछे चलाना स्वयं दूसरोंके पीछे चलना है। दूसरोंको अपने पीछे चलानेकी भावना रखनेवाले मनुष्य निश्चित रूपसे अज्ञानी होते हैं। अपनेको लोकसंग्रहार्थ कर्म करते हुए समझनेवाले लोग उस कर्मको वास्तवमें अपने ही स्वार्थके लिये करते हैं। इनका अनुकरण करते हुए दीखनेवाले लोग भी उस कर्मको अपना स्वार्थ देखकर ही अपनाते हैं।

इन सब दृष्टियोंसे यह निश्चय करना पड़ता है कि ज्ञानी पुरुष 'लोकसंग्रह' शब्दके इस भ्रान्त अर्थको कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

सत्ताईसवां प्रकरण

गुरुवाद

गुरुशिष्यभाव अशान्ति तथा अज्ञानका सूचक है।

अपने मनमें दूसरोंको सन्मार्गपर चलानेका अभिमान रखना 'गुरु बनना' है। अपनेको दूसरेके हाथोंमें सौंपकर उसीकी शक्तिसे सन्मार्गपर चलनेकी भावना रखना 'शिष्य बनना' है। जो मनुष्य अपनेको दूसरोंको सन्मार्ग दिखानेका उत्तरदायी अर्थात् 'गुरु' मानलेता है वह दूसरोंको असन्मार्गपर देखते ही अशान्त हो जाता है। दूसरोंके कुमार्गगामी होनेको अपनी अशा-न्तिका कारण बन जानेदेना ज्ञानकी स्थिति नहीं है। ज्ञानकी स्थिति शान्तिकी स्थिति है। जो मनुष्य अपनी शान्तिको किसी भी अवस्थामें अपनेसे पृथक् नहीं होने देता, वही 'शान्त' और 'ज्ञानी' है। जो अपने जीवनमें कभी शान्त और कभी अशान्त होता है, वह वास्तवमें 'अशान्त' और 'अज्ञानी' है। जो अपनेको किसी शिष्य समझे हुए अज्ञानीके अज्ञानको दूर करनेका उत्तरदायी मानकर उसका 'गुरु' बन जाता है, वह निश्चित रूपसे अशान्त और अज्ञानी है।

सुख तथा शान्तिको अपनाये रहनेवाले 'ज्ञानी' होते हैं, और सुख शान्तिको ढूंढनेवाले 'अज्ञानी' होते हैं।

मनुष्यके मनमें सुख और शान्तिको अपनाये रहनेकेलिये स्वाभाविक

आग्रह है। यह आग्रह मनुष्यके जीवनव्यवहारमें दो विपरीत रूपोंमें प्रकट होता है। इनमेंसे एक 'ज्ञान' तथा दूसरा 'अज्ञान' कहाता है। ज्ञानकी स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य अपने लिये सुख और शान्ति कभी नहीं ढूंढता। वह सुखी और शान्त बना रहकर अपने भौतिक शरीर तथा इससे संबन्ध रखनेवाले भौतिक पदार्थोंका उपयोग करता है। अर्थात् वह अपने भौतिक शरीर तथा भौतिक पदार्थोंको सुख ढूंढनेका साधन नहीं बनाता; किन्तु सुखी बना रह-कर दुःख और अशान्तिको अपने पास न आने देनेके साधनके रूपमें उन-सबका उपयोग करता है। अज्ञानियोंकी स्थिति इससे सर्वथा विपरीत है। वे अशान्त और दुःखी बने रहकर अपने शरीर तथा भौतिक पदार्थोंको सुख तथा शान्ति ढूंढनेका साधन बनालेते हैं और दुःख तथा अशान्तिको अपनाये रहते हैं। वे अपने शरीर तथा भौतिक पदार्थोंको सुख और शान्तिको कभी अपने पास न आने देनेका साधन बना लेते हैं।

इस उपर्युक्त आग्रहके ज्ञानी तथा अज्ञानी मनुष्योंमें दो परस्पर विरोधी प्रवाहोंमें प्रकट होनेका कारण यह है कि ज्ञानी जिसे सुख मानता है, अज्ञानी उसे सुख नहीं मानता। प्रत्युत उससे विपरीत वस्तुको सुख मानता है। ज्ञानी जानता है कि मैं सुखी और शान्त हूं। वह यह समझता है कि मनुष्यके मनमें सुख तथा शान्तिकी चाहका आजाना ही दुःखी तथा अशान्त हो जाना है। अज्ञानी समझता है कि मैं दुःखी और अशान्त हूं। मुझे सुख तथा शान्तिको बाहर से ढूंढना चाहिये। तात्पर्य यही है कि ज्ञानियों तथा अज्ञानियोंके दृष्टिकोणोंकी पृथक्ताके कारण उनके आचरण भी भिन्न भिन्न प्रकारके हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञानी सुखी है इस लिये वह सुखको कभी नहीं ढूंढता। उसके जीवनमें सुख ढूंढने नामका कोई व्यापार कभी नहीं होता। परन्तु अज्ञानीको सुख अप्राप्त होता है इस कारण उसके संपूर्ण जीवनमें केवल सुख ढूंढनेका ही एक मात्र काम होता रहता है।

ज्ञान अज्ञान किसी एक जीवनमें एक साथ नहीं रह सकते।

आंख खोलकर चलनेवाला मनुष्य स्वभावसे सन्मार्गको अपनाये रहता है। आंख बंद करके चलनेवाला मनुष्य स्वभावसे कुमार्गगामी बना रहता है। आंख बन्द रहनेतक कुमार्गगामीका सुमार्गगामी होना असंभव है। आंख खोलकर चलनेका स्वभाव रखनेवाला मनुष्य उन्हें बन्द करके कदापि कुमार्ग-

गामी नहीं हो सकता। ज्ञानकी स्थिति आंख खोलकर चलनेकी स्थिति है। अज्ञानकी स्थिति आंख बन्द रखनेकी स्थिति है। मनुष्य पहले इन दोनों स्थितियोंमेंसे किसी एकको अपनालेता है; फिर उसके संपूर्ण जीवन-व्यवहार उसी स्थितिके अनुसार होते हैं। यह कदापि संभव नहीं है कि कोई मनुष्य अपने जीवनमें कभी तो आंख खोलकर व्यवहार करे और कभी आंख मींचकर व्यवहार करे; अर्थात् कभी तो ज्ञानी बनकर व्यवहार करे और कभी अज्ञानी बनकर व्यवहार करे।

सुख शान्ति तथा ज्ञानके अन्वेषक 'शिष्यत्व' और उसमें सहायता करनेवाले 'गुरुत्व'की मनोवृत्ति अज्ञान और आसक्तिसे उत्पन्न होती हैं।

जो मनुष्य ज्ञानकी स्थितिको लेकर किसी दूसरे मनुष्यके पास जाता है वह किसी अप्राप्त ज्ञानको प्राप्त करनेकी इच्छासे नहीं जाता। यदि ऐसा कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यके पास जाकर उसमें ज्ञानकी स्थितिका दर्शन करे तो समझना होगा कि उसने उसमें अपनी अपनायी हुई स्थितिका दर्शन किया है और आत्मदर्शन तथा आत्ममिलनका आनंद लिया है। जो मनुष्य मींची हुई आंखोंसे अर्थात् अज्ञानीकी स्थितिको अपनाये रहकर किसी दूसरेके पास जाता है, वह अज्ञानमयी स्थितिसे प्रेम करनेवाला होनेके कारण, अपनेको मिथ्या सुख शान्तिका प्यासा, दुखिया और अशान्त बनाये रखनेके लिये ही जाता है। उसकी प्यासको बुझानेका उद्यम करनेवाला गुरुनामधारी मनुष्य भी निश्चित रूपसे अज्ञानी होता है। कहनेका तात्पर्य यही है कि जबतक सुख और शान्ति ढूंढनेकी वस्तु हैं, तबतक ढूंढनेवाला भी अज्ञानी है, और उसकी इस ढूंढमें सहायता देनेवाला भी अज्ञानी है। जो वस्तु स्वभावसे अपने पास है, उसे ढूंढनेकी भ्रान्तिमें मत पड़ो, उसे क्षणभरमें अपनालो और शान्त बने रहो, यही जीवनका सदुपयोग है। ऐसा न करके जब मनुष्य गुरु ढूंढने तथा गुरु बननेकी प्रवृत्तिमें पडता है तब वह अपने जीवनको व्यर्थ बना देता है। यह स्पष्ट रूपसे अज्ञानकी बात है। सुख शान्ति बाहरसे प्राप्त करने योग्य वस्तु नहीं है, किन्तु मनकी निष्काम स्थिति ही सुख और शान्ति है। जो मनुष्य इस निष्काम स्थितिको नहीं अपनाता और बाहरसे सुखशान्तिकी ढूंढमें भटकता फिरता है, वह निश्चय ही इन्द्रियोंसे विषय भोग करके सुखी और शान्त बनना चाहता है। सुख और शान्ति ढूंढना

इन्द्रियासक्ति है। सुख और शान्ति ढूंढनेवाला 'शिष्य' तथा ऐसे अन्वेषककी ढूंढमें सहायक बननेवाला 'गुरु' दोनों इन्द्रियासक्त हैं और दोनों एक दूसरेको अपनी अपनी आसक्तिके पूरा करनेका साधन बनाये रहते हैं।

अपना अपना मन ही ज्ञानी अज्ञानी दोनोंका 'गुरु' है।

क्या करना? क्या न करना? यह ज्ञानी भी जानता है और अज्ञानी भी। इन दोनोंने ज्ञान या अज्ञानकी स्थितिको अपनी अपनी स्वतंत्रतासे चुना है। ज्ञानकी स्थिति, ज्ञानीको अपनी सुरक्षा तथा अरक्षाके दृष्टिकोण देकर, उससे लाभदायक कर्म कराती है तथा हानिकारक कर्म छुडाती है। इसी प्रकार अज्ञानीकी स्थिति, अज्ञानीको अपनी सुरक्षा तथा अरक्षाके दृष्टिकोण देकर, उससे लाभदायक कर्म कराती है तथा हानिकारक कर्म छुडाती है। तात्पर्य यही है कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों क्या करना? क्या न करना? यह बात किसी दूसरेसे नहीं सीखते। इन दोनोंका यदि कोई 'गुरु' है तो वह इनकी अपनी अपनी मानसिक स्थिति ही है।

ज्ञानी अज्ञानी दूसरोंके मुखोंसे अपनी अपनी अपनायी हुई बात ही सुनते हैं।

ज्ञानी जब किसी दूसरेके मुखसे ज्ञानकी बात सुनता है तब उसे 'अपनी बात' मानकर उसका समर्थन करता है और ज्ञानकी बात कहनेवालेको अपने जैसा ज्ञानी होनेका प्रमाणपत्र दे देता है। वह उससे कोई नई बात नहीं सीखता। वह अपने मनकी बात उसकी जिह्वासे सुनकर उसे हृदयमें प्रीति तथा पूजाका स्थान दे देता है। तात्पर्य यह है कि वह अपने ही ज्ञानकी पूजाकरके आत्मप्रसादका लाभ करता है। अज्ञानी भी इसी प्रकार दूसरे अज्ञानीसे अपने मनकी बात सुनकर उसका सम्मान करता है।

गुरुशिष्य संबंध अज्ञानी लोगोंमें ही होता है।

ज्ञानीके ज्ञानोपदेशको केवल ज्ञानी ही आचरणमें ला सकता है, अज्ञानी नहीं। अर्थात् जो मनुष्य ज्ञानोपदेशको आचरणमें लानेमें समर्थ है वह पहलेसे ही 'ज्ञानी' है, उसे उपदेशकी आवश्यकता नहीं है। जिसके पास ज्ञानकी स्थिति नहीं है, वह ज्ञानोपदेशपर आचरण करनेमें असमर्थ है। उसे भी ज्ञानोपदेशकी आवश्यकता नहीं है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रचार या उपदेश 'ज्ञानी' या 'अज्ञानी' दोनोंके लिये निरर्थक हैं। ज्ञानी पुरुष न तो किसीका उपदेशक गुरु बनता है और न वह किसीको अपना

उपदेशक या गुरु बनाता है। वह स्वयं ही अपना 'गुरु' और स्वयं ही अपना 'शिष्य' होता है। अज्ञानी लोग परस्पर 'गुरुशिष्य' बनकर अपना अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं।

मनुष्यका मन ही उसका 'गुरु' हो सकता है।

ज्ञानी या अज्ञानी दोनों ज्ञान या अज्ञानकी स्थितिको अपनानेमें स्वयं ही अपने 'गुरु' हैं। जैसे अज्ञानीने किसी गुरुसे अज्ञान नहीं सीखा, इसी प्रकार ज्ञानीने भी किसी गुरुसे ज्ञान नहीं सीखा। किसी स्थितिको अपनालेनेके पश्चात् मनुष्य या तो ज्ञानोचित या अज्ञानोचित आचरण किया करता है। यदि संसारमें ज्ञानोचित या अज्ञानोचित आचरण सिखानेवाला कोई 'गुरु' है, तो वह ज्ञानी और अज्ञानीकी अपनी अपनी स्थिति ही है। मनुष्यके जीवनमें किसी दूसरेसे ज्ञान या अज्ञानको सीखने सिखानेके किसी संबन्धको स्वीकार नहीं किया जासकता। जो ज्ञान सिखानेवाले गुरुको ढूंढता हो उसे इस वृथा परिश्रमको छोडकर उसी आभ्यन्तरिक गुरुकी शरणमें चलाजाना चाहिये, जिससे उसने पहले अज्ञान सीखा था। उसने पहले अपनी स्वतंत्रताका दुरुपयोग किया था और अज्ञानी बना था। अब यदि वह अपनी स्वतंत्रताका सदुपयोग करेगा तो वह स्वयं ज्ञानी बन जायगा और देखेगा कि उसे ज्ञानी बननेके लिये किसी दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यही है कि दूसरोंको ज्ञानी बनानेका व्यवसाय करनेवाले 'गुरु'की आवश्यकताको किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जासकता।

किसीकोभी सचाई सिखानेवाला 'गुरु' बननेका अधिकार नहीं है।

ज्ञानी अपने स्वभावसे सत्यको सुरक्षित रखता है। अज्ञानी भी अपने स्वभावसे असत्यको अपनाये रहता है। ज्ञानीके सत्यका स्वरूप यह है कि मेरा सुख और शान्ति मेरेपास स्वभावसे वर्तमान हैं। उन्हें कहीं बाहरसे प्राप्त करनेकी आकांक्षा करना असत्य अवस्था है। मेरे मनमें इस आकांक्षारूपी असत्य अवस्थाको स्थान नहीं मिल सकता। ज्ञानी जानता है कि अनधिकारभोगेच्छा 'दुःख' और 'अशान्ति' है। इस असत्यसे सदा बचे रहना ज्ञानीका स्वभाव है। अज्ञानीके असत्यका स्वरूप यह है कि मैं अशान्त हूं, मैं दुःखी हूं; मुझे सुख और शान्तिको बाहरसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। ज्ञानी सुख और शान्तिको अपने अधिकारमें पाता है। अज्ञानी सुख और शान्तिके अपने स्वाभाविक अधिकारको अस्वीकार कर देता है।

और अनाधिकारभोगेच्छाका दास बन जाता है। समाजकी व्यवस्था अज्ञानीके अज्ञानोचित कर्मका सदा विरोध करती रहती है । समाजका यह विरोध ही 'अज्ञानीके लिये ज्ञानोपदेश' है। परन्तु अज्ञानी अपनी अज्ञानमयी स्थितिके कारण इस ज्ञानोपदेशको ग्रहण नहीं करता। किन्तु वह दण्डसे बचनेके प्रयत्नमें लग जाता है । अर्थात् अज्ञानीका ध्येय अज्ञानोचित आचरण करना और दण्डसे बचे रहना हो जाता है। वह ज्ञानी बनना नहीं चाहता । जो सचाई मनुष्यके मनमें स्वभावसे वर्तमान है, मनुष्यसमाज उसी सचाईके आधार पर अपनी समाजव्यवस्था बना लेता है। समाजव्यवस्था ही मनुष्यको सचाई सिखानेवाला गुरु है । किसी मनुष्यको सचाई सिखानेवाला गुरु बननेका अधिकार नहीं है। ज्ञानी अपने व्यावहारिक जीवनमें स्वभावसे सत्यको अपनाये रहता है। अज्ञानी स्वभावसे असत्यको अपनाये रहता है। ज्ञानी या अज्ञानी स्वयं ही अपने अपने गुरु होते हैं। न तो कोई किसी गुरुसे ज्ञान सीखता है और न कोई किसी गुरुसे अज्ञान सीखता है।

ब्रह्मविद्यामें भौतिक विद्याके समान लेनेदेनेका व्यवहार नहीं हो सकता। इसी लिये उसमें गुरुकी अवश्यकता नहीं होती।

गुरुवादका समर्थन करनेके लिये यह युक्ति दी जाती है कि मनुष्य गुरुकी सहायताके विना कृषि, शिल्प, वाणिज्य, लिखना, पढना आदि किसी विद्याको नहीं सीखता। फिर गुरुके विना ईश्वर प्राप्त करानेवाली ब्रह्मविद्या नामकी सर्वोत्तम विद्या कैसे सीखी जा सकती है? इसपर विचार करनेसे प्रथम भौतिक विद्या सिखानेवाले गुरुशिष्योंके पारस्परिक संबन्धपर विचार करना आवश्यक है। जो जिस भौतिक विद्याको अपना प्रेम दे चुकता है, और उसे सीखनेका आग्रह धारण कर लेता है; उसका प्रेम उसको विवश करके उसे गुरुके पास लेजाता है। गुरु उस विद्याको अपने शरीरसे स्वयं करके तथा आवश्यकता पड़नेपर उस शिष्यका हाथ पकड़कर सिखाता है। परन्तु ब्रह्मविद्याका इस प्रकार लेनदेन नहीं होता। यही कारण है कि ब्रह्मविद्याको प्राप्त करनेमें किसी गुरुकी आवश्यकता स्वीकार नहीं की जासकती।

ब्रह्मविद्यामें प्रेम हो जाना ही इस विद्याकी पूर्णता है।

मनकी अनासक्त स्थिति ही 'ब्रह्मविद्या' है। जो मनुष्य अपनी स्वतंत्र बुद्धिसे इसे अपनाता है वह 'ब्रह्मज्ञ' बन जाता है। मनुष्यको ब्रह्मज्ञ बननेके लिये इन्द्रियोंसे ऐसी कोई क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, जो

किसी गुरुसे सीखी जाती हो। भौतिक विद्याके लिये केवल प्रेम हो जानेसे काम नहीं चलता; उसके पश्चात् भी इन्द्रियोंको उसका अभ्यास कराना पड़ता है। क्योंकि जबतक इन्द्रियां भौतिक विद्यामें कुशल न हो जांय तबतक भौतिक विद्याकी पूर्णता नहीं होती। परन्तु अध्यात्मविद्याके संबन्धमें यह बात नहीं है। जिसे इस विद्याके लिये प्रेम है निश्चय ही वह इसे प्राप्त कर चुका है। जब किसीके मनमें किसी भौतिक विद्याके लिये प्रेम उत्पन्न हो जाता है, तब वह प्रेम ही उस प्रेमी मनुष्यका गुरु बन जाता है और उस विद्यामें उसकी इन्द्रियोंको कुशल बनाकर छोड़ता है। यदि उसे उसके प्रेमको पूरा करनेवाला गुरु न मिले, तब भी वह अपनी शक्तिसे उस विद्यामें सिद्ध होकर उसका प्रवर्तक या आविष्कारक तक बनता पाया जाता है। इस दृष्टिसे मनुष्यके मनका प्रेम ही ब्रह्मविद्या या भौतिकविद्या दोनों प्रकारकी विद्याओंका वास्तविक गुरु है। क्योंकि भौतिक विद्याके लिये प्रेम होजानेपर भी उसमें इन्द्रियोंको कुशल बनानेकी आवश्यकता शेष रहजाती है; इस लिये उसके संबन्धमें गुरु या साधन आदिका उपयोग स्वीकार किया जासकता है। परन्तु ब्रह्मविद्याके लिये प्रेम होजाना ही इस विद्याकी पूर्णता है। ब्रह्मविद्याके संबन्धमें भौतिक विद्याका दृष्टान्त देकर गुरु या साधन आदिकी आवश्यकता बताना, उसके संबन्धमें अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आध्यात्मिक सम्मेलनोंमें गुरुशिष्यभाव नहीं होता, वहां तो संतसमागम होता है।

आध्यात्मिक गुरुकी आवश्यकताके समर्थनके लिये यह युक्ति भी दी जाती है कि जिस प्रकार जलता हुआ दीपक अंधे दीपकको प्रकाशित करदेता है, या जैसे दही दूधको दही बना देता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अज्ञानीको ज्ञानी बनादेता है। विचार करने पर यह युक्ति भी असार प्रतीत होती है। भौतिक विद्या सिखानेवाला गुरु उसीको विद्यादान करनेमें समर्थ होता है जो इस विद्याका प्रेमी बनकर, इसे ग्रहण करनेके लिये उद्यत होकर उसके पास आता है। जलता दीपक उसी दीपक-को प्रज्वलित करसकता है, और दही उसी दूधको दही बना सकता है, जो इस कामके लिये समर्पित हो चुके हों। भौतिक विद्या सिखानेवाला गुरु किसी अनिच्छुक मनुष्यको पकड़कर अपनी विद्याका विद्वान् नहीं बना सकता। मनुष्य जिस स्थितिको मनमें अपनालेता है उसीको अपने व्यावहारिक

जीवनके रूपमें प्रकट करता है। आध्यात्मिक जगत्‌की भी यही अवस्था है। जो मनुष्य ब्रह्मविद्याका प्रेमी बन चुकता है, वही दूसरे ब्रह्मज्ञके पास जाता है। वह वहां ब्रह्मज्ञ बननेके लिये नहीं जाता, किन्तु ब्रह्मज्ञ बननेके पश्चात् सत्संग करनेके लिये जाता है। ब्रह्म विद्याके प्रेमियोंका स्वभावसे एक दूसरेके साथ अभेद्य प्रेम होता है। स्वभाव ही समान स्वभाववालोंको एकत्रित कर देता है। परन्तु इस आध्यात्मिक संबन्धमें लेशमात्र भी लेनेदेनेका व्यापार नहीं होता। दोनों ज्ञानी एक दूसरेमें आत्मदर्शन करते रहते हैं। उनमें परस्पर गुरुशिष्यकी भेदबुद्धि या उच्चनीचकी भावना नहीं होती। उनमें प्रणिपात परिप्रश्न या सेवा आदिके द्वारा विद्यादान या विद्याग्रहण आदिका कोई संबन्ध नहीं होता। इनमें जो परस्पर सम्मानप्रदर्शन, पूजा या विचार आदि क्रिया देखी जाती हैं, वे दोनोंमें समभावसे विराजनेवाली ज्ञानमयी स्थितिकी ही पूजा, अर्चा या सेवा आदि नामोंसे कहाजानेवाला सत्संग होता है।

अट्ठाईसवां प्रकरण

अवतारवाद

अवतारके नामसे प्रसिद्ध तीन काम अवतारकी आवश्यकताके समर्थनमें असमर्थ हैं।

गीतामें कहीं भी मीन, कूर्म, वराह आदि अवतारोंका उल्लेख नहीं है। उसमें कहीं 'अवतार' शब्दका प्रयोग तक नहीं है। 'अवतार वाद' का समर्थन करनेके लिये गीताके **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे** आदि श्लोकोंका उपयोग किया जाता है। इन श्लोकोंको पढकर मनमें अकस्मात् तीन प्रश्न उठते हैं। (१) धर्मकी स्थापना करना क्या है? (२) साधुका परित्राण किसे कहते हैं? (३) दुष्टके विनाशका क्या तात्पर्य है? इन प्रश्नोंका वास्तविक उत्तर तो यह है कि (१) मनुष्य अपने जीवनमें धार्मिक बना रहे, यही 'धर्मसंस्थापन' है। (२) वह अपनी शक्तिसे अपनी साधुताकी रक्षा करे यही 'साधुपरित्राण' है। (३) [क] मनुष्यताको त्यागकर दुष्टताको अपनानेवाला मनुष्य स्वयं अपना नाश कर लेता है, यही दुष्टका अपनेहाथों किया हुआ 'दुष्टविनाश'

कहाता है। [ख] उसके अतिरिक्त साधु पुरुष दुष्टको अपने सहयोगसे वंचित करके तथा आवश्यकता पडनेपर उसका विरोध करके उसे मनुष्य समाजमें स्थान पानेके अयोग्य सिद्ध कर देता है; यह साधुका किया हुआ 'दुष्ट विनाश' है। इन तीनों कामोंके लिये मनुष्य कदापि असमर्थ नहीं है। इन कामोंके लिये किसी अवतारकी अवश्यकताका समर्थन नहीं किया जा सकता।

धर्मरक्षा मनुष्यका ही काम हो सकता है; अवतारका नहीं।

यदि धर्मकी स्थापनाको किसी अवतार नामक व्यक्तिके वशकी बात माना जाय, तो धर्मस्थापन मनुष्यकी शक्तिसे बाहर होनेके कारण उसका कर्तव्य न रहे। तब मनुष्यका धर्म मनुष्यकी शक्तिसे सुरक्षित न रहनेवाला पदार्थ हो जाय और उसका सुरक्षित होना किसी अवतारकी कृपापर निर्भर हो जाय। इस सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य अपने धर्मकी रक्षा अपने आप नहीं कर सकता। यदि अपने धर्मकी रक्षा करनेमें असमर्थ होनेको मनुष्यका स्वभाव माना जायगा, तो उसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पडेगा, कि धर्मरक्षा करना मनुष्यका कर्तव्य नहीं है। परन्तु यह मन्तव्य स्वीकार करने योग्य नहीं है। यदि धर्मरक्षा करना मनुष्यका स्वभाव न हो, तो मनुष्य मनुष्य नहीं रह सकता। धर्मरक्षासे ही मनुष्यकी मनुष्यता सुरक्षित होती है। यदि धर्मकी रक्षा करना मनुष्यका स्वभाव और अधिकार माना जायगा, तो उसकी स्थापना करना भी उसीका कर्तव्य मानना पडेगा, अवतारका नहीं। मनुष्यका कर्तव्य मनुष्यसे छीनकर, उसे अवतारोंसे करवानेकी कल्पना अज्ञानमूलक है। यदि धर्मरक्षा मनुष्यका कर्तव्य न हो तो धर्मरक्षाको मनुष्यसमाजके लिये निरर्थक मान लेना पडेगा। तब ऐसे निष्प्रयोजन कामके लिये धर्मरक्षक अवतारोंके आनेकी भी आवश्यकता न रहेगी। धर्मरक्षा मनुष्यका कर्तव्य हो या न हो, दोनों अवस्थाओंमें धर्मसंस्थापनाके लिये अवतारोंकी आवश्यकता नहीं है।

साधुरक्षा तथा दुष्टविनाशके लिये भी अवतारकी आवश्यकता स्वीकार नहीं की जा सकती।

इसी युक्तिसे 'साधुरक्षा' तथा 'दुष्टविनाश' के लिये भी 'अवतारवाद'को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि साधुका साधुतारूपी स्वभाव ही उसकी रक्षा करनेवाला होता है। साधु अपनी साधुताकी रक्षाके लिये किसी अवतार नामक

बाह्य शक्तिपर निर्भर नहीं हो सकता। यदि वह अपनी साधुताकी रक्षाके लिये किसी बाह्यशक्तिपर निर्भर होगा तो उसे साधु न कहकर शक्तिहीन अर्थात् असाधु कहना पडेगा। साधु पुरुष अपनी ही शक्तिसे अपनी रक्षा करनेमें स्वभावसे समर्थ होता है, इसलिये उसकी रक्षाके लिये अवतारकी आवश्यकताका समर्थन नहीं किया जा सकता। 'दुष्ट विनाश' के संबन्धमें भी यह कहा जा सकता है कि दुष्ट मनुष्य, मनुष्यको साधु बनानेवाली मनुष्योचित आत्मस्थितिका बलिदान करके, अपने हाथोंसे अपना विनाश कर चुकता है। उसका विनाश करनेके लिये किसी अवतारकी आवश्यकता नहीं पडती। दुष्टोंसे व्यवहार पडनेपर साधुका केवल इतना कर्तव्य होता है कि वह दुष्टोंसे सहयोग न करे और आवश्यकता पडने पर उनका विरोध करे। साधुके पास इससे अधिक दुष्ट-विनाश नामका कोई उत्तरदायित्व नहीं होता।

आज तक कोई भी माना हुआ अवतार इन तीन कार्योंमें किसी धार्मिक मनुष्यसे अधिक सफल नहीं हुआ।

अवतारवादका समर्थन करनेवाले मनुष्य अवतारके 'धर्मसंस्थापन' 'साधुपरित्राण' तथा 'दुष्टविनाश' ये तीन कर्तव्य बताते हैं। परन्तु इन तीनों कामोंमें ऐसी कोई विशेषता नहीं है, जिससे किसीको दूसरे ज्ञानियोंसे पृथक् करके 'अवतार' नाम दिया जासकता हो। क्योंकि संसारके सम्पूर्ण ज्ञानी अपने अपने जीवनोंमें इन तीनों कर्तव्योंको पालते ही रहते हैं। ज्ञानी मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवनमें धर्मप्रतिष्ठा, अपनी साधुताकी रक्षा, तथा असाधुको अपने सहयोगसे वंचित रखने और आवश्यकता पडनेपर उसका विरोध करनेरूपी दुष्टविनाश करते ही रहते हैं। यदि संसारमेंसे अधर्मको हटाकर सब मनुष्योंको धार्मिक बना देना अवतारके 'धर्मसंस्थापन'का अभिप्राय हो तो हम कहेंगे कि श्रीकृष्ण अपने जीवनकालमें ऐसा धर्मस्थापन नहीं कर पाये थे। उनके जीवनमें केवल इतनी बात देखी जाती है कि जब जब उनके सामने अधर्मविरोध करनेका कर्तव्य आया था, तब तब उन्होंने दूसरे धार्मिक मनुष्योंके समान अपना कर्तव्य पाला था। उन्हें जब किसी साधुपुरुषके सत्संगसे कृतार्थ होनेका अवसर मिला था, तब उन्होंने दूसरे धार्मिक मनुष्योंके समान अपने सत्संगप्रेमका परिचय दिया था। उन्हें जब किसी दुष्टको दण्ड देनेका अवसर मिला था, तब उन्होंने दूसरे भीमार्जुन आदि योद्धाओंके समान दुष्टोंके शरीरोंपर प्रहार किया था। श्रीकृष्णशरीरसे धर्मसंस्थापन, साधुपरि-

त्राण तथा दुष्ट विनाश करनेमें ऐसा कोई विशेष काम नहीं हुआ, जिससे उनको दूसरे धार्मिक मनुष्योंसे पृथक् करके 'अवतार' कहा जा सकता हो। संसारमेंसे अधर्मको हटाकर धर्मको सुप्रतिष्ठित करनेमें श्रीकृष्णको उसी प्रकार असफल पाया जा रहा है, जिस प्रकार संसारके संपूर्ण धार्मिक पुरुष आजतक असफल होते चले आरहे हैं। श्रीकृष्णका साधुओंके साथ वैसा ही प्रेमका संबन्ध था जैसा साधुओंमें परस्पर होता है। वे अपनेसे न्यून शारीरिक शक्ति रखनेवाले दुष्टोंको दण्ड देनेमें उसी प्रकार सफल हुए थे, जिस प्रकार आजतक सब धार्मिक सफल होते चले आरहे हैं।

अवतारके तीन कार्योंका प्रकरणसंगत अर्थ।

"मैं धर्म संस्थापनार्थ, साधु परित्राणार्थ तथा दुष्टविनाशार्थ समय समयपर संभूत होता हूं" इन शब्दोंका प्रकरणानुसार केवल यही अर्थ होसकता है कि श्रीकृष्ण अपने शरीरमें रहनेवाली ज्ञानमयी मानासिक स्थितिको अपना तथा संपूर्ण ज्ञानी मनुष्योंका स्वरूप मानकर कह रहे हैं कि जब जब ज्ञानीकी इस मानासिक स्थितिके साथ अज्ञानका संघर्ष होता है, तब तब ज्ञानिदेहोंमें रहनेवाली ज्ञानमयी स्थिति अज्ञानको पराजित कर देती है।

मानव जीवनके लक्ष्यको पूरा करनेके लिए अवतारकी सहायताकी अवश्यकता नहीं है।

इस विशाल सृष्टिमें सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व अनगिनत रूपोंमें प्रकट हो रह है और सदा होता रहेगा। इनमेंसे कोई अपने आपको 'अवतार' कहनेवाला या दूसरों से 'अवतार' कहा जानेवाला मनुष्य उत्पन्न हो सकता है या नहीं? इस विषयपर विचार करना इस लेखका विषय नहीं है। यहां केवल इतना ही विचारना है कि मनुष्यको अपने जीवनके लक्ष्यको पूरा करनेके लिये किसी अवतार नामक व्यक्तिपर निर्भर रहनेकी आवश्यकता होसकती है या नहीं? विचार करनेपर यही परिणाम निकलता है कि किसी ऐसी आवश्यकताको स्वीकार करना मनुष्यताका अपमान करना है।

चातुर्वर्ण्यके लिए भी अवतारकी आवश्यकता स्वीकार नहीं की जा सकती।

यह भी कहा जाता है कि जब इस संसारमें चातुर्वर्ण्य व्यवस्थामें गडबड पडती है अर्थात् जब वर्णाश्रम धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान समझी हुई अवस्था आती है, तब साधुपरित्राण, असाधुविनाश तथा धर्मसंस्था-

पनके लिये अवतारका प्रादुर्भाव होता है। यह सिद्धान्त भी सत्यानुमोदित नहीं है। क्योंकि संसारका प्रत्येक मनुष्य सब समय अपनी शक्ति और रुचिके अनुसार कर्म करता रहता है। जो स्वभावसे जिस कर्ममें कुशल होता है, वह स्वभावसे उसी कर्मको अपनाये रहता है। उसके जीवनमें उसे छोड़नेका प्रसंग कभी नहीं आता। मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह अपनी शक्ति और रुचिके अनुसार अपने भौतिक कर्मोंको अपनाये रहता है। किसीप्रकार भी स्वभावका त्याग संभव नहीं है। रुचियोंके भिन्न भिन्न होनेके कारण मनुष्यके कर्मोंमें स्वभावसे विभिन्नता पायी जाती है। रुचिके अनुसार कर्मोंमें विभिन्नता रहना ही 'स्वाभाविक वर्णव्यवस्था' है। इस वर्णव्यवस्थामें ग्लानि होनेका प्रसंग आना कदापि संभव नहीं है। इसमें ग्लानि होनेका केवल यही अभिप्राय होसकता है कि मनुष्यके कर्मोंमेंसे विभिन्नता जाती रहे। परंतु ऐसी किसी स्थितिका स्वीकार किया जाना संभव नहीं है। जिस स्थितिका होना संभव नहीं है, उसे हटानेके लिये अवतारके आनेकी कल्पना अज्ञानी मास्तिष्कोंका आविष्कार है।

उनतीसवां प्रकरण

विश्वरूप

विश्वरूपदर्शन अर्जुनका मानस दर्शन था।

गीताका 'विश्वरूपदर्शन' गीतापाठकको आपात दृष्टिसे इन्द्रजालके रूपमें दिखाई देता है। परन्तु यह कोई ऐन्द्रजालिक दर्शन नहीं है। इसका तत्त्व समझनेके लिये यह विचारना आवश्यक है, कि वह दृश्य अर्जुनने किस अवस्थामें देखा था? और तब उसकी मानसिक अवस्था कैसी थी? इन्द्रियोंसे तो केवल भौतिक संसार दीखता है। भौतिक संसारका दीखना दर्शनेन्द्रियकी सदोषता, निर्दोषता, और दृश्य वस्तुकी सूक्ष्मता, दूरता, समीपता आदिपर निर्भर होता है। स्वप्नावस्थामें दर्शनेन्द्रियके विना भी नाना प्रकारके काल्पनिक दर्शन होते हैं। यदि मनुष्यको कोई ऐसा रूप दिखाई दे कि जो न तो चक्षुसे दीखनेवाला भौतिक स्थूल रूप हो और न स्वप्नावस्थाका दर्शन हो तो उसे किसी तीसरे प्रकारका दर्शन मानना पड़ता है। जब ज्ञानी या अज्ञानी दोनों प्रकारके मनुष्य अपने अपने ज्ञान या अज्ञानके अनुसार अपने मनमें स्वभावसे कोई

कल्पना करते हैं, तो उसको तीसरे प्रकारका दर्शन अर्थात् 'मानसदर्शन' कहा जाता है।

युद्ध क्षेत्रमें जहांतक अर्जुनकी दृष्टि जाती थी, वहांतक वह इस भौतिक संसारको तथा अपने सामने खडी हुई सेनाको तो प्रत्यक्ष देख ही रहा था। उसे अपने रथपर बैठे हुए श्रीकृष्ण भगवान् भी प्रत्यक्ष दीख रहे थे। वह उस समय स्वप्न भी नहीं देख रहा था। इस कारण उसके 'विश्वरूपदर्शन' को भौतिक जगत्का 'भौतिक दर्शन' या सोये हुए पुरुषका 'स्वप्न' नहीं कहा जा सकता। यह निश्चय है कि अर्जुन उस समय तीसरे प्रकारका 'मानस दर्शन' कर रहा था। वह अनासक्त मानसिक स्थितिमें पहुंचकर अपनी ज्ञानमयी व्यापक दृष्टिसे अपने सामने खडी हुई मुमूर्षु सेनाको तथा इस विनाशनियमाधीन ग्रह-नक्षत्रादिमण्डित विशाल ब्रह्माण्डको देख रहा था। यही अर्जुनका 'विश्वरूप-दर्शन' था।

जगत्में मनुष्यको बांधनेका सामर्थ्य नहीं है, यह ज्ञान ही 'विश्वरूपदर्शन' है।

अर्जुनके समान प्रत्येक ज्ञानी आठों प्रहर, जीवनके प्रत्येक क्षण, अपना कर्तव्य पालते समय अपने मनमें इस 'विश्वरूप'का दर्शन करता ही रहता है। मनकी अनासक्त अवस्था ही 'विश्वरूपदर्शन'की अवस्था है। अनासक्त ज्ञानी पुरुष अपनी ज्ञानदृष्टिसे जिस संसारका निरीक्षण करता है वही 'विश्वरूप' कहाता है। अर्थात् ज्ञानी पुरुष इस संसारको बन्धकके रूपमें कभी नहीं देखता। यह समग्र दृश्य संसार ज्ञानीके आकर्षणकी वस्तु नहीं रहता। अज्ञानी लोग ही अपनेको इस जगत्के भोगबन्धनमें फंसानेके लिये विवश हो जाते हैं। ज्ञानीकी ज्ञानदृष्टि इस बातको पहचान जाती है कि इस जगत्में किसीको भी बांधनेका सामर्थ्य नहीं है। यही जगत्का भ्रान्तिरहित रूप है। जगत्के इस अभ्रान्त रूपको देखलेना ही 'विश्वरूपदर्शन' है। क्योंकि यह विश्वरूप चर्मचक्षुसे नहीं देखा जा सकता था, इस लिये श्रीकृष्णने अर्जुनको विश्वरूप-दर्शनके लिये ज्ञाननेत्रसे काम लेनेका परामर्श दिया था।

तीसवां प्रकरण

सृष्टि-स्थिति-प्रलय

जगत्के न रहनेरूपी प्रलयकी कल्पना निराधार है।

मनुष्य देखरहा है कि जगत्के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, कुछ समय ठहरते हैं, और फिर विनष्ट हो जाते हैं। यह चक्र ही 'सृष्टि-स्थिति-प्रलय' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सृष्टि-स्थिति-प्रलयों' का और कोई रूप नहीं है। इस जगत्का कभी प्रारंभ हुआ था और यह कभी सर्वथा लुप्त होजायगा, इस प्रकारकी कल्पनाका कोई आधार नहीं है।

गीतामें मन्वन्तरों तथा युगोंका हिसाब नहीं है।

यह जगत् कब उत्पन्न हुआ था? और कब इसका प्रलय होगा? गणित शास्त्रके सहारेसे अपने पाठकोंको इस प्रकारका हिसाब बताना गीताका अभिप्राय नहीं है। उसमें कहीं भी इस प्रकारका उल्लेख नहीं है। उसमें आद्योपान्त केवल मानव जीवनके अनासक्तिरूपी एकमात्र लक्ष्यका गुण गाया गया है। गीतामेंसे जगत्के आदि-अन्त, तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलयोंके और चारों युगोंके पृथक् पृथक् स्थिति कालको ढूंढनेका प्रयत्न करना सर्वथा अप्रासंगिक है।

युगों आदिका हिसाब लगाना अकर्तव्य है।

जिस प्रकार अदरकके व्यापारीकी जहाजके व्यापारकी चिन्ता करना निरर्थक है, इसी प्रकार प्रत्येक क्षण नाशकी संभावनावाले मनुष्य जीवनके लक्ष्यकी उपेक्षा करके, सृष्टिके आदि अन्त और चारों युगोंका हिसाब लगाना निरर्थक है। गीतामें सृष्टिके संबन्धमें यह कहा गया है कि सर्वभूतस्थ आत्मतत्त्व आदिमें अव्यक्त, मध्यमें व्यक्त, और फिर अन्तमें अव्यक्त हो जाता है। अव्यक्त रहना ही इसका वास्तविक स्वरूप है।

यद्यपि सृष्ट पदार्थ नाशवान् हैं, तथापि सृष्टितरु अमर है।

मनुष्य इस जगत्को सब समय आंखोंसे देखता रहता है। उसका इस दृश्यमान जगत्के प्रलय होजानेकी कल्पना करना सर्वथा निरर्थक है। मनुष्यका इस जगत्के संबन्धमें जो साधारण अनुभव है; गीताकारने उससे बाहर जाकर कोई भी बात सुनानेकी चेष्टा नहीं की। उसमें केवल इतना कहा गया

है कि यह जगत् स्रष्टा का व्यक्त रूप है । सर्वभूतस्थ एक आत्मतत्त्व अपनी सनातन प्रकृति या स्वभावसे नाना पदार्थोंके रूपमें व्यक्त होता रहता है। स्रष्टामें जो सृष्टि-स्थिति-प्रलय करनेका स्वभाव है, वही उसकी ' प्रकृति ' या ' शक्ति ' कहाता है। यह सृष्टि अपने स्रष्टाके अविनाशी अव्यक्त स्वभावसे उत्पन्न होती है। अपने स्रष्टाके अव्यक्त स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली यह सृष्टि, पहले कभी न थी, या फिर कभी न रहेगी, ऐसी कल्पना करना सर्वथा भ्रान्ति है। क्योंकि स्वभाववान् अपने स्वभावको कदापि नहीं छोड़ सकता। कहनेका तात्पर्य यही है कि इस सृष्टिका आदि और अन्त कहीं नहीं है। यह तो सत्य है कि इस जगत्के संपूर्ण पदार्थ नाशवान् अर्थात् जन्म मृत्युके अधीन हैं; परन्तु यह सृष्टितरु अमर और सनातन है। यह सदा ज्यों का त्यों बना रहता है।

इकत्तीसवां प्रकरण

वर्णव्यवस्था

चातुर्वर्ण्यका वास्तविक अर्थ।

गीतामें चातुर्वर्ण्यको आत्मतत्त्वसे उत्पन्न हुआ बताया गया है और कहागया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रोंके स्वाभाविक गुणोंने इन चारों वर्णोंके कर्मोंको पृथक् पृथक् कर दिया है। चातुर्वर्ण्यके आत्मतत्त्वसे उत्पन्न होनेका वास्तविक अभिप्राय तो यही है कि मनुष्यदेहके रूपमें प्रकट होनेवाला आत्मतत्त्व, अपने स्वभावानुसार जिन चार प्रकारकी वृत्तियोंको लेकर प्रकट होता है, वे चारों वृत्ति, ब्राह्मी-स्थिति अर्थात् मनुष्यताके ही भिन्नभिन्न परिस्थितिमें प्रकट होनेवाले चार रूप हैं।

प्रत्येक मनुष्यमें चातुर्वर्ण्य रहे, यही 'स्वाभाविक वर्णव्यवस्था' है।

अनासक्त स्थिति ही मनुष्यके मनमें रहनेवाली ब्राह्मी स्थिति रूपी ' ब्राह्मणत्व है; उसका असत्यका विरोध करनेका स्वभाव ही ब्राह्मी स्थिति रूपी 'क्षत्रियत्व' है, उसकी व्यवसायात्मिका बुद्धि ही ब्राह्मी स्थिति रूपी 'वैश्यत्व' है, तथा निष्काम कर्मरूपी ब्राह्मी स्थिति ही उसका ' शूद्रत्व ' है। प्रत्येक

सच्चे मनुष्यमें इन चारों वृत्तियोंका होना अनिवार्य है। प्रत्येक मनुष्यमें ये चारों वृत्तियां हों तब ही मनुष्यमें पूर्णता आती है। यदि इस चातुर्वर्ण्यको प्रत्येक मनुष्यमें रहनेवाला और प्रत्येकके लिये आवश्यक स्वभाव न मानकर इसे चार प्रकारके मनुष्योंमें रहनेवाला स्वभाव माना जायगा, तो प्रत्येक मनुष्यको मनुष्यत्वसे हीन स्वीकार कर लेना पडेगा।

प्रचलित वर्णव्यवस्थाका सिद्धान्त सृष्टिव्यवस्थाके अनुकूल नहीं है।

प्रचलित वर्णव्यवस्था चातुर्वर्ण्यके इस वास्तविक अभिप्रायको स्वीकार नहीं करती। प्रचलित वर्णव्यवस्थाकी कल्पना करनेवालोंने यह माना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये भिन्नभिन्न स्वभाव रखनेवाले चार प्रकारके मनुष्य हैं। ये चारों अपने स्वभावके अनुसार चार प्रकारके भिन्नभिन्न कर्मोंको अपनाते हैं। परंतु उनका यह मंतव्य युक्तिसंगत नहीं है। यदि इन दो बातोंका विचार किया जाय कि मनुष्यका स्वभाव क्या है ? और कर्म किसको कहते हैं ? तो इस कल्पनाकी असारता स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाती है। अपने सुख और शान्तिको सुरक्षित रखना यही संपूर्ण मनुष्योंका एकमात्र 'स्वभाव' है। अपने सुख और शान्तिके लिये जगत्के पदार्थोंका उपयोग करना यही मनुष्यका 'कर्म' है। मनुष्य अपनी रुचि, शक्ति तथा परिस्थिति के अनुसार इस जगत्के पदार्थोंका उपयोग करता रहता है। विचित्रता ही इस सृष्टिका स्वभाव है। मनुष्योंकी नानाप्रकारकी रुचि, शक्ति तथा परिस्थितिके होती हैं। मनुष्योंकी इस विभिन्नतासे उनके कर्मोंमें भी अनिवार्य रूपसे विभिन्नता आ जाती है। इसीसे संसारमें अनन्त प्रकारके कर्म पाये जाते हैं। कर्मोंको चार विभागोंमें विभक्त करना और किन्हीं मनुष्योंको उन चारोंमेंसे किसी एक एक विभागमें सीमित रखनेकी कल्पना करना अव्यावहारिक है। उदाहरणके रूपमें ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणको भोजनकी भी आवश्यकता होती है, उसे शत्रुता करनेवालेका विरोध भी करना पडता है, उसे सामाजिक कल्याणमें सहयोग भी देना पडता है; उसे स्वभावसे कृषि, गोरक्षा, दुष्टविरोध, समाजसेवा आदि सब प्रकारके कर्म करने ही पडते हैं। उसे (ब्राह्मणको) केवल ग्रन्थस्वाध्याय नामके कर्ममें सीमित करनेकी कल्पना करना सर्वथा अस्वाभाविक है। यह केवल कल्पना ही कल्पना है। संसारमें ऐसे किसी मनुष्यका हो सकना संभव नहीं है। इसी प्रकार क्षत्रिय आदि नामके किसी विशेष कर्म करनेवाले मनुष्यका होना भी संभव नहीं है। प्रत्येक मनुष्यको समाजका उपयोगी अंग बने रहनेके लिये समय समयपर

समाजके कल्याणार्थ तथा अपने सुख और शान्तिके लिये भिन्न भिन्न प्रकारके कर्म करने पडते हैं। वास्तविक बात यह है कि समाजमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि चार प्रकारके मनुष्य कहीं नहीं है। इस प्रकारकी वर्णव्यवस्था कुछ मनुष्योंकी कल्पना है। इस अस्वाभाविक कल्पनाके पास व्यावहारिक रूप धारण करनेका सामर्थ्य नहीं है। प्रकृतिके विधानका विरोध करनेवाली ऐसी वर्णव्यवस्था कुछ पुस्तकोंमें लिखी पडी रह सकती है। परन्तु उसका मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें आना सर्वथा असंभव है। यदि यह वर्णव्यवस्था प्रकृतिका समर्थन पानेकी योग्यता रखती होती, तो यह संपूर्ण संसारमें प्रकट तथा सफल रूपमें दृष्टिगोचर होनी चाहिये थी।

बत्तीसवां प्रकरण

शास्त्र

अज्ञानी तथा ज्ञानीके माने हुए शास्त्रोंकी भिन्नता।

संसारमें कुछ पुस्तकें 'शास्त्र' मानी जाती हैं। जो जिस पुस्तकसे अपने आचरणोंका समर्थन करता है वही उसका 'शास्त्र' होता है। परन्तु ज्ञानी कभी किसी पुस्तकसे अपने आचरणोंका समर्थन नहीं करता। वह अपने पवित्र मनसे ही अपने आचरणोंका समर्थन करता है। उसके मनकी अनासक्त स्थिति ही उसका 'शास्त्र' है। अनासक्त स्थितिमें निवास करनेवाला ज्ञानी अपने आचरणोंको नियन्त्रित करनेके लिये किसी 'शास्त्र' नामकी पुस्तकके अधीन नहीं होता। सत्यका शासन ही उसका 'शास्त्र' है। उसकी ज्ञानमयी स्थिति ही, सत्यके शासनके रूपमें, उसके जीवनके संपूर्ण आचरणोंको नियन्त्रित रखनेवाली होती है और उसके मन वचन कर्मसे सत्यको प्रकट करती रहती है।

गीता किन्हीं पुस्तकोंको शास्त्र नहीं मानती। वह पुस्तकोंपर निर्भर होनेका विरोध करती है।

अनासक्त स्थितिका प्रचार करनेवाली गीता अपने पाठकोंको कुछ 'शास्त्र' समझी हुई पुस्तकोंपर निर्भर होनेका उपदेश दे, यह कदापि संभव

नहीं है। गीतामें त्रिगुणातीत अनासक्त आत्मस्थितिको ही 'शास्त्र' या 'गुह्यतम शास्त्र' नामसे कहा है। उसमें इस 'शास्त्र' का उल्लंघन करनेवालोंको 'त्रिगुणमयी स्थितिमें रहनेवाला अज्ञानी' बताया है। अज्ञानी मनुष्य ही शास्त्रनामकी पुस्तकोंसे अपने आचरणोंका समर्थन किया करता है। गीतामें इस प्रकारकी पुस्तकावलम्बी मनोवृत्तिको **वेदवादरताः, त्रैगुण्यविषया वेदाः** आदि श्लोकोंमें त्याज्य ठहराया है। जो गीता मनुष्यको वेदोंतककी पराधीनतासे मुक्त देखना चाहती है, वह उसे किसी दूसरी 'शास्त्र' नामक पुस्तककी अधीनता स्वीकार करनेको कहे, ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ज्ञानी शास्त्रका सदुपयोग तथा अज्ञानी उसका दुरुपयोग करता है।

ज्ञानीमें शास्त्रोंसे ज्ञान नहीं आता, किन्तु शास्त्रोंमें ज्ञानीका ज्ञान लिख दिया जाता है। अर्थात् ज्ञानी बननेके लिये शास्त्रोंका कोई उपयोग नहीं है। शास्त्रोंका केवल यही सदुपयोग है कि ये जगत्में ज्ञानीकी स्थितिको सुरक्षित रखें और ज्ञानियोंके स्वाध्याय तथा सत्संगके साधन बने रहें। ज्ञानी पुरुष ज्ञानग्रन्थोंमें अपनी आत्मस्थितिका वर्णन पाकर उससे आत्मदर्शनका आनन्द लेते हैं। परन्तु अज्ञानी पुरुष अपनी अज्ञानान्ध आंखोंसे उन शास्त्रनामके ज्ञान ग्रंथोंका अज्ञानोचित अर्थ लगा लेते हैं और उन्हें अपने भोगासक्त जीवनका समर्थक बना लेते हैं।

ज्ञानी शास्त्रसे ज्ञान लेकर ज्ञानी नहीं बनता।

ज्ञानी पुरुष अपने अनासक्तिके स्वभावके अनुसार और अज्ञानी पुरुष अपने आसक्तिके स्वभावके अनुसार आचरण करते हैं। जब कोई अज्ञानी पुरुष अपने अज्ञानोचित आचरणोंका समर्थन करना चाहता है और ज्ञानी होनेका मिथ्या संतोष भी लेना चाहता है, तब उसे 'शास्त्र' के सहारेकी आवश्यकता होती है। तब वह अपने समर्थनके लिये शास्त्रके पन्ने पलटने लगता है। वह शास्त्रमें लिखे हुए ज्ञानीके आचरणोंमेंसे उन्हीं आचरणोंको अपनाता है जो उसके भोगके अनुकूल होते हैं। अज्ञानी पुरुष इस लिये शास्त्रावलम्बी नहीं बना है कि वह शास्त्रपर श्रद्धा रखता है; किन्तु इस लिये बना है कि वह शास्त्र नामके ग्रंथकी ओटमें छिपकर, अपनी भोगासक्तिको भी तृप्त करना चाहता है, और समाजमें निन्दित होनेसे भी बचना चाहता है। वह अपने भोगासक्त आचरणोंको शास्त्रानुकूल पाकर मिथ्या आत्मसंतोष लेना चाहता है। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष

अपने आचरणोंको प्रमाणित करनेके लिये कदापि शास्त्रावलम्बी नहीं होता । वह अपने आप ही अपना 'शास्त्र' बनकर आचरण करता है और अनासक्तिका आनन्द लूटता रहता है। यदि वह किसी शास्त्रमें अनासक्तिका वर्णन पाता है तो वह उसे 'ज्ञानग्रंथ' कहकर सम्मानित करदेता है। वह उसे 'शास्त्र' होनेका प्रमाणपत्र देता है। यह निश्चय है कि शास्त्रोंने ज्ञानीको ज्ञानका दान नहीं किया। प्रत्युत ज्ञानी पुरुषोंने ही शास्त्रोंको ज्ञानवार्तासे भरपूर किया है, और उन्हें 'शास्त्र' होनेका प्रमाणपत्र दिया है ।

तेंतीसवां प्रकरण

श्रीकृष्णका 'अस्मत्' शब्द

श्रीकृष्णका अस्मत् शब्द उनके देहका वाचक नहीं हो सकता ।

श्रीकृष्णने अर्जुनको गीतोपदेश देते हुए प्रायः 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग किया है। शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे यह शब्द उनके देह तथा उनके स्वरूप आत्मतत्त्व दोनोंका वाचक होसकता है। कुछ लोग इसे श्रीकृष्णके शरीरका वाचक कहना चाहते हैं। उनके मन्तव्यकी समीक्षा करना आवश्यक है। गीताका **मामेकं शरणं व्रज** यह श्लोक विशेष रूपसे इस भावको व्यक्त करनेवाला बताया जासकता है, कि उन्होंने अपने आपको ही अर्जुनके शरण्यके रूपमें उपस्थित किया था, और कहा था कि 'तुम सब धर्मोंको छोड़कर मेरे पांचभौतिक शरीरकी शरण में आजाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा'। परन्तु यह मन्तव्य इसलिए युक्तिसंगत नहीं है कि अर्जुनने तो गीतोपदेश होनेसे भी प्रथम अपने आपको श्रीकृष्णके चरणोंमें अपनी ही ओरसे **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्** यह कहकर समर्पित करदिया था। यदि श्रीकृष्ण के 'अस्मत्' शब्दका अभिप्राय अर्जुनको अपने पांचभौतिक शरीरकी शरणमें लाना होता, तो कृष्ण भगवान्‌को यह समर्पण सुनते ही गद्गद होजाना चाहिये था और तब ही उपदेश रोक देना चाहिये था। तब उन्हें यह कहकर बातको समाप्त करदेना चाहिये था कि हे अर्जुन! क्योंकि तुम मेरी शरणमें आगये हो इसीलिये अब निश्चिन्त होजाओ। अब चाहे तुम युद्ध करो या न करो तुम मुक्त हो। यदि श्रीकृष्णके

' अस्मत् ' शब्दका यही अर्थ होता तो गीतोपदेशको वहीं रुक जाना चाहिये था। क्योंकि अर्जुनके आत्मसमर्पणके पश्चात् भी गीतोपदेश नहीं रोका गया और उसे आवश्यक माना गया, इस लिये यही निश्चय करना पडता है कि श्रीकृष्णका ' अस्मत् ' शब्द उनके भौतिक अस्तित्वका वाचक नहीं था; प्रत्युत उनके स्वरूप उसी आत्मतत्त्वका वाचक था जिससे अर्जुनको परिचित करानेके लिये उन्होंने गीतोपदेशको रोकना उचित नहीं समझा।

श्रीकृष्ण अस्मत् शब्द द्वारा अपनी पूजा करवाना नहीं चाहते थे।

गीता केवल अनासक्तिका प्रचार करनेके लिये आयी है। गीतामें अनासक्तिको ही महत्त्व दिया गया है। उसमें इसको ही मनुष्यका शरण्य और आराध्य देव बताया गया है। श्रीकृष्ण नामक किसी व्यक्तिके चरणोंमें आत्मसमर्पण करना वह अनासक्ति, नहीं है जिसे गीतामें मनुष्यका शरण्य कहा गया है। उसका कारण यह है कि गीतामें अर्जुनको श्रीकृष्णके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर चुकनेके पश्चात् भी पहलेके समान मोहग्रस्त और आसक्त पाया जा रहा है। वह श्रीकृष्णके पास आत्मसमर्पण करके भी अभी तक कर्तव्यनिश्चय करनेके धर्मसंकटमें फंसा हुआ है। इस घटनासे यही सिद्ध होता है कि अनासक्त स्थिति अपने ही हृदयस्थ आत्मतत्त्वके शरणमें चले जानेकी स्थिति है। वह किसी बाह्य त्राणकर्ता व्यक्तिको अपना आराध्य बनानेवाली स्थिति नहीं है। इस दृष्टिसे श्रीकृष्णका 'अस्मत्' शब्द उनके भी आराध्य उसी आत्मस्वरूपका वाचक है जो कि मनुष्यमात्रका स्वरूप है। गीतामें यह ' अस्मत् ' शब्द अर्जुनको उसी स्वरूपसे परिचित करानेके लिये बार बार व्यवहृत हुआ है। कृष्णभगवान्ने अर्जुनको ज्ञानका स्वाभाविक अधिकारी पाया है और उसे उससे परिचित करादेनेके लिये गीतोपदेश दिया है। वे यह नहीं चाहते कि अर्जुन उनके पांचभौतिक देहमें आसक्त होजाय और उनके भजनपूजनके धोकेमें फंसे।

गीताका अस्मत् शब्द व्यापक आत्मतत्त्वका वाचक है।

इस सिद्धान्तके समर्थनमें कृष्णभगवान्के मुखसे निकले हुए **तमेव चाद्यं शरणं प्रपद्ये। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति। तमेव शरण गच्छ। प्रसादात् परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** इत्यादि अनेक वाक्य उद्धृत

किये जा सकते हैं। जिनसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि कृष्णभगवान् अपने मनमें दिनरात जिस आत्मस्वरूपका दर्शन और आराधना करते रहते थे, उन्होंने अर्जुनको भी अनासक्तिके रूपमें सदा उसी आत्मस्वरूपका दर्शन और आराधन करनेका उपदेश देकर, उसे मोहसागरसे पार किया है।

॥ गीतापरिशीलन-परिशिष्ट समाप्त ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके पारिभाषिक शब्दोंका कोष

अकर्ता = कर्म करते हुए कर्तृत्वाभिमानसे रहित रहनेवाला।

अकर्म = (१) कर्मत्याग करनेकी भ्रान्तिसे किया हुआ कर्म तथा
(२) अपनेको अकर्ता मानकर किया हुआ कर्म।

अक्रिय = कर्मत्याग नामक भ्रान्त उद्यम करनेवाला।

अक्रोध = किसी भौतिक परिस्थितिको अपनी शान्तिका विघ्न न मानना।

अघ = अज्ञानरूपी कर्मबन्धन।

अचापल = व्यर्थ चिन्ता, व्यर्थ वचन, तथा व्यर्थ व्यवहारसे बचना।

अज्ञान = अनासक्तिरूपी आत्मस्वरूपको भूलजाना।

अतिमानिता = अपनी भौतिक शक्तिका आडम्बर करना।

अद्रोह = सत्यका विद्रोह (विरोध) न करना।

अधर्म = सत्यहीनता।

अध्यात्म = अनासक्ति।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व = अनासक्तिमें स्वाभाविक दृढता।

अध्यात्मनित्य = अनासक्तिमें निष्ठा रखनेवाला।

अनपेक्ष = भौतिक शक्तिकी उपेक्षा करनेवाला।

अनभिष्वंग = ममताहीन

अनहंकार = कर्तृत्वाभिमानसे रहित होना।

अनहंवादी = कर्तृत्वाभिमानसे रहित।

अनासक्ति = इन्द्रियोंके रागद्वेषका भोगमें उपयोग न करना।

अनिकेत = किसी वासस्थानमें ममता न रखनेवाला।

अनित्य = स्थिर (सर्वदा) न रहनेवाला।

अनुद्विग्नमनाः = अप्रभावित मनवाला।

अन्तकाल = नाशवान शरीरके जीवनका प्रत्येक क्षण।

अपुनरावृत्ति = पुनर्जन्मकी भ्रान्ति न रहना।

अपैशुन = व्यक्तिगत चर्चासे सुख न मानना।

अप्रकाश = सदसद्विचारहीन होना।

अप्रवृत्ति = आलस्य।

[illegible]भय = प्रतिकूलताकी उपेक्षा।

अभिमान = भौतिक शक्तिका आडम्बर ।

अभ्यास = सुखदायी स्थितिको अपनाये रहनेकी स्वाभाविक दृढता ।

अमर्ष = दूसरोंके भोगसाधनोंको देखकर दुःखी होना ।

अमानित्व = अपनेको भौतिक शक्तिके कारण श्रेष्ठ न मानना ।

अमृतत्व = अज्ञानरूपी मृत्युसे बचे रहना ।

अलोलुप्त्व = विषयभोगको निकृष्ट मानना ।

अव्यक्तोपासना = अनासक्तिसे प्रेम ।

अशम = अतृप्ति अथवा विषयासक्ति ।

अशान्त = विषयासक्त ।

असत्य = इन्द्रियोंके रागद्वेषके प्रभावमें आई हुई मनोदशा ।

अहिंसा = काम क्रोध आदि रिपुओंके अधीन न होना ।

अहोरात्रवित् = आत्मतत्त्व अनन्त कालसे, सबसमय, साथ साथ, व्यक्त तथा अव्यक्त इन दो रूपोंमें रहता है, ऐसा जाननेवाला ।

आचार्योपासना = ज्ञानियोंसे सादर व्यवहार ।

आत्मविनिग्रह = इन्द्रियसंयम ।

आत्मविशुद्धि = अनासक्ति ।

आर्जव = विश्वासका संबन्ध रखनेवाले धार्मिकके साथ कपट रहित वर्ताव

आर्त = भौतिक सुखके अभावमें दुःखी ।

आसुरी संपत = परिस्थितिके अनुसार आसक्त मनोदशाके भिन्न भिन्न व्यक्त रूप ।

ईश्वर = (१)मनुष्यको शक्तिमान् रखनेवाली अनासक्ति नामकी मानसिक अवस्था ।

(२) विषयसुख बांटनेवाली अज्ञानियोंकी कल्पित सत्ता ।

उदासीन = भौतिक विषयभोगकी उपेक्षा करनेवाला ।

कर्म = सृष्टिका स्वभाव ।

कर्मफल = कर्मका भोगके अनुकूल या प्रतिकूल परिणाम होनेकी कल्पना ।

कर्मबन्धन = कर्मका भोगानुकूल परिणाम पानेकी इच्छा ।

कर्मयोग = कर्म करते हुए ज्ञानकी स्थितिको अपनाये रहना ।

कर्मसंन्यास = कर्मत्याग करनेकी भ्रान्तिमें फंसकर दूसरा भोगानु[illegible] कर्म ग्रहण करना ।

कल्पक्षय = पदार्थोंके प्रकट रहनेके कालकी समाप्ति ।

कल्पादि = पदार्थोंके प्रकट रहनेका काल।
काम = इन्द्रियोंके रागद्वेषके अधीन होजाना।
कृपण = इन्द्रियोंके रागद्वेषके बन्धनमें रहनेवाला।
क्रोध = भोग्य विषयकी प्राप्तिके विघ्नको न सहना।
क्षत्रिय = असत्यका विरोध करनेवाला ज्ञानी।
क्षमा = शत्रुता करनेवालेसे व्यक्तिगत द्वेष न रखना।
गुण = इन्द्रियोंकी शक्ति।
गुणातीत = इन्द्रियोंके रागद्वेषसे अप्रभावित अथवा भोगत्यागी।
चिन्ता = विषयतृष्णा।
जन्मबन्धविनिर्मुक्त = शरीरके जन्मको अपना जन्म माननेकी भ्रान्तिसे मुक्त।
जिज्ञासु = (१) ज्ञानका प्रेमी (ज्ञानी) तथा (२) अज्ञानीकी स्थितिमें रहकर जाननेकी इच्छा करनेवाला (अज्ञानी)।
ज्ञान = मनकी अनासक्त स्थितिको अपना स्वरूप जानना।
ज्ञानयोग = ज्ञानकी स्थितिमें रहते हुए कर्म करना।
ज्ञानाग्निदग्धकर्मा = जिसका कर्मबन्धन अनासक्त स्थितिरूपी ज्ञानसे दग्ध हो चुका।
तप = सत्यपर आरूढ रहकर असत्यको पराजित करते रहना।
तमोगुण = भोगाकांक्षा।
त्याग = कर्म करतेहुए कर्तृत्वाभिमान न रहना।
दक्ष = कर्म करतेहुए फलाशारूपी कर्मबन्धनसे मुक्त रहनेवाला।
दम = इन्द्रियोंका निर्विकार मनोदशाका अनुगामी रहना।
दया = कामनाके वशमें न आकर दूसरोंके साथ वर्ताव करना।
दान = अपनेको अनासक्तिरूपी सत्यके हाथोंमें समर्पित करदेना।
दुःख = स्वभावप्राप्त नित्यसुखकी उपेक्षा करके सुख समझी हुई अनित्य स्थितिसे सुखी बननेकी भ्रान्त इच्छा।
देव, देवता = (१) इन्द्रिय तथा (२) अज्ञानियोंके कल्पित विषय-सुख बांटनेवाले ईश्वर।
दैवी संपत = परिस्थितिके अनुसार अनासक्त स्थितिकी भिन्न भिन्न अभिव्यक्ति।

धर्म = स्वभावको सुरक्षित रखनेवाली प्रेरणा ।

धीर = इन्द्रियोंके रागद्वेषसे चंचल न होनेवाला ।

धृति = अनासक्तिको न छोडनेकी स्वाभाविक दृढता ।

नरक = विषयासक्ति रूपी अज्ञानकी स्थिति ।

निग्रह = कर्मत्याग करसकनेकी भ्रान्ति ।

नित्यसत्त्वस्थ = इन्द्रियोंके रागद्वेषसे अतीत अनासक्त स्थिति ।

निरहंकार = कर्ताहं बुद्धिसे रहित ।

निराशीः = फलाशा न रखनेवाला ।

निराश्रय = फलाशा न रखनेवाला ।

निराहार = (१) विषयभोगसे वंचित रहनेका प्रयत्न करनेवाला।
(२) अतृप्त विषय वासनावाला ।

निःस्पृह = सुखेच्छासे रहित ।

निर्द्वन्द्व = सुखदुःखके बन्धनसे अतीत ।

निर्वैर = दूसरोंसे अशान्त न होनेवाला ।

नैष्कर्म्य = मनकी कर्मबन्धनसे रहित अनासक्त स्थिति ।

परधर्म = इन्द्रियोंके रागद्वेष ।

परिग्रह = विषयोंमें ममता ।

परिप्रश्न = सत्यपर आरूढ रहकर दूसरों के साथ सत्यासत्यका विचार करना।

पाप = विषयासक्तिरूपी अज्ञान ।

पुनर्जन्म = अपनेको सर्वव्यापी आत्मतत्त्वसे पृथक् रूपमें बारबार शरीर धारण करनेवाली सत्ता माननेकी भ्रान्ति ।

प्रणिपात = निरहंकार मानसिक स्थितिमें रहकर व्यवहार ।

बुद्धिभेद = बुद्धिमें भ्रान्ति ।

ब्रह्मचर्य = अनासक्ति रूपी मानसिक स्थितिके अनुसार जीवनचर्या ।

ब्राह्मण = ब्राह्मी स्थितिमें आरूढ ज्ञानी ।

ब्राह्मी स्थिति = मनकी सदा एकरस रहनेवाली निष्काम स्थिति ।

भक्त = अनासक्त स्थितिमें रहनेवाला ।

भक्ति = अनासक्ति ।

भजन = अनासक्त स्थितिसे प्रेम ।

भय = भौतिक हानिको दुःख मानना ।

मद = कर्ताहं बुद्धि।

मन = विषयासक्ति और अनासक्ति इन दोनोंमेंसे किसी एकको अपनानेकी मनुष्यकी स्वतंत्रता।

माया = (१) दुःखको सुख माननेवाली विपरीत बुद्धि तथा (२) सृष्टिस्थितिप्रलय करनेवाली प्रकृतिनामक शक्ति।

मार्दव = क्रोधरहित व्यवहार।

मिथ्याचार = इन्द्रियासक्तिसे किया हुआ व्यवहार।

मुक्ति = इन्द्रियोंके रागद्वेषके बन्धनमें न आनेकी स्थिति।

मौनी = उचित वक्ता।

यज्ञ = (१) मनकी अनासक्त स्थिति तथा (२) अज्ञानियोंकी यज्ञ समझी हुई कुछ क्रियायें।

यदृच्छा = सृष्टि व्यवस्था।

युग = समय।

योग = (१) अनासक्ति। (२) अनेकतामें एकताका दर्शन।

योगक्षेम = अप्राप्तकी प्राप्ति 'योग', तथा प्राप्तकी रक्षा 'क्षेम'।

योगभ्रष्ट = भोगासक्त।

रजोगुण = भोगसंग्रहकी प्रवृत्ति।

रहस् = मनकी अप्रभावित स्थिति।

लोकसंग्रह = सृष्टिकी व्यवस्था।

विकर्म = अज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म।

विज्ञान = कर्मयोग अर्थात् व्यवहारकुशलता।

विभूति = एकका अनेक हो जाना।

विविक्तसेवी = संसारबन्धनहीन मानसिक स्थितिमें रहनेवाला।

विसर्ग = सृष्टिव्यापार।

वैराग्य = अनासक्तिमें स्थित रहते हुए विषयासक्तिको त्याज्य माननेका स्वभाव।

वैश्य = व्यवसायात्मिकाबुद्धि रखनेवाला ज्ञानी।

शनैः शनैः = सत्यपर आरूढ रहनेके धीरजके साथ।

[illegible]म = अनासक्तिरूपी स्वरूपमें स्थिति।

[illegible]यात्रा = शरीरका जीवित होना।

शान्ति = अनासक्त स्थिति ।

शास्त्र = (१) सत्यका शासन अर्थात् अनासक्त स्थितिमें रहकर सत्यासत्य विचार करनेका स्वभाव । (२) अपने आचरणोंका समर्थन करनेवाली पुस्तक ।

शुचि = (१) भोगबन्धनरूपी मलिनतासे मुक्त रहनेकी स्थिति तथा (२) शुचिताका बाह्य दिखावा करनेवाला शृंगारप्रिय मनुष्य

शूद्र = निष्काम स्थितिमें रहकर कर्म करनेवाला ज्ञानी ।

शौच = मानसिक पवित्रताके अनुकूल आचरण ।

सत्त्वगुण = भोगसंरक्षणकी प्रवृत्ति ।

सत्य = मनकी इन्द्रियोंके रागद्वेषसे अप्रभावित स्थिति ।

सन्त = अनासक्त मनुष्य ।

समचित्तता = अनासक्त मनका अविचलित रहनेका स्वभाव ।

समता = भौतिक इष्टानिष्टमें रागद्वेषरहित मानसिक स्थिति ।

समदर्शी = अनासक्त स्थितिमें रहकर उचित वर्ताव करनेवाला ।

समलोष्ठाश्मकांचन = अनासक्त रहकर पदार्थोंका उचित उपयोग करनेवाला ।

समाधि = बुद्धिकी स्थिरता अर्थात् अनासक्तिमें जमकर विषयासक्तिको त्यागनेका स्वभाव ।

सर्वभूतेहितरत = सबसे निःस्वार्थ संबंध रखनेवाला ।

सर्वारंभपरित्यागी = कर्म करते हुए कर्तृत्वभिमानको त्यागनेवाला ।

सन्तुष्ट = भौतिक हानिलाभसे अप्रभावित ।

संन्यास = विषयासक्तिरूपी अज्ञानको त्यागनेकी मानसिक स्थिति ।

सांख्य = अनासक्तिरूपी ज्ञानमयी स्थिति ।

स्वधर्म = आत्मधर्म अर्थात् अनासक्ति ।

हिंसा = मनका कामक्रोध आदि रिपुओंके वशमें आजाना ।

गीतापरिशीलन-शब्दकोष समाप्त ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोकोंका अकारादिवर्णानुक्रम

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१८	समझना	समझाना
३	१६	शब्य	शैब्य
३	२०	योद्धाओं	योद्धाओंका
३	२१	इसम	इसमें
४	१७	आर	और
५	८	ह	हैं
५	१७	मोर्चे	मोर्चों
५	२०	भलीमांति	भलीभांति
८	५	धातराष्ट्र	धार्तराष्ट्र
९	१३	धमारूढ	धर्मारूढ
१०	१९	उतर	उतरा
१२	१८	रखनवाले	रखनेवाले
१६	२९	मारग	मारेंगे
१७	७	मेवोश्रयद्	मेवाश्रयेद्
४६	२३	सिद्धान्तका	सिद्धान्तको
४८	२६	आत्मदशनके	आत्मदर्शनके
५५	४	होने	होते
५८	२५	कर्मोंम	कर्मोंमें
६३	१६	आचारणों	आचरणों
७२	१८	४६ वें	४९ वें
७९	७	कर्मक	कर्मकी
९१	अन्तिम	लेता	लेता है
९४	९	आचारणोंको	आचरणोंको
१००	२०	व्यवहृत	व्यवह्रुत
१०२	१	शाक्तिस	शक्तिसे
११९	६	वस्तुत	वस्तुतः
१४०	१३	स्मसात्	भस्मसात्
१४१	५	सामान	समान
४८	१५	कुवन्	कुर्वन्
"	२०	अवश्यक	आवश्यक
	अन्तिम	रूपम	रूपमें

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८९	२५	स्थितिका	स्थितिको
१९५	१८	प्रोत	प्रोतं
२००	३	सर्वं	सर्वं
२०९	१२	नियातत्म	नियतात्म
२२७	७	आत्मा	आत्म-
२३४	२०	भक्तिका	भक्तिके
२४१	७	ह	है
२४२	२०	त्वमृषयः	त्वामृषयः
२५७	६	i	त्वां
२८१	२१	आसक्ति	असक्ति
२९२	अन्तिम	विद्धे	विवृद्धे
२९४	१९	सहायकः	सहायक
२९७	१८	पर	पर—
२९७	२३	भोगबन्धनम	भोगबन्धनमें
३२२	८	कही	कहीं
३४१	८	स्वजनोंको	स्वजनोंके
३४३	१६	बने	बनो
३५३	२८	दसरेसे सर्वथ	दूसरेसे सर्वथा
३६२	११	विराध	विरोध
३७९	२५	पड़ा	पड़
३८५	३	बन्धनासे	बन्धनोंसे
३८७	२२	इहामूत्र	इहामुत्र
४१२	१	शब्दावडम्बर	शब्दाडम्बर
४२९	२३	काटन	काटने
४५९	१८	परिस्थितिके	परिस्थिति
४६६	२३	बांटनेषाली	बांटनेवाली

श्लोकानुसार विषयसूची

२	१५	मान	मार
१९	२३	स्मृतिसे	स्मृतिसे

गीतापरिशीलन